का० मार्क्स
फ्रे० एंगेल्स

संकलित रचनाएं

तीन खण्डों में

खण्ड 1

भाग 1

प्रगति प्रकाशन - मास्को

अनुवादक और संपादक : सुरेन्द्र कुमार

प्रकाशक की ओर से

का० मार्क्स और फ़े० एंगेल्स की संकलित रचनाओं का प्रस्तुत हिन्दी संस्करण सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के मार्क्सवाद-लेनिनवाद संस्थान द्वारा तैयार किये गये और राजनीतिक साहित्य प्रकाशन गृह, मास्को, द्वारा १९६६ में छापे गये रूसी संस्करण (तीन खंडों में) का अनुवाद है।

पाठकों की सुविधा के लिए हर खंड को दो भागों में बांटा गया है।

К. МАРКС и Ф. ЭНГЕЛЬС

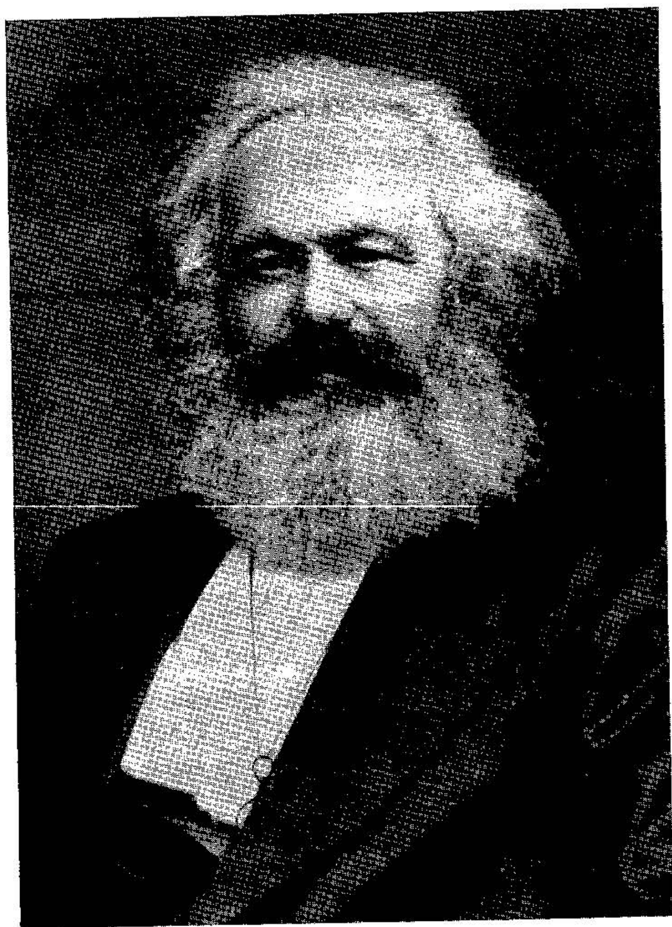
Избранные произведения

том I, часть I

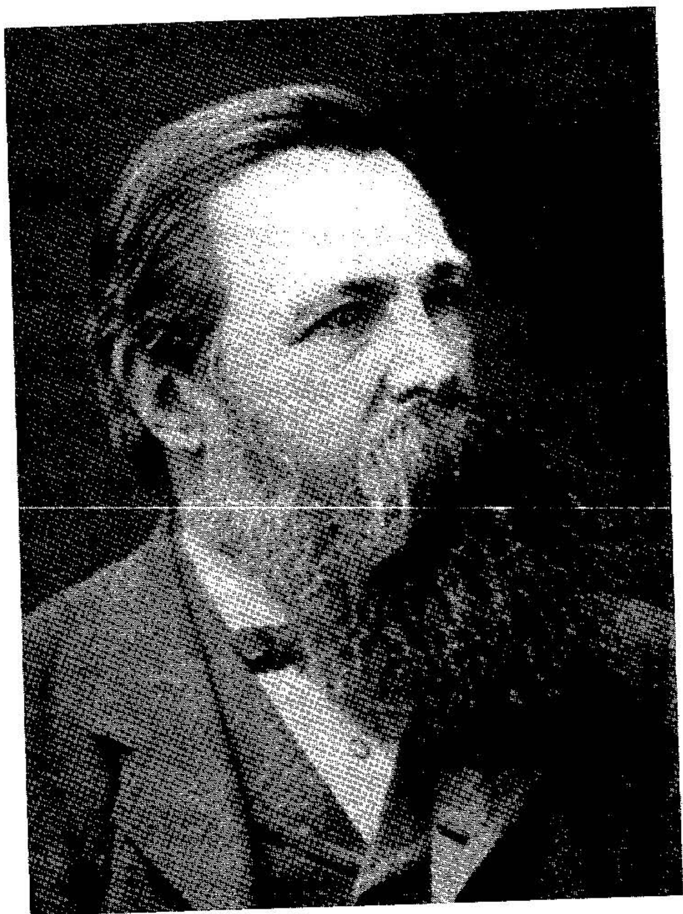
на языке хинди

सोवियत संघ में मुद्रित

M $\frac{10101-592}{014(01)-78}$ 633-77



Karl Marx



F Engels

विषय-सूची

भूमिका

'संकलित रचनाएं' (तीन खंडों में) के प्रस्तुत संस्करण में मार्क्स तथा एंगेल्स की अत्यन्त महत्वपूर्ण रचनाएं दी जा रही हैं जो उनकी महान क्रान्तिकारी शिक्षा के तीनों अंगभूत भागों – मार्क्सवादी दर्शन, राजनीतिक अर्थशास्त्र तथा वैज्ञानिक कम्युनिज्म के सिद्धान्त – पर प्रकाश डालती हैं। स्थानाभाव के कारण उनकी कुछ मूल रचनाएं स्वभावतया केवल पृथक अनुभागों तथा अध्यायों के रूप में ही दी जा सकी हैं। इस प्रकार मार्क्स की 'पूंजी' से खण्ड १ के अध्याय २४*, जर्मन संस्करण के लिए लेखक द्वारा लिखी गयी भूमिका, दूसरे जर्मन संस्करण के लिए परिशिष्ट तथा खण्ड २ के लिए फ़्रेडरिक एंगेल्स द्वारा लिखी गयी भूमिका को प्रस्तुत संस्करण में शामिल किया गया है। इसी संस्करण में ये रचनाएं भी शामिल की गयी हैं: एंगेल्स कृत 'प्रकृति की द्वन्द्वात्मक गति' की 'भूमिका', '"ड्यूहरिंग [मतखण्डन]" की पुरानी भूमिका। द्वन्द्ववाद के सम्बन्ध में', 'वानर के नर बनने की प्रक्रिया में श्रम की भूमिका'; इसमें एंगेल्स का पैम्फ़लेट 'समाजवाद: काल्पनिक तथा वैज्ञानिक' अविकल रूप में दिया गया है। उसमें 'ड्यूहरिंग मतखण्डन' के तीन अध्याय हैं जिन्हें लेखक ने दुबारा लिखा था।

इस विस्तारित संस्करण में मार्क्स तथा एंगेल्स की 'संकलित रचनाएं' के चार भागों वाले हिन्दी संस्करण में पहले प्रकाशित की जा चुकी सारी रचनाएं मौजूद हैं, उनके अलावा इसमें ये रचनाएं और जोड़ दी गयी हैं: मार्क्स तथा एंगेल्स कृत 'जर्मन विचारधारा' का पहला अध्याय ('फ़ायरबाख़। भौतिकवादी तथा भाववादी दृष्टिकोण का विरोध'), जिसमें इतिहास के भौतिकवादी संप्रत्ययन का व्यापक रूप से वर्णन किया गया है; मार्क्स कृत 'अस्थायी जनरल कौंसिल के

*अंग्रेज़ी और हिन्दी संस्करणों में यह भाग ८ (अध्याय २६–३२) है। – सं०

डेलीगेटों के लिए निर्देश। विभिन्न प्रश्न', 'गोपनीय संदेश', 'हेग कांग्रेस', 'भूमि का राष्ट्रीयकरण' तथा वेरा ज़सूलिच की चिट्ठी के जवाब का पहला मसविदा, एंगेल्स कृत 'कम्युनिज़्म के सिद्धान्त', 'जर्मनी में क्रान्ति तथा प्रतिक्रान्ति', '"रूस में सामाजिक सम्बन्धों के विषय में" का उपसंहार', 'इतिहास में बल-प्रयोग की भूमिका', '१८९१ के सामाजिक-जनवादी कार्यक्रम के मसौदे की एक समीक्षा'। वर्तमान संस्करण में 'इंटरनेशनल में कल्पित फूटें' को भी शामिल किया गया है जिसे मार्क्स तथा एंगेल्स ने मिलकर लिखा था। मार्क्स तथा एंगेल्स की चिट्ठियों वाले अनुभाग को भी बढ़ा दिया गया है।

तीन खण्ड वाले इस संस्करण में दी गयी रचनाएं मूलतया कालक्रमानुसार शामिल की गयी हैं। परन्तु स्वयं लेखकों द्वारा लिखित भूमिकाएं तथा उपसंहार – चाहे वे किसी भी समय लिखे गये हों – उन रचनाओं के साथ ही दे दिये गये हैं जिनकी वे चर्चा करते हैं। मार्क्स तथा एंगेल्स की चिट्ठियां हर खण्ड के अन्त में सम्बन्धित खण्ड की परिधि में आनेवाली अवधि के अनुसार दी गयी हैं।

तीनों में से हर खण्ड के साथ सम्पादकीय टिप्पणियां और नामों की सूची दी गयी है। लेखकों की टिप्पणियां पृष्ठ के अन्त में प्रस्तुत की गयी हैं।

सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के अधीन मार्क्सवाद-लेनिनवाद संस्थान

फ़ायरबाख़ पर निबन्ध[1]

१

अब तक के सारे भौतिकवाद की – जिसमें फ़ायरबाख़ का भौतिकवाद भी शामिल है – मुख्य त्रुटि यह है कि वस्तु [Gegenstand], वास्तविकता और ऐन्द्रीयता को केवल **विषय** [Objekt] या **अनुध्यान** [Anschauung] के रूप में कल्पित किया जाता है, न कि **मानव की ऐन्द्रिय क्रिया, व्यवहार के रूप में,** न कि आत्मनिष्ठ रूप में। इसलिए फल यह हुआ कि **क्रियाशील** पक्ष, भौतिकवाद के विपरीत, भाववाद द्वारा विकसित किया गया – लेकिन केवल अमूर्त्त रूप में, क्योंकि भाववाद वास्तविक ऐन्द्रिय क्रिया से सर्वथा अपरिचित है। फ़ायरबाख़ ऐन्द्रिय वस्तुओं को विचार-वस्तुओं से वास्तव में विभेदित रूप में चाहते हैं, पर वह स्वयं मानव क्रिया को **वस्तुनिष्ठ** [gegenständliche] क्रिया के रूप में नहीं देखते। इसलिए अपनी पुस्तक 'ईसाई धर्म का सार' में वह सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को ही एकमात्र सच्चा मानवीय दृष्टिकोण मानते हैं, और व्यवहार को प्रतीति के निकृष्ट प्रवंचक रूप में ही विचारा और ठहराया जाता है। इसी लिए वह "क्रान्तिकारी" और "व्यावहारिक-आलोचनात्मक" कार्यशीलता का महत्त्व नही समझ पाते।

२

क्या मानव-चिन्तन के लिए कहा जा सकता है कि वह वस्तुनिष्ठ [gegenständliche] सत्य का अवबोध कर सकता है, यह प्रश्न सैद्धान्तिक नहीं, बल्कि **व्यावहारिक** है। व्यवहार में मनुष्य को अपने चिंतन की सत्यता, अर्थात् यथार्थता और शक्ति, उसकी इह-पक्षता [Diesseitigkeit] को प्रमाणित करना पड़ता है। व्यवहार से पृथक् रूप में चिन्तन की यथार्थता या अयथार्थता सम्बन्धी विवाद कोरा **वितंडावादी** प्रश्न है।

३

यह भौतिकवादी सिद्धान्त कि मनुष्य परिस्थितियों एवं शिक्षा-दीक्षा की उपज हैं, और इसलिए परिवर्तित मनुष्य भिन्न परिस्थितियों एवं भिन्न शिक्षा-दीक्षा की उपज हैं इस बात को भुला देता है कि परिस्थितियों को मनुष्य ही बदलते हैं और शिक्षक को स्वयं शिक्षा की आवश्यकता होती है। अतः यह सिद्धान्त अनिवार्यतः समाज को दो भागों में विभक्त कर देने के निष्कर्ष पर पहुंचता है, जिनमें से एक भाग समाज से ऊपर होता है (रॉबर्ट ओवेन में, उदाहरणार्थ, हम ऐसा पाते हैं)।

परिस्थितियों तथा मानव क्रियाकलाप के परिवर्तन का संपात केवल **क्रान्तिकारी व्यवहार** के रूप में विचारा तथा तर्कबुद्धि द्वारा समझा जा सकता है।

४

फ़ायरबाख़ धार्मिक आत्मवियोजन—अर्थात् जगत् के दो दुनियाओं, एक ख़्याली, धार्मिक दुनिया और दूसरी वास्तविक दुनिया, में विभाजन—के तथ्य से आरम्भ करते हैं। उन्होंने काम यह किया कि इस धार्मिक जगत् को उसके भौतिक आधार में विलयित कर दिया। वह इस तथ्य को नजरअन्दाज़ कर देते हैं कि उपरोक्त कार्य की पूर्त्ति के बाद मुख्य कार्य फिर भी अधूरा रह जाता है। क्योंकि यह बात कि भौतिक आधार अपने को अपने से पृथक् कर लेता है और जाकर आसमान में अपने को एक स्वतन्त्र क्षेत्र के रूप में स्थापित करता है, केवल इस भौतिक आधार के आत्म-विभाजन और आत्म-विरोध द्वारा ही समझा जा सकता है। अतः भौतिक आधार पहले अपने अन्तर्विरोध की अवस्था में समझा जाना चाहिए और तब अन्तर्विरोध को हटाकर उसे व्यवहार में क्रान्तिकारी रूप देना चाहिए। मिसाल के तौर पर, एक बार यह सिद्ध हो जाने पर कि पावन परिवार की जड़ वास्तव में पार्थिव परिवार है, पार्थिव परिवार का सिद्धान्ततः खंडन होना चाहिए और व्यवहारतः क्रान्तिकारीकरण।

५

फ़ायरबाख़ **अमूर्त्त चिन्तन** से सन्तोष न प्राप्त कर **ऐन्द्रिय मनन** की शरण लेते हैं, पर वह ऐन्द्रीयता को **व्यावहारिक**, मानवीय, ऐन्द्रिय क्रिया के रूप में नहीं विचारते।

६

फ़ायरबाख़ धार्मिक सारतत्त्व को विश्लेषित कर उसे **मानवीय** सारतत्त्व में विसर्जित कर देते हैं। पर मानवीय सारतत्त्व कोई अपकर्षित तत्त्व नहीं है जो पृथक् व्यक्ति में अन्तर्निहित हो। अपनी यथार्थता में वह सामाजिक सम्बन्धों का साकल्य है।

फ़ायरबाख़ जो इस यथार्थ सारतत्त्व की समीक्षा नहीं करते, परिणामस्वरूप इस बात के लिए बाध्य होते हैं:

१. ऐतिहासिक प्रक्रिया से अपकर्षित करके धार्मिक भावना [Gemüt] को स्वयंस्थित वस्तु के रूप में प्रतिष्ठित करना और एक अमूर्त्त – **पृथक्कृत** – मानव व्यक्ति की पूर्वधारणा करना।

२. उनकी दृष्टि में मानवीय सारतत्त्व केवल "वंश" [genus] की शक्ल में समझा जा सकता है, अर्थात् मूक अंतर्निहित सामान्यता के रूप में जो केवल **प्रकृत्या** बहुत-से व्यक्तियों को ऐक्यबद्ध कर देती है।

७

फलतः फ़ायरबाख़ यह नहीं देखते कि "धार्मिक भावना" स्वयं ही एक **सामाजिक उपज** है और जिस अमूर्त्त व्यक्ति का उन्होंने विश्लेषण किया है, वह वस्तुतः समाज की एक विशेष व्यवस्था का प्राणी है।

८

सामाजिक जीवन मूलतः **व्यावहारिक** है। सारे रहस्य जो सिद्धान्त को रहस्यवाद के ग़लत रास्ते पर भटका देते हैं, मानव व्यवहार में और इस व्यवहार के संज्ञान में अपना बुद्धिसम्मत समाधान पाते हैं।

९

अनुध्यानवादी भौतिकवाद की – अर्थात् उस भौतिकवाद की जो ऐन्द्रीयता को व्यावहारिक क्रिया नहीं मानता – चरम उपलब्धि "नागरिक समाज" में पृथक् व्यक्तियों का अनुध्यान है।

१०

पुराने भौतिकवाद का दृष्टि-बिन्दु **"नागरिक"** समाज है, नये भौतिकवाद का दृष्टि-बिन्दु **मानव** समाज, या समाजीकृत मानवजाति है।

११

दार्शनिकों ने विभिन्न विधियों से विश्व की केवल **व्याख्या ही** की है, लेकिन प्रश्न विश्व को **बदलने** का है।

मार्क्स द्वारा १८४५ की वसन्त ऋतु में लिखित।

सर्वप्रथम एंगेल्स द्वारा १८८८ में उनके 'लुडविग फ़ायरबाख़' के पृथक् संस्करण में परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित।

अंग्रेज़ी से अनूदित।

कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स

फ़ायरबाख़। भौतिकवादी तथा भाववादी दृष्टिकोण का विरोध

('जर्मन विचारधारा' का पहला अध्याय)[2]

[१]

[पन्ना १] जैसा कि हम जर्मन विचारधारा-निरूपकों से सुनते हैं, जर्मनी पिछले चन्द वर्षों में अद्वितीय क्रान्ति के बीच से गुज़रा है। हेगेलीय दर्शन के विघटन की प्रक्रिया, जो स्ट्रॉस के साथ शुरू हुई थी,[3] बढ़ते-बढ़ते एक ऐसा सार्वत्रिक उफान बन गयी है जिसकी लपेट में "अतीत की तमाम शक्तियां" आ गयी हैं। आम अराजकता में शक्तिशाली साम्राज्यों का उद्भव हुआ, केवल तत्काल मृत्यु के मुंह में पहुंचने के लिए, वीरों का जन्म क्षणभर के लिए हुआ, केवल तुरन्त अधिक साहसी तथा अधिक वीर प्रतिद्वन्द्वियों द्वारा विस्मृति के गर्त्त में धकेले जाने के लिए। यह एक ऐसी क्रान्ति थी जिसके सामने फ़्रांसीसी क्रान्ति[4] बच्चों का खेल मात्र थी, यह एक ऐसा विश्व-संघर्ष था जिसके सामने डियाडोचियों[5] की लड़ाइयां तुच्छ प्रतीत होती हैं। अभूतपूर्व तीव्र गति से सिद्धान्त एक-दूसरे को धकेलकर उनका स्थान लेते रहे, मस्तिष्कों के सूरमा एक-दूसरे को उलटते चले गये, और १८४२-४५ के बीच के तीन वर्षों में जर्मनी से अतीत का जितना सफ़ाया हुआ उतना पहली तीन शताब्दियों के दौरान नहीं हुआ था।

यह माना जाता है कि यह सब विशुद्ध चिन्तन के क्षेत्र में हुआ।

यक़ीनन यह एक दिलचस्प घटना है – यह है परमचित्त के विघटन की प्रक्रिया। जब उसके जीवन की अन्तिम चिनगारी बुझ गयी तो इस caput mortuum* के भिन्न-भिन्न अंग विघटित हो गये, उनके नये सम्मिश्रण बनने लगे तथा नये पदार्थ तैयार हुए। दर्शनशास्त्र का व्यवसाय करनेवाले लोगों ने, जो तब तक परमचित्त के उपयोग के सहारे जीवित रहते थे, अब झट से नये सम्मिश्रणों को

---

*शाब्दिक अर्थ है मृत शीर्ष, रसायनशास्त्र में आसवन के बाद रह जानेवाले अवशेषों के लिए यह शब्द प्रयुक्त किया जाता है। यहां अर्थ है अवशिष्ट। – सं०

हथिया लिया। हर एक ने बंटवारे में हासिल अपने हिस्से की फुटकर बिक्री शुरू कर दी। इसने स्वभावतया प्रतियोगिता को जन्म दिया। आरम्भ में तो प्रतियोगिता संजीदे, पूंजीवादी शालीनताभरे ढंग की थी। परन्तु बाद में जब जर्मन मंडी माल से खचाखच भर गयी और सारी कोशिशों के बावजूद माल की विश्व मंडी में कोई पूछ नहीं हुई तो कारोबार सामान्य जर्मन ढंग से जाली और नक़ली उत्पादन, गुण में गिरावट, कच्चे माल की मिलावट, झूठे लेबल, जाली ख़रीद, बिल बनाने में हेराफेरी तथा किसी भी तरह के वास्तविक आधार से शून्य साख-प्रणाली के ज़रिए बिगाड़ दिया गया। प्रतियोगिता कटु संघर्ष में परिणत हो गयी जिसका इस समय गुणगान किया जा रहा है तथा जिसे हमारे हेतु विश्व महत्व की क्रान्ति के रूप में, सर्वाधिक अद्भुत परिणामों तथा उपलब्धियों को जन्म देनेवाले उपादान के रूप में विवेचित किया जा रहा है।

यदि हम इस दार्शनिक नीमहकीमी की, जो ईमानदार जर्मन नागरिक तक के मन में राष्ट्रीय गौरव की लौ पैदा कर देती है, असली क़ीमत निर्धारित करना चाहते हैं, यदि हम इस पूरे के पूरे तरुण हेगेलीय आन्दोलन की तुच्छता को, उसकी स्थानिकतावादी संकीर्णता को और विशेष रूप से अपनी उपलब्धियों के बारे में इन सूरमाओं के भ्रमों तथा उनकी असल उपलब्धियों के बीच कारुणिक-उपहासास्पद वैषम्य को स्पष्ट रूप से सामने लाना चाहते हैं तो हमें जर्मनी की सीमाओं के परे से परिदृश्य को देखना चाहिए।*

---

*[यहां कापी के प्रथम पाठान्तर से निम्नलिखित अंश काट दिया गया है:]

[पृष्ठ २] इसलिए हम इस आन्दोलन के प्रतिनिधियों की विशिष्ट आलोचना के प्राक्कथन के रूप में चन्द आम टीकाएं करना चाहते हैं, ऐसा करते समय हम उन विचारधारात्मक आधारों का विशदीकरण करना चाहते हैं जो उन सब में एक समान हैं। ये टीकाएं हमारे द्वारा की जानेवाली आलोचना के दृष्टिबिन्दु को, जहां तक आगे की व्यक्तिगत आलोचनाओं की समझदारी तथा प्रयोजन के लिए उसकी आवश्यकता है, परिलक्षित करने के वास्ते पर्याप्त होंगी। हम ये टीकाएं [पृष्ठ ३] विशेष रूप से **फ़ायरबाख़** के विरुद्ध करते हैं क्योंकि वह एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने कुछ प्रगति की है तथा जिनकी रचनाएं de bonne foi [गम्भीरतापूर्वक] विवेचित की जा सकती हैं।

१. विचारधारा सामान्य रूप से, जर्मन विचारधारा विशेष रूप से

(क) हम केवल एक विज्ञान जानते हैं, वह है इतिहास का विज्ञान। इतिहास को दो पहलुओं से देखा जा सकता है, उसे प्रकृति के इतिहास तथा मनुष्यों के इतिहास में बांटा जा सकता है। परन्तु दोनों पहलू अविभाज्य हैं; प्रकृति का

[१.] विचारधारा सामान्य रूप से, जर्मन विचारधारा विशेष रूप से

[पन्ना २] जर्मन आलोचना ने ठीक अपने नवीनतम प्रयासों तक कभी दर्शन का क्षेत्र नहीं छोड़ा। अपने आम दार्शनिक आधार-बिन्दुओं की जांच-परख करना तो रहा दूर, उसके अन्वेषणों का पूरा ढांचा एक निश्चित दार्शनिक प्रणाली की धरती से प्रस्फुटित हुआ है, वह है हेगेल की दार्शनिक पद्धति। उसके उत्तरों में ही नहीं, प्रश्नों तक में रहस्याच्छन्नता थी। हेगेल पर इस आश्रितता के ही कारण इन आधुनिक आलोचकों में से एक ने भी हेगेलीय पद्धति की व्यापक आलोचना करने का यत्न तक नहीं किया, भले ही उनमें से हर एक हेगेल से आगे बढ़ने का कितना ही दावा क्यों न करे। हेगेल के ख़िलाफ़ तथा एक-दूसरे के ख़िलाफ़ उनके वादानुवाद इस चीज़ तक सीमित हैं—हर एक हेगेलीय पद्धति से उसका एक पक्ष चुन लेता है तथा उसे पूरी पद्धति के विरुद्ध और साथ ही दूसरे लोगों द्वारा उस पद्धति से चुने गये अन्य पहलुओं के विरुद्ध लक्षित कर देता है। पहले उन्होंने "द्रव्य" तथा "आत्मचेतना" जैसे हेगेलीय प्रवर्गों को उनके विशुद्ध अविकृत रूप में चुनकर अलग किया,* बाद में उन्होंने उन्हें "वंश", "अनुपम", "मानव"** आदि अधिक लौकिक नाम देकर इन प्रवर्गों को तुच्छ बना दिया।

जर्मन दार्शनिक आलोचना का समूचा ढांचा स्ट्रॉस से लेकर स्टर्नर तक धार्मिक संप्रत्ययनों की आलोचना तक सीमित है।*** आलोचकों ने वास्तविक धर्म तथा

इतिहास तथा मनुष्यों का इतिहास एक-दूसरे पर तब तक आश्रित रहेंगे, जब तक मनुष्य रहेंगे। प्रकृति के इतिहास का, तथाकथित प्रकृति-विज्ञान का यहां हमसे सरोकार नहीं है; परन्तु हमें मनुष्यों के इतिहास की जांच-परख करनी होगी क्योंकि समूची विचारधारा या तो इस इतिहास की विकृत परिभाषा है अथवा उससे पूर्ण पृथक्करण है। विचारधारा स्वयं इस इतिहास का एक पहलू मात्र है।

[साफ़ कापी के प्रथम पाठान्तर में एक और अंश आता है जिसे काटा नहीं गया है, यह इतिहास के भौतिकतावादी संप्रत्ययन के आधार-बिन्दु के बारे में है। इस खण्ड में यह अंश साफ़ कापी के मुख्य (द्वितीय) पाठान्तर में अनुभाग दो के रूप में शामिल किया गया है (देखें पृष्ठ १९–२१)।—सं०]

*डेविड स्ट्रॉस तथा ब्रूनो बावेर के मूल प्रवर्ग।—सं०

**लुडविग फ़ायरबाख़ तथा माक्स स्टर्नर के मूल प्रवर्ग।—सं०

***[निम्नलिखित अंश पर पाण्डुलिपि में काटे का निशान है:] ये संप्रत्ययन... सारी बुराई से विश्व के परम मुक्तिदाता होने का दावा करते हैं। धर्म को निरन्तर कट्टर शत्रु, इन दार्शनिकों के लिए अप्रीतिकर तमाम सम्बन्धों का अन्तिम कारण माना गया तथा उससे उसी तरह व्यवहार किया गया।

वास्तविक धर्मशास्त्र से कार्य आरम्भ किया। धार्मिक चेतना तथा धार्मिक संप्रत्ययन का वस्तुत: क्या अर्थ था, बाद में यह भिन्न-भिन्न प्रकार से निर्धारित किया गया। उनकी अग्रगति यह थी कि उन्होंने कथित प्रभावी अधिभूतवादी, राजनीतिक, न्यायिक, नैतिक तथा अन्य संप्रत्ययनों को धार्मिक अथवा धर्मशास्त्रीय संप्रत्ययनों की कोटि के अन्तर्गत शामिल किया; और इसी तरह उनकी अग्रगति इसमें निहित थी कि उन्होंने राजनीतिक, न्यायिक, नैतिक चेतना को धर्मनिष्ठ अथवा धर्मशास्त्रनिष्ठ, तथा राजनीतिक, न्यायिक तथा नैतिक मानव – अन्ततोगत्वा **"मानव"** – को धर्मनिष्ठ उद्घोषित किया। धर्म के प्रभुत्व को पूर्वनिश्चित वस्तु माना जाता था। धीरे-धीरे प्रत्येक प्रभावी सम्बन्ध को धार्मिक सम्बन्ध उद्घोषित कर दिया गया तथा उसे पंथ – क़ानून के पंथ, राज्य के पंथ आदि में परिणत कर दिया गया। चारों ओर जड़सूत्र थे और जड़सूत्रों में विश्वास था। विश्व को अधिकाधिक मात्रा में पवित्रीकृत किया जाता रहा, तब अन्तत: हमारे श्रद्धास्पद सन्त माक्स* उसे en bloc** पवित्र घोषित करने और इस प्रकार उसे सदा-सर्वदा के लिए ठिकाने लगाने में समर्थ रहे।

पुराने हेगेलपंथी मानते थे कि उन्होंने सब कुछ **समझ लिया**, क्योंकि सब कुछ किसी न किसी हेगेलीय प्रवर्ग में परिणत कर दिया गया। तरुण हेगेलपंथियों ने हर वस्तु में धार्मिक संप्रत्ययनों के लक्षण बताकर अथवा उसे धर्मशास्त्रीय मामला बताकर सब कुछ की **आलोचना** की। तरुण हेगेलपंथी धर्म के, संप्रत्ययनों के, मौजूदा विश्व में सार्वलौकिक सिद्धान्त के शासन में अपने विश्वास के मामले में पुराने हेगेलपंथियों से सहमत हैं। अन्तर केवल इतना है कि एक पक्ष इस शासन को बलापहार बताकर उस पर प्रहार किया करता है जबकि दूसरा उसे वैध बताकर उसका गुणगान करता है।

चूंकि तरुण हेगेलपंथी संप्रत्ययनों, चिन्तनों तथा विचारों को वस्तुत: चेतना की समस्त उपजों को, जिन्हें वे स्वतंत्र अस्तित्व का बताते हैं, लोगों के लिए असल बेड़ियां मानते हैं (ठीक उसी तरह जिस तरह पुराने हेगेलपंथियों ने उन्हें मानव समाज के सच्चे सम्बन्ध-सूत्र बताया था), अत: यह स्पष्ट है कि तरुण हेगेलपंथियों को केवल चेतना के इन भ्रमों के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ता है। चूंकि तरुण हेगेलपंथियों की कल्पना की उड़ान के अनुसार लोगों के सम्बन्ध, उनके सारे

---

* माक्स स्टर्नर। – सं०

** पूरी तरह। – सं०

काम, उनकी बेड़ियां और उनकी सीमाएं उनकी चेतना की उपज हैं, इसलिए वे तर्कतः लोगों के सामने यह नैतिक आधारभूत मांगें पेश करते हैं कि वे अपनी वर्तमान चेतना के स्थान पर मानवीय, आलोचनात्मक अथवा अहंवादी चेतना रखें* तथा इस प्रकार अपनी सीमाएं समाप्त करें। चेतना के परिवर्तन की इस मांग का अर्थ है यथार्थ की किसी और ढंग से व्याख्या करना अर्थात उसे किसी और व्याख्या से मान्यता देना। तरुण हेगेलीय सिद्धान्तकार अपने कथित "विश्व-विखण्डनकारी" वक्तव्यों[6] के बावजूद सबसे कट्टर अनुदारपंथी हैं। उनमें से सबसे नये लोगों को अपने कार्यकलाप के लिए सही अभिव्यक्ति मिल जाती है जब वे यह घोषणा करते हैं कि वे केवल **"शब्दों"** के ख़िलाफ़ लड़ रहे हैं। परन्तु वे भूल जाते हैं कि वे इन शब्दों के मुक़ाबले में शब्दों के अलावा और कुछ नहीं रखते और जब केवल इस विश्व के शब्दों के विरुद्ध लड़ते हैं तो वे वास्तविक रूप से विद्यमान विश्व से किसी भी तरह टक्कर नहीं ले रहे हैं। इस दार्शनिक आलोचना से जो एकमात्र फल हाथ लग सके, वे थे धार्मिक इतिहास के दृष्टिकोण से ईसाई धर्म के बारे में चन्द (और वह भी बिल्कुल इकतरफ़ा) विशदीकरण; उनके बाक़ी सारे कथन इन तुच्छ विशदीकरणों में मानवजाति के लिए महत्व रखनेवाली खोजें किये जाने के उनके दावे का अलंकरण मात्र हैं।

इन दार्शनिकों में से एक को भी जर्मन दर्शन के जर्मन यथार्थ से सम्बन्ध का, अपनी आलोचना के अपने भौतिक परिवेश से सम्बन्ध का पता लगाने की बात नहीं सूझी।**

[२. इतिहास के भौतिकवादी संप्रत्ययन के आधार-बिन्दु]***

[पृष्ठ ३] हम जिन्हें पूर्वाधार बनाकर कार्य आरम्भ कर रहे हैं, वे मनमाने ढंग के नहीं हैं, वे जड़सूत्र भी नहीं हैं, वे तो वास्तविक आधार-बिन्दु हैं जिनसे केवल कल्पना में ही अपकर्षण किया जा सकता है। वे तो वास्तविक व्यक्ति, उनके कार्यकलाप तथा वे भौतिक अवस्थाएं हैं जिनके अन्तर्गत वे रहते हैं, ये, वे

---

*संकेत लुडविग फ़ायरबाख़, ब्रूनो बावेर तथा माक्स स्टर्नर की ओर है।—सं०

**इसके आगे साफ़ कापी के मुख्य पाठान्तर की पाण्डुलिपि में पृष्ठ का बाक़ी भाग कोरा है। अगले पृष्ठ पर दिया गया पाठ इस खण्ड में अनुभाग ३ के रूप में प्रस्तुत किया गया है।—सं०

***इस अनुभाग का पाठ साफ़ कापी के प्रथम रूपान्तर से लिया गया है।—सं०

दोनों भौतिक अवस्थाएं हैं, जिन्हें वे पहले ही मौजूद पाते हैं तथा जिन्हें उनके कार्यकलाप जन्म देते हैं। इन पूर्वाधारों को इस प्रकार [पृष्ठ ४] विशुद्ध इन्द्रियानुभविक ढंग से परखा जा सकता है।

सम्पूर्ण मानव इतिहास का पहला पूर्वाधार निस्सन्देह विद्यमान प्राणवान मानव है।* अतः जिस प्रथम तथ्य को स्थापित किया जाना चाहिये, वह यह है कि इन मानवों का एक निश्चित शारीरिक गठन होता है और यह गठन शेष प्रकृति के साथ उनके सम्बन्धों को निर्धारित करता है। निस्सन्देह हम यहां मानव की शारीरिक बनावट का अथवा प्राकृतिक अवस्थाओं – भूगर्भीय, पार्वतिक, जल-सर्वेक्षीय, जलवायु सम्बन्धी अवस्थाओं आदि – का, जिनमें मानव अपने को पाता है, विवेचन नहीं कर सकते।** इतिहास लिखने का कार्य हमेशा इन प्राकृतिक आधारों से तथा इतिहास के प्रवाह के दौरान मानव के कार्यकलाप के माध्यम से उनमें होनेवाले परिवर्तनों से आरम्भ किया जाना चाहिए।

चेतना से, धर्म से या किसी भी अन्य वस्तु से, जिसे आप चाहें, मनुष्य तथा पशुओं के बीच भेद किया जा सकता है। मनुष्य ज्यों ही आजीविका के अपने साधन **पैदा करना** आरम्भ करते हैं, यानी एक ऐसा पग उठाते हैं जो उनके शारीरिक गठन द्वारा निर्धारित होता है, वे स्वयं अपने और पशुओं के बीच भेद करने लगते हैं। आजीविका के अपने साधन पैदा कर मनुष्य परोक्ष रूप से अपना वास्तविक भौतिक जीवन पैदा कर रहे हैं।

मनुष्य आजीविका के अपने साधनों को किस तरह पैदा करते हैं, यह सर्वोपरि आजीविका के उन वास्तविक साधनों के स्वरूप पर निर्भर करता है जिन्हें वे मौजूद पाते हैं और जिन्हें उन्हें पुनरुत्पादित करना पड़ता है।

[पृष्ठ ५] उत्पादन की इस विधि को व्यक्तियों के शारीरिक अस्तित्व का पुनरुत्पादन मात्र नहीं माना जाना चाहिए। इससे भी अधिक यह तो इन व्यक्तियों के कार्यकलाप का एक निश्चित रूप है, उनके जीवन की अभिव्यक्ति

---

* [पाण्डुलिपि से आगे दिया गया अंश काट दिया गया है:] इन मानवों का प्रथम **ऐतिहासिक** कार्य जो उन्हें पशुओं से भिन्न करता है, यह नहीं है कि वे सोचते हैं, वरन यह है कि वे **आजीविका के अपने साधन पैदा करने लगते हैं।**

** [पाण्डुलिपि से आगे दिया गया अंश काट दिया गया है:] लोगों का मूल, स्वतःस्फूर्त गठन, ख़ास तौर पर नस्ली अन्तर ही इन अवस्थाओं पर निर्भर नहीं करते, बल्कि साथ ही वर्तमान काल तक लोगों का समूचा विकास अथवा विकास का अभाव भी इन अवस्थाओं पर निर्भर करता है।

का एक निश्चित रूप है, उनकी एक निश्चित **जीवन-पद्धति** है। व्यक्ति जिस तरह अपनी जीवन-प्रक्रिया अभिव्यक्त करते हैं, उसी तरह वे होते हैं। वे क्या हैं, यह चीज़ अतः उनके उत्पादन से, इन दोनों बातों से मेल खाती है कि वे **क्या** पैदा करते हैं और **कैसे** पैदा करते हैं। इस तरह व्यक्तियों की प्रकृति उन भौतिक अवस्थाओं पर निर्भर करती है जो उनके उत्पादन को निर्धारित करती हैं।

यह उत्पादन केवल **आबादी की वृद्धि** के साथ ही अपने को प्रकट करता है। उधर अपनी बारी में यह चीज़ व्यक्तियों के एक-दूसरे से **संसर्ग** [Verkehr] की पूर्वकल्पना करती है।[7] इस संसर्ग का रूप फिर से उत्पादन द्वारा निर्धारित होता है।*

[३. उत्पादन तथा संसर्ग। श्रम का विभाजन तथा सम्पत्ति के रूप: क़बायली, प्राचीन यूनानी-रोमन, सामन्ती]

[पन्ना ३] विभिन्न जातियों के आपस मे सम्बन्ध इस बात पर निर्भर करते हैं कि उनमें से हर एक ने अपना उत्पादक शक्तियों, श्रम के विभाजन तथा आन्तरिक संसर्ग का किस हद तक विकास किया है। इस तथ्य को आम तौर पर स्वीकार किया जाता है। परन्तु एक जाति का दूसरी जाति के साथ सम्बन्ध ही नहीं वरन स्वयं जाति का समूचा आन्तरिक ढांचा भी इस बात पर निर्भर करता है कि उसका उत्पादन तथा उसका आन्तरिक एवं बाह्य संसर्ग विकास की किस मंज़िल तक पहुंच गये हैं। किसी जाति की उत्पादक शक्तियों का विकास श्रम-विभाजन की मात्रा में सर्वाधिक स्पष्ट रूप से प्रदर्शित होता है। प्रत्येक नयी उत्पादक शक्ति – चूंकि वह उत्पादक शक्तियों का पहले से ही ज्ञात परिमाणगत विस्तार (उदाहरण के लिए नयी भूमि को काश्त के अन्तर्गत लाना) मात्र नहीं होती – श्रम के विभाजन का और विकास करती है।

किसी जाति के अन्दर श्रम के विभाजन के फलस्वरूप पहले औद्योगिक तथा वाणिज्यिक श्रम का कृषि-श्रम से पृथक्करण होता है और इसलिए **शहर** तथा **गांव** का पृथक्करण होता है और उनके हितों में टकराव होता है। उसके और आगे विकास के फलस्वरूप वाणिज्यिक श्रम का औद्योगिक श्रम से पृथक्करण होता है। साथ ही साथ इन विभिन्न शाखाओं के अन्दर श्रम के विभाजन के ज़रिए श्रम की निश्चित क़िस्मों में सहयोग कर रहे मनुष्यों में विभिन्न विभाजन विकसित

*साफ़ कापी का प्रथम रूप यहां आकर समाप्त हो जाता है। इस खण्ड में आगे साफ़ कापी का मुख्य पाठ दिया गया है। – सं०

होते हैं। व्यक्तियों के इन समूहों के परस्पर संबंध कृषि, उद्योग तथा वाणिज्य में उपयोग में लायी जानेवाली विधियों (पितृसत्तात्मकता, दासत्व, एस्टेट*, वर्ग) से निर्धारित होते हैं। ये ही अवस्थाएं (अधिक विकसित संसर्ग की दशा में) विभिन्न जातियों के एक-दूसरे के साथ सम्बन्धों में भी देखने को मिलती हैं।

श्रम के विभाजन में विकास की विभिन्न मंज़िलें स्वामित्व के विभिन्न रूप भी हैं अर्थात् श्रम के विभाजन में मौजूदा मंज़िल श्रम की सामग्री, औज़ार और उपज के संदर्भ में एक-दूसरे के साथ व्यक्तियों के सम्बन्धों को भी निर्धारित करती है।

स्वामित्व का पहला रूप क़बायली [Stammeigentum] स्वामित्व है।[8] वह उत्पादन की उस अविकसित मंज़िल से मेल खाता है जिसमें इन्सान शिकार कर और मछलियां पकड़ कर, मवेशी पाल कर या सबसे ऊंची मंज़िल में खेती कर जीवन-यापन करता है। खेती के मामले में वह परती पड़ी भूमि के विस्तृत खण्डों की पूर्वकल्पना करता है। श्रम का विभाजन इस मंज़िल में अभी बहुत ही प्राथमिक अवस्था का होता है तथा परिवार में मौजूद श्रम के प्राकृतिक विभाजन के आगे विस्तार तक सीमित रहता है। अतः सामाजिक ढांचा परिवार के विस्तार तक – क़बीले के पितृसत्तात्मक सरदार, उनके नीचे क़बीले के सदस्य, अन्ततः दास – सीमित रहता है। परिवार में अन्तर्निहित दासता आबादी की वृद्धि के साथ, आवश्यकताओं की वृद्धि के साथ तथा बाह्य सम्बन्धों के – युद्ध तथा वस्तु-विनिमय दोनों के – विस्तार के साथ धीरे-धीरे ही विकसित होती जाती है।

दूसरा रूप है प्राचीन यूनानी-रोमन सामुदायिक तथा राजकीय स्वामित्व जिसे विशेष रूप से क़रार या विजय द्वारा कई क़बीलों की एक नगर में संघबद्धता जन्म देती है तथा जिसके साथ दासता अब भी चलती रहती है। सामुदायिक स्वामित्व के साथ-साथ हम सचल तथा आगे चलकर अचल निजी स्वामित्व को विकसित होते पाते हैं परन्तु वह असामान्य रूप की तरह विकसित होता है जो सामुदायिक स्वामित्व के मातहत रहता है। नागरिकों का केवल अपने समुदाय के अन्दर ही अपने श्रमरत दासों पर अधिकार होता है, इस कारण ही वे सामुदायिक स्वामित्व के रूप से बंधे होते हैं। यह सामुदायिक निजी स्वामित्व ही है जो सक्रिय नागरिकों को अपने अधीन दासों के विरुद्ध संघबद्धता के स्वतःस्फूर्त ढंग से प्राप्त इस रूप के अन्दर बने रहने के लिए विवश करता है। इस कारण

*सामन्तवाद के अन्तर्गत पुश्तैनी अधिकारों और कर्त्तव्यों वाले लोगों के समूह। – सं०

इस सामुदायिक स्वामित्व पर आधारित समाज के पूरे ढांचे, और उसके साथ जनता की सत्ता का उसी हिसाब से क्षय होने लगता है जिस हिसाब से निजी, ख़ास तौर पर अचल सम्पत्ति बढ़ती जाती है। श्रम का विभाजन अधिक विकसित हो जाता है। अब हम शहर तथा देहात में वैर-वैमनस्य पाते हैं; आगे चलकर, शहर के हितों का प्रतिनिधित्व करनेवाले राज्यों के तथा देहातों के हितों का प्रतिनिधित्व करनेवाले राज्यों के बीच वैर-वैमनस्य पाते हैं, तथा स्वयं शहरों के अन्दर उद्योग तथा समुद्री वाणिज्य के बीच वैर-वैमनस्य पाते हैं। नागरिकों तथा दासों के बीच वर्ग-सम्बन्ध अब पूर्णतया विकसित हो चुका होता है।

निजी स्वामित्व के विकास के साथ हम यहां पहली बार वही अवस्थाएं पाते हैं जिन्हें हम फिर ज़रा अधिक व्यापक पैमाने पर आधुनिक निजी स्वामित्व में पायेंगे। एक ओर था निजी सम्पत्ति का संकेन्द्रण जो रोम में बहुत पहले आरम्भ हो गया था (जैसा कि लीसिनियम क़ानून[9] साबित करता है) तथा जो गृहयुद्धों के समय से और विशेष रूप से सम्राटों के समय में बहुत तेज़ी से अग्रसर हुआ; दूसरी ओर था इसके साथ-साथ निचले स्तर के छोटे कृषक समुदाय का सर्वहारा में रूपान्तरण, परन्तु वह सम्पत्तिधारी नागरिकों तथा दासों के बीच अपनी मध्यवर्ती स्थिति के कारण कभी स्वतंत्र विकास हासिल नहीं कर पाया।

स्वामित्व का तीसरा रूप है सामन्ती अथवा एस्टेट की सम्पत्ति। यदि यूनान और रोम का प्राचीन युग शहर तथा उसके छोटे-से इलाक़े से शुरू हुआ तो मध्य युग का सूत्रपात देहात से हुआ। इस भिन्न प्रस्थान-बिन्दु को निर्धारित किया उस समय आबादी की विरलता ने। वह बहुत बड़े इलाक़े में बिखरी हुई होती थी तथा विजेताओं ने उसमें बहुत वृद्धि नहीं की। यूनान तथा रोम के विपरीत सामन्ती विकास आरम्भ में इस कारण कहीं अधिक व्यापक क्षेत्र में फैला हुआ था, जिसे रोमन विजयाभियानों ने तथा आरम्भ में उनसे सम्बन्धित कृषि के प्रसार ने तैयार किया था। ह्रासोन्मुख रोमन साम्राज्य की अन्तिम शताब्दियों तथा बर्बरों द्वारा उस पर विजय-प्राप्ति ने बहुत-सी उत्पादक शक्तियां नष्ट कर डालीं; कृषि का ह्रास हुआ, मंडी के अभाव के कारण उद्योग का ह्रास हुआ, व्यापार का दम टूट गया अथवा उसे बलपूर्वक रोक दिया गया, देहाती और शहरी आबादी घट गयी। इन परिस्थितियों से तथा उन द्वारा निर्धारित विजयाभियानों के संगठन की विधि से जर्मन सैनिक संगठन के प्रभाव में सामन्ती स्वामित्व विकसित हुआ। क़बायली तथा सामुदायिक स्वामित्व की तरह यह भी सामुदायिकता पर आधारित है; परन्तु उसके विरुद्ध खड़ा प्रत्यक्ष उत्पादक वर्ग दास नहीं हैं जैसा कि प्राचीन

यूनानी और रोमन समुदाय के मामले में होता था, वह तो छोटे भूदासों का वर्ग है। सामन्तवाद ज्योंही पूर्णतया विकसित हो जाता है, शहरों के विरुद्ध बैरभाव भी उत्पन्न हो जाता है। भूस्वामित्व के सोपानक्रमिक ढांचे तथा उससे संबद्ध अनुचरों की हथियारबन्द टुकड़ियों ने अभिजात वर्ग को भूदासों पर अधिकार प्रदान किया। यह सामन्ती व्यवस्था भी प्राचीन यूनानी-रोमन सामुदायिक स्वामित्व की ही तरह गुलाम बनाये गये उत्पादक वर्ग के खिलाफ़ संगठन थी; परन्तु संघबद्धता का रूप तथा प्रत्यक्ष उत्पादकों से सम्बन्ध भिन्न थे क्योंकि उत्पादन की अवस्थाएं भिन्न थीं।

भूस्वामित्व की इस सामन्ती व्यवस्था का शहरों में नैगमिक सम्पत्ति के, व्यवसायों के सामन्ती संगठन के रूप में अपना प्रतिरूप था। यहां सम्पत्ति [पन्ना ४] थी मुख्यतया हर व्यक्ति का श्रम। संगठित लुटेरे सामन्ती वर्ग के खिलाफ़ संघबद्धता की आवश्यकता, ऐसे युग में, जब उद्योगपति साथ-साथ व्यापारी भी था, साझे के भंडारों की आवश्यकता, भाग कर उभरते नगरों में जमा होनेवाले भूदासों की बढ़ती प्रतियोगिता, पूरे देश का सामन्ती ढांचा – इन सबने मिलकर **शिल्प-संघों** को जन्म दिया। अलग-अलग दस्तकारों की धीरे-धीरे संचित होनेवाली पूंजी की बदौलत, जबकि बढ़ती आबादी के मुक़ाबले उनकी संख्या स्थिर थी, मज़दूर-कारीगरों तथा शागिर्दों के सम्बन्ध उत्पन्न हुए जिन्होंने शहरों में देहात की ही तरह का सोपानक्रम तैयार किया।

इस प्रकार सामन्ती युग के दौरान स्वामित्व का मुख्य रूप था एक ओर भूस्वामित्व जिसके साथ भूदास श्रम बंधा हुआ था, और दूसरी ओर छोटी पूंजी वाले ऐसे व्यक्ति का श्रम जिसके अधिकार में मज़दूर-कारीगर का श्रम था। दोनों का संगठन उत्पादन की सीमित अवस्थाओं – ज़मीन पर छोटे पैमाने तथा बाबा आदम के ज़माने की काश्तकारी तथा उद्योग की दस्तकारी क़िस्म – द्वारा निर्धारित होता था। जिस ज़माने में सामन्तवाद का बोलबाला था, उस ज़माने में श्रम का विभाजन बहुत कम था। हर देश में शहर और देहात के बीच बैरभाव था। एस्टेटों में विभाजन यक़ीनन बहुत उभरा हुआ था। परन्तु देहात में राजाओं, सामन्त वर्ग, पादरियों तथा किसानों, और शहरों में मालिकों, मज़दूर-कारीगरों, शागिर्दों और शीघ्र ही अनियतकालिक मज़दूरों के अन्तर के अलावा कोई महत्वपूर्ण विभाजन नहीं हुआ था। कृषि में इसे पट्टीदार खेती-प्रणाली ने, जिसके साथ स्वयं किसानों के कुटीर उद्योग ने जन्म लिया था, कठिन बना दिया था। अलग-अलग व्यवसायों के अन्दर श्रम-विभाजन क़तई नहीं था तथा उनके बीच बहुत कम

था। उद्योग तथा वाणिज्य की पृथकता पुराने शहरों में पहले से ही मौजूद थी; अपेक्षाकृत नये शहरों में वह आगे चलकर केवल तब विकसित हुई जब शहरों ने पारस्परिक सम्बन्धों में प्रवेश किया।

अधिक बड़े इलाक़ों का सामन्ती सल्तनतों में संयुक्त हो जाना शहरों की ही तरह भूमिधारी सामन्तों के लिए एक आवश्यकता थी। इसलिए सत्तारूढ़ वर्ग के संगठन – सामन्त वर्ग – के शीर्षस्थान में सर्वत्र एक राजा हुआ करता था।*

[४. इतिहास के भौतिकवादी संप्रत्ययन का सारतत्व। सामाजिक अस्तित्व तथा सामाजिक चेतना]

[पन्ना ५] अतः बात यह है कि निश्चित व्यक्ति, जो उत्पादकता की दृष्टि से निश्चित ढंग से सक्रिय हैं,** निश्चित सामाजिक तथा राजनीतिक संबंधों में प्रवेश करते हैं। इन्द्रियानुभविक पर्यवलोकन के लिए यह आवश्यक है कि वह हर अलग-अलग मामले में अनुभव के आधार पर तथा किसी रहस्यमयीकरण और परिकल्पना के बिना उत्पादन के साथ सामाजिक और राजनीतिक ढांचे के संबंध को सामने लाये। सामाजिक ढांचा तथा राज्य निश्चित व्यक्तियों की जीवन-प्रक्रिया में से निरन्तर विकसित होते आ रहे हैं, परन्तु उस तरह के व्यक्तियों की जीवन-प्रक्रिया से नहीं जिस तरह वे अपनी या दूसरे लोगों की कल्पना में प्रकट हो सकते हैं परन्तु जिस तरह वे **सचमुच** हैं अर्थात् जिस तरह वे काम करते हैं, भौतिक रूप से उत्पादन करते हैं और इस कारण जिस तरह वे उन निश्चित सीमाओं, पूर्वमान्यताओं तथा अवस्थाओं के अन्तर्गत काम करते हैं जो उनके संकल्प के बाहर हैं।***

---

*आगे पाण्डुलिपि में बाक़ी पृष्ठ ख़ाली है। अगला पृष्ठ इतिहास के भौतिकवादी संप्रत्ययन के सारतत्व से आरम्भ होता है। स्वामित्व के चौथे, पूंजीवादी रूप पर अध्याय के चौथे भाग, अनुभाग २–४ में प्रकाश डाला गया है। – सं०

** [मूल रूप:] उत्पादन के निश्चित संबंधों के अन्तर्गत निश्चित व्यक्ति।

*** [पाण्डुलिपि में निम्नलिखित अंश पर काटे का निशान लगा हुआ है:] ये व्यक्ति जो विचार बनाते हैं वे या तो प्रकृति के साथ अपने संबंधों के बारे में होते हैं अथवा अपने पारस्परिक संबंधों के बारे में या अपनी प्रकृति के बारे में। यह प्रत्यक्ष है कि इन तमाम मामलों में उनके विचार अपने वास्तविक संबंधों तथा कार्यकलाप की, अपने उत्पादन, संसर्ग तथा अपने सामाजिक और राजनीतिक संगठन की सचेत अभिव्यक्ति – वास्तविक या काल्पनिक – हैं। विपरीत पूर्वधारणा

विचारों की, संप्रत्ययनों की, चेतना की रचना आरम्भ में लोगों के भौतिक कार्यकलाप तथा भौतिक संसर्ग, वास्तविक जीवन की भाषा से प्रत्यक्षतया गुंथी हुई होती है। लोगों की परिकल्पना, चिन्तन तथा मानसिक संसर्ग इस मंज़िल में उनके भौतिक आचरण के प्रत्यक्ष परिणाम के रूप में प्रकट होते हैं। यही बात लागू होती है मानसिक सर्जना पर उस रूप में जिस रूप में वह किसी जनता की राजनीति, क़ानूनों, नैतिकता, धर्म, तत्वमीमांसा आदि की भाषा में अभिव्यक्त होती है। अपने संप्रत्ययनों, विचारों आदि के सृजनकर्त्ता होते हैं मनुष्य – वास्तविक, सक्रिय मनुष्य, उस रूप में जिस रूप में वे अपनी उत्पादक शक्तियों के तथा इनके समरूप संसर्ग के निश्चित विकास द्वारा, उसके दूरतम रूपों तक, अभ्यनुकूलित होते हैं।* चेतना सचेत अस्तित्व के अलावा और कुछ हो ही नहीं सकती, तथा मनुष्यों का अस्तित्व उनकी वास्तविक जीवन-प्रक्रिया होता है। यदि समग्र विचारधारा में मनुष्य तथा उनके सम्बन्ध किसी camera obscura की तरह उलटे नज़र आते हैं तो यह घटना उनकी ऐतिहासिक जीवन-प्रक्रिया से उसी तरह उत्पन्न होती है जिस तरह चक्षुपटल पर वस्तुओं का प्रतिलोमन उनकी शारीरिक जीवन-प्रक्रिया के कारण होता है।

जर्मन दर्शन के, जो स्वर्ग से पृथ्वी पर उतरता है, ठीक विपरीत यहां हम पृथ्वी से स्वर्ग पर आरोहण करते हैं। कहने का मतलब यह है कि मनुष्य जो कहते हैं, कल्पना करते हैं, अनुमान लगाते हैं, हम उसे आधार बनाकर अग्रसर नहीं होते और न हम लोगों को उस रूप में आधार बनाकर अग्रसर होते हैं जिस रूप में उनका वर्णन किया जाता है, उनके बारे में सोचा जाता है, उनकी कल्पना की जाती है, उनके बारे में अनुमान लगाया जाता है ताकि वास्तविक मनुष्यों

तभी सम्भव है जब वास्तविक, भौतिक रूप से विकसित व्यक्तियों के चित्त के अलावा एक पृथक चित्त की पूर्वकल्पना की जाये। यदि इन व्यक्तियों के वास्तविक संबंधों की सचेत अभिव्यक्ति काल्पनिक है, यदि अपनी कल्पना में वे वास्तविकता को उलटकर रख दें तो यह फिर अपनी बारी में कार्यकलाप की उनकी सीमित भौतिक विधि का तथा उससे उत्पन्न होनेवाले उनके सीमित सामाजिक संबंधों का परिणाम है।

* [मूल रूप :] अपने संप्रत्ययनों, विचारों आदि के सृजनकर्त्ता होते हैं मनुष्य और ठीक मनुष्य ही जो अपने भौतिक जीवन के उत्पादन की विधि, अपने भौतिक संसर्ग तथा सामाजिक एवं राजनीतिक ढांचे में उसके और आगे विकास द्वारा अभ्यनुकूलित होते हैं।

तक पहुंचा जा सके। हम तो वास्तविक, सक्रिय लोगों को अपनाकर अग्रसर होते हैं और उनकी वास्तविक जीवन-प्रक्रिया के आधार पर हम इस जीवन-प्रक्रिया के वैचारिक प्रतिवर्तों तथा प्रतिध्वनियों को प्रदर्शित करते हैं। मानव-मस्तिष्क में बननेवाले छायाभास भी अनिवार्यतः उस भौतिक जीवन-प्रक्रिया के पदार्थ हैं, जो अनुभव द्वारा परखी जा सकती है और जो भौतिक पूर्वाधारों से सम्बद्ध है। इस तरह नैतिकता, धर्म, तत्वमीमांसा, बाक़ी सारी विचारधारा तथा चेतना के उनके तदनुरूपी रूप स्वतंत्र नहीं हो सकते। उनका कोई इतिहास, कोई विकास नहीं है। परन्तु मनुष्य अपने भौतिक उत्पादन तथा अपने भौतिक संसर्ग का विकास करते हुए अपने इस वास्तविक अस्तित्व के साथ अपने चिन्तन तथा अपने चिन्तन के परिणामों को भी बदलते हैं। जीवन चेतना द्वारा निर्धारित नहीं होता अपितु चेतना जीवन द्वारा निर्धारित होती है। निरीक्षण की पहली विधि में प्रस्थान-बिन्दु है सजीव व्यक्ति के रूप में चेतना; दूसरी विधि में, जो वास्तविक जीवन के अनुरूप है, यह स्वयं वास्तविक, सजीव मनुष्य ही हैं तथा चेतना को उनकी चेतना मात्र माना जाता है।

निरीक्षण की यह विधि पूर्वाधारों से वंचित नहीं है। वह वास्तविक पूर्वाधारों को प्रस्थान-बिन्दु बनाती है तथा इन्हें एक क्षण के लिए भी नहीं छोड़ती। उसके पूर्वाधार ऐसे मनुष्य नहीं हैं जो किसी अजीबोग़रीब बन्द कमरे में हों, अलग-थलग हों, वरन ऐसे मनुष्य हैं जो निश्चित अवस्थाओं में होनेवाले वास्तविक, आनुभविक ढंग से दृष्टिगोचर विकास की प्रक्रिया में हैं। इस सक्रिय जीवन-प्रक्रिया का ज्योंही वर्णन होता है, इतिहास निर्जीव तथ्यों का संग्रह नहीं रह जाता, जैसा कि यह अनुभववादियों के साथ होता है (जो स्वयं अब भी अमूर्त हैं), और न वह कल्पित व्यक्तियों का कल्पित कार्यकलाप ही रह जाता है जैसा कि भाववादियों के साथ होता है।

जहां काल्पनिक चिन्तन समाप्त होता है – वास्तविक जीवन में – वहां वास्तविक, सकारात्मक विज्ञान आरम्भ होता है, यह है मनुष्यों के व्यावहारिक कार्यकलाप का, उनके विकास की व्यावहारिक प्रक्रिया का चित्रण। चेतना के विषय में खोखली बातें रुक जाती हैं, तथा वास्तविक ज्ञान उसका स्थान ग्रहण कर लेता है। जब यथार्थ का चित्रण होता है तो दर्शन, ज्ञान की स्वतंत्र शाखा के रूप में, अपना अस्तित्व-माध्यम खो बैठता है। उसका स्थान अच्छी से अच्छी दशा में सर्वाधिक साधारण परिणामों का लेखा-जोखा, विविक्तियां ले सकती हैं जो मनुष्यों के ऐतिहासिक विकास के प्रेक्षण से उत्पन्न होती हैं। वास्तविक इतिहास से पृथक

रूप से देखने पर इन विविक्तियों का अपने में कोई मूल्य नहीं है। वे तो ऐतिहासिक सामग्री को व्यवस्थित करने का कार्य सुगम बनाने, उसकी पृथक परतों के क्रम को लक्षित करने का ही काम दे सकती हैं। परन्तु वे इतिहास के युगों को साफ़-सुथरे ढंग से संवारने के लिए कोई नुस्ख़ा या योजनाबन्दी प्रस्तुत नहीं करतीं जैसा कि दर्शन करता है। इसके विपरीत हमारी कठिनाइयां ठीक उस समय शुरू होती हैं जब हम अपनी ऐतिहासिक सामग्री का, वह चाहे बीते युग की हो या वर्तमान की, प्रेक्षण करना तथा उसे क्रमबद्ध करना – यानी वास्तविक चित्रण करना – आरम्भ करते हैं। इन कठिनाइयों को दूर करना उन पूर्वाधारों पर निर्भर है जिन्हें यहां बताना सर्वथा असम्भव है, लेकिन जिन्हें हर युग के मनुष्यों की वास्तविक जीवन-प्रक्रिया तथा कार्यकलाप का अध्ययन ही प्रकाश में ला सकता है। हम यहां कतिपय विविक्तियों को चुनेंगे जिन्हें हम सिद्धान्तकारों की तुलना में भिन्न प्रकार से उपयोग में लायेंगे तथा उन्हें ऐतिहासिक प्रमाणों से स्पष्ट करेंगे।*

[२]

[१. मनुष्य की वास्तविक मुक्ति की शर्तें]

[१] हम अपने बुद्धिमान दार्शनिकों को यह समझाकर प्रबुद्ध बनाने की मुसीबत मोल नहीं लेंगे कि दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र, तत्व तथा ऐसे ही सारे कूड़े-कचरे को "आत्मचेतना" के घेरे में पहुंचाकर तथा "मनुष्य" को इन शब्दों की, जिन्होंने उसे कभी दास बनाकर नहीं रखा, प्रभावशीलता से मुक्त कर उन्होंने "मनुष्य" की "मुक्ति" को एक भी क़दम आगे नहीं बढ़ाया है।** न हम उन्हें यह समझायेंगे कि वास्तविक संसार में वास्तविक साधनों का उपयोग कर ही वास्तविक मुक्ति की प्राप्ति सम्भव है, कि दासता भाप-इंजन, तकुवे और चरखे के उपयोग के बिना नहीं मिटायी जा सकती और कृषि को सुधारे बिना भूदासत्व को ख़त्म नहीं किया जा सकता, कि साधारणतया लोगों को तब तक मुक्त नहीं किया जा सकता जब तक वे रोटी, पानी, मकान और कपड़ा पर्याप्त गुण-मात्रा

---

*साफ़ कापी का मूल (दूसरा) पाठ यहां समाप्त हो जाता है। इसके आगे इस संस्करण में मूल पांडुलिपि के तीन भाग दिये जाते हैं। – सं०

** [मार्क्स द्वारा हाशिये पर टिप्पणियां :] दार्शनिक मुक्ति, तथा वास्तविक मुक्ति। **मनुष्य। अनुपम प्राणी। व्यक्तित्व।** भूगर्भीय, जललेखीय आदि परिस्थितियां। मानव शरीर। आवश्यकता तथा श्रम।

में प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं। "मुक्ति" ऐतिहासिक क्रिया है, मानसिक क्रिया नहीं, और उसे जन्म देते हैं ऐतिहासिक सम्बन्ध, उद्योग, वाणिज्य, कृषि का [विकास], [संसर्ग की अवस्थाएं] [.....]*, [२] तब, उसके बाद, अपने विकास की भिन्न-भिन्न मंज़िलों के अनुरूप, तत्व, विषय, आत्मचेतना तथा शुद्ध आलोचना की अर्थहीनता, साथ ही धार्मिक तथा धर्मशास्त्रीय निरर्थक बातें, और बाद में वे जब अपने विकास में बहुत आगे बढ़ जाते हैं तो वे उसे फिर हटा देते हैं।**

जर्मनी जैसे देश में जहां ऐतिहासिक विकास केवल तुच्छ ढंग से हो रहा है, विशुद्ध विचारों के क्षेत्र में यह विकास, ये प्रशस्तिप्राप्त तथा अकारगर तुच्छताएं निस्सन्देह ऐतिहासिक विकास के अभाव के विकल्प का काम देती हैं और जड़ें पकड़ती हैं। उनसे टक्कर ली जानी चाहिये। परन्तु यह टक्कर स्थानीय महत्व की है।***

[२. फ़ायरबाख के अनुध्यानशील तथा असंगत भौतिकवाद की आलोचना]

.... ****[८] यथार्थ में तथा **व्यावहारिक** भौतिकवादी यानी **कम्युनिस्ट** के लिए यह वर्तमान विश्व का क्रान्तिकरण करने, मौजूद हालात पर व्यावहारिक रूप से प्रहार करने और उन्हें बदलने का सवाल है। जब हमें समय-समय पर फ़ायरबाख़ में ऐसे विचार मिलते हैं तो वे अलग-थलग अनुमानों के अलावा और कुछ नहीं हैं और आम दृष्टिकोण पर उनका इतना कम प्रभाव होता है कि यहां उन्हें विकास की क्षमता रखनेवाले भ्रूणों के अलावा और कुछ नहीं माना जा सकता। इंद्रियगोचर जगत का फ़ायरबाख़ का "संप्रत्ययन" एक ओर केवल उसके अनुध्यान तक तथा दूसरी ओर मात्र भावना तक सीमित है; वह "वास्तविक ऐतिहासिक मनुष्य" की जगह "मनुष्य" कहते हैं। वह "मनुष्य" वस्तुतः "जर्मन" है। पहले मामले में, इन्द्रियगोचर जगत् के **अनुध्यान** में, वह उन चीज़ों से अवश्य

*यहां पाण्डुलिपि ख़राब हो गयी है, पन्ने का निचला हिस्सा कटा हुआ है; पाठ की एक पंक्ति ग़ायब है। – सं०

**[हाशिये पर मार्क्स की टिप्पणी:] लफ़्फ़ाज़ी तथा वास्तविक विकास। जर्मनी में लफ़्फ़ाज़ी का महत्व।

***[हाशिये पर मार्क्स की टिप्पणी:] भाषा यथार्थ की भाषा होती है।

****यहां पांडुलिपि के पांच पृष्ठ ग़ायब हैं। – सं०

ही टकराते हैं जो उनकी चेतना तथा भावना का प्रतिवाद करती हैं, जो उन द्वारा पूर्वकल्पित सामंजस्य में, इन्द्रियगोचर जगत् के तमाम भागों, विशेष रूप से मानव तथा प्रकृति के सामंजस्य में गड़बड़ी पैदा करती हैं।* इस विसंगति को दूर करने के लिए उन्हें दुहरे दर्शन की शरण लेनी पड़ती है, एक है लौकिक दर्शन जो केवल "सहज रूप से प्रत्यक्ष" को देखता है, दूसरा है उच्चतर, दार्शनिक, जो वस्तुओं के "सच्चे सारतत्व" को देखता है। वह यह नहीं देखते कि उनके चारों ओर जो इन्द्रियगोचर जगत् है, वह सीधे समग्र सर्वशाश्वतता द्वारा प्रदान की गयी ऐसी वस्तु नहीं है जो सदा-सर्वदा उसी तरह बनी रहेगी, बल्कि वह तो उद्योग तथा समाज की अवस्था की उपज है; और वस्तुतः इस माने में कि वह एक ऐतिहासिक उपज है, एक के बाद दूसरी पीढ़ी की एक पूरी शृंखला के कार्यकलाप का फल है, जिनमें से हर पीढ़ी पूर्ववर्ती पीढ़ी के कंधों पर खड़ी थी, उसके उद्योग और उसके संसर्ग की विधि का विकास करती रही और परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार उसकी सामाजिक पद्धति को बदलती चली गयी। सहजतम "इन्द्रियगोचर प्रामाण्य" वस्तुएं तक उसे केवल सामाजिक विकास, उद्योग तथा वाणिज्यिक संसर्ग के माध्यम से मिलती हैं। फलों के प्रायः तमाम अन्य वृक्षों की तरह चेरी फल का वृक्ष भी, जैसा कि सुविदित है, केवल चन्द सौ साल पहले वाणिज्य की बदौलत ही हमारे क्षेत्र में रोपा गया था, और इस कारण एक निश्चित युग में एक निश्चित समाज के केवल इस कार्यकलाप [६] की बदौलत यह फ़ायरबाख़ के लिए "इन्द्रियगोचर प्रामाण्य" बन गया है।

प्रसंगवश जब हम चीज़ों को उसी तरह देखते हैं जिस तरह वे हैं तथा जिस तरह उत्पन्न हुई हैं तो प्रत्येक गहन दार्शनिक समस्या सुलझ कर बिल्कुल सहज रूप से आनुभविक तथ्य बन जाती है, जैसा कि आगे चलकर अधिक स्पष्ट रूप से दिखायी देगा। उदाहरण के लिए, प्रकृति के साथ मनुष्य के सम्बन्ध का (ब्रूनो तो "प्रकृति तथा इतिहास में प्रतिपक्षता" की बात तक करते हैं (पृष्ठ १४०)[10], मानो ये दो अलग-अलग "चीज़ें" हों और मनुष्य के सामने ऐतिहासिक प्रकृति तथा प्राकृतिक इतिहास हमेशा न रहे हों) महत्वपूर्ण प्रश्न, जिसमें से "तत्व"

---

*टिप्पणी। फ़ायरबाख़ की त्रुटि यह नहीं है कि वह इस सहज रूप से **प्रत्यक्ष** को, इन्द्रियगोचर आभास को इन्द्रियगोचर तथ्यों की अधिक सही जांच द्वारा प्रमाणित इन्द्रियगोचर यथार्थ के मातहत कर देते हैं, उनकी त्रुटि यह है कि वह इन्द्रियगोचर जगत् को दार्शनिकों की "आंखों" से यानी "चश्मों" से देखने के अलावा अन्ततः और किसी तरह उससे नहीं निपट सकते।

तथा "आत्मचेतना" की "अगाध रूप से उदात्त कृतियों"* ने जन्म लिया, उस समय अपने आप ढह जाता है जब हम यह समझ जाते हैं कि "प्रकृति के साथ मनुष्य की" कुख्यात "एकता" तो उद्योग में हमेशा विद्यमान रही है तथा वह हर युग में उद्योग के कमोबेश विकास के हिसाब से नानाविध रूपों में ठीक उसी तरह विद्यमान रही है, जिस तरह प्रकृति के साथ मनुष्य का "संघर्ष" तदनुरूपी आधार पर टिकी उसकी उत्पादक शक्तियों के विकास के हिसाब से विद्यमान था। उद्योग तथा वाणिज्य, जीवन की आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन तथा विनिमय स्वयं भिन्न-भिन्न सामाजिक वर्गों के वितरण तथा ढांचे को निश्चित करते हैं और फिर वे स्वयं अपने कार्यकलाप के रूपों के मामले में उस द्वारा निश्चित होते हैं। तो हुआ यह कि फ़ायरबाख़, उदाहरण के लिए, मानचेस्टर में केवल फ़ैक्टरियां तथा मशीनें देखते हैं जबकि वहां सौ साल पहले केवल चरखे तथा करघे ही देखने को मिलते थे, अथवा रोम के कैम्पना में वह केवल चरागाही भूमि तथा दलदल पाते हैं जबकि आगस्टस के ज़माने में उन्हें वहां अंगूरों के बागों तथा रोमन पूंजीपतियों के महलों के अलावा और कुछ न मिलता। फ़ायरबाख़ विशेष रूप से प्रकृतिविज्ञान में प्रत्यक्षण की बात करते हैं; वह उन रहस्यों की चर्चा करते हैं जो केवल भौतिकविद तथा रसायनविद की आंखों के सामने अनावृत होते हैं; परन्तु उद्योग तथा वाणिज्य के बिना प्रकृतिविज्ञान कहां होता? इस "विशुद्ध" प्रकृतिविज्ञान को भी अपनी सामग्री और उसी तरह अपना ध्येय केवल व्यापार तथा उद्योग के ज़रिए ही, मनुष्यों के इन्द्रियगोचर कार्यकलाप के ज़रिए ही प्राप्त होता है। यह कार्यकलाप, यह अविरल इन्द्रियगोचर श्रम तथा सृजन, यह उत्पादन पूरे इन्द्रियगोचर जगत् का, जिस रूप में वह इस समय मौजूद है, इतना गहरा आधार है कि अगर वह एक साल के लिए भी रुक जाये तो फ़ायरबाख़ को प्राकृतिक जगत् में अपार परिवर्तन ही नहीं मिलेगा अपितु उन्हें बहुत शीघ्र यह भी पता चल जायेगा कि मनुष्यों का पूरा जगत् तथा स्वयं उनकी अपनी बोध-शक्ति, और यहां तक उनका अपना अस्तित्व ही ग़ायब हैं। निस्सन्देह इस सब में बाह्य प्रकृति की प्राथमिकता अप्रतिवादनीय बनी रहती है, और यह सब generatio aequivoca** से उत्पन्न होनेवाले मूल मनुष्यों पर लागू नहीं होता; परन्तु इस विभेदीकरण का केवल वहीं तक अर्थ होता है जहां तक मनुष्य को

*गेटे, 'फ़ास्ट', 'प्रोलोग इम हिम्मेल' ('स्वर्ग में मंगलाचरण')। – सं०

**स्वतःस्फूर्त उत्पत्ति। – सं०

प्रकृति से भिन्न माना जाता है। साथ ही प्रकृति, मानव इतिहास की पूर्ववर्ती प्रकृति, कदापि वह प्रकृति नहीं है जिसमें फ़ायरबाख़ रहते हैं, उस प्रकृति का तो अब कहीं कोई अस्तित्व ही नहीं है (शायद कुछ आस्ट्रेलियाई प्रवालद्वीपों को छोड़कर) और जिसका, इस कारण, फ़ायरबाख़ के लिए अस्तित्व नहीं है।

यक़ीनन फ़ायरबाख़ [१०] "विशुद्ध" भौतिकवादियों से इस अर्थ में ज्यादा अच्छी स्थिति में हैं कि वह समझते हैं कि मनुष्य भी "इन्द्रियों का विषय" है। परन्तु इस तथ्य के अलावा कि वह "इन्द्रियगोचर कार्यकलाप" के बजाय उसे "इन्द्रियों के विषय" के रूप में समझते हैं, क्योंकि वह अब भी सिद्धान्त की दुनिया में रह रहे हैं और मनुष्यों को उनके निश्चित सामाजिक सम्बन्धों में नहीं, जीवन की उनकी विद्यमान अवस्थाओं में नहीं, जिन्होंने उन्हें वह बनाया है जो वे हैं, फ़ायरबाख़ कभी वस्तुतः विद्यमान सक्रिय मनुष्यों तक नहीं पहुंच पाते, बल्कि एक विविक्ति के रूप में "मनुष्य" के पास पहुंचकर रुक जाते हैं, और भावनाओं के क्षेत्र में "सच्चे, वैयक्तिक, पार्थिव मानव" के स्वीकरण के आगे नहीं बढ़ जाते, अर्थात् वह "मनुष्य के प्रति मनुष्य" के "मानव-सम्बन्धों" में स्नेह तथा मैत्री के अलावा और कोई सम्बन्ध नहीं जानते, और वह भी आदर्श रूप में। वह जीवन की मौजूद अवस्थाओं की कोई आलोचना प्रस्तुत नहीं करते। इस प्रकार वह इन्द्रियगोचर जगत् को उसे संघटित करनेवाले व्यक्तियों के समग्र सजीव इन्द्रियगोचर **कार्यकलाप** के रूप में कभी समझ नहीं पाते, और इसलिए जब वह, उदाहरण के लिए, स्वस्थ लोगों की जगह गण्डमाला से पीड़ित, कमरतोड़ श्रम से थके-मांदे, क्षयग्रस्त भूखे लोगों की भीड़ देखते हैं तो वह "उच्चतर बोध" में तथा "प्रजाति-भेद की" आदर्श "अनुपूर्ति" की शरण लेते हैं तथा ठीक इसी जगह फिर से भाववाद में पहुंच जाते हैं जहां कम्युनिस्ट भौतिकवादी उद्योग तथा सामाजिक ढांचे दोनों के रूपान्तरण की आवश्यकता, और साथ ही अनुकूल परिस्थिति देखते हैं।

जहां तक फ़ायरबाख़ भौतिकवादी हैं, वह इतिहास पर विचार नहीं करते, और जहां तक वह इतिहास पर विचार करते हैं, वह भौतिकवादी नहीं हैं। उनके लिए भौतिकवाद तथा इतिहास बिल्कुल उलटी दिशाओं की ओर जाते हैं, यह ऐसा तथ्य है जो प्रसंगवश उपरिलिखित बातों से स्पष्ट है।*

---

*[पाण्डुलिपि में निम्नलिखित अंश काट दिया गया है:] फिर भी हम यहां इतिहास पर अधिक विस्तार के साथ विचार इस कारण कर रहे हैं कि जर्मनों

[३. प्राथमिक ऐतिहासिक सम्बन्ध या सामाजिक कार्यकलाप के मूल पहलू : आजीविका के साधनों का उत्पादन, नयी आवश्यकताओं का जन्म, मनुष्यों का पुनर्जनन (परिवार), संसर्ग, चेतना]

[११]* चूंकि हम जर्मनों के बारे में, जो पूर्वाधारों से शून्य हैं, बात कर रहे हैं, हमें पूरे मानव अस्तित्व के और इस कारण पूरे इतिहास के प्रथम पूर्वाधार से, अर्थात् इस पूर्वाधार से अपनी बात शुरू करनी चाहिये कि मनुष्यों को जीवित रहने की स्थिति में होना चाहिए ताकि वे "इतिहास बनाने" में समर्थ हो सकें।** परन्तु जीवन का सम्बन्ध सबसे पहले भोजन तथा जल, रिहायश, वस्त्र तथा कई अन्य चीज़ों से होता है।*** इस प्रकार पहला ऐतिहासिक कार्य है इन आवश्यकताओं की तुष्टि के लिए साधनों का उत्पादन, स्वयं भौतिक जीवन का उत्पादन। और यह निस्सन्देह एक ऐसा ऐतिहासिक कार्य है, पूरे इतिहास की ऐसी मूल शर्त है जिसकी हज़ारों वर्ष पहले की तरह आज भी हर रोज़, हर घंटे पूर्ति होनी चाहिए ताकि लोग जीवित रह सकें। यदि इंद्रियगोचर जगत् को बिल्कुल घटा दिया जाये, एक डंडे[12] तक सीमित किया जाये, जैसा कि सन्त ब्रूनो ने किया है, तब भी वह डंडे को तैयार करने के कार्य की पूर्वकल्पना करता है। इसलिए इतिहास की किसी भी तरह की व्याख्या में सबसे पहले इस मूल तथ्य का उसके तमाम महत्व और उसके सारे अर्थों समेत पालन करना होगा और उसे वह समुचित महत्व देना होगा जिसका वह पात्र है। यह सुविदित है कि जर्मनों ने यह कभी नहीं किया, और उनके पास इतिहास के लिए कभी कोई **पार्थिव** आधार नहीं रहा तथा फलस्वरूप कभी कोई इतिहासकार नहीं रहा। फ़्रांसीसियों तथा अंग्रेज़ों ने—भले ही वे तथाकथित इतिहास के साथ इस तथ्य के सम्बन्ध को सर्वथा इकतरफ़ा ढंग से समझते थे, ख़ास तौर पर इसलिये कि वे राजनीतिक विचारधारा के बन्दी रहे—नागरिक समाज, वाणिज्य तथा उद्योग का इतिहास

के लिए "इतिहास" तथा "ऐतिहासिक" शब्द का प्रायः अर्थ हर सम्भव वस्तु है सिवाय यथार्थ के, इसकी एक शानदार मिसाल है सन्त ब्रूनो और उनकी "प्रवचन-मंचीय वाग्मिता"।

*[हाशिये पर मार्क्स की टिप्पणी :] **इतिहास।**

**तुलना करें इस खण्ड के पृष्ठ ५१ से।—सं०

***[हाशिये पर मार्क्स की टिप्पणी :] हेगेल[11], भूगर्भीय, जललेखीय आदि अवस्थाएं। मानव शरीर। आवश्यकताएं। श्रम।

लिखने में सबसे आगे रहकर इतिहास के लेखन को भौतिकवादी आधार देने की पहली कोशिशें की थीं।

दूसरा तथ्य यह है [१२] कि पहली आवश्यकता की तुष्टि (तुष्टि करने का कार्य तथा तुष्टि का साधन जो हासिल किया जा चुका था) नयी आवश्यकताओं को जन्म देती है; और नयी आवश्यकताओं का यह जन्म प्रथम ऐतिहासिक क्रिया है। यहां हम तुरन्त उन जर्मनों की महान ऐतिहासिक प्रज्ञा की मानसिक वंशावलि को पहचान लेते हैं, जो अनुकूल सामग्री के खत्म हो जाने पर तथा धर्मशास्त्रीय, राजनीतिक अथवा साहित्यिक कूड़े-कचरे में से किसी का भी हित-साधन न किये जा सकने की स्थिति में पहुंचकर आग्रहपूर्वक कहते हैं कि यह तो इतिहास कदापि नहीं है अपितु "प्रागैतिहासिक युग" है। परन्तु वे हमें यह बताकर ज्ञान प्रदान नहीं करते कि हम इस बकवासभरे "प्रागितिहास" से कैसे वास्तविक इतिहास की ओर अग्रसर हों; हालांकि दूसरी ओर वे इतिहास की अपनी परिकल्पना में इस "प्रागितिहास" पर विशेष उत्सुकता के साथ झपट पड़ते हैं, इसलिए कि वे "भोंडे तथ्यों" की ओर से होनेवाले हस्तक्षेप से वहां अपने को सुरक्षित समझते हैं, और साथ ही इसलिए भी कि वे अपने परिकल्पनात्मक आवेग को बेलगाम छोड़ सकते हैं, हजारों प्राक्कल्पनाओं को एक साथ खड़ा तथा गिरा सकते हैं।

तीसरी परिस्थिति, जो शुरू से ही ऐतिहासिक विकास में प्रवेश करती है, यह है कि जो मनुष्य नित्यप्रति अपने जीवन का पुनःसृजन करते हैं, वे दूसरे मनुष्यों का सृजन करना, अपनी संख्या बढ़ाना शुरू कर देते हैं—यानी पुरुष तथा नारी, मां-बाप तथा बच्चों के बीच सम्बन्ध, **परिवार**। परिवार, जो आरम्भ में एकमात्र सामाजिक सम्बन्ध होता है, आगे चलकर, जब बढ़ी हुई आवश्यकताएं नये सामाजिक सम्बन्धों तथा बढ़ी हुई आबादी नयी आवश्यकताओं को जन्म देती हैं, गौण दर्जा पाता है (जर्मनी को छोड़कर), और तब उसके साथ "परिवार का संप्रत्ययन" के अनुसार नहीं, जैसा कि जर्मनी में रिवाज है, बल्कि मौजूदा आनुभविक परिस्थितियों के अनुसार पेश आना चाहिये और उनके अनुसार उसका विश्लेषण किया जाना चाहिए।

सामाजिक क्रियाकलाप के इन तीन पहलुओं पर निस्सन्देह तीन अलग-अलग मंज़िलों के रूप में नहीं वरन् मात्र तीन पहलुओं के रूप में अथवा—जर्मनों के सामने यह चीज़ साफ़ करने के लिए—तीन "बिन्दुओं" के रूप में ग़ौर किया जाना चाहिए जो इतिहास के, प्रथम मनुष्य के अभ्युदय से लेकर निरन्तर साथ-साथ मौजूद रहे हैं और जो अब भी इतिहास में उपस्थित हैं।

जीवन का उत्पादन – श्रम में स्वयं अपने जीवन तथा प्रजनन में नवीन जीवन दोनों का उत्पादन – अब दुहरे [१३] सम्बन्ध के रूप में प्रकट होता है – एक ओर प्राकृतिक सम्बन्ध के रूप में तथा दूसरी ओर सामाजिक सम्बन्ध के रूप में। सामाजिक सम्बन्ध से हमारा तात्पर्य कई व्यक्तियों का सहयोग है भले ही वह किसी भी तरह की परिस्थितियों के अन्तर्गत हो, किसी भी तरह का हो, तथा किसी भी लक्ष्य के हेतु हो। इससे यह अर्थ निकलता है कि उत्पादन की एक ख़ास पद्धति अथवा ख़ास औद्योगिक मंज़िल हमेशा सहयोग की एक निश्चित विधि से या सामाजिक मंज़िल से मिली हुई होती है, और सहयोग की यह विधि स्वयं एक "उत्पादक शक्ति" होती है। मनुष्यों के लिए सुलभ उत्पादक शक्तियों का समुच्चय चूंकि समाज का स्वरूप निर्धारित करता है, इसलिए "मानवजाति के इतिहास" का हमेशा उद्योग तथा वाणिज्य के इतिहास के प्रसंग में अध्ययन और प्रतिपादन किया जाना चाहिए। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि जर्मनी में इस तरह का इतिहास लिखना असम्भव है क्योंकि जर्मनी में केवल अवबोधन की आवश्यक क्षमता तथा सामग्री का ही नहीं वरन् उनमें "इंद्रियगोचरता के प्रमाण" का भी अभाव है, और राइन के पार आपको इन चीज़ों का कोई अनुभव प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि वहां इतिहास ने घटित होना बन्द कर दिया है। इस तरह आरम्भ से ही यह सर्वथा स्पष्ट है कि मनुष्यों का एक-दूसरे के साथ एक भौतिक सम्बन्ध-सूत्र विद्यमान है जो उनकी आवश्यकताओं तथा उनकी उत्पादन प्रणाली से निर्धारित होता है, तथा जो उतना ही पुराना है जितने पुराने स्वयं मनुष्य हैं। यह सम्बन्ध-सूत्र हमेशा नये रूप ग्रहण करता जाता है और इस तरह वह किसी भी राजनीतिक या धार्मिक मूर्खता की, जो इन सब चीज़ों के अलावा मनुष्यों को विशेष रूप से एकबद्ध रखे, विद्यमानता से स्वतंत्र एक "इतिहास" प्रस्तुत करता है।

केवल प्राथमिक ऐतिहासिक सम्बन्धों के चार बिन्दुओं, चार पहलुओं पर विचार कर चुकने के बाद ही हमें पता चलता है कि मनुष्य के पास "चेतना"* भी होती है, पर तब भी वह अन्तर्निहित, "विशुद्ध" चेतना नहीं होती। "आत्मा" आरम्भ से भूतद्रव्य के "बोझ से दबे होने" के [१४] अभिशाप से ग्रस्त होती है, जो यहां वायु की गतिशील परतों, ध्वनियों, संक्षेप में भाषा के रूप में प्रकट होता

* [हाशिये पर मार्क्स की टिप्पणी :] मनुष्यों का इतिहास इसलिए होता कि उन्हें अपने जीवन की उत्पत्ति करनी होती है, और इसके अलावा उन्हें इसकी एक ख़ास ढंग से उत्पत्ति करनी होती है : यह उनके शारीरिक संगठन से निर्धारित होता है; उनकी चेतना भी इसी तरह निर्धारित होती है।

है। भाषा उतनी ही पुरानी है जितनी चेतना है, भाषा ऐसी व्यावहारिक चेतना है जो दूसरे लोगों के लिए भी विद्यमान होती है तथा केवल इस कारण मेरे लिए भी वस्तुतः विद्यमान होती है; चेतना की भांति भाषा भी आवश्यकता से, दूसरे लोगों के साथ संसर्ग की आवश्यकता से पैदा होती है।* जहां भी कोई सम्बन्ध विद्यमान है, वह मेरे लिए विद्यमान है; पशु किसी के साथ "सम्बन्ध" नहीं बनाता, वह किसी भी तरह का "**सम्बन्ध**" बनाता ही नहीं। पशु के लिए दूसरों के साथ उसका सम्बन्ध सम्बन्ध के रूप में विद्यमान नहीं होता। अतएव चेतना आरम्भ से ही एक सामाजिक उपज है और वह तब तक ऐसी बनी रहती है जब तक मनुष्यों का अस्तित्व बना रहता है। निस्सन्देह चेतना प्रथमतया तात्कालिक इन्द्रियग्राह्य परिवेश से सरोकार रखनेवाली चेतना मात्र है और अन्य व्यक्तियों तथा आत्मचेतना विकसित करनेवाले व्यक्तियों के बहिर्गत वस्तुओं के साथ सीमित सम्बन्ध की चेतना है। साथ ही यह प्रकृति की चेतना है, जो आरम्भ में मनुष्यों के सामने सर्वथा विजातीय, सर्वशक्तिशाली, अप्रतिवादनीय शक्ति के रूप में प्रकट होती है, जिसके साथ मनुष्यों के सम्बन्ध विशुद्ध रूप से पशु-सदृश होते हैं तथा जिससे वे पशुओं की तरह भयभीत रहते हैं; यह प्रकृति की विशुद्ध पशुवत् चेतना है (प्राकृतिक धर्म)।

यहां हमें तुरन्त यह दिखायी देता है: यह विशुद्ध प्राकृतिक धर्म अथवा प्रकृति के साथ मनुष्यों का यह विशेष सम्बन्ध समाज के रूप द्वारा निर्धारित होता है तथा समाज का रूप उन द्वारा निर्धारित होता है। जैसा कि हर जगह होता है, यहां भी प्रकृति तथा मनुष्य का तादात्म्य इस रूप में प्रकट होता है कि प्रकृति के साथ मनुष्य के सीमित सम्बन्ध एक-दूसरे के साथ उनके सीमित सम्बन्ध को निर्धारित करता है, और एक-दूसरे के साथ उनका सीमित सम्बन्ध प्रकृति के साथ मनुष्यों के सीमित सम्बन्ध को निर्धारित करता है, ठीक इसलिए कि प्रकृति ऐतिहासिक विकास द्वारा अभी तक मुश्किल से ही परिवर्तित हुई है; और दूसरी ओर, अपने इर्द-गिर्द के व्यक्तियों के साथ संसर्ग की आवश्यकता की मनुष्य की चेतना इस चेतना की शुरूआत है कि वह समाज में ही रह रहा है। यह शुरूआत इस मंज़िल में स्वयं सामाजिक जीवन जितना ही पशुसदृश है। यह तो झुण्ड की चेतना मात्र है; तथा इस मंज़िल पर मनुष्य को भेड़ से केवल यही तथ्य अलग

*[पाण्डुलिपि से निम्नलिखित शब्द काट दिये गये हैं:] मेरे परिवेश के साथ मेरा सम्बन्ध मेरी चेतना है।

करता है कि उसमें चेतना सहजप्रवृत्ति का स्थान ले लेती है अथवा यह कि उसकी सहजप्रवृत्ति सचेत प्रवृत्ति है। यह भेड़ जैसी या क़बायली चेतना उत्पादकता में वृद्धि, आवश्यकताओं की वृद्धि तथा आबादी [१५] की वृद्धि की बदौलत (जो इन दोनों वस्तुओं के लिए आधारभूत है) और आगे विकसित तथा विस्तारित होती है। इनके साथ विकसित होता है श्रम का विभाजन जो आरम्भ में यौन-क्रिया में श्रम के विभाजन के अलावा और कुछ नहीं था, उसके बाद श्रम का वह विभाजन प्राकृतिक अवस्था (उदाहरण के लिए शारीरिक शक्ति), आवश्यकताओं, आकस्मिकताओं आदि, आदि के कारण स्वतःस्फूर्त रूप से या "स्वाभाविक रूप से" विकसित होता है। श्रम का विभाजन सही अर्थों में उसी क्षण से ऐसा बनता है जिस क्षण से भौतिक तथा मानसिक श्रम का विभाजन प्रकट होता है।* इस क्षण के उपरान्त चेतना यह समझ सकती है कि वह मौजूदा व्यवहार की चेतना के अलावा कुछ और भी है, कि वह सचमुच किसी यथार्थ का प्रतिनिधित्व किये बिना किसी वस्तु का प्रतिनिधित्व करती है; इसके बाद से चेतना जगत् से अपने को छुटकारा दिलाने तथा "शुद्ध" सिद्धान्त, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, आचारशास्त्र, आदि की रचना की ओर अग्रसर होने की स्थिति में होती है। लेकिन इस सिद्धान्त, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, आचारशास्त्र आदि का मौजूदा सम्बन्धों से यदि विरोध हो भी जाता है तो यह केवल इसी कारण होता है कि विद्यमान सामाजिक सम्बन्धों का उत्पादन की विद्यमान शक्तियों से विरोध होता है; इसके अलावा, यह जातीय चेतना के अन्दर नहीं वरन् इस जातीय चेतना तथा अन्य जातियों के व्यवहार** के बीच अर्थात् किसी जाति की जातीय तथा आम चेतना के बीच विरोध के प्रकट होने के (जैसा कि हम इसे जर्मनी में देख रहे हैं) माध्यम से सम्बन्धों के विशेष जातीय क्षेत्र में भी घटित हो सकता है; परन्तु यह विरोध चूंकि जातीय चेतना के अन्तर्गत विरोध के रूप में ही विद्यमान प्रतीत होता है, इसलिए तब इसे जाति को लगता है कि संघर्ष भी इस जातीय कूड़ा-करकट तक सीमित है।

[१६] प्रसंगवश यह बात बिल्कुल महत्वहीन है कि चेतना अपने-आप क्या कुछ करती है; इस सारे कूड़ा-करकट से हमें केवल यह निष्कर्ष मिलता है, कि ये तीन पहलू – उत्पादन की शक्तियां, समाज की अवस्था तथा चेतना – एक-दूसरे

* [हाशिये पर मार्क्स की टिप्पणी:] सिद्धान्तकारों का पहला रूप, **पुजारी**, **समवर्ती** है।

** [हाशिये पर मार्क्स की टिप्पणी:] **धर्म**। जर्मन तथा इस तरह **विचारधारा**।

के विरोध में खड़े हो सकते हैं तथा उन्हें विरोध में खड़ा होना ही चाहिए क्योंकि **श्रम के विभाजन** का अर्थ यह सम्भावना, यहां तक कि यह तथ्य है कि बौद्धिक तथा भौतिक क्रिया* – आनन्दोपभोग तथा श्रम, उत्पादन तथा खपत – भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के जिम्मे आती है, और उसका अर्थ यह है कि उनके एक-दूसरे के विरोध में खड़े न होने की एकमात्र सम्भावना अपनी बारी में श्रम-विभाजन के ख़त्म होने में निहित है। यह स्वत:स्पष्ट है कि "प्रेतच्छाया", "बन्धन", "परमात्मा", "संप्रत्यय", "संशय" देखने में अलग-थलग पड़े व्यक्ति की भाववादी, आत्मिक अभिव्यक्ति, संप्रत्ययन मात्र हैं, ठीक उन इन्द्रियगोचर बेड़ियों तथा सीमाओं की छवि हैं जिनके अन्दर जीवन की उत्पत्ति की विधि तथा उससे संलग्न संसर्ग का रूप अग्रसर होते हैं।

[४. श्रम का सामाजिक विभाजन तथा उसके परिणाम : निजी सम्पत्ति, राज्य, सामाजिक कार्यकलाप का "अलगाव"]

श्रम के विभाजन के साथ-साथ, जिसमें ये तमाम अन्तर्विरोध निहित होते हैं, और जो उधर परिवार के अन्दर श्रम के प्राकृतिक विभाजन पर तथा एक दूसरे के विपक्षी अलग-अलग परिवारों में समाज के पृथक्करण पर आधारित होता है, **वितरण** भी होता है, और वह भी **असमान** वितरण, श्रम तथा उसकी उपजों का यानी सम्पत्ति का, मात्रा तथा गुण की दृष्टि से **असमान** वितरण; सम्पत्ति का [१७] बीज और उसका पहला रूप परिवार में निहित होता है जहां पत्नी तथा बच्चे पति के दास होते हैं। परिवार में यह अन्तर्निहित दासता यद्यपि अब भी बहुत अपरिष्कृत रूप में होती है, फिर भी वह पहली सम्पत्ति होती है, परन्तु इस आरम्भिक मंज़िल में भी वह आधुनिक अर्थशास्त्रियों की परिभाषा से पूरी तरह मेल खाती है जो उसे दूसरे लोगों की श्रम-शक्ति के बारे में फ़ैसला करने के अधिकार का नाम देते हैं। यही नहीं, श्रम-विभाजन तथा निजी सम्पत्ति एक जैसी अभिव्यक्तियां हैं: एक में क्रियाकलाप के संदर्भ में वही बात कही जाती है जो दूसरी में क्रियाकलाप की उपज के संदर्भ में कही जाती है।

---

* [हाशिये पर मार्क्स की टिप्पणी पर काटे का निशान लगा है :] कार्यकलाप तथा चिन्तन अर्थात् चिन्तन से वंचित कार्यकलाप तथा निष्क्रिय चिन्तन।

फिर श्रम-विभाजन का अर्थ होता है पृथक व्यक्ति या पृथक परिवार के हित का उन तमाम व्यक्तियों के सामुदायिक हित से अन्तर्विरोध जिनका एक-दूसरे के साथ संसर्ग होता है। और निस्सन्देह यह सामुदायिक हित "आम हित" के रूप में केवल कल्पना में ही नहीं वरन् सबसे पहले यथार्थ में, व्यक्तियों की, जिनके बीच श्रम विभाजित होता है, अन्तःनिर्भरता के रूप में विद्यमान होता है।

और व्यक्ति के हित तथा समुदाय के हित के बीच ठीक इस अन्तर्विरोध के कारण समुदाय का हित, राज्य के रूप में एक स्वतंत्र रूप, जो व्यक्ति तथा समुदाय के वास्तविक हितों से अलग-थलग होता है, और साथ ही भ्रामक सामान्यता का रूप ग्रहण करता है। परन्तु वह हमेशा हर परिवार तथा क़बायली समुच्चय में मौजूद वास्तविक सम्बन्धों—जैसे पारिवारिक रिश्तों, भाषा, और बड़े पैमाने पर श्रम-विभाजन तथा अन्य हितों—पर और ख़ास तौर से, जैसा कि हम आगे चलकर विस्तारपूर्वक चर्चा करेंगे, वर्गों पर आधारित होता है जो श्रम-विभाजन द्वारा पहले ही निर्धारित होकर लोगों के हर ऐसे समूह में अलग हो जाते हैं तथा जिनमें से एक का बाक़ी सब पर प्रभुत्व होता है। इसका यह अर्थ निकलता है कि राज्य के अन्दर तमाम संघर्ष, प्रजातंत्र, अभिजात तंत्र और राजतंत्र के बीच संघर्ष, मताधिकार के लिए संघर्ष आदि, आदि वे भ्रामक रूप मात्र हैं जिनके अन्तर्गत भिन्न-भिन्न वर्गों के बीच वास्तविक संघर्ष होते हैं (इसका जर्मन सिद्धान्तकारों को लेशमात्र आभास नहीं है हालांकि इस विषय से *«Deutsch-Französische Jahrbücher»*[13] तथा 'पवित्र परिवार' में उन्हें काफ़ी परिचित करा दिया गया है)। इससे यह अर्थ निकलता है कि आधिपत्य जमाने के लिए संघर्ष कर रहे हर वर्ग को उस समय भी, जब उसका प्रभुत्व—जैसा कि सर्वहारा वर्ग के मामले में होता है—समाज के पुराने स्वरूप को समग्र रूप से और स्वयं प्रभुत्व को मिटाने की पूर्वकल्पना करता है, पहले अपने लिए राजनीतिक सत्ता हासिल करनी चाहिए ताकि वह फिर अपने हित को आम हित के रूप में प्रस्तुत कर सके जिसे वह पहले मौक़े पर बाधित होकर करता है।

केवल इस कारण कि व्यक्ति केवल अपना विशेष हित, जो उनके सामुदायिक हित से मेल नहीं खाता, हासिल करने का प्रयास करते हैं, और सामान्यता आम तौर पर सामुदायिकता का भ्रामक रूप है, यह सामान्यता उनके लिए "विजातीय", उनसे |१८| "स्वतंत्र" और फिर विशेष, विचित्र "सामान्य" हित मालूम होती है; अथवा उन्हें स्वयं इस विसंगति के अन्दर रहना होगा, जैसा कि प्रजातंत्र के अन्दर होता है। दूसरी ओर इन विशेष हितों का व्यावहारिक संघर्ष, जो

वस्तुतः निरंतर सामान्य तथा भ्रान्तिकर सामान्य हितों के विरुद्ध होता है, राज्य के रूप में भ्रामक "सामान्य" हित के माध्यम से व्यावहारिक हस्तक्षेप तथा नियंत्रण को आवश्यक बना देता है।*

[१७] और अन्ततः श्रम-विभाजन हमारे सामने इस बात की पहली मिसाल पेश करता है कि जब तक मनुष्य स्वतःस्फूर्त समाज में रहता है अर्थात् जब तक विशेष तथा सामान्य हित के बीच दरार मौजूद रहती है और इसलिए जब तक क्रियाकलाप स्वैच्छिक रूप से नहीं बल्कि नैसर्गिक रूप में विभक्त रहता है, मनुष्य का अपना कार्य अपने ही विरुद्ध ऐसी विजातीय शक्ति बन जाता है, जो उसके नियंत्रण में होने की जगह उसे दास बनाती है। बात यह है कि ज्योंही श्रम का विभाजन जन्म लेता है, हर मनुष्य के पास कार्यकलाप का एक ख़ास विशिष्ट क्षेत्र आ जाता है, जो उस पर लादा जाता है तथा जिससे वह बच नहीं सकता। वह शिकारी, मछुवाहा, गड़रिया अथवा समीक्षाकारी आलोचक है और उसे यह बना रहना होगा यदि वह अपना आजीविका-साधन नहीं खोना चाहता; जबकि कम्युनिस्ट समाज में, जहां किसी व्यक्ति का कार्यकलाप का एक विशिष्ट कार्यक्षेत्र नहीं होता बल्कि वह अपनी इच्छा से किसी एक शाखा में प्रवीण बन सकता है, समाज सारे उत्पादन का नियंत्रण करता है और इस तरह वह मेरे लिए आज एक काम तथा कल दूसरा काम करना सम्भव बनाता है, और शिकारी, मछुवाहा, गड़रिया या आलोचक बने बिना सुबह शिकार करना, दोपहर में मछली पकड़ना, शाम को जानवर पालना, भोजनोपरान्त आलोचना करना—जो भी चाहूं—सम्भव बनाता है।

[१८] सामाजिक क्रियाकलाप का यह स्थिरीकरण, स्वयं हमारे द्वारा उत्पादित वस्तुओं का अपने ऊपर ऐसी वस्तुनिष्ठ शक्ति में यह सुदृढ़ीकरण जो हमारे नियंत्रण से बाहर होती है, हमारी प्रत्याशाओं को विफल बनाती है, हमारे आकलनों को बेकार कर देती है, भूतपूर्व ऐतिहासिक विकास का एक प्रमुख उपादान रहा है। सामाजिक शक्ति अर्थात् बहुगुणित उत्पादक शक्ति, जो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के सहयोग से उस रूप में उत्पन्न होती है जिस रूप में वह श्रम-विभाजन द्वारा निर्धारित होती है, इन व्यक्तियों को—चूंकि उनका सहयोग स्वैच्छिक नहीं होता बल्कि नैसर्गिक रूप से होता है—अपनी संयुक्त शक्ति प्रतीत नहीं होती, बल्कि अपने से बाहर विद्यमान विजातीय शक्ति प्रतीत होती है जिसके मूल तथा प्रवृत्ति

*ये दो पैराग्राफ़ एंगेल्स ने हाशिये में जोड़े हैं।—सं०

से वे अनभिज्ञ होते हैं, जिसे इस कारण वे नियंत्रित नहीं कर सकते, इसके विपरीत वह ऐसी अवस्थाओं तथा मंज़िलों की अपनी ही ख़ास शृंखला के बीच से गुजरती है जो न केवल मनुष्य के संकल्प तथा क्रियाकलाप से स्वतंत्र होती हैं, बल्कि उनका प्रमुख अभिनियंत्रणकर्ता होती हैं।* यदि ऐसा न होता तो फिर उदाहरण के लिए सम्पत्ति का कोई इतिहास ही कैसे होता, कैसे वह भिन्न रूपों को ग्रहण करती, और कैसे, मिसाल के तौर पर, विद्यमान भिन्न पूर्वाधारों के अनुसार फ़्रांस में भू-सम्पत्ति का खण्डों में विभाजन से चन्द लोगों के हाथों में केन्द्रीयकरण हुआ और कैसे इंगलैंड में चन्द लोगों के हाथों में केन्द्रीयकरण से खण्डों में विभाजन हुआ, जैसे कि वास्तव में इस समय हो रहा है? या फिर यह कैसे होता है कि व्यापार, जो आख़िर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों तथा देशों के माल के विनिमय के अलावा और कुछ नहीं है, आपूर्ति तथा मांग के सम्बन्ध के ज़रिये पूरे संसार पर राज करता है, ऐसे सम्बन्ध के ज़रिये, जो एक अंग्रेज अर्थशास्त्री के शब्दों में प्राचीन यूनानियों और रोमनों की नियति की तरह सम्पूर्ण धरती पर मंडराता है तथा अदृश्य हाथ से लोगों के लिए सौभाग्य तथा दुर्भाग्य नियत करता है, जो साम्राज्य क़ायम करता है [१६] तथा साम्राज्यों को उलटता है, जो राष्ट्रों के उदय तथा विलोप का कारण है, जबकि आधार के, निजी सम्पत्ति के उन्मूलन के साथ, उत्पादन के कम्युनिस्ट ढंग के नियमन के साथ, और लोगों तथा उन द्वारा उत्पादित वस्तुओं के बीच अलगाव के सम्बन्ध को नष्ट किये जाने के साथ आपूर्ति तथा मांग के सम्बन्ध की शक्ति समाप्त हो जाती है तथा मनुष्य विनिमय, उत्पादन, अपने पारस्परिक सम्बन्ध की विधि पर फिर से अपना नियंत्रण हासिल कर लेते हैं?

[५. कम्युनिज़्म के भौतिक पूर्वाधार के रूप में उत्पादक शक्तियों का विकास]

|१८| यह "अलगाव" (यह एक ऐसा शब्द है जिसे दार्शनिक समझ लेंगे) निश्चित दो व्यावहारिक पूर्वाधारों के होने पर ही मिटाया जा सकता है। "असहनीय" शक्ति, अर्थात् ऐसी शक्ति बनने के लिए, जिसके ख़िलाफ़ लोग

---

*मार्क्स ने इस अंश के लिए हाशिये पर वह पाठ लिखा जिसे इस खण्ड में इस पैराग्राफ़ के फ़ौरन बाद पहले दो पैराग्राफ़ों में प्रस्तुत किया जा रहा है। –सं०

क्रान्ति करते हैं, उसे अवश्य ही मानवजाति के बहुत बड़े समूह को "सम्पत्तिहीन" बनाना होगा तथा साथ ही सम्पदा तथा संस्कृति के विद्यमान संसार में अन्तर्विरोध पैदा करना होगा, इन दोनों चीजों के लिए उत्पादक शक्तियों में बहुत अधिक वृद्धि, उनके विकास के उच्च परिमाण को आवश्यक बनाना होगा। दूसरी ओर उत्पादक शक्तियों का यह विकास (जिसमें मनुष्यों के स्थानीय अस्तित्व के बजाय उनका यथार्थ इन्द्रियगोचर **विश्व-ऐतिहासिक** अस्तित्व अन्तर्निहित है) एक नितान्त आवश्यक व्यावहारिक पूर्वाधार है क्योंकि उसके बिना केवल **अभाव ही** आम बनता है, और **दारिद्र्य** के होने पर आवश्यक वस्तुओं के लिए संघर्ष तथा सारा पुराना कुत्सित धन्धा अवश्य ही पुनरुत्पादित होगा; दूसरा कारण यह है कि केवल उत्पादक शक्तियों के इस सार्वत्रिक विकास के होने पर ही मनुष्यों के बीच **सार्वत्रिक** संसर्ग स्थापित होता है, जो तमाम जातियों में एक साथ "सम्पत्तिहीन" समूह विद्यमान होने के तथ्य को प्रत्यक्ष करता है (सार्वत्रिक प्रतियोगिता), हर जाति को दूसरों की क्रान्तियों पर आश्रित बनाता है, और अन्त में **विश्व-ऐतिहासिक**, इन्द्रियानुभव की दृष्टि से सार्वत्रिक मनुष्यों को स्थानीय मनुष्यों की जगह खड़ा कर देता है। इसके बिना (१) कम्युनिज़्म केवल स्थानीय घटना के रूप में ही जीवित रह पाता; (२) ख़ुद संसर्ग की **शक्तियां सार्वत्रिक** और इस कारण असहनीय शक्तियों के रूप में विकसित न हो पातीं: वे अन्धविश्वास से घिरी घरेलू "अवस्थाएं" बनी रहतीं; और (३) संसर्ग का प्रत्येक विस्तार स्थानीय कम्युनिज़्म को मिटा देगा। इन्द्रियानुभव की दृष्टि से कम्युनिज़्म प्रभुत्वशाली राष्ट्रों की "एकदम" तथा साथ-साथ कार्यवाही के रूप में ही सम्भव है[14] जो उत्पादक शक्तियों के तथा उनके साथ जुड़े विश्व संसर्ग के सार्वत्रिक विकास की पूर्वकल्पना करता है।*

[१६] इसके अलावा, **सम्पत्तिहीन** मज़दूरों का समूह—पूंजी से अथवा सीमित तुष्टि तक से बहुत बड़े पैमाने पर पृथक्कीकृत श्रम-शक्ति की घोर संकटापन्न स्थिति जो इस कारण आजीविका के सुरक्षित स्रोत से मात्र अस्थायी रूप से ही वंचित नहीं रहती—प्रतियोगिता की बदौलत **विश्व मंडी** की पूर्वकल्पना करता है। सर्वहारा का अस्तित्व इस प्रकार केवल **विश्व-ऐतिहासिक रूप** से ही हो सकता है, ठीक वैसे ही जैसे कम्युनिज़्म का, उसके क्रियाकलाप का केवल "विश्व-ऐतिहासिक"

* [पाण्डुलिपि के अगले पृष्ठ पर जिसमें पाठ जारी है, मार्क्स की टिप्पणी:] **कम्युनिज़्म।**

अस्तित्व ही हो सकता है। व्यक्तियों का विश्व-ऐतिहासिक अस्तित्व उनका ऐसा अस्तित्व है जो विश्व इतिहास के साथ प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा हुआ है।

[१८] कम्युनिज़्म हमारे लिए कोई **अवस्था** नहीं है जिसे स्थापित किया जाना है, न वह हमारे लिए **आदर्श** है जिसके अनुसार यथार्थ को अपने को ढालना होगा। हम **वास्तविक** आन्दोलन को कम्युनिज़्म का नाम देते हैं जो मौजूदा अवस्था को मिटाता है। इस आन्दोलन की अवस्थाएं उन पूर्वाधारों से उत्पन्न होती हैं जो इस समय अस्तित्व में हैं।*

The Illusion of the Epoch
civil society and Conception of History

[१९] समस्त पूर्ववर्ती ऐतिहासिक मंज़िलों में उत्पादक शक्तियों द्वारा निर्धारित और अपनी बारी में उन्हें निर्धारित करनेवाला संसर्ग का रूप **नागरिक समाज** [civil society] है। जैसा कि हमारे उपरोक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है, नागरिक समाज का पूर्वाधार तथा आधार सादा परिवार तथा उसका बहुगुणित रूप तथाकथित क़बीला है, नागरिक समाज के अधिक सटीक निर्धारक हमारी उपरिलिखित टीकाओं में दिये जा चुके हैं। हम यह भी देखते हैं कि यह नागरिक समाज पूरे इतिहास का सच्चा स्रोत तथा रंगमंच है, और अब तक का मान्य इतिहास कितना हास्यास्पद है जो वास्तविक सम्बन्धों की उपेक्षा करता है तथा अपने को राजाओं तथा राज्यों के आडम्बर तथा तड़क-भड़क तक सीमित रखता है।

हमने अब तक मुख्य रूप से मानव क्रियाकलाप के केवल एक पहलू पर, मनुष्यों द्वारा **प्रकृति को नये सांचे में ढालने** पर विचार किया है। दूसरा पहलू है **मनुष्यों द्वारा मनुष्यों को नये सांचे में ढालना...****

राज्य की उत्पत्ति तथा राज्य का नागरिक समाज से सम्बन्ध।***

---

*पाण्डुलिपि में मार्क्स ने यह पैराग्राफ़ इस अनुभाग के पहले पैराग्राफ़ के ऊपर रखा है। – सं०

** [हाशिये पर मार्क्स की टिप्पणी :] संसर्ग तथा उत्पादक शक्ति।

*** पाण्डुलिपि में पृष्ठ का अन्तिम छोर कोरा छोड़ दिया गया है। अगला पृष्ठ इतिहास के भौतिकवादी संप्रत्ययन से निकलनेवाले निष्कर्षों के प्रतिपादन से आरम्भ होता है। – सं०

[६. इतिहास के भौतिकवादी संप्रत्ययन से निष्कर्ष : ऐतिहासिक प्रक्रिया की निरन्तरता, इतिहास का विश्व इतिहास में रूपान्तरण, कम्युनिस्ट क्रान्ति की आवश्यकता]

[२०] इतिहास अलग-अलग पीढ़ियों की शृंखला के अलावा और कुछ नहीं है, इनमें से हर पीढ़ी तमाम पूर्ववर्ती पीढ़ियों से प्राप्त होनेवाली सामग्रियों, पूंजी तथा उत्पादक शक्तियों का उपयोग करती है, और इस तरह वह, एक ओर, परम्परागत क्रियाकलाप को सर्वथा परिवर्तित परिस्थितियों में जारी रखती है और, दूसरी ओर, पुरानी परिस्थितियों को सर्वथा परिवर्तित क्रियाकलापों से रूपांतरित करती है। इसे परिकल्पनात्मक ढंग से तोड़ा-मरोड़ा जा सकता है ताकि बाद के इतिहास को पूर्ववर्ती इतिहास का लक्ष्य बनाया जा सके, उदाहरण के लिए अमरीका की खोज का लक्ष्य फ़्रांसीसी क्रान्ति के विस्फोट को आगे बढ़ाना बताया जाता है। फलतः इतिहास को अपने विशेष लक्ष्य मिलते हैं तथा वह "अन्य व्यक्तियों के साथ पंक्तिबद्ध व्यक्ति" (अर्थात् "आत्मचेतना", "आलोचना", "अनुपम" आदि) बन जाता है। वस्तुतः पूर्ववर्ती इतिहास की "नियति", "लक्ष्य", "बीज", "विचार" शब्दों का जो अर्थ लगाया जाता है, वह आगे के इतिहास के, उस सक्रिय प्रभाव के अमूर्तकरण के अलावा और कुछ नहीं होता जो पूर्ववर्ती इतिहास आगे के इतिहास पर डालता है।

इस विकास के दौरान पृथक-पृथक क्षेत्र, जो एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हैं, जितना और विस्तृत होते जाते हैं, उत्पादन की विकसित विधि तथा विभिन्न जातियों के बीच संसर्ग और इसके कारण स्वभावतः उत्पन्न होनेवाले श्रम-विभाजन द्वारा अलग-अलग जातियों का मूल अलगाव जितना अधिक नष्ट किया जाता है, इतिहास उतना ही अधिक विश्व इतिहास बनता जाता है। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, यदि इंगलैंड में एक ऐसी मशीन का आविष्कार होता है जो भारत तथा चीन में अनगिनत मज़दूरों को रोटी से वंचित कर देती है तथा इन देशों के अस्तित्व के पूरे रूप को उलट देती है, तो वह आविष्कार विश्व-ऐतिहासिक तथ्य बन जाता है। या फिर चीनी और कॉफ़ी का मामला ही मिसाल के तौर पर ले लें जिन्होंने १९ वीं शताब्दी में अपना विश्व-ऐतिहासिक महत्व इस तथ्य द्वारा सिद्ध किया कि इन मालों का अभाव, जिसे नेपोलियन की महाद्वीपीय प्रणाली[15] ने उत्पन्न किया, जर्मनों द्वारा [२१] नेपोलियन के ख़िलाफ़ उठ खड़े होने का कारण बना तथा इस प्रकार वह १८१३ के गौरवमय स्वातंत्र्य-संग्रामों का वास्तविक आधार बना। इससे यह अर्थ निकलता है कि इतिहास का विश्व इतिहास में यह

रूपान्तरण "आत्मचेतना", विश्व-आत्मा अथवा किसी अन्य तत्वमीमांसीय हौवे की ओर से होनेवाली कोई अमूर्त क्रिया नहीं है अपितु सर्वथा भौतिक, इन्द्रियानुभव द्वारा परखी जा सकनेवाली क्रिया, ऐसी क्रिया है जिसका प्रमाण हर मनुष्य, जिस तरह वह आता तथा जाता है, खाना खाता है, पानी पीता है तथा वस्त्र पहनता है, प्रस्तुत किया करता है।

अब तक के इतिहास में यह चीज़ निश्चित रूप से एक इन्द्रियानुभवात्मक तथ्य है कि पृथक-पृथक मनुष्य अपने क्रियाकलाप के विश्व-ऐतिहासिक क्रियाकलाप में फैलने के साथ अपने लिए एक विजातीय शक्ति के अधिकाधिक दास बनते चले गये हैं (यह ऐसा दबाव है जिसकी उन्होंने किसी तथाकथित विश्व-आत्मा आदि के कुचक्र के रूप में परिकल्पना की है), यह ऐसी शक्ति है जो अधिकाधिक विशालकाय बनती गयी है, और जो अन्ततः **विश्व मंडी** सिद्ध होती है। परन्तु यह बात भी इन्द्रियानुभवात्मक रूप से उतनी ही प्रमाणित है कि कम्युनिस्ट क्रान्ति द्वारा (जिसके बारे में आगे अधिक बताया जायेगा) समाज की मौजूदा स्थिति का अन्त किये जा चुकने तथा निजी स्वामित्व को मिटा दिये जा चुकने पर, जो इस क्रांति के सदृश है, यह शक्ति, जो जर्मन सिद्धान्तकारों को इतनी हैरान कर रही है, विघटित कर दी जायेगी; और तब हर एक व्यक्ति की मुक्ति उसी परिमाण में हासिल होगी जिस परिमाण में इतिहास विश्व-इतिहास में परिणत होगा।* उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट है कि व्यक्ति की वास्तविक बौद्धिक शक्ति पूरी तरह उसके वास्तविक सम्बन्धों की सम्पदा पर निर्भर करती है। सिर्फ़ इसी तरह से पृथक-पृथक व्यक्ति विभिन्न जातीय तथा स्थानीय अवरोधों से छुटकारा पा सकेंगे, पूरी दुनिया के भौतिक तथा बौद्धिक उत्पादन के साथ व्यावहारिक सम्बन्धों के अन्तर्गत आ सकेंगे तथा पूरी धरती के इस सर्वतोमुखी उत्पादन (मानव के हाथों से निर्मित वस्तुओं) का उपभोग करने की क्षमता हासिल करने की स्थिति में होंगे। **सर्वतोमुखी** आश्रितता, व्यक्तियों के **विश्व-ऐतिहासिक** सहयोग के इस प्राकृतिक रूप को इस [२२] कम्युनिस्ट क्रान्ति द्वारा इन शक्तियों पर, जिन्हें मनुष्यों की अन्योन्यक्रिया ने जन्म दिया है, और जो मनुष्यों को अब तक आतंकित रखती आयी तथा उनके लिए सर्वथा विजातीय शक्तियों के रूप में उन्हें शासित करती आयी हैं, नियंत्रण एवं चेतन शासन में परिणत कर दिया जायेगा। इस दृष्टिकोण को भी पुनः विचारशील-भाववादी अर्थात् काल्पनिक, "मानवजाति

---

* [हाशिये पर मार्क्स की टिप्पणी:] **चेतना की उत्पत्ति के सम्बन्ध में।**

के स्वप्रजनन" ("समाज कर्ता के रूप में") जैसे शब्दों **में** अभिव्यक्त किया जा सकता है, और इस तरह एक-दूसरे के बाद आनेवाले और एक-दूसरे से सम्बद्ध व्यक्तियों की क्रमानुगत शृंखला को एकल व्यक्ति के रूप में कल्पित किया जा सकता है जो अपने जनन का रहस्य निष्पादित करता है। इससे यह स्पष्ट है कि व्यक्ति यक़ीनन शारीरिक तथा मानसिक दोनों रूप से **एक-दूसरे** की रचना करते हैं परन्तु वे अपनी रचना न तो सन्त ब्रूनो के अर्थहीन भाव में करते हैं और न "अनुपम" के, "निर्मित" मनुष्य के **अर्थ** में।

अन्ततः इतिहास के उस संप्रत्ययन से, जिसकी हमने रूपरेखा खींची है, हम ये और निष्कर्ष निकालते हैं: (१) उत्पादक शक्तियों के विकास में एक ऐसी मंज़िल आती है जब ऐसी उत्पादक शक्तियां तथा संसर्ग के साधन अस्तित्व में आते हैं जो मौजूदा सम्बन्धों के अन्तर्गत केवल मुसीबत ही पैदा करते हैं—और उत्पादक नहीं वरन् विनाशकारी शक्तियां (मशीनें तथा मुद्रा) बन जाते हैं; और इसके साथ एक ऐसा वर्ग आविर्भूत होता है, जिसे समाज के लाभों का उपभोग किये बिना उसके सारे बोझ ढोने पड़ते हैं, जो समाज से बहिष्कृत होकर [२३] तमाम अन्य वर्गों का सबसे अधिक निश्चित विरोध करने के लिए विवश होता है; वह ऐसा वर्ग है जो समाज के समस्त सदस्यों का बहुसंख्यक भाग होता है और जिसमें से आधारभूत क्रान्ति की आवश्यकता की चेतना, कम्युनिस्ट चेतना उत्पन्न होती है, यह चेतना, निस्सन्देह, यदि इस वर्ग की स्थिति ठीक-ठीक समझी जाये, अन्य वर्गों के अन्दर भी उत्पन्न हो सकती है; (२) जिन अवस्थाओं के अन्तर्गत निश्चित उत्पादक शक्तियों को प्रयुक्त किया जा सकता है, वे समाज के एक निश्चित वर्ग के शासन की अवस्थाएं हैं जिसकी सामाजिक शक्ति को, जिसे वह अपनी सम्पत्ति से प्राप्त करता है, अपनी **व्यावहारिक**-भाववादी अभिव्यक्ति हर बार राज्य के रूप में मिलती है; और इसलिए प्रत्येक क्रान्तिकारी संघर्ष उस वर्ग के विरुद्ध लक्षित होता है, जो उस समय तक सत्तारूढ़ होता है;* (३) अब तक की तमाम क्रान्तियों में क्रियाकलाप का स्वरूप सदैव अछूता रहा है और वह इस क्रियाकलाप के भिन्न वितरण का, अन्य लोगों के बीच श्रम के नये वितरण का प्रश्न मात्र था, जबकि कम्युनिस्ट क्रान्ति क्रियाकलाप की पूर्ववर्ती **विधि** के विरुद्ध लक्षित होती है, वह **श्रम**** का अन्त कर देती है, और स्वयं वर्गों समेत

---

*[हाशिये पर मार्क्स की टिप्पणी:] इन लोगों की दिलचस्पी उत्पादन की मौजूदा अवस्थाएं बनाये रखने में होती है।

**[पाण्डुलिपि में ये शब्द कटे हुए हैं:] क्रियाकलाप का वह रूप जिसके अन्तर्गत ... का शासन ...

तमाम वर्गों का शासन मिटा देती है क्योंकि वह एक ऐसे वर्ग द्वारा सम्पन्न की जाती है जिसे समाज में वर्ग के रूप में नहीं गिना जाता, वर्ग के रूप में मान्यता नहीं दी जाती, तथा जो वर्तमान समाज के अन्दर तमाम वर्गों, जातियों आदि के विघटन की अभिव्यक्ति होता है; और (४) इस कम्युनिस्ट चेतना की बड़े पैमाने पर उत्पत्ति के लिए तथा स्वयं ध्येय की सफलता के लिए बड़े पैमाने पर मनुष्यों का परिवर्तन आवश्यक होता है जो केवल एक व्यावहारिक आन्दोलन, एक क्रान्ति में ही सम्भव है; इस तरह यह क्रान्ति केवल इसीलिए आवश्यक नहीं होती कि शासक वर्ग का तख़्ता और किसी तरह नहीं उलटा जा सकता, बल्कि इसलिए भी आवश्यक होती है कि उसका तख़्ता उलटनेवाला वर्ग केवल क्रान्ति से ही युग-युगों की सारी गन्दगी से छुटकारा पा सकता है तथा समाज को नये सिरे से स्थापित करने के उपयुक्त बन सकता है।*

---

*[पाण्डुलिपि में यह अंश कटा हुआ है:] जहां फ़्रांस में, साथ ही इंगलैंड तथा जर्मनी में तमाम कम्युनिस्ट बहुत पहले से क्रान्ति की आवश्यकता पर सहमत हैं, वहां सन्त ब्रूनो ख़ामोशी से निरन्तर स्वप्न देखते, तथा यह विश्वास करते जा रहे हैं कि "वास्तविक मानवतावाद" अर्थात् कम्युनिज्म को "अध्यात्मवाद का स्थान" (जिसका कोई स्थान नहीं होता है) लेना है ताकि वह आदर-सम्मान प्राप्त कर सके। तब—वह बराबर स्वप्न देखते जाते हैं—निस्सन्देह "मुक्ति प्राप्त हो जायेगी, पृथ्वी स्वर्ग बन जायेगी तथा स्वर्ग पृथ्वी"। (धर्मशास्त्री अब भी स्वर्ग भुलाने में असमर्थ है।) "तब आनन्दोल्लास तथा परमसुख स्वर्गिक समसुरता के साथ अनन्त काल तक प्रतिध्वनित होते रहेंगे" (पृष्ठ १४०)। चर्च के स्वनामधन्य पिता प्रलय-दिवस को अपने सामने पाने पर बहुत आश्चर्यान्वित होंगे जब यह सब घटित होगा—उस दिन जब धू-धू जलते नगरों से आकाश में झलकनेवाली रोशनी प्रभात वेला का द्योतक होगी, जब उनके कानों में इन "स्वर्गिक समसुरों" के साथ 'मार्सेइयेज़' तथा 'कार्मानोला' की धुनें तोप की समुचित गर्जन के संग प्रतिध्वनित होंगी, और गिलोटीन ताल देगा; जब तुच्छ "जनसमूह" गरजेगा ça ira, ça ira तथा "आत्मचेतना" को बत्ती के खम्भे की सहायता से ख़त्म करेगा।[16] सन्त ब्रूनो के लिए "अनन्त काल तक आनन्दोल्लास तथा परमसुख" का उपदेशमूलक चित्र प्रस्तुत करने का कदापि कोई कारण नहीं है। प्रलय-दिवस पर सन्त ब्रूनो का व्यवहार कैसा होगा, इसके पूर्वानुमान की रूपरेखा तैयार करने के आनन्द से हम अपने को वंचित रखते हैं। इसके अलावा यह तय करना भी कठिन है कि क्रान्ति सम्पन्न करनेवाले सर्वहारा को "तत्व" के रूप में या "जनसमूह" के रूप में, जो आलोचना को समाप्त करने का इच्छुक हो, कल्पित किया जाये अथवा चित्त के "निर्गम" के रूप में, जिसमें बावेर के विचारों को हज़म करने के लिए आवश्यक सुसंगतता का अब भी अभाव है।

[७. इतिहास के भौतिकवादी संप्रत्ययन का सारांश]

[२४] इतिहास का यह संप्रत्ययन स्वयं जीवन की भौतिक उत्पत्ति से आरम्भ करते हुए उत्पादन की वास्तविक प्रक्रिया की व्याख्या करने, और इससे जुड़े तथा उत्पादन की इस विधि द्वारा रचित संसर्ग के रूप को (अर्थात् नागरिक समाज को उसकी भिन्न-भिन्न मंजिलों में) सारे इतिहास के आधार के रूप में समझने; और राज्य के रूप में नागरिक समाज को क्रियाशील रूप में दिखाने, चेतना की तमाम भिन्न-भिन्न उपजों तथा रूपों पर—धर्म, दर्शनशास्त्र, आचारशास्त्र आदि, आदि पर — प्रकाश डालने और उस आधार पर उनके मूलों एवं विकास का पता लगाने की हमारी योग्यता पर निर्भर करता है; उसके द्वारा निस्सन्देह पूरी प्रक्रिया को उसकी समग्रता के साथ (और इसलिए इन विविध पहलुओं की अन्योन्यक्रिया को भी) चित्रित किया जा सकता है। इतिहास के इस दृष्टिकोण को भाववादी दृष्टिकोण के विपरीत हर काल में प्रवर्ग की तलाश नहीं करनी पड़ती, वह तो इतिहास के वास्तविक आधार पर बराबर क़ायम रहता है; वह विचारों से व्यवहार पर प्रकाश नहीं डालता, परन्तु भौतिक व्यवहार से विचारों की संरचना पर प्रकाश डालता है; और तदनुसार वह इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि चेतना के समस्त रूपों तथा उपजों को बौद्धिक आलोचना से, "आत्मचेतना" के अन्दर विलयन से अथवा "भूत-प्रेतों", "वेतालों", "मनोभावों"[17] आदि में रूपान्तरण से नहीं बल्कि उन वास्तविक सम्बन्धों को व्यवहारतः उलटने से ही विघटित किया जा सकता है जिन्होंने इन वाहियात भाववादी बातों को जन्म दिया; कि इतिहास की, और वह भी धर्म, दर्शनशास्त्र तथा सिद्धान्त की तमाम दूसरी क़िस्मों की प्रेरक शक्ति आलोचना नहीं, वरन् क्रान्ति है। इससे पता चलता है कि इतिहास "आत्मा की आत्मा"* की तरह "आत्मचेतना" के अन्दर विलयित होकर ख़त्म नहीं होता, बल्कि यह पता चलता है कि उसके अन्दर प्रत्येक मंज़िल में एक भौतिक परिणाम मिलता है, यह है: उत्पादक शक्तियों की एक राशि, प्रकृति के साथ व्यक्तियों का तथा उनका एक-दूसरे के साथ ऐतिहासिक रूप से निर्मित सम्बन्ध जिसे हर पीढ़ी अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी से प्राप्त करती है; उत्पादक शक्तियों, पूंजीगत कोषों तथा अवस्थाओं की कुल राशि, एक ओर, निस्सन्देह नयी पीढ़ी द्वारा परिवर्तित की जाती है, परन्तु दूसरी ओर वह उसके लिए जीवन की अपनी

*ब्रूनो बावेर के शब्द।—सं०

शर्तें निर्धारित करती है और उसे एक निश्चित विकास, एक निश्चित स्वरूप प्रदान करती है। वह बताता है कि परिस्थितियां मनुष्यों को बनाती हैं [२५] ठीक उसी तरह जैसे मनुष्य परिस्थितियों को बनाते हैं।

उत्पादक शक्तियों, पूंजीगत कोषों तथा संसर्ग के सामाजिक रूपों की यह राशि, जिसे हर व्यक्ति तथा पीढ़ी किसी प्रदत्त वस्तु के रूप में अस्तित्वमान पाती है, उस चीज़ का वास्तविक आधार है जिसे दार्शनिकों ने "तत्व" तथा "मानव के सार" के रूप में परिकल्पित किया है, जिसकी उन्होंने पूजा की है तथा जिस पर उन्होंने प्रहार किया है: यह वास्तविक आधार है जिसे मनुष्यों के विकास पर अपने प्रभाव तथा असर के मामले में इस तथ्य से लेशमात्र भी ठेस नहीं पहुंचती कि ये दार्शनिक "आत्मचेतना" तथा "अनुपम" के रूप में उसके विरुद्ध विद्रोह करते हैं। जीवन की ये अवस्थाएं, जिन्हें भिन्न-भिन्न पीढ़ियां अस्तित्व में पाती हैं, यह भी तय करती हैं कि समय-समय पर होनेवाली क्रान्तिकारी उथल-पुथलों में पूरी विद्यमान व्यवस्था को उलटने लायक शक्ति होगी या नहीं। और यदि एक सम्पूर्ण क्रान्ति के ये भौतिक तत्व विद्यमान नहीं हैं (यानी एक ओर मौजूदा उत्पादक शक्तियां तथा दूसरी ओर एक ऐसे क्रान्तिकारी समूह का गठन, जो समाज की तब तक की पृथक-पृथक अवस्थाओं के ख़िलाफ़ ही नहीं वरन् तब तक के "जीवन के उत्पादन के" ही ख़िलाफ़, उस "सम्पूर्ण क्रियाकलाप" के ख़िलाफ़, जिस पर वह आधारित है, विद्रोह करता है), तो जैसा कि कम्युनिज़्म का इतिहास इसे सिद्ध करता है, व्यावहारिक विकास के लिए इस बात का क़तई कोई अर्थ नहीं होता कि इस क्रांति का **विचार** पहले ही सौ बार प्रकट किया जा चुका है।

[८. इतिहास के पूर्ववर्ती, भाववादी संप्रत्ययन की, विशेष रूप से हेगेलोत्तरीय जर्मन दर्शन की आधारहीनता]

वर्तमान काल तक इतिहास के पूरे संप्रत्ययन में इतिहास के इस वास्तविक आधार को या तो पूरी तरह उपेक्षित किया गया अथवा उसे गौण चीज, इतिहास की धारा के लिए सर्वथा अप्रासंगिक माना गया। इसलिए इतिहास हमेशा एक असंगत प्रतिमान के अनुसार लिखा जाता था; जीवन का वास्तविक उत्पादन प्रागैतिहासिक प्रतीत होता था, जबकि जो वास्तविक रूप से ऐतिहासिक है, वह साधारण जीवन से पृथक किया हुआ, विश्व से बाहर की चीज प्रतीत होता था। इस तरह प्रकृति से मनुष्य के सम्बन्ध को इतिहास से बाहर रखा जाता था

तथा इस कारण प्रकृति तथा इतिहास की प्रतिपक्षता तैयार की जाती थी। फलस्वरूप इस संप्रत्ययन के प्रतिपादक इतिहास में केवल राजाओं तथा राज्यों की राजनीतिक कार्रवाइयों, धार्मिक तथा सब तरह के सैद्धान्तिक संघर्षों को देख सके हैं तथा उन्हें विशेष रूप से **उस युग के भ्रमों में सहभागी बनना पड़ा।** उदाहरण के लिए, यदि कोई युग अपने को विशुद्ध "राजनीतिक" या "धार्मिक" उद्देश्यों से चालित माने – हालांकि "धर्म" तथा "राजनीति" उसके वास्तविक उद्देश्यों के रूप मात्र होते हैं–तो इतिहासकार इस राय को स्वीकार कर लेता है। अपने वास्तविक व्यवहार के बारे में सम्बन्धित लोगों के "भाव", "संप्रत्ययन" को एकमात्र निश्चायक, सक्रिय शक्ति में रूपान्तरित कर दिया जाता है, जो उनके व्यवहार को नियंत्रित तथा निर्धारित करती है। जब वह आदिकालीन रूप, जिसमें श्रम-विभाजन भारतीयों तथा मिस्रवासियों के बीच प्रकट होता है, उनके राज्य तथा धर्म में जात-पांत व्यवस्था को जन्म देता है, तो इतिहासकार यह विश्वास कर बैठता है कि जात-पांत व्यवस्था ही [२६] वह शक्ति है जिसने इस आदिकालीन सामाजिक रूप को जन्म दिया है।

जहां फ्रांसीसी तथा अंग्रेज़ कम से कम उस राजनीतिक भ्रम से, जो कुछ-कुछ यथार्थ के समीप होता है, संलग्न रहते हैं, जर्मन "विशुद्ध आत्मा" के जगत् में विचरण करते हैं, तथा धार्मिक भ्रम को इतिहास की प्रेरक शक्ति बना देते हैं। इतिहास का हेगेलीय दर्शन उस सारे जर्मन इतिहास-लेखन का अन्तिम, "सर्वोत्तम अभिव्यक्ति" तक पहुंचाया गया परिणाम है, जिसके लिए प्रश्न वास्तविक हितों, यहां तक कि राजनीतिक हितों का भी नहीं है, अपितु विशुद्ध विचारों का प्रश्न है, जो तदनुसार सन्त ब्रूनो को ऐसे "विचारों" की एक शृंखला प्रतीत होता है जो एक-दूसरे को हड़प लेते हैं और जो अन्ततः "आत्मचेतना" में ग़ायब हो जाते हैं; * और इतिहास की धारा इससे भी ज्यादा सुसंगत रूप में स्वनामधन्य माक्स स्टर्नर को प्रतीत होती है, जिन्हें वास्तविक इतिहास का लेशमात्र भी ज्ञान नहीं है, जिन्हें ऐतिहासिक प्रक्रिया "सूरमाओं", डाकुओं तथा भूतप्रेतों का क़िस्सा मात्र लगती है, जिनकी छायाओं से वह अपनी रक्षा निस्सन्देह केवल "असाधुता" से ही कर सकते हैं। यह संप्रत्ययन सही अर्थों में धार्मिक है: यह धार्मिक मनुष्य की प्राथमिक मनुष्य के रूप में, इतिहास के समारम्भ बिन्दु के रूप में अभिकल्पना

---

* [हाशिये पर मार्क्स की टिप्पणी:] तथाकथित **वस्तुपरक** इतिहास-लेखन का अर्थ ऐतिहासिक अवस्थाओं को क्रियाकलाप के बाहर निरूपित करने में ही निहित है। प्रतिक्रियावादी स्वरूप।

करता है तथा जीवन-निर्वाह के साधनों एवं स्वयं जीवन के वास्तविक उत्पादन के स्थान पर वह अपने मन में स्वच्छन्द कल्पनाओं के धार्मिक सृजन को बिठा देता है।

इतिहास का यह पूरा संप्रत्ययन अपने विघटन तथा उससे उद्भूत आशंकाओं तथा मनस्तापों समेत, जर्मनों का विशुद्ध **राष्ट्रीय** मामला है तथा जर्मनों के लिए वह केवल **स्थानीय** दिलचस्पी की वस्तु है, जैसे उदाहरण के लिए एक महत्वपूर्ण प्रश्न जिस पर कई बार बहस हुई, यह है: हम वस्तुतः कैसे "ईश्वर के जगत् से मनुष्य के जगत् में पहुंचते हैं" – मानो यह "ईश्वर का जगत्" कल्पना के अलावा वास्तव में कहीं और विद्यमान रहा हो, तथा विद्वज्जन, अनजाने ही, "मनुष्य के जगत्" में निरन्तर नहीं रहते आये, जहां पहुंचने का वे अब रास्ता ढूंढ़ रहे हैं; और मानो इस सैद्धान्तिक बुलबुले को उड़ाने का रहस्य समझाने का विद्वज्जनीय मनबहलाव (क्योंकि यह इससे ज्यादा और कुछ नहीं है), इसके विपरीत, इसके मूल को वास्तविक पार्थिव परिस्थितियों में दिखाने में निहित न रहा हो। ये जर्मन हमेशा पूर्ववर्ती लेखकों की निरर्थक बात को [२७] किसी अन्य अनोखी वस्तु में बदलने में, अर्थात् इस बात का पूर्वानुमान लगाने में व्यस्त हैं कि इस सारी निरर्थक बात का विशेष **अर्थ** है जिसे खोजा जा सकता है; जबकि **यह** वस्तुतः इस सैद्धान्तिक बात को वास्तविक विद्यमान परिस्थितियों के जरिये समझाने का प्रश्न मात्र है। इन वाक्यों को वास्तविक, व्यावहारिक रूप से मिटाने, मनुष्यों की चेतना से इन धारणाओं को हटाने का काम, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, परिवर्तित परिस्थितियां करेंगी, सैद्धान्तिक निगमन नहीं। जन-समूह के लिए, अर्थात् सर्वहारा के लिए इन सैद्धान्तिक संप्रत्ययनों का अस्तित्व ही नहीं है, अतः उनके लिए उन्हें मिटाने की जरूरत ही नहीं है, और यदि इस समूह की कभी कोई सैद्धान्तिक धारणाएं – अर्थात् धर्म आदि – रही हों, तो उन्हें परिस्थितियां बहुत पहले ही मिटा चुकी हैं।

इन प्रश्नों तथा समाधानों का विशुद्ध राष्ट्रीय स्वरूप पुनः उस तरीक़े में दिखायी देता है जिसे अपनाकर ये सिद्धान्तकार पूरी गम्भीरता के साथ इस बात में विश्वास करते हैं कि "ईश्वर-मानव" तथा "मानव" आदि कपोल-कल्पित विचार इतिहास के पृथक-पृथक युगों के नेता रहे हैं (सन्त ब्रूनो तो यहां तक दावा करते हैं कि "केवल आलोचना तथा आलोचकों ने ही इतिहास बनाया है"[18]), और जब वे स्वयं ऐतिहासिक प्रणालियों की रचना करते हैं तो वे अधिक से अधिक शीघ्रता के साथ सारे पूर्ववर्ती कालों को लांघ जाते हैं तथा "मंगोलवाद"[19]

से तुरन्त सीधे "अर्थपूर्ण तत्व से युक्त" इतिहास में, कहने का मतलब है *«Hallische»* और *«Deutsche Jahrbücher»*[20] के इतिहास में तथा हेगेलीय पंथ के आम कलह में विघटन में पहुंच जाते हैं। वे तमाम अन्य जातियों, तमाम वास्तविक घटनाओं को भूल जाते हैं, तथा theatrum mundi * को लाइपज़िग पुस्तक मेले और तथा "आलोचना", "मनुष्य" और "अनुपम" के पारस्परिक विवाद तक सीमित कर दिया जाता है।** यदि ये सिद्धान्तकार वास्तविक ऐतिहासिक विषयों का, उदाहरण के लिए अठारहवीं शताब्दी का निरूपण करते भी हैं तो वे केवल सम्बन्धित काल के विचारों का इतिहास पेश करते हैं, जो उन विचारों के आधार में होनेवाले तथ्यों तथा व्यावहारिक विकास से पृथक कर दिया जाता है। और इतना भी केवल उस काल को दोषयुक्त, आरम्भिक मंज़िल के रूप में, वास्तविक ऐतिहासिक युग अर्थात् १८४०–१८४४ के जर्मन दार्शनिक संघर्ष के काल के सीमित पूर्ववर्ती युग के रूप में प्रस्तुत कर सकने के लिए करते हैं। यह स्वाभाविक ही है कि जब पूर्ववर्ती काल का इतिहास किसी ग़ैर-ऐतिहासिक व्यक्ति तथा उसकी हवाई कल्पनाओं की चमक-दमक बढ़ाने के लक्ष्य से लिखा जाता है तो सारी की सारी वस्तुतः ऐतिहासिक घटनाओं की, यहां तक कि इतिहास के अन्दर राजनीति के वस्तुतः ऐतिहासिक हस्तक्षेपों की कोई चर्चा नहीं की जाती। इसके बदले हमें शोध पर नहीं वरन् मनमाने ढंग से गढ़ी गयी बातों तथा साहित्यिक गपशप पर आधारित वृत्तान्त, उस तरह का वृत्तान्त मिलता है जिसे सन्त ब्रूनो ने अठारहवीं शताब्दी के अब भुलाये जा चुके इतिहास में प्रस्तुत किया है।[21] विचारों के ये शब्दाडम्बरपूर्ण तथा दम्भी फेरीवाले, जो अपने बारे में कल्पना करते हैं कि वे तमाम राष्ट्रीय पूर्वग्रहों से अनन्त रूप से ऊपर हैं, व्यवहार में शराबख़ानों में बैठने-वाले उन कूपमण्डूकों से कहीं अधिक संकीर्ण राष्ट्रीयतावादी हैं जो संयुक्त जर्मनी का स्वप्न देखते हैं। वे अन्य जातियों और राष्ट्रों के कारनामों को ऐतिहासिक नहीं मानते: वे रहते हैं जर्मनी में, जर्मनी द्वारा [२८] और जर्मनी के लिए; वे राइन गीत[22] को धार्मिक मंत्रोच्चार में बदल डालते हैं, तथा फ़्रांसीसी राज्य के बजाय फ़्रांसीसी दर्शन को लूटकर फ़्रांसीसी प्रान्तों के बजाय फ़्रांसीसी विचारों का जर्मनी-करण कर अल्सास-लोरेन पर कब्ज़ा करते हैं। हेर वेनेदे सन्त ब्रूनो तथा माक्स की तुलना में विश्वनागरिक हैं, जो सिद्धान्त के विश्व-प्रभुत्व में जर्मनी का विश्व-प्रभुत्व उद्घोषित करते हैं।

---

* विश्व रंगमंच। – सं०

** याने ब्रूनो बावेर, लुडविग फ़ायरबाख़ तथा माक्स स्टर्नर। – सं०

[६. फ़ायरबाख की, इतिहास के उनके भाववादी संप्रत्ययन की अतिरिक्त आलोचना]

इन तर्कों से यह भी स्पष्ट है कि फ़ायरबाख़ उस समय अपने को कितनी बुरी तरह धोखा देते हैं जब («*Wigand's Vierteljahrsschrift*», १८४५, जिल्द २) "सामाजिक मनुष्य" ["common man"] के विशेषण के बल पर वह अपने को कम्युनिस्ट[23] घोषित करते हैं, कम्युनिस्ट शब्द को "आदमी" शब्द का विधेय बना देते हैं, और इस तरह यह सोचते हैं कि "कम्युनिस्ट" शब्द को, जिसका वास्तविक संसार में अर्थ है एक निश्चित क्रान्तिकारी पार्टी का अनुयायी, मात्र एक प्रवर्ग में बदला जा सकता है। मनुष्यों के एक-दूसरे के प्रति सम्बन्धों के मामले में फ़ायरबाख़ का पूरा निगमन केवल यही सिद्ध करने तक सीमित है कि मनुष्यों को एक-दूसरे की आवश्यकता होती है तथा **सदैव आवश्यकता रही है।** वह इस तथ्य के संप्रत्ययन को सिद्ध करना चाहते हैं, कहने का मतलब यह है कि वह दूसरे सिद्धांतकारों की तरह किसी **विद्यमान** तथ्य के विषय में केवल सही संप्रत्ययन उत्पन्न करना चाहते हैं, जबकि वास्तविक कम्युनिस्ट के लिए यह मौजूदा हालात को उलट देने का प्रश्न है। वैसे तो हम इस बात की पूरी तरह क़द्र करते हैं कि फ़ायरबाख़ **इसी** तथ्य की चेतना उत्पन्न करने के लिए सिद्धान्तकार या दार्शनिक की स्थिति त्यागे बिना उस हद तक आगे बढ़ते हैं जिस हद तक कोई सिद्धान्तकार सम्भवतः बढ़ सकता है। परन्तु यह लाक्षणिक है कि सन्त ब्रूनो तथा सन्त मार्क्स कम्युनिस्ट के बारे में फ़ायरबाख़ का संप्रत्ययन हथिया लेते हैं तथा उसे वास्तविक कम्युनिस्ट की जगह रख देते हैं—जो अंशतः इसलिए किया जाता है कि वे कम्युनिज़म का भी "आत्मा की आत्मा" के रूप में, एक दार्शनिक प्रवर्ग के रूप में, एक समान विपक्षी के रूप में मुक़ाबला कर सकें; सन्त ब्रूनो के मामले में यह अंशतः व्यावहारिक कारण से किया जाता है।

विद्यमान यथार्थता को फ़ायरबाख़ द्वारा स्वीकार किये जाने की तथा साथ ही उसकी गलत समझ की, जिसमें वह हमारे विपक्षियों के साथ अब भी सहभागी हैं, एक मिसाल के तौर पर हम 'भविष्य का दर्शन' के एक अंश की चर्चा करेंगे जहां वह यह विचार विकसित करते हैं कि किसी वस्तु या मनुष्य का अस्तित्व साथ ही उस वस्तु या मनुष्य का तत्व भी होता है,[24] कि किसी पशु या मनुष्य के अस्तित्व की अवस्थाएं, जीवन तथा क्रियाकलाप की विधि वे हैं जिनमें उसका "तत्व" अपने को तृप्त अनुभव करता है। यहां प्रत्येक अपवाद को सुस्पष्टतः

असुखद संयोग के रूप में, एक ऐसी असामान्यता के रूप में परिकल्पित किया गया है जिसे बदला नहीं जा सकता। इस प्रकार यदि लाखों-लाख सर्वहारा अपने जीवन की परिस्थितियों से कदापि सन्तोष अनुभव नहीं करते, यदि उनका "अस्तित्व" [२६] उनके "तत्व" से ज़रा भी मेल नहीं खाता तो उद्धृत अंश के अनुसार यह अपरिहार्य दुर्भाग्य है जिसे चुपचाप सहन किया जाना चाहिए। परन्तु लाखों-लाख सर्वहारा तथा कम्युनिस्ट कुछ और ही सोचते हैं तथा वक्त आने पर वे इसे साबित करेंगे जब वे व्यावहारिक ढंग से, क्रान्ति के माध्यम से अपने "अस्तित्व" का अपने "तत्व" के साथ सामंजस्य स्थापित करेंगे। फ़ायरबाख़, इसलिए, ऐसे मामलों में मनुष्यों के संसार की बात कभी नहीं करते, बल्कि हमेशा बाह्य प्रकृति में, और, यही नहीं, **ऐसी** प्रकृति में शरण लेते हैं जिसे अभी तक वश में नहीं किया जा सका है। परन्तु हर नये आविष्कार के साथ, उद्योग की हर अग्रगति के साथ इस क्षेत्र से एक और नया अंश पृथक हो जाता है, जिससे वह आधार निरन्तर संकुचित होता जा रहा है जो ऐसी फ़ायरबाख़ीय प्रस्थापनाएँ निदर्शित करनेवाले उदाहरण पैदा करता है। मछली का "तत्व" उसका "अस्तित्व" याने जल है – इसी एक प्रस्थापना को ले लें। नदी की मछली का "अस्तित्व" नदी का पानी है। परन्तु नदी का पानी ज्योंही उद्योग के हितसाधन में लगाया जाता है, ज्योंही वह रंग तथा अन्य मलावशिष्टों से दूषित होता है, उस पर ज्योंही स्टीमर चलने लगते हैं या ज्योंही उसका पानी नहरों में पहुंचता है, जहां नालियां बन्द कर मछलियों को अपने अस्तित्व के माध्यम से वंचित किया जा सकता है, वह मछलियों का "तत्व" नहीं रह जाता, अस्तित्व का उपयुक्त माध्यम नहीं रह जाता। यह सफ़ाई कि ऐसे तमाम अन्तर्विरोध अवश्यम्भावी असामान्यताएं हैं, उस सान्त्वना से मूलतः भिन्न नहीं है जो स्वनामधन्य माक्स स्टर्नर असन्तुष्टों को यह कहकर देते हैं कि यह अन्तर्विरोध उनका अपना अन्तर्विरोध है तथा ये कठिनाइयां उनकी अपनी कठिनाइयां हैं, जबकि उन्हें या तो अपने मस्तिष्कों को शान्त स्थिति में रखना चाहिए, अपनी घृणा अपने पास रखनी चाहिए या फिर किसी अजीबोगरीब ढंग से उसके ख़िलाफ़ विद्रोह करना चाहिए। फ़ायरबाख़ का उक्त संप्रत्ययन सन्त ब्रूनो के इस उलाहने से ज़रा ही भिन्न है कि इन दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियों का कारण यह तथ्य है कि सम्बद्ध लोग "सत्व" के कूड़ा-करकट में फंसे हुए हैं, वे "परम आत्मचेतना" तक नहीं बढ़ पाये हैं, और यह अनुभव नहीं करते कि ये प्रतिकूल अवस्थाएं उनकी आत्मा की आत्मा हैं।

[३]

[१. सत्ताधारी वर्ग तथा सत्ताधारी चेतना। इतिहास में आत्मा के प्रभुत्व के हेगेल के संप्रत्ययन की उत्पत्ति]

[३०] सत्ताधारी वर्ग के विचार हर युग में सत्ताधारी विचार हुआ करते हैं: अर्थात् जो वर्ग समाज की सत्ताधारी **भौतिक** शक्ति होता है, वह साथ ही उसकी सत्ताधारी **बौद्धिक** शक्ति भी होता है। जिस वर्ग के पास भौतिक उत्पादन के साधन होते हैं, उसका साथ ही साथ बौद्धिक उत्पादन पर भी नियंत्रण रहता है, और इस तरह साधारणतया जिन लोगों के पास बौद्धिक उत्पादन के साधन नहीं होते उनके विचार इस वर्ग के अधीन रखे जाते हैं। सत्ताधारी विचार प्रभुत्वशाली भौतिक सम्बन्धों की, यानी विचारों के रूप में ग्रहण किये जानेवाले प्रभुत्वशाली भौतिक सम्बन्धों की बौद्धिक अभिव्यक्ति के अलावा और कुछ नहीं हैं; अतः ये उन सम्बन्धों की अभिव्यक्ति हैं जो एक वर्ग को सत्ताधारी बनाते हैं; इसलिए वे उसके प्रभुत्व के विचार हुआ करते हैं। जिन लोगों को लेकर सत्तारूढ़ वर्ग बनता है, उनके पास अन्य बातों के अलावा चेतना होती है, इसलिए वे सोचते हैं। इसलिए वे जहां तक एक वर्ग के रूप में शासन करते हैं तथा एक युग का विस्तार तथा परिधि निर्धारित करते हैं, उस हद तक यह स्वतः स्पष्ट है कि वे यह कार्य इसके पूरे फैलाव के साथ करते हैं, इसलिए अन्य बातों के साथ चिन्तकों, विचारों को पैदा करनेवालों के रूप में भी शासन करते हैं और अपने युग के विचारों की रचना तथा वितरण का नियामन करते हैं: इस प्रकार उनके विचार युग के सत्ताधारी विचार होते हैं। उदाहरण के लिए, ऐसे युग में तथा ऐसे देश में, जहां शाही सत्ता, अभिजात वर्ग तथा पूंजीपति वर्ग आधिपत्य के लिए होड़ कर रहे हों और इस कारण आधिपत्य विभक्त हो, वहां सत्ता के विभाजन का सिद्धान्त प्रभुत्वपूर्ण विचार सिद्ध होता है तथा "चिरन्तन नियम" के रूप में अभिव्यक्त होता है।

श्रम-विभाजन, जैसा कि हम उसे ऊपर (पृष्ठ [१५–१८])* अब तक इतिहास की प्रमुख शक्तियों में से एक के रूप में देख चुके हैं, सत्ताधारी वर्ग में भी मानसिक तथा [३१] भौतिक श्रम के विभाजन के रूप में अपने को प्रकट करता है, इस तरह इस वर्ग के अन्दर एक भाग वर्ग के चिन्तकों के रूप में प्रकट होता

*इस खण्ड के पृष्ठ ३७–४१ देखें।—सं०

है (उसके सक्रिय, विचारक्षम सिद्धान्तकार जो अपने बारे में इस वर्ग के भ्रमों को सर्वांगपूर्ण बनाने के काम को अपनी आजीविका का मुख्य साधन बनाते हैं), जबकि दूसरे लोग इन विचारों और भ्रमों के प्रति अधिक निष्क्रिय होते हैं, वे इन्हें सिर्फ़ आत्मसात ही कर सकते हैं क्योंकि वे ही वस्तुतः इस वर्ग के सक्रिय सदस्य हैं तथा उनके पास अपने बारे में भ्रम तथा विचार संवारने के लिए कम समय होता है। इस वर्ग के अन्दर यह विभाजन दोनों भागों के बीच एक हद तक विरोध तथा वैरभाव में भी बदल सकता है, परन्तु वह व्यावहारिक टकराव की दशा में, जिसमें स्वयं वर्ग का अस्तित्व ही ख़तरे में पड़ सकता है, अपने-आप ख़त्म हो जाता है, उस दशा में यह दिखावा भी लुप्त हो जाता है कि सत्ताधारी विचार सत्ताधारी वर्ग के विचार नहीं थे और उनमें इस वर्ग की शक्ति से अलग शक्ति थी। किसी काल विशेष में क्रांतिकारी विचारों का अस्तित्व एक क्रान्तिकारी वर्ग के अस्तित्व का पूर्वानुमान करता है; इस क्रान्तिकारी वर्ग क पूर्वाधारों के बारे में ऊपर काफ़ी-कुछ कहा जा चुका है (पृष्ठ [१८–१९, २२–२३])*।

यदि हम अब इतिहास की धारा पर विचार करते समय सत्ताधारी वर्ग के विचारों को स्वयं सत्ताधारी वर्ग से पृथक कर दें तथा उन्हें एक स्वतंत्र अस्तित्व प्रदान करें, यदि हम इन विचारों की रचना तथा उनके रचनाकारों की अवस्थाओं पर ग़ौर करने का कोई कष्ट किये बिना अपने को यह कहने तक सीमित रखें कि ये या वे विचार एक निश्चित काल में हावी थे, यदि हम इस प्रकार उन व्यक्तियों तथा अवस्थाओं को उपेक्षित करें जो विचारों के स्रोत थे, तो हम, उदाहरण के लिए, कह सकते हैं कि उस काल में जब अभिजात वर्ग का प्रभुत्व था, प्रतिष्ठा, निष्ठा आदि संप्रत्ययन तथा पूंजीपति वर्ग के प्रभुत्व के दौरान स्वतंत्रता, समानता आदि संप्रत्ययन प्रभुत्वशाली थे। कुल मिलाकर स्वयं सत्तारूढ़ वर्ग इसे इसी तरह मानता है। इतिहास के इस संप्रत्ययन को, जो तमाम इतिहासकारों में, विशेष रूप से अठारहवीं शताब्दी से व्याप्त है, आवश्यक रूप से [३२] इस घटना-दृश्य का सामना करना पड़ेगा कि अमूर्त विचार, अर्थात् वे विचार अधिकाधिक रूप से हावी हैं, जो अधिकाधिक रूप से सार्वत्रिकता का रूप ग्रहण करते हैं। बात यह है कि हर नया वर्ग, जो अपने से पहले शासन करनेवाले वर्ग के स्थान पर अपने को प्रतिष्ठापित करता है, अपनी लक्ष्य-सिद्धि की ख़ातिर ही, अपने हित को समाज के तमाम सदस्यों के समान हित के रूप में प्रस्तुत करने

*इस खण्ड के पृष्ठ ४०–४१ तथा ४५–४६ देखें।–सं०

के लिए बाधित होता है, यानी, यदि हम विविक्त विचारणा के रूप में कहें तो : उसे अपने विचारों को सार्वत्रिकता का रूप देना पड़ता है और उन्हें एकमात्र युक्तियुक्त, सार्वत्रिक रूप से वैध विचारों के रूप में प्रस्तुत करना पड़ता है। क्रान्ति करनेवाला वर्ग – यदि और कारण नहीं तो इसी कारण कि वह दूसरे वर्ग के विरुद्ध है – आरम्भ से ही एक वर्ग के रूप में नहीं वरन् पूरे के पूरे समाज के प्रतिनिधि के रूप में प्रकट होता है; वह एक सत्ताधारी वर्ग के ख़िलाफ़ खड़े समाज के एक पूरे जनसमूह के रूप में प्रकट होता है।* वह ऐसा इसलिए कर सकता है कि आरम्भ में उसका हित सचमुच तमाम अन्य ग़ैर-सत्ताधारी वर्गों के समान हित से जुड़ा होता है, क्योंकि अब तक की विद्यमान अवस्थाओं के दबाव के अन्तर्गत उसका हित अभी विशेष वर्ग के विशेष हित के रूप में विकसित नहीं हो पाया। अतएव उसकी विजय अन्य वर्गों के, जिन्हें प्रभुत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त नहीं होती, दूसरे बहुत लोगों को भी लाभ पहुंचाती है, परन्तु उसी हद तक लाभ पहुंचाती है जिस हद तक वह अब इन लोगों को अपने को ऊपर उठाकर सत्ताधारी वर्ग में प्रवेश करने की स्थिति में पहुंचाती है। फ़्रांसीसी पूंजीपति वर्ग ने जब अभिजात वर्ग की सत्ता उलटी, तो उसने इस तरह बहुत-से सर्वहारा लोगों के लिए अपने को सर्वहाराओं के ऊपर उठाना सम्भव बनाया, परन्तु सिर्फ़ उस हद तक जिस हद तक वे पूंजीपति बने। इसलिए हर नया वर्ग पहले शासन करनेवाले वर्ग की तुलना में व्यापकतर स्तर पर ही अपना अधिनायकत्व हासिल करता है, जबकि नये सत्ताधारी वर्ग के विरुद्ध ग़ैर-सत्ताधारी वर्ग का विरोध आगे चलकर और भी तीक्ष्णता तथा गहनता के साथ विकसित होता है। ये दोनों बातें यह तथ्य निर्धारित करती हैं कि इस नये वर्ग के विरुद्ध किया जानेवाला संघर्ष, अपनी बारी में, तमाम पूर्ववर्ती वर्गों की अपेक्षा, [३३] जिन्होंने शासन हासिल किया था, पूर्ववर्ती अवस्थाओं के अधिक निश्चित तथा मूलगामी अस्वीकरण को लक्ष्य बनाता है।

अमुक वर्ग का शासन कतिपय विचारों का शासन मात्र है, इस सारे भ्रम का [illegible] उस समय स्वाभाविक अन्त हो जाता है जब वर्ग-शासन आम तौर पर समाज के संगठन के रूप में ख़त्म हो जाता है, अर्थात् ज्योंही किसी विशेष हित

* [हाशिये पर मार्क्स की टिप्पणी :] (सार्वत्रिकता इनके समरूप होती है : [illegible] वर्ग बनाम एस्टेट, (२) प्रतियोगिता, विश्व-व्यापी संसर्ग आदि, (३) सत्ताधारी वर्ग की बहुत बड़ी संख्यागत शक्ति, (४) समान हितों की [illegible] (आरम्भ में भ्रान्ति सही होती है), (५) सिद्धान्तकारों के भ्रम तथा [illegible]विभाजन।)

को सामान्य हित के अथवा "सामान्य हित" को सत्ताधारी हित के रूप में प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं रह जाता।

एक बार सत्ताधारी विचार सत्ताधारी व्यक्तियों से और, सर्वोपरि, उन सम्बन्धों से, जो उत्पादन की विधि की एक निश्चित मंज़िल से पैदा होते हैं, पृथक कर दिये जायें, और इस तरह यह निष्कर्ष निकाल लिया जाये कि इतिहास सदैव विचारों के वशीभूत रहता है – इन विविध विचारों से इतिहास में प्रभावी शक्ति के रूप में "आम तौर पर विचार", धारणा आदि का अमूर्तिकरण करना और इस तरह इन तमाम विचारों और संप्रत्ययों को इतिहास में विकसित होनेवाले "आत्मनिर्धारण के रूपों" की शक्ल में समझना बहुत आसान हो जाता है। इससे स्वभावतया यह अर्थ निकलता है कि मनुष्यों के तमाम सम्बन्ध मनुष्य के संप्रत्यय, परिकल्पित मनुष्य, मनुष्य के तत्व और आम तौर पर "मनुष्य" से हासिल किये जा सकते हैं। यह कार्य संकल्पनात्मक दार्शनिकों द्वारा किया जा चुका है। हेगेल स्वयं अपनी रचना 'इतिहास का दर्शन' में स्वीकार करते हैं कि उन्होंने "केवल **संप्रत्यय** की प्रगति पर विचार किया है" तथा इतिहास में "सच्चा **ईश्वरन्यायवाद**" को प्रस्तुत किया है (पृष्ठ ४४६)। अब हम फिर "संप्रत्यय" के स्रष्टाओं, सिद्धान्तकारों, विचारधारावेत्ताओं तथा दार्शनिकों की ओर लौटें, तो फिर इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि दार्शनिक, चिन्तक अपने आप ही इतिहास पर हमेशा हावी रहे हैं: यह निष्कर्ष, जैसा कि हम देख चुके हैं, हेगेल द्वारा पहले ही अभिव्यक्त किया जा चुका है।[25]

इतिहास में आत्मा के प्राधान्य को (स्टर्नर इसे सोपानक्रम कहते हैं) सिद्ध करने की पूरी तिकड़म इस तरह निम्नलिखित तीन प्रयत्नों तक सीमित है।

[३४] संख्या १. इन्द्रियगोचर कारणों से, इन्द्रियगोचर परिस्थितियों के अन्तर्गत तथा पार्थिव व्यक्तियों के रूप में शासन करनेवालों के विचारों को इन वास्तविक शासकों से पृथक करना चाहिए तथा इस प्रकार इतिहास में विचारों अथवा भ्रमों के शासन को मान्यता देनी चाहिए।

संख्या २. विचारों के इस शासन में व्यवस्था लायी जानी चाहिए, अनुक्रमिक सत्ताधारी विचारों के बीच रहस्यमय सम्बन्ध सिद्ध किया जाना चाहिए, उन्हें "संप्रत्यय के आत्मनिर्धारण की क्रियाओं" के रूप में समझ कर यह कर लिया जाता है (यह सम्भव है क्योंकि इनके पास इन्द्रियगोचर आधार होने के कारण ये विचार वस्तुतः एक-दूसरे से जुड़े हुए होते हैं और क्योंकि विचारों के रूप में ही वे चिन्तन द्वारा उत्पन्न आत्मभेद, प्रभेद, बन जाते हैं)।

संख्या ३. इस "आत्मनिर्धारणकारी संप्रत्यय" की रहस्यपूर्ण आकृति मिटाने के लिए उसे एक व्यक्ति–"आत्मचेतना"–में बदल दिया जाता है, अथवा अपने को पूर्णतया भौतिकवादी रूप में दिखाने के लिए उसे व्यक्तियों की शृंखला में बदल दिया जाता है, जो इतिहास में "संप्रत्यय" का प्रतिनिधित्व करते हैं–"चिन्तकों", "दार्शनिकों" अथवा "सिद्धांतकारों" में जिन्हें अपनी बारी में इतिहास रचनेवालों के रूप में, "अभिभावकों की परिषद" के रूप में, शासकों के रूप में समझा जाता है।* इस प्रकार सारे भौतिकवादी तत्व इतिहास से निकाल दिये गये हैं तथा अब ख़्याली घोड़े की रास को बिल्कुल ढीली कर उसे पूरी रफ़्तार से दौड़ाया जा सकता है।

इस ऐतिहासिक विधि को, जिसका जर्मनी में बोलबाला था, तथा इसके विशेष रूप में जर्मनी में ही होने के कारण को आम तौर पर सिद्धान्तकारों के भ्रमों के साथ, अर्थात् विधिवेत्ताओं, राजनीतिज्ञों के (और उनके बीच व्यावहारिक राजनेताओं के भी) भ्रमों के साथ उसके सम्बन्ध से, इन लोगों के जड़सूत्रवादी स्वप्नों तथा विरूपणों से समझा जाना चाहिए; ये चीज़ें जीवन में, काम में तथा श्रम के विभाजन में उनकी व्यावहारिक स्थिति से पूर्णतया स्पष्ट हो जाती हैं।

[३५] कोई व्यक्ति क्या होने का दावा करता है तथा वह सचमुच क्या है, साधारण जीवन में जहां हर दुकानदार इन दो चीज़ों में बहुत अच्छी तरह भेद कर लेता है, वहां हमारे इतिहासकार यह निहायत मामूली जानकारी भी हासिल नहीं कर पाये हैं। वे हर युग को उसी रूप में ले लेते हैं जिस रूप में वह अपने को प्रस्तुत करता है, तथा वह अपने बारे में जो कुछ कहता है तथा कल्पना करता है, उस पर वे विश्वास कर लेते हैं।

[४]

[१. उत्पादन के साधन तथा सम्पत्ति के रूप]

[...]** [४०] पहले से अतिविकसित श्रम-विभाजन तथा व्यापक वाणिज्य का पूर्वाधार उत्पन्न होता है तथा दूसरे से उत्पन्न होती है स्थानीय संकीर्णता। पहले मामले में व्यक्तियों को एक जगह जमा किया जाना चाहिये तथा दूसरे में वे स्वयं अपने को उत्पादन के सम्बद्ध साधन के साथ-साथ उत्पादन के साधनों के रूप में पाते हैं।

* [हाशिये पर मार्क्स की टिप्पणी:] मानव = "चेतनाशील मानव-आत्मा"।

** यहां पाण्डुलिपि के चार पृष्ठ ग़ायब हैं।–सं०

इस तरह यहां उत्पादन के प्राकृतिक साधनों तथा सभ्यता द्वारा निर्मित साधनों के बीच अन्तर नजर आता है। खेत (पानी आदि) उत्पादन का प्राकृतिक साधन माना जा सकता है। पहले मामले में, उत्पादन के प्राकृतिक साधनों के मामले में, व्यक्ति प्रकृति के अधीन होते हैं; दूसरे में वे श्रम की किसी उत्पादित वस्तु के अधीन होते हैं। अतः पहले मामले में सम्पत्ति प्रत्यक्ष प्राकृतिक प्रभुत्व के रूप में तथा दूसरे मामले में, श्रम के, विशेष रूप में संचित श्रम के, पूंजी के प्रभुत्व के रूप में प्रकट होती है। पहला मामला इस बात का पूर्वानुमान करता है कि मनुष्य किसी सम्बन्ध द्वारा – परिवार, क़बीले, स्वयं भूमि आदि द्वारा – सूत्रबद्ध होते हैं; दूसरे में वे एक-दूसरे से स्वतंत्र होते हैं और केवल विनिमय से सूत्र-बद्ध रहते हैं। पहले मामले में विनिमय मुख्यतया मनुष्यों तथा प्रकृति के मध्य विनिमय है, जिसमें मनुष्य के श्रम का प्रकृति की वस्तुओं से विनिमय होता है; दूसरे मामले में यह प्रधानतः मनुष्यों का स्वयं आपस में विनिमय है। पहले मामले में औसत, मानवीय विवेक-बुद्धि पर्याप्त होती है – शारीरिक क्रियाकलाप का अभी मानसिक क्रियाकलाप से पृथक्करण नहीं होता है; दूसरे मामले में शारीरिक क्रियाकलाप तथा मानसिक क्रियाकलाप का विभाजन व्यवहारतः पूर्ण हो चुका होता है। पहले मामले में सम्पत्तिहीन पर स्वामी का प्रभुत्व किसी तरह के वैयक्तिक सम्बन्ध पर, एक तरह की सामुदायिकता पर आधारित हो सकता है; दूसरे मामले में उसे किसी तीसरी चीज – मुद्रा – का ठोस रूप ग्रहण करना चाहिए। पहले मामले में छोटा उद्योग मौजूद होता है, परन्तु वह उत्पादन के प्राकृतिक साधन के उपयोग द्वारा निर्धारित होता है, इसलिए विभिन्न व्यक्तियों के मध्य श्रम का विभाजन नहीं होता; दूसरे मामले में उद्योग केवल श्रम-विभाजन में और उसके ही जरिए विद्यमान रहता है।

[४१] अब तक हमने जो जांच-पड़ताल की है, वह उत्पादन के साधनों से शुरू हुई। और वह दिखा चुकी है कि निजी सम्पत्ति कतिपय औद्योगिक मंजिलों के लिए आवश्यक थी। Industrie extractive* में निजी सम्पत्ति अब भी श्रम से मेल खाती है; छोटे उद्योग तथा पूरी कृषि में सम्पत्ति अब तक उत्पादन के मौजूदा साधनों का आवश्यक परिणाम है; बड़े उद्योग में उत्पादन के साधन तथा निजी सम्पत्ति के बीच अन्तर्विरोध पहली बार प्रकट होता है तथा वह बड़े

* खनिज उद्योग। – सं०

उद्योग की देन है; यही नहीं, यह अन्तर्विरोध उत्पन्न करने के लिए बड़े उद्योग को सुविकसित होना चाहिए। और इस तरह बड़े उद्योग के होने पर ही निजी स्वामित्व मिटाना सम्भव होता है।

[२. भौतिक तथा मानसिक श्रम का विभाजन। शहर तथा देहात का पृथक्करण। शिल्प-संघ प्रणाली]

भौतिक तथा मानसिक श्रम का सबसे बड़ा विभाजन है नगर तथा देहात का पृथक्करण। शहर तथा देहात के बीच अन्तर्विरोध बर्बरता से सभ्यता में, क़बीले से राज्य में, स्थानीय संकीर्णता से राष्ट्र में संक्रमण से आरम्भ होता है तथा सभ्यता के पूरे इतिहास में से होकर वर्तमान काल तक जारी रहता है (अनाज आयात विरोधी क़ानून संस्था[26])।
शहर की विद्यमानता का साथ ही अर्थ है प्रशासन, पुलिस, करों, आदि की, संक्षेप में म्युनिसिपलिटी और इस प्रकार सामान्यतया राजनीति की आवश्यकता। यहां दो बड़े वर्गों में आबादी का विभाजन पहले-पहल प्रकट हुआ, जो सीधे श्रम-विभाजन तथा उत्पादन के औज़ारों पर आधारित है। शहर वस्तुतः आबादी का, उत्पादन के औज़ारों का, पूंजी का, आनन्दोपभोग का तथा आवश्यकताओं का जमाव है, जबकि देहात इसके बिलकुल उलट तथ्य को, अलगाव तथा पृथकता को प्रकट करता है। शहर तथा देहात के बीच अन्तर्विरोध निजी सम्पत्ति के ढांचे के अन्दर ही विद्यमान हो सकता है। वह है व्यक्ति की श्रम-विभाजन के अन्तर्गत, उस पर थोपी गयी एक निश्चित क्रियाकलाप के अन्तर्गत अधीनता की सबसे भोंडी अभिव्यक्ति, ऐसी अधीनता की अभिव्यक्ति जो एक मनुष्य को संकुचित शहरी पशु तथा दूसरे को संकुचित देहाती पशु बना देती है, और उनके हितों के बीच हर रोज़ नया संघर्ष पैदा करती है। यहां भी श्रम मुख्य वस्तु है, व्यक्तियों के ऊपर शक्ति है, तथा जब तक व्यक्तियों पर यह शक्ति बनी रहेगी, निजी सम्पत्ति भी विद्यमान रहेगी। शहर तथा देहात के बीच अन्तर्विरोध का उन्मूलन [४२] सामुदायिक जीवन की पहली शर्त है, ऐसी शर्त है जो पुनः भौतिक पूर्वाधारों के समूह पर निर्भर करती है और जिसे केवल इच्छा के माध्यम से पूरा नहीं किया जा सकता, जैसा कि कोई भी पहली नज़र में देख सकता है। (इन शर्तों को आगे गिनाना होगा।) शहर तथा देहात के पृथक्करण को पूंजी तथा भू-सम्पत्ति के पृथक्करण के रूप में, भू-सम्पत्ति के बाहर पूंजी की विद्यमानता तथा उसके

विकास के आरम्भ के रूप में, ऐसी सम्पत्ति के रूप में देखा जा सकता है जिसका आधार केवल श्रम तथा विनिमय में निहित है।

शहरों में, जो मध्ययुग को पूर्ववर्ती काल से बने-बनाये रूप में नहीं मिले थे, बल्कि जिन्हें स्वतंत्र हो जानेवाले भू-दासों ने बिल्कुल पहली बार बनाया था, हर व्यक्ति का अपना विशेष श्रम ही उसकी एकमात्र सम्पत्ति हुआ करता था हां, उसके शिल्प के लिए सबसे अधिक आवश्यक उन एकमात्र औज़ारों के रूप में छोटी-सी पूंजी होती थी जो वह अपने साथ लाया करता था। निरन्तर भागकर शहर पहुंचनेवाले भू-दासों में प्रतियोगिता, देहात का शहर के विरुद्ध निरन्तर युद्ध और इस तरह संगठित म्युनिसिपल सैनिक शक्ति की आवश्यकता, विशेष प्रकार के श्रम पर साझे के स्वामित्व का सम्बन्ध-सूत्र, अपने माल की बिक्री के लिए (उस समय कारीगर व्यापारी भी होता था) साझे की इमारतों की आवश्यकता तथा इससे सम्बन्धित इन इमारतों से बाहर के लोगों का अलग रखा जाना, विविध शिल्पों के हितों के बीच टकराव, बड़ी मेहनत के बाद हासिल हुनर की रक्षा करने की आवश्यकता तथा पूरे देश का सामन्ती संगठन – ये थे प्रत्येक शिल्प से सम्बन्धित मज़दूरों के शिल्प-संघों में ऐक्यबद्ध होने के कारण। हमें यहां शिल्प-संघ प्रणाली में नाना परिवर्तनों के कारणों को और अधिक ढूंढ़ने की आवश्यकता नहीं है। भूदासों का भागकर शहरों में पहुंचने का सिलसिला पूरे मध्य युग के दौरान बिना टूटे जारी रहा। ये भू-दास, जिन्हें देहात में उनके मालिक सताया करते थे, एक-एक करके शहरों में पहुंचते थे, वहां वे अपने को एक ऐसे संगठित समुदाय में पाते थे जिसके विरुद्ध वे असहाय होते थे और जिसमें उन्हें अपने को ऐसी स्थिति के आगे सौंप देना पड़ता था जिसे उनके श्रम की मांग तथा उनके संगठित शहरी प्रतिद्वन्द्वी उनके लिए निश्चित करते थे। एक-एक करके आनेवाले ये मज़दूर कभी कोई शक्ति हासिल नहीं कर पाये क्योंकि यदि उनका श्रम शिल्प-संघ का श्रम होता और उसे सीखना होता था, तो शिल्प-संघ के स्वामी उन्हें झुकाकर अपनी इच्छा के वश में कर लेते थे तथा उन्हें अपनी इच्छा के अनुसार संगठित करते थे; अथवा यदि उनका श्रम ऐसा नहीं था कि उसे सीखने की ज़रूरत पड़े और इस तरह शिल्प-संघ का श्रम नहीं होता था, तो वे दिहाड़ीदार बन जाते थे और असंगठित जमघट बने रहते हुए कभी संगठित नहीं हो पाते थे। शहरों में दिहाड़ीदारों की आवश्यकता से निम्नवर्ग उत्पन्न हुआ।

ये शहर वास्तविक "संघ"[27] थे जिन्हें प्रत्यक्ष [४३] आवश्यकता, सम्पत्ति की रक्षा की व्यवस्था करने और अलग-अलग सदस्यों के उत्पादन तथा रक्षा के साधनों को बढ़ाने की चेष्टा ने जन्म दिया। इन शहरों का निम्नवर्ग बिलकुल

शक्तिहीन था, वह ऐसे ही लोगों को लेकर बना था जो एक-एक करके आये थे तथा एक-दूसरे के लिए अजनबी थे, वे एक ऐसी शक्ति के विरुद्ध असंगठित खड़े थे जो संगठित, युद्ध के लिए हथियारबन्द थी तथा उन पर कड़ी नज़र रखती थी। हर शिल्प-संघ में मज़दूर-कारीगर तथा शागिर्द इस तरह संगठित थे जिस तरह यह मालिकों के हितों के लिए सबसे उपयुक्त था। उनके तथा उनके मालिकों के बीच पितृसत्तात्मक सम्बन्धों ने मालिकों को दुहरी शक्ति दी–एक ओर तो मज़दूर-कारीगरों के पूरे जीवन पर उनके प्रभाव के कारण तथा दूसरी ओर मज़दूर-कारीगरों द्वारा एक ही मालिक के अधीन काम किये जाने के कारण यह एक ऐसा वास्तविक रिश्ता था जो उन्हें दूसरे मालिकों के पास काम करनेवाले मज़दूर-कारीगरों के विरुद्ध सूत्रबद्ध रखता था तथा उन्हें उनसे पृथक रखता था। अन्ततः मज़दूर-कारीगर प्रचलित व्यवस्था से महज़ इसलिए बंधे हुए थे कि उनकी दिलचस्पी स्वयं मालिक बनने में रहती थी। इसलिए जहां निम्नजनों ने कभी-कभी पूरी नगर व्यवस्था के खिलाफ़ विद्रोह, ऐसे विद्रोह किये जो उनकी शक्तिहीनता के कारण पूरी तरह प्रभावहीन रहे, वहां मज़दूर-कारीगर पृथक-पृथक शिल्प-संघों के अन्तर्गत अवज्ञाकारिता की छोटी-मोटी कार्रवाइयां करने के आगे कभी नहीं बढ़े जो शिल्प-संघ प्रणाली के लिए स्वाभाविक ही होती थीं। मध्य युग के सभी बड़े-बड़े विद्रोह देहात से भड़के थे, लेकिन वे किसानों के अलगाव तथा इससे सम्बन्धित उनके पिछड़ेपन के कारण प्रभावशून्य रहे।–

इन शहरों में पूंजी स्वभावतया संचित पूंजी होती थी, उसमें मकान, दस्तकारी के औज़ार तथा स्वाभाविक रूप से प्राप्त पुश्तैनी ग्राहक होते थे; और संसर्ग के पिछड़ेपन के कारण तथा प्रचलन के अभाव के कारण चूंकि वह बेची नहीं जा सकती थी, इसलिए वह पिता के बाद पुत्र के हाथों में पहुंचा करती थी। यह पूंजी आधुनिक पूंजी के विपरीत जिसका मुद्रा में मूल्यांकन किया जा सकता है तथा जिसे इस या उस चीज़ में बिना अन्तर के लगाया जा सकता है, मालिक के विशेष कार्य से जुड़ी हुई होती थी, उससे उसे अलग नहीं किया जा सकता था तथा इस हद तक वह एस्टेट पूंजी हुआ करती थी।–

शहरों में [४४] पृथक-पृथक शिल्प-संघों के बीच श्रम-विभाजन [सर्वथा प्राथमिक]* था और स्वयं शिल्प-संघों के अन्दर पृथक-पृथक मज़दूरों के बीच बिल्कुल विकसित नहीं था। हर श्रमिक को सब तरह के कामों में निपुण होना पड़ता था, ऐसी

* पाण्डुलिपि यहां ख़राब हो गयी है।–सं०

हर चीज़ तैयार करने के योग्य होना पड़ता था जिसे उसके औज़ार तैयार कर सकते थे। सीमित संसर्ग तथा शहरों के बीच विरल संचार, आबादी की कमी तथा अत्यल्प आवश्यकताएं उच्चतर श्रम-विभाजन के लिए गुंजाइश नहीं रखती थीं, इसलिए जो कोई व्यक्ति मालिक बनने की इच्छा रखता था, उसे अपनी पूरी दस्तकारी में प्रवीण होना पड़ता था। इसलिए मध्ययुगीन दस्तकारों में अपने विशेष कार्य के प्रति दिलचस्पी तथा उसमें प्रवीणता पायी जाती थी, जो ऊपर उठकर संकुचित कलात्मक रुचि तक पहुंच सकती थी। परन्तु ठीक इसी कारण हर मध्ययुगीन कारीगर अपने काम में पूरी तरह डूबा रहता था, उस काम के प्रति उसका आत्म-तृप्ति का, दासवत् सम्बन्ध होता था, आधुनिक मजदूर की तुलना में, जो अपने काम के प्रति उदासीन होता है, वह अपने काम के कहीं ज्यादा वश में होता था।—

[३. श्रम का और अधिक विभाजन। वाणिज्य तथा उद्योग का पृथक्करण। विभिन्न नगरों के बीच श्रम-विभाजन। मैनुफ़ैक्चर]

श्रम-विभाजन का अगला विस्तार था उत्पादन तथा संसर्ग का पृथक्करण, व्यापारियों के एक विशेष वर्ग का गठन, ऐसा पृथक्करण जो पूर्ववर्ती काल के शहरों में (प्रसंगवश, यहूदी आबादी वाले शहरों में) विरासत के रूप में सौंपा जाता था तथा जो शीघ्र नवगठित शहरों में प्रकट होता था। इसके साथ वाणिज्यिक संचार द्वारा बिल्कुल साथ लगी बस्ती के पार पहुंचने की सम्भावना पैदा हुई, ऐसी सम्भावना पैदा हुई जिसकी पूर्ति संचार के मौजूदा साधनों पर, नगरों के बाहर की सड़कों पर सार्वजनिक सुरक्षा की स्थिति पर, जिसे राजनीतिक अवस्थाएं निर्धारित करती थीं (जैसा कि सुविदित है, सम्पूर्ण मध्य युग में सौदागर हथियारबन्द काफ़िलों में सफ़र किया करते थे) और संसर्ग के लिए सुगम्य प्रदेश की अपेक्षाकृत विकसित या अविकसित आवश्यकताओं पर (जिन्हें संस्कृति का हासिल किया गया स्तर निर्धारित करता था) निर्भर करती थी।

संसर्ग के एक विशेष वर्ग के हाथों में संकेन्द्रित होने के साथ, सौदागरों द्वारा शहर के बिल्कुल पास-पड़ोस की बस्तियों के पार व्यापार का विस्तार किये जाने के साथ उत्पादन तथा संसर्ग के बीच तुरन्त पारस्परिक प्रभाव प्रकट हो जाता है। शहर **एक-दूसरे के साथ** सम्बन्ध स्थापित करते हैं, श्रम के नये औज़ार एक शहर में दूसरे शहर से लाये जाते हैं, तथा उत्पादन और संसर्ग के बीच पृथक्करण

[४५] अलग-अलग शहरों के बीच जिनमें से हर एक जल्द ही उद्योग की किसी एक शाखा को उपयोग में लाने लगता है, उत्पादन के नये विभाजन को शीघ्र सामने लाता है। पहले ज़माने की स्थानीय संकीर्णता धीरे-धीरे विलुप्त होने लगती है।

किसी जगह हासिल की गयी उत्पादक शक्तियां – ख़ास तौर पर आविष्कार – फिर आगे के विकास के लिए लुप्त हो जाती हैं या नहीं, यह चीज़ विशुद्ध रूप से संसर्ग के विस्तार पर निर्भर करती है। जब तक संसर्ग पास-पड़ोस के इलाक़ों से ही सीमित रहता है, तब तक हर आविष्कार हर बस्ती में पृथक रूप में ही किया जाता है; बर्बर लोगों के हमलों या साधारण लड़ाइयों जैसी सादी घटनाएं इस बात के लिए पर्याप्त हो सकती हैं कि उन्नत उत्पादक शक्तियों तथा आवश्यकताओं वाले देश सभी कुछ नये सिरे से आरम्भ करने के लिए मजबूर हों। आदिकालिक इतिहास में हर आविष्कार रोज़ नये सिरे से और हर बस्ती में स्वतंत्र रूप से करना पड़ता था। अपेक्षाकृत बहुत ही व्यापक वाणिज्य की स्थिति की मौजूदगी तक में अतिविकसित उत्पादक शक्तियां पूर्ण विनाश से कितनी कम सुरक्षित होती हैं, यह फ़ीनिसियनों* की मिसाल से साबित हो जाता है, जिनके अधिकतर आविष्कार इस जाति के वाणिज्य से बाहर कर दिये जाने, सिकन्दर द्वारा उसे विजित किये जाने तथा फलस्वरूप उसके पतन के कारण दीर्घकाल तक लुप्त रहे। यही चीज़, उदाहरण के लिए, मध्य युग में कांच-चित्रकारिता के मामले में हुई। हासिल की जा चुकी उत्पादक शक्तियों का स्थायित्व तभी सुनिश्चित होता है जब संसर्ग विश्व वाणिज्य का स्वरूप ग्रहण कर लेता है और बड़े पैमाने के उद्योगों पर आधारित होता है, जब तमाम जातियां प्रतिस्पर्द्धात्मक संघर्ष में खींच ली जाती हैं। –

विभिन्न शहरों के बीच श्रम-विभाजन का तात्कालिक परिणाम था मैनुफ़ेक्चरों का, उत्पादन की उन शाखाओं का जन्म जो इतनी बढ़ गयी थीं कि वे शिल्प-संघ प्रणाली के अन्दर नहीं रह सकीं। मैनुफ़ेक्चरों के फलने-फूलने का (इटली और आगे चलकर फ़्लैंडर्स में) ऐतिहासिक पूर्वाधार विदेशी जातियों के साथ वाणिज्य था। दूसरे देशों में, उदाहरण के लिए, इंगलैंड तथा फ़्रांस में, मैनुफ़ेक्चर शुरू में घरेलू मंडी तक सीमित थे। पहले चर्चित पूर्वाधारों के अलावा मैनुफ़ेक्चर, आबादी के, ख़ास तौर पर देहात में, और पूंजी के पहले से ही बढ़े हुए जमाव पर आश्रित होते हैं, जिसका अलग-अलग व्यक्तियों के हाथों में शिल्प-संघ के

* [हाशिये पर मार्क्स की टिप्पणी :] और मध्य युग में कांच-चित्रकारिता।

अधिनियमों के बावजूद अंशतः शिल्प-संघों में, अंशतः सौदागरों के पास संचय होने लगा था।

[४६] उस श्रम ने जो आरम्भ से मशीन से संबंधित था—वह मशीन कितनी ही सादी क्यों न हो—बहुत जल्द सिद्ध कर दिया कि उसमें विकास की सबसे अधिक क्षमता है। बुनाई का काम देहात में पहले किसान लोग अपने कपड़े हासिल करने के लिए गौण व्यवसाय के रूप में करते थे, यह कार्य पहला श्रम था जिसे संसर्ग के विस्तार के माध्यम से आवेग मिला और जिसका उसके माध्यम से और विकास हुआ। बुनाई पहला मैनुफ़ेक्चर थी तथा वह प्रमुख मैनुफ़ेक्चर बनी रही। आबादी की बढ़ोतरी के फलस्वरूप वस्त्र-सामग्री की बढ़ती हुई मांग; त्वरित प्रचलन के ज़रिए स्वभावतः संचित पूंजी का बढ़ता हुआ संचय तथा संग्रह; विलास-वस्तुओं की मांग, जिसे इस संचय तथा संग्रह ने प्रेरित किया तथा जिसके लिए वाणिज्य का क्रमिक विकास सामान्यतया अनुकूल रहा—इन तमाम बातों ने बुनाई को गुणगत तथा संख्यागत दृष्टि से स्फूर्ति प्रदान की, जो उसे उत्पादन के तब तक विद्यमान रूप से बाहर ले आयी। अपने इस्तेमाल के लिए बुनाई करनेवाले किसानों के साथ-साथ, जो इस तरह का काम करते चले गये तथा आज तक करते जा रहे हैं, शहरों में बुनकरों के एक नये वर्ग का जन्म हुआ जो पूरी घरेलू मंडी तथा आम तौर पर विदेशी मंडियों के लिए भी वस्त्र तैयार करते थे।

बुनाई ने, जिसमें अधिकांश रूप से बहुत कम हुनर की जरूरत पड़ती थी तथा जो शीघ्र अनगिनत शाखाओं में बंट गयी, अपने मूल स्वरूप के कारण शिल्प-संघ की बेड़ियों का प्रतिरोध किया। इसलिए बुनाई का काम अधिकतर शिल्प-संघों के बाहर गांवों तथा हाटों में चलता रहा, जो धीरे-धीरे शहर बन गये और वे वस्तुतः हर देश में सबसे फलते-फूलते शहर बन गये।

शिल्प-संघों से मुक्त मैनुफ़ेक्चरों के साथ सम्पत्ति-सम्बन्ध भी तेज़ी से बदल गये। स्वभावतः संचित पूंजी से आगे की ओर पहला क़दम सौदागरों ने उठाया, जिनकी पूंजी शुरू से सचल पूंजी थी, आधुनिक अर्थ में पूंजी थी—उस हद तक जिस हद तक उन दिनों की परिस्थितियों को देखते हुए उसकी चर्चा की जा सकती है। दूसरा क़दम मैनुफ़ेक्चर ने उठाया, जिसने 'स्वभावतः संचित पूंजी' की राशि को सचल बना दिया तथा आम तौर पर 'स्वाभाविक पूंजी' की राशि के मुक़ाबले में सचल पूंजी की राशि बढ़ा दी।

साथ ही मैनुफ़ेक्चर उन शिल्प-संघों से आनेवाले किसानों के लिए शरण लेने की जगह बन गयी, जो या तो उन्हें बिल्कुल अस्वीकार कर बाहर रखते थे

या बहुत कम पारिश्रमिक देते थे, ठीक उसी तरह जिस तरह पुराने शिल्प-संघीय शहरों ने [अत्याचारी भूमिधारी सामन्त वर्ग]* से [४७] किसानों के लिए शरण-स्थली का काम दिया था। —

मैनुफ़ेक्चरों की शुरूआत के साथ आवारा फिरनेवालों का ऐसा जमाना भी आया जिसे सामन्ती भृत्यों के झुंडों की समाप्ति, अधीनस्थ जागीरदारों के विरुद्ध राजाओं की सेवा करने के लिये जमा होनेवाली सेनाओं के अम्बार के विघटन, कृषि के सुधार तथा खेतों की बड़ी-बड़ी पट्टियों के चरागाही भूमि में रूपान्तरण ने जन्म दिया था। अकेले इसी चीज़ से यह साफ़ हो जाता है कि यह आवारागर्दी सामन्ती व्यवस्था के विघटन से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है। तेरहवीं शताब्दी में भी हमें इस तरह की इक्की-दुक्की अवधियां देखने को मिलती हैं, परन्तु केवल पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तथा सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में जाकर यह आवारागर्दी अपने को आम और स्थायी रूप से प्रकट करती है। इन आवारागर्दों को, जिनकी संख्या इतनी अधिक थी कि उदाहरण के रूप में इंगलैंड के हेनरी अष्टम ने उनमें से ७२,००० को फांसी पर लटकवा दिया था, बहुत ही मुश्किल से तथा अत्यधिक आवश्यकता के ज़रिए, और वह भी लम्बे प्रतिरोध के बाद ही काम करने के लिए राज़ी किया जा सका। मैनुफ़ेक्चरों के बहुत तेज़ी से उभार ने, ख़ास तौर पर इंगलैंड में, उन्हें धीरे-धीरे अपने अन्दर समा लिया। —

मैनुफ़ेक्चर के आविर्भूत होने पर विभिन्न जातियों ने प्रतिस्पर्द्धात्मक सम्बन्धों में, व्यापार के लिए संघर्ष में प्रवेश किया, जिसका फ़ैसला युद्धों से, संरक्षी शुल्कों तथा निषेधक प्रणाली से किया जाता था, जबकि उससे पहले जातियां जब वे एक-दूसरे से संबंध स्थापित करती थीं एक-दूसरे से अहानिकर विनिमय किया करती थीं। अब व्यापार ने राजनीतिक महत्व ग्रहण कर लिया था।

मैनुफ़ेक्चर के आविर्भूत होने पर मज़दूर तथा मालिक के बीच सम्बन्ध बदल गया। शिल्प-संघों में मज़दूर-कारीगर और स्वामी के बीच कुटुम्ब में बड़े-छोटे का सम्बन्ध बना रहा; मैनुफ़ेक्चर में उसका स्थान मज़दूर तथा पूंजीपति के बीच मुद्रा-सम्बन्धों ने ले लिया, ऐसे सम्बन्धों ने ले लिया जिनमें देहात तथा छोटे शहरों में कुटुम्ब के अन्दर के पितृसत्तात्मक सम्बन्धों का हल्का-सा पुट बना रहा, किन्तु जो बड़े, वास्तविक मैनुफ़ेक्चरीय शहरों में बिल्कुल शुरू में ही लगभग सारा पितृसत्तात्मक रंग-रूप खो बैठा।

---

* पाण्डुलिपि यहां ख़राब हो गयी है। — सं०

मैनुफ़ेक्चर तथा उत्पादन के विकास को वाणिज्य के विस्तार के माध्यम से ज़बर्दस्त प्रेरणा मिली, जो अमरीका तथा ईस्ट इंडीज़ के लिए सागर-मार्ग की खोज के साथ हुआ। वहां से आयातित नये मालों का, विशेष रूप से सोने तथा चांदी का अम्बार, जिनका प्रचलन आरम्भ हो गया था तथा जिन्होंने सामन्ती भू-सम्पत्ति तथा मजदूरों को भारी चोट पहुंचाते हुए वर्गों की एक-दूसरे के प्रति स्थिति पूरी तरह बदल दी थी; जोखिमबाज़ों के यात्रा-अभियान और उपनिवेशीकरण; सर्वोपरि मंडियों का विश्व मंडी में विस्तार, जो अब सम्भव हो गया था तथा दिन-प्रति-दिन एक तथ्य बनता जा रहा था—ये तमाम चीज़ें [५८] ऐतिहासिक विकास का एक ऐसा नया दौर सामने लायीं, जिसमें हम यहां और गहराई में नहीं जा सकते। जो नये-नये देश ढूंढ़े गये थे, उनके उपनिवेशीकरण के फलस्वरूप राष्ट्रों के पारस्परिक वाणिज्यिक संघर्ष को नयी सामग्री मिली तथा तदनुरूप उसका और अधिक विस्तार हुआ तथा उसमें और अधिक वैमनस्य आया।

व्यापार तथा मैनुफ़ेक्चर के विस्तार ने सचल पूंजी के संचय को त्वरित किया, जबकि शिल्प-संघों में, जिन्हें अपने उत्पादन का विस्तार करने के लिए प्रोत्साहन नहीं मिला था, स्वाभाविक रूप से संचित पूंजी अभिन्न रही, यही नहीं उसमें गिरावट तक आयी। व्यापार तथा मैनुफ़ेक्चर ने बड़े पूंजीपति वर्ग का निर्माण किया; शिल्प-संघों में निम्नपूंजीपति वर्ग संकेन्द्रित था जो पहले की तरह शहरों में प्रभावी नहीं रह गया था बल्कि जिसे बड़े-बड़े सौदागरों तथा मैनुफ़ेक्चरों की शक्ति के आगे झुक जाना पड़ा।* अतः शिल्प-संघ ज्योंही मैनुफ़ेक्चर के सम्पर्क में आये, उनका ह्रास होने लगा।

जिस अवधि की हम बात कर रहे हैं, उसमें राष्ट्रों के संसर्ग ने दो भिन्न रूप धारण किये। पहले तो सोने और चांदी के छोटी मात्रा में प्रचलन के कारण इन धातुओं के निर्यात पर पाबन्दी लगी; और उद्योग, जिसका अधिकांश भाग विदेशों से आयात किया जाता था तथा जो बढ़ती हुई शहरी आबादी को रोजगार पर लगाने की आवश्यकता के कारण ज़रूरी हो गया था, उन विशेष सुविधाओं के बिना काम नहीं चला सकता था जो, निस्सन्देह, केवल घरेलू प्रतियोगिता के ही ख़िलाफ़ नहीं वरन् मुख्यतया विदेशी प्रतियोगिता के ख़िलाफ़ प्रदान की जा सकती थीं। इस मूल निषेधक व्यवस्था में स्थानीय शिल्प-संघीय विशेष सुविधा

---

*[हाशिये पर मार्क्स की टिप्पणी:] निम्नपूंजीपति वर्ग—मध्यम वर्ग—बड़ा पूंजीपति वर्ग।

पूरे राष्ट्र के लिए लागू कर दी गयी। सीमा-शुल्क को जन्म उन नज़रानों ने दिया जिन्हें सामन्ती सरदार अपनी भूमि पर से गुज़रनेवाले सौदागरों से डकैती से रक्षा के बदले कर के रूप में वसूल करते थे, आगे चलकर शहरों ने भी ऐसे ही नज़-राने लागू किये जो आधुनिक राज्यों के उद्भव के साथ धन एकत्र करने के राजस्व के सबसे प्रकट साधन बन गये थे।

यूरोपीय बाज़ारों में अमरीकी सोने और चांदी के प्रकट होने, उद्योग का धीरे-धीरे विकास होने, व्यापार का तेज़ी से विस्तार होने तथा उसके फलस्वरूप ग़ैर-शिल्प-संघीय पूंजीपति वर्ग तथा मुद्रा का जन्म होने से इन पगों को एक और महत्व मिल गया। राज्य ने, जिसकी मुद्रा के बिना काम चलाने की क्षमता दिन-प्रति-दिन घटती जा रही थी, अब राजवित्तीय कारणों से सोने और चांदी के निर्यात पर पाबन्दी को बरक़रार रखा; पूंजीपति वर्ग, जिसके लिए बाज़ार में उंडेली जानेवाली मुद्रा का यह ढेर सट्टेबाज़ी पर आधारित ख़रीदारी का मुख्य लक्ष्य बन गया था, इससे पूर्णतया सन्तुष्ट था; पहले स्थापित विशेष सुविधाएं सरकार के लिए आय के स्रोत बन गयीं तथा वे मुद्रा के बदले बेची जाने लगीं; सीमा-शुल्क क़ानून में निर्यात-शुल्क प्रकट हुआ, वह चूंकि उद्योग की राह में केवल अड़चन खड़ी करता था, [४६] इसलिए उसका केवल राजवित्तीय लक्ष्य था।

दूसरी अवधि सत्तरहवीं शताब्दी के मध्य में आरम्भ हुई और अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक चलती रही। वाणिज्य तथा जहाज़रानी का मैनुफ़ैक्चर से, जो गौण भूमिका अदा कर रहा था, ज्यादा तेज़ रफ़्तार से विकास हुआ, उपनिवेश काफ़ी बड़े उपभोक्ता बनते जा रहे थे, और काफ़ी लम्बे संघर्षों के बाद पृथक-पृथक राष्ट्रों ने खुलते जा रहे विश्व-बाज़ार को अपने बीच बांट लिया। यह अवधि जहाज़रानी क़ानूनों तथा औपनिवेशिक इजारेदारियों से शुरू होती है। राष्ट्रों के बीच प्रतिस्पर्द्धा जहां तक सम्भव हो सका, टैरिफ़ों, निषेधक व्यवस्था तथा संधियों से रोकी गयी; और अन्ततः प्रतिस्पर्द्धात्मक संघर्ष युद्धों (विशेष रूप से नौसैनिक युद्धों) के ज़रिए किया जाता तथा तय होता था। सबसे शक्ति-शाली सामुद्रिक राष्ट्र ने, इंगलैंड ने, व्यापार तथा मैनुफ़ैक्चर पर अपना प्रभुत्व क़ायम रखा। यहां हमें पहले ही एक देश के अन्दर संकेन्द्रण देखने को मिलता है।

मैनुफ़ैक्चर को घरेलू बाज़ार में संरक्षण शुल्कों, औपनिवेशिक बाज़ार में इजारेदारियों तथा विदेशों में यथासम्भव विभेदक शुल्कों से बचाया गया। अपने यहां तैयार कच्ची सामग्री को परिष्कृत करने के कार्य को प्रोत्साहन दिया गया

(इंगलैंड में ऊन तथा लिनेन, फ़्रांस में रेशम), अपने यहां तैयार होनेवाली कच्ची सामग्री के निर्यात पर पाबन्दी लगा दी गयी (इंगलैंड में ऊन) तथा आयातित सामग्री को उपेक्षित किया गया या उसे दबा दिया गया (इंगलैंड में कपास)। सामुद्रिक व्यापार पर हावी राष्ट्र तथा औपनिवेशिक शक्ति ने अपने लिए मैनुफ़ेक्चर का अधिकतम गुणगत तथा परिमाणगत विस्तार हासिल कर लिया। मैनुफ़ेक्चर का काम बिना संरक्षण के नहीं चलाया जा सकता था, क्योंकि दूसरे देशों में यदि मामूली परिवर्तन भी हो जाये तो वह बाज़ार से हाथ धो सकता है और बरबाद हो सकता है; यथोचित अनुकूल परिस्थितियों में उसे किसी देश में प्रचलित किया जा सकता था, लेकिन ठीक इसी कारण वह नष्ट भी हो सकता था। साथ ही जिस ढंग से उसे चलाया जाता है – ख़ास तौर पर अठारहवीं शताब्दी में देहात में – उसकी बदौलत वह व्यक्तियों के विशाल जनसमुदाय के जीवन्त हितों से इस हद तक गुंथा हुआ होता है कि कोई देश मुक्त प्रतियोगिता की इजाज़त देकर अपने अस्तित्व को खटाई में नहीं डाल सकता। चूंकि वह निर्यात कर पाता है, इसलिए वह पूरी तरह वाणिज्य के विस्तार या सीमाबन्धन पर निर्भर करता है तथा अपनी ओर से (उस पर) अपेक्षाकृत बहुत कम प्रभाव डालता है। यही है अठारहवीं शताब्दी में उसके गौण [महत्व] का तथा [सौदागरों के] प्रभाव का कारण। [५०] दूसरों की तुलना में सौदागरों तथा जहाज़ों के मालिकों ने ही राजकीय संरक्षण तथा इजारेदारी पर ज़्यादा ज़ोर दिया; मैनुफ़ेक्चररों ने भी संरक्षण की मांग की और वह वस्तुतः उन्हें मिल गया, परन्तु राजनीतिक महत्व की दृष्टि से वे सौदागरों की तुलना में हमेशा निम्न स्तर पर रहे। वाणिज्यिक नगर, ख़ास तौर पर जहाज़रानी से सम्बन्धित शहर, कुछ हद तक सभ्य हो गये थे तथा उन्होंने बड़े पूंजीपति वर्ग का दृष्टिकोण हासिल कर लिया था, लेकिन कारख़ानों वाले शहरों में बहुत ही निम्नपूंजीवादी वातावरण बना रहा। तुलना के लिए देखें आइकिन[28] आदि। अठारहवीं शताब्दी व्यापार की शताब्दी थी। पिंटो इसे बहुत ही अर्थपूर्ण ढंग से कहते हैं: "वाणिज्य शताब्दी का शौक है;" तथा "कुछ समय से लोग केवल वाणिज्य, जहाज़रानी तथा नौसेना की ही बात करते हैं।"[29]

पूंजी की गति यद्यपि काफ़ी त्वरित हो चुकी थी, फिर भी वह अपेक्षाकृत धीमी थी। विश्व बाज़ार का अलग-अलग भागों में बंटना, जिनमें से हर एक का एक विशेष जाति उपयोग करती थी; राष्ट्रों द्वारा परस्पर प्रतियोगिता को स्थान न दिया जाना; स्वयं उत्पादन का भोंडापन तथा यह तथ्य कि वित्त अभी अपनी

प्रारम्भिक अवस्था में था – इन सबने प्रचलन में बहुत बाधा डाली। इसका परिणाम था मोल-तोल करने की, टुच्ची तथा कंजूसीभरी भावना जो तमाम सौदागरों तथा व्यापार करने के पूरे तौर-तरीक़े में उस समय जमी हुई थी। मैनुफ़ेक्चररों और सर्वोपरि कारीगरों की तुलना में वे यक़ीनन बड़े पूंजीपति थे ; परन्तु आनेवाली अवधि के व्यापारियों तथा उद्योगपतियों की तुलना में वे निम्नपूंजीपति ही थे। तुलना के लिए देखें ऐडम स्मिथ।[30]

इस अवधि का चारित्रिक गुण था सोने तथा चांदी के निर्यात पर पाबन्दियों का अन्त तथा व्यापार में मुद्रा का प्रचलन ; बैंक, राजकीय ऋण, काग़ज़ी मुद्रा ; स्टाकों में और शेयरों में सट्टेबाज़ी और स्टाक दलाली ; आम तौर पर वित्त का विकास। पूंजी अपने स्वाभाविक स्वरूप का काफ़ी बड़ा भाग खो बैठी जो अभी तक उससे संलग्न था।

[४. श्रम का अत्यधिक जटिल विभाजन। बड़ा उद्योग]

एक देश में, इंगलैंड में, व्यापार तथा मैनुफ़ेक्चर के संकेन्द्रण ने, जो सत्तरहवीं शताब्दी में अरोध्य रूप में विकसित होता चला गया था, इस देश के लिए एक सापेक्ष विश्व बाज़ार का निर्माण किया तथा इस तरह इस देश के निर्मित माल के लिए ऐसी मांग पैदा की जिसकी उस समय तक विद्यमान औद्योगिक उत्पादक शक्तियों से पूर्ति नहीं की जा सकती थी। यह मांग, जो उत्पादक शक्तियों की सीमा से ज्यादा बढ़ गयी, वह प्रेरक शक्ति थी जो बड़े उद्योग को पैदा कर – औद्योगिक उद्देश्यों के लिए प्रकृति की शक्तियों का उपयोग, मशीनें तथा अत्यधिक जटिल श्रम-विभाजन – [५१] मध्य युग के बाद से निजी स्वामित्व की तीसरी अवधि को अस्तित्व में लायी। इंगलैंड में तो इस अवधि की पूर्वावस्थाएं पहले से ही मौजूद थीं – राष्ट्र के अन्दर प्रतियोगिता की स्वतंत्रता, सैद्धान्तिक यांत्रिकी का विकास आदि। (वस्तुतः न्यूटन द्वारा सर्वांगपूर्ण बनाया गया यांत्रिकी विज्ञान अठारहवीं शताब्दी में फ़्रांस तथा इंगलैंड में सबसे लोकप्रिय विज्ञान था।) (स्वयं राष्ट्र के अन्दर मुक्त प्रतियोगिता को क्रान्ति द्वारा – १६४० तथा १६८८ में इंगलैंड तथा १७८९ में फ़्रांस में – हासिल करना पड़ा था।)

प्रतियोगिता ने शीघ्र हर देश को, जो अपनी ऐतिहासिक भूमिका बरकरार रखना चाहता था, विवश किया कि वह फिर नये सीमा-शुल्क अधिनियमों से अपने मैनुफ़ेक्चरों की रक्षा करे (पुराने शुल्क बड़े उद्योग के विरुद्ध किसी काम के नहीं

6

रह गये थे) और उसके कुछ ही समय बाद संरक्षण शुल्कों के अन्तर्गत बड़े उद्योग का निर्माण करे। बड़े उद्योग ने इन संरक्षणात्मक पगों के बावजूद प्रतियोगिता को सर्वव्यापी बना दिया (यह व्यवहारतः मुक्त व्यापार है; संरक्षण शुल्क मुक्त व्यापार के अन्तर्गत केवल राहत देनेवाला, बचाव का एक पग है), संचार के साधनों तथा आधुनिक विश्व बाज़ार की स्थापना की, व्यापार को अपने मातहत कर दिया, सारी पूंजी को औद्योगिक पूंजी में बदल डाला, और इस तरह पूंजी के द्रुत चलन (वित्तीय व्यवस्था का विकास) तथा संकेन्द्रण को जन्म दिया। उसने सर्वव्यापी प्रतियोगिता के बल पर सब लोगों को अपनी पूरी शक्ति से काम करने के लिए विवश किया। उसने जहां तक सम्भव हुआ विचारधारा, धर्म, नैतिकता आदि को नष्ट कर दिया; और जहां वह यह नहीं कर पाया, वहां उसने इन चीज़ों को सुस्पष्ट झूठ में बदल डाला। उसने पहली बार विश्व-इतिहास की रचना की, उस हद तक जिस हद तक उसने तमाम सभ्य राष्ट्रों तथा उनके प्रत्येक सदस्य को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पूरी दुनिया पर आश्रित बनाया, और इस तरह उसने पृथक-पृथक देशों के पहले का प्राकृतिक पृथक्करण नष्ट कर डाला। उसने प्रकृतिविज्ञान को पूंजी का ताबेदार बना दिया तथा श्रम-विभाजन से उसके प्राकृतिक स्वरूप का अन्तिम अंश छीन डाला। उसने सामान्यतया प्राकृतिक विकास को उस हद तक नष्ट कर दिया जिस हद तक वह श्रम के दायरे में सम्भव है, तथा सारे प्राकृतिक सम्बन्धों को मुद्रा-सम्बन्धों में बदल दिया। प्राकृतिक रूप से जन्मे शहरों की जगह उसने बड़े-बड़े आधुनिक औद्योगिक शहरों का निर्माण किया जो रातों-रात प्रकट हो गये हैं। उसने जहां-कहीं प्रवेश किया, दस्तकारियों तथा उद्योग की सारी पूर्ववर्ती मंज़िलों को नष्ट कर दिया। उसने देहात पर वाणिज्यिक शहरों की विजय को पूर्ण कर दिया। [उसका प्रथम लक्षण]* स्वचालित प्रणाली थी। [उसके विकास ने]* बहुत-सी ऐसी उत्पादक शक्तियों को पैदा किया, जिनके लिए निजी [सम्पत्ति]* उसी तरह एक बेड़ी थी [५२] जिस तरह शिल्प-संघ मैनुफ़ेक्चर के लिए तथा छोटा, देहाती वर्कशाप विकासमान दस्तकारी के लिए बेड़ी थे। निजी सम्पत्ति की प्रणाली के अन्तर्गत इन उत्पादक शक्तियों का केवल इकतरफ़ा विकास हुआ और वे अधिकांश लोगों के लिए विनाशकारी शक्तियां बन गईं; यही नहीं, इस तरह की बेशुमार शक्तियों का इस प्रणाली के अन्दर क़तई उपयोग नहीं हो सका। आम तौर पर बड़े उद्योग

*यहां पाण्डुलिपि ख़राब है। — सं०

ने सभी जगह समाज के वर्गों के बीच एक जैसे सम्बन्ध पैदा किये, और इस तरह विभिन्न राष्ट्रों के अनन्य लक्षण नष्ट कर दिये। और अन्ततः जहां हर राष्ट्र के पूंजीपति वर्ग ने अब भी अपने पृथक राष्ट्रीय हितों को बरक़रार रखा, वहां बड़े उद्योग ने एक ऐसा वर्ग तैयार किया, जिसका तमाम राष्ट्रों के अन्दर एक ही हित होता है और जिसमें राष्ट्रीयता पहले ही मर चुकी होती है; यह ऐसा वर्ग है जो सचमुच समूची पुरानी दुनिया से छुटकारा पा चुका होता है और साथ ही उसके मुक़ाबले में खड़ा होता है। बड़ा उद्योग मज़दूर के लिए पूंजीपति के साथ ही नहीं वरन् स्वयं श्रम के साथ भी सम्बन्ध को असहनीय बना देता है।

यह स्पष्ट है कि बड़ा उद्योग किसी देश के तमाम इलाक़ों में विकास के एक जैसे स्तर पर नहीं पहुंचता। परन्तु यह चीज़ सर्वहारा के वर्ग आन्दोलन में बाधा नहीं डालती, क्योंकि बड़े उद्योग द्वारा तैयार होनेवाला सर्वहारा वर्ग इस आन्दोलन का नेतृत्व सम्भाल लेता है तथा पूरे जनसमुदाय को अपने साथ ले जाता है, क्योंकि बड़े उद्योग से बाहर रखे गये मज़दूरों की स्थिति बड़े उद्योग के अन्दर रहनेवाले मज़दूरों से कहीं बुरी होती है। जिन देशों में बड़ा उद्योग विकसित होता है, वे न्यूनाधिक ग़ैर-औद्योगिक देशों के साथ वहां तक इस तरह का व्यवहार करते हैं जहां तक ग़ैर-औद्योगिक देशों को सार्वत्रिक वाणिज्य सार्वत्रिक प्रतिस्पर्द्धात्मक संघर्ष में झोंक देता है।

* * *

[उत्पादन के] ये भिन्न-भिन्न रूप श्रम के और इस तरह सम्पत्ति के संगठन के रूप भी हैं। हर अवधि में विद्यमान उत्पादक शक्तियों का उस हद तक एकीकरण होता है जिस हद तक आवश्यकताओं के लिए यह ज़रूरी बन जाता है।

[५. उत्पादक शक्तियों तथा संसर्ग के रूप के बीच अन्तर्विरोध सामाजिक क्रान्ति के आधार के रूप में]

उत्पादक शक्तियों तथा संसर्ग के रूप के बीच अन्तर्विरोध, जो विगत इतिहास के दौरान, जैसा कि हम देख चुके हैं, कई बार पैदा हो चुका है, आधार को ख़तरे में डाले बिना हर मौक़े पर अनिवार्यतः एक क्रान्ति के रूप में भड़का, साथ ही उसने विविध आनुषंगिक रूप ग्रहण किये जैसे सर्वग्राही टकराव, विभिन्न वर्गों के टकराव, चेतना का अन्तर्विरोध, विचारों का संघर्ष आदि, राजनीतिक संघर्ष आदि। संकुचित दृष्टिकोण से इन आनुषंगिक रूपों में से किसी एक को अलग किया जा सकता है तथा उसे इन क्रान्तियों का आधार माना जा सकता है; और

यह और भी ज्यादा आसान इसलिए है कि जिन व्यक्तियों ने क्रान्तियां शुरू कीं, उन्हें अपनी संस्कृति की मात्रा तथा ऐतिहासिक विकास की मंज़िल के अनुरूप अपने क्रियाकलाप के बारे में भ्रम थे।

इस प्रकार इतिहास में तमाम टकरावों का मूल, हमारे दृष्टिकोण से, उत्पादक शक्तियों तथा [५३] संसर्ग के रूप के बीच अन्तर्विरोध में निहित है। प्रसंगतः, किसी देश में टकरावों के आविर्भाव के लिए यह आवश्यक नहीं है कि यह अन्तर्विरोध इस देश विशेष में अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाये। औद्योगिक रूप से अधिक उन्नत देशों के साथ प्रतियोगिता, जिसे अन्तर्राष्ट्रीय संसर्ग जन्म देता है, पिछड़े हुए उद्योगवाले देशों में इसी तरह का अन्तर्विरोध पैदा करने के लिए पर्याप्त होती है (मिसाल के तौर पर जर्मनी में अप्रकट सर्वहारा जिसे इंगलैंड के उद्योग की प्रतियोगिता प्रकाश में लायी)।

[६. व्यक्तियों की प्रतियोगिता तथा वर्गों का गठन। व्यक्तियों तथा उनके जीवन की अवस्थाओं के बीच अन्तर्विरोध का विकास। पूंजीवादी समाज में व्यक्तियों की भ्रामक सामूहिकता तथा कम्युनिज्म के अन्तर्गत वास्तविक एकता। समाज के जीवन की अवस्थाओं का ऐक्यबद्ध व्यक्तियों की सत्ता के अधीन होना]

प्रतियोगिता व्यक्तियों को एक-दूसरे से पृथक करती है, पूंजीपतियों को ही नहीं वरन् उनसे भी ज्यादा मज़दूरों को, इस तथ्य के बावजूद कि वह उन्हें एक दूसरे के पास लाती है। इस कारण काफ़ी समय बीतने के बाद ही ये व्यक्ति ऐक्यबद्ध हो सकते हैं, परन्तु इस एकता के – यदि यह मात्र स्थानीय नहीं है – उद्देश्य के लिए पहले बड़े उद्योग को आवश्यक साधनों, बड़े-बड़े औद्योगिक नगरों, सस्ते तथा द्रुत संचार-माध्यमों का निर्माण करना होता है। इस कारण इन अलग थलग व्यक्तियों के, जो नित्यप्रति इस अलगाव को पुनरुत्पादित करते रहनेवाली स्थितियों में रहते हैं, ख़िलाफ़ खड़ी हर संगठित शक्ति को केवल लम्बे संघर्ष के बाद ही क़ाबू में किया जा सकता है। इसके विपरीत मांग करने का अर्थ है यह मांग करना कि प्रतियोगिता इतिहास के इस निश्चित युग में नहीं होनी

चाहिए, अथवा यह मांग करना कि व्यक्ति अपने मस्तिष्कों से उन सम्बन्धों को मिटा दें जिनके ऊपर उनके अलगाव के कारण उनका कोई नियंत्रण नहीं होता।

रिहायशी घरों का निर्माण। आदिकालीन मानवों के मामले में हर परिवार के पास निस्सन्देह साधारणतया अपनी गुफा या झोंपड़ी हुआ करती थी, ख़ानाबदोशों के पास अलग-अलग पारिवारिक तंबू होते थे। इस पृथक घरेलू अर्थव्यवस्था को निजी सम्पत्ति का और विकास अधिक आवश्यक ही बनाता है। खेती करनेवाले लोगों के लिए सामुदायिक घरेलू अर्थव्यवस्था जमीन की सामुदायिक काश्त की ही तरह असम्भव है। शहरों का निर्माण एक बहुत बड़ी अग्रगति थी। परन्तु तमाम पूर्ववर्ती कालों में निजी अर्थव्यवस्था का ख़ात्मा, जिसे निजी सम्पत्ति के ख़ात्मे से अलग नहीं किया जा सकता, महज़ इस कारण असम्भव था कि उसे संचालित करनेवाली भौतिक अवस्थाएं मौजूद नहीं थीं। सामुदायिक घरेलू अर्थतंत्र की स्थापना मशीनों के विकास की, प्राकृतिक शक्तियों तथा कई अन्य उत्पादक शक्तियों, उदाहरण के लिए जल-आपूर्ति, [५४] गैस की रोशनी, भाप से ताप-व्यवस्था आदि के उपयोग की और शहर तथा देहात के बीच [वैर-विरोध] के ख़ात्मे की पूर्वकल्पना करती है। इन अवस्थाओं के बिना कोई सामुदायिक अर्थव्यवस्था स्वयं नयी उत्पादक शक्ति नहीं बन सकती; वह किसी भौतिक आधार के अभाव में तथा विशुद्धतः सैद्धान्तिक नींव पर खड़े रहकर मात्र एक अजूबा बनी रहेगी तथा वह किसी मठ जैसी अर्थव्यवस्था बन कर रह जायेगी, उसके अलावा और कुछ नहीं। – जो सम्भव था, उसे शहरों में देखा जा सकता है, जो संकेन्द्रण तथा विभिन्न निश्चित प्रयोजनों के लिए बनी सामुदायिक इमारतों (जेलों, बैरकों आदि) के निर्माण के फलस्वरूप सामने आया। वैयक्तिक अर्थव्यवस्था का उन्मूलन परिवार के उन्मूलन के बिना असम्भव है, यह स्वतः स्पष्ट है।

(सन्त माक्स द्वारा बहुधा दुहराया जानेवाला यह बयान कि हर एक जो कुछ है, वह सब राज्य के माध्यम से है, मूलतः इस बयान जैसा ही है कि पूंजीपति पूंजीवादी प्रजाति का नमूना मात्र है; यह ऐसा बयान है जो यह पूर्वकल्पना करता है कि पूंजीपतियों का **वर्ग** उसे बनानेवाले व्यक्तियों से पहले से विद्यमान था।*)

---

* [हाशिये पर मार्क्स की टिप्पणी :] दार्शनिकों के लिए वर्ग का **पूर्व-अस्तित्व**।

मध्य युग में हर शहर के नागरिक अपनी ज़िंदगी बचाने के लिए भू-सामन्त वर्ग के विरुद्ध ऐक्यबद्ध होने के लिए विवश होते थे। व्यापार के विस्तार, संचार-प्रणाली की स्थापना के फलस्वरूप पृथक-पृथक शहरों को उन अन्य शहरों की जानकारी हुई जिन्होंने उसी तरह के विरोधी से संघर्ष कर उन जैसे ही हितों का ज़ोरदार बचाव किया था। नगर-निवासियों के अनेक स्थानीय निगमों में से केवल धीरे-धीरे ही शहरियों का वर्ग पैदा हुआ। शहरियों के जीवन की परिस्थितियां मौजूदा सम्बन्धों से उनके अन्तर्विरोध के तथा इन द्वारा निर्धारित की जानेवाली श्रम की विधि के कारण ऐसी परिस्थितियां बन गयीं जो उन सब में एक समान थीं तथा हर व्यक्ति से स्वतंत्र थीं। शहरियों ने ये परिस्थितियां उस हद तक तैयार कीं जिस हद तक वे सामन्ती सम्बन्धों से अपने को अलग कर पाये, तथा इन परिस्थितियों द्वारा उस हद तक स्वयं बनाये गये थे, जिस हद तक वे सामन्ती प्रणाली के जिसे उन्होंने मौजूद पाया, अपने विरोध द्वारा निर्धारित हुए थे। जब अलग-अलग शहरों के बीच सम्बन्ध स्थापित होने लगे तो ये समान परिस्थितियां वर्ग अवस्थाओं में परिणत हो गयीं। इन्हीं अवस्थाओं, इसी अन्तर्विरोध, इन्हीं हितों ने कुल मिलाकर सर्वत्र एक जैसे रीति-रिवाजों को अनिवार्य बना दिया। स्वयं पूंजीपति वर्ग अपनी अवस्थाओं के साथ-साथ धीरे-धीरे ही विकसित होता है, श्रम-विभाजन के अनुसार विभिन्न भागों में बंट जाता है, और अन्ततः उन सारे सम्पत्तिधारी वर्गों को, जिन्हें वह अस्तित्व में पाता है, अपने में उस परिमाण में समो लेता है* जिस परिमाण में अस्तित्व में पायी जानेवाली सारी सम्पत्ति औद्योगिक अथवा वाणिज्यिक पूंजी में रूपान्तरित होती है (उसी समय वह पहले के सम्पत्तिहीन वर्गों की एक बहुसंख्या तथा अब तक सम्पत्तिवान होनेवाले वर्गों के एक भाग को नये वर्ग में, सर्वहारा वर्ग में परिवर्तित करता है)।

पृथक-पृथक व्यक्ति केवल उसी हद तक वर्ग गठित करते हैं जिस हद तक [५५] उन्हें एक और वर्ग के विरुद्ध समान लड़ाई चलानी पड़ती है; अन्यथा प्रतिस्पर्द्धियों के रूप में उनके एक-दूसरे के साथ शत्रुतापूर्ण सम्बन्ध होते हैं। दूसरी ओर वर्ग अपनी बारी में व्यक्तियों के विरुद्ध स्वतंत्र अस्तित्व प्राप्त कर लेता है, इस तरह वे व्यक्ति अपने अस्तित्व की अवस्थाएं बनी-बनायी पाते हैं, और इस

---

* [हाशिये पर मार्क्स की टिप्पणी :] आरम्भ में वह श्रम की उन शाखाओं को, जो प्रत्यक्षतया राज्य की होती हैं, और फिर सारी ± (न्यूनाधिक) विचारधारात्मक श्रेणियों को समो लेता है।

कारण जीवन में उनकी स्थिति तथा उनका निजी विकास उनके वर्ग द्वारा नियत किया जाता है, वे उसके अधीन हो जाते हैं। यह पृथक-पृथक व्यक्तियों के श्रम-विभाजन के अधीन होने जैसा ही घटना-व्यापार है तथा उसे निजी सम्पत्ति तथा स्वयं श्रम के उन्मूलन* से हटाया जा सकता है। हम कई बार परिलक्षित कर चुके हैं कि वर्ग के सामने व्यक्तियों की यह अधीनता कैसे उन्हें सब तरह के विचारों आदि के अधीन बनाती है। –

यदि कोई एस्टेटों तथा वर्गों के, जो क्रमिक रूप में सामने आये, अस्तित्व की समान अवस्थाओं तथा उन पर थोपे जानेवाले संलग्न आम संप्रत्ययनों के अन्दर व्यक्तियों के इस विकासक्रम पर दार्शनिक दृष्टिकोण से विचार करे तो यह कल्पना करना यक़ीनन बहुत आसान हो जाता है कि इन व्यक्तियों में प्रजाति अथवा मनुष्य का विकास हुआ है, अथवा उन्होंने मनुष्य का विकास किया है – और इस तरह इतिहास के कान कसकर ऐंठे जा सकते हैं। इन विविध एस्टेटों तथा वर्गों को आम अभिव्यक्ति के विशिष्ट शब्दों, प्रजाति की निम्न क़िस्मों, अथवा मनुष्य के विकासक्रमगत दौरों के रूप में परिकल्पित किया जा सकता है।

व्यक्तियों का निश्चित वर्गों के अन्तर्गत यह सम्मिलन तब तक नहीं मिटाया जा सकता जब तक ऐसा वर्ग मूर्त्त रूप ग्रहण न कर ले जिसका सत्ताधारी वर्ग के ख़िलाफ़ अपना कोई ख़ास वर्ग हित प्रस्तुत करने के लिए न रह जाये।

श्रम-विभाजन के ज़रिए वैयक्तिक शक्तियों (सम्बन्धों) के भौतिक शक्तियों रूपान्तरण को उसके बारे में आम विचार को अपने दिमाग़ से निकाल देने नहीं मिटाया जा सकता, उसे तो व्यक्ति इन भौतिक शक्तियों को अपने मातहत र ही तथा श्रम-विभाजन का उन्मूलन करके ही मिटा सकते हैं।** समुदाय बिना यह सम्भव नहीं है। केवल समुदाय के अन्दर ही हर व्यक्ति पास सारी दिशाओं में [५६] अपनी प्रतिभाओं का विकास करने के न होते हैं; इसलिए केवल समुदाय के अन्दर ही वैयक्तिक स्वतंत्रता सम्भव । समुदाय के पूर्ववर्ती प्रतिरूपों, राज्य आदि में वैयक्तिक स्वतंत्रता केवल उन

* "श्रम के उन्मूलन" (Aufhebung der Arbeit) की अभिव्यक्ति के देखें इस खण्ड के पृष्ठ ४६–४७, ६१, ७९–८०, ८६–९०। –सं०

** [हाशिये पर एंगेल्स की टिप्पणी :] (फ़ायरबाख़ : अस्तित्व तथा तत्व)। के लिए देखें इस खण्ड के पृष्ठ ५३–५४। –सं०

लोगों के लिए विद्यमान रही है जिनका सत्ताधारी वर्ग के सम्बन्धों के अन्दर विकास हुआ, और यह विकास केवल उसी हद तक हुआ जिस हद तक वे इस वर्ग के व्यक्ति थे। काल्पनिक समुच्चय ने, जिसके अन्दर व्यक्ति अब तक संयुक्त होते रहे हैं, उनके मामले में हमेशा स्वतंत्र अस्तित्व ग्रहण किया, और चूंकि वह एक वर्ग के विरुद्ध दूसरे वर्ग का सम्मिलन होता था, इसलिए वह साथ ही एक पूर्णतया अवास्तविक समुदाय ही नहीं वरन् [पददलित वर्ग के लिए] एक नयी बेड़ी भी था। वास्तविक समुदाय में व्यक्ति अपने साहचर्य में तथा उसके माध्यम से अपनी स्वतंत्रता हासिल करते हैं।

व्यक्ति सदैव स्वयं अपना आधार रहे हैं, लेकिन स्वभावतया अपनी नियत ऐतिहासिक अवस्थाओं तथा सम्बन्धों के अन्दर ही, सिद्धान्तकारों के अर्थ में "विशुद्ध" व्यक्ति के रूप में नहीं। परन्तु ऐतिहासिक विकासक्रम के दौरान, तथा ठीक इस अवश्यम्भावी तथ्य के फलस्वरूप कि श्रम-विभाजन के अन्दर सामाजिक संबंध स्वतंत्र अस्तित्व ग्रहण करते हैं, हर व्यक्ति के जीवन के अन्दर एक विभाजन उस हद तक प्रकट होता है जिस हद तक वह वैयक्तिक होता है तथा जिस हद तक उसे श्रम की कोई शाखा तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाली अवस्थाएं निश्चित करती हैं। (हमारा यह आशय नहीं है कि इसे इस तरह समझा जाये कि उदाहरण के लिए किरायाजीवी या पूंजीपति आदि व्यक्ति नहीं रह जाते; हमारा आशय तो यह है कि उनका व्यक्तित्व सर्वथा निश्चित वर्ग सम्बन्धों द्वारा निर्धारित होता है, और यह विभेद केवल दूसरे वर्ग से उनके विरोध में ही उत्पन्न होता है, और स्वयं उनके लिए केवल तभी उत्पन्न होता है जब वे दिवालिया हो जाते हैं।) एस्टेट में (और इससे भी बढ़कर क़बीले में) यह अभी प्रच्छन्न रहता है; उदाहरण के लिए एक श्रीमन्त हमेशा श्रीमन्त तथा साधारणजन हमेशा साधारणजन बना रहता है, यह उसके अपने अन्य सम्बन्धों के अतिरिक्त होता है, ऐसा गुण है जो उसके व्यक्तित्व से सर्वथा अविच्छेद्य होता है। व्यक्तिगत तथा वर्गीय मनुष्य के बीच विभेद, मनुष्य के लिए जीवन की अवस्थाओं का आकस्मिक स्वरूप केवल उस वर्ग के प्रादुर्भाव के साथ प्रकट होता है, जो स्वयं पूंजीपति वर्ग की उपज है। इस आकस्मिक स्वरूप को केवल [५७] व्यक्तियों की परस्पर प्रतिस्पर्द्धा तथा संघर्ष ही पैदा करते तथा विकसित करते हैं। इसलिए काल्पनिक रूप में तो मनुष्य पूंजीपति वर्ग के प्राधान्य में पहले से अधिक स्वतंत्र लगते हैं, क्योंकि उनके जीवन की अवस्थाएं आकस्मिक प्रतीत होती हैं; परन्तु वास्तव में वे कम स्वतंत्र होते हैं क्योंकि वे वस्तुओं की शक्ति के वश में अधिक होते हैं। पूंजीपति वर्ग तथा सर्वहारा

वर्ग के बीच विरोध से एस्टेट का अन्तर ख़ास तौर पर उभर कर सामने आता है। जब शहरियों की एस्टेटें, निगम आदि, भू-सामन्तों के ख़िलाफ़ उठ खड़े हुए तो उनके अस्तित्व की अवस्था—सचल सम्पत्ति और दस्तकारी श्रम, जो सामन्ती सम्बन्धों से उनकी पृथकता से पहले से ही सुषुप्तावस्था में विद्यमान थे—एक ठोस वस्तु के रूप में प्रकट हुई, जिसे सामन्ती भू-सम्पत्ति के विरुद्ध इस्तेमाल किया गया, और जिसने इस कारण पहले सामन्ती रूप ग्रहण किया। निस्सन्देह भगोड़े भू-दास अपने पहले की दासता को अपने व्यक्तित्व के लिए एक तरह की आकस्मिक वस्तु मानते थे। परन्तु इस मामले में तो वे सिर्फ़ वही कर रहे थे जो अपने को किसी बेड़ी से मुक्त कर रहा हर वर्ग करता है; और उन्होंने अपने को एक वर्ग के रूप में नहीं वरन् पृथक रूप से मुक्त किया। यही नहीं वे एस्टेट-प्रणाली से बाहर नहीं निकले, बल्कि उन्होंने केवल एक नयी एस्टेट तैयार की, ऐसा करते समय उन्होंने नयी स्थिति में भी श्रम की अपनी पूर्ववर्ती विधि को बरक़रार रखा तथा उसे उसकी पूर्ववर्ती बेड़ियों से, जो हासिल किये जा चुके विकास से अब मेल नहीं खाती थीं, मुक्त कर उसका आगे विकास किया।

दूसरी ओर सर्वहाराओं के लिए उनके अस्तित्व की अवस्था, श्रम तथा उसके साथ आधुनिक समाज को शासित करनेवाली तमाम अवस्थाएं कुछ आकस्मिक वस्तु, कुछ ऐसी चीज़ बन गयी हैं जिसके ऊपर पृथक व्यक्तियों के रूप में उनका कोई नियंत्रण नहीं है, और कोई सामाजिक संगठन उन्हें ऐसा नियंत्रण नहीं सौंप सकता। हर पृथक सर्वहारा के व्यक्तित्व तथा श्रम—उस पर थोपी गयी जीवन की इस अवस्था—के बीच अन्तर्विरोध स्वयं उसके सामने स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि जवान होते ही उसे कुरबान कर दिया जाता है और अपने वर्ग के अन्दर उसके लिए उन अवस्थाओं तक पहुंचने का कोई मौक़ा नहीं मिलता जो उसे दूसरे वर्ग में पहुंचा सकें।

[५८] ध्यान दें। यह नहीं भुलाया जाना चाहिए कि भू-दास के ज़िंदा रहने की आवश्यकता ने ही तथा बड़े पैमाने की अर्थव्यवस्था की असम्भवता ने, जिसके कारण भू-दासों के बीच छोटे-छोटे भूखण्ड बंटे होते, अपने स्वामियों के प्रति भू-दासों की सेवाओं को शीघ्र बंटाई और बेगार के औसत स्तर तक पहुंचा दिया। इस बात ने भू-दास के लिए सचल सम्पत्ति संचित करना सम्भव बना दिया और इस कारण उसके लिए अपने मालिक से बच निकलने का पथ प्रशस्त कर दिया और उसे शहरी नागरिक बनने की सम्भावना प्रदान की; इस बात ने भू-दासों के बीच विभेदीकरण भी कर दिया, इस तरह भाग निकलनेवाले भू-दास आधे

शहरी बन गये। इसी तरह यह भी स्पष्ट है कि जो भू-दास किसी दस्तकारी में उस्ताद थे, उनके लिए सचल सम्पत्ति जमा करने का सबसे बढ़िया मौक़ा मिल गया। –

इस तरह भगोड़े भू-दास जहां केवल अस्तित्व की पहले से ही मौजूद अवस्थाओं को विकसित करने तथा उन्हें जमाने के लिए स्वतंत्र होना चाहते थे, और इस कारण जो अन्त में मुक्त श्रमिक बन गये, वहां सर्वहाराओं को – यदि उन्हें व्यक्तियों के रूप में अपने को प्रतिष्ठित करना है – अपने अस्तित्व की अब तक मौजूदा अवस्था को ही (जो वैसे अब तक पूरे समाज की अवस्था रही है) यानी श्रम को मिटाना पड़ेगा। इस तरह वे अपने को राज्य के सीधे विरुद्ध खड़ा पाते हैं यानी उस रूप के विरुद्ध जिसमें अब तक व्यक्तियों ने, जिन्हें लेकर समाज बना है, अपने को समुदाय के रूप में अभिव्यक्ति दी है। अतः व्यक्तियों के रूप में अपने को प्रतिष्ठित करने के लिए उन्हें राज्य को उलट देना चाहिए।

हमने अब तक जो कुछ कहा है, उससे यह मतलब निकलता है कि सामुदायिक सम्बन्ध, जिनमें व्यक्तियों ने एक वर्ग के रूप में प्रवेश किया तथा जो एक दूसरे वर्ग के विरुद्ध उनके समान हित द्वारा निर्धारित हुए थे, हमेशा ऐसा समुदाय थे, जिसके साथ ये व्यक्ति केवल औसत व्यक्तियों के रूप में सम्मिलित थे, केवल उसी हद तक जिस हद तक वे अपने वर्ग के अस्तित्व की अवस्थाओं में रहते थे; इन सामुदायिक सम्बन्धों में वे व्यक्तियों के रूप में नहीं वरन् एक वर्ग के सदस्यों की हैसियत से भाग लेते थे। दूसरी ओर क्रान्तिकारी सर्वहाराओं के मामले में, जो [५६] अपने अस्तित्व की अवस्थाओं तथा समाज के सारे सदस्यों के अस्तित्व की अवस्थाओं को अपने नियंत्रण में लाते हैं, स्थिति बिल्कुल विपरीत है; इस समुदाय में व्यक्ति व्यक्तियों के रूप में भाग लेते हैं। यह व्यक्तियों की ऐसी ऐक्यबद्धता है (निस्सन्देह, यह मानते हुए कि आधुनिक उत्पादक शक्तियां उन्नत मंजिल में हैं) जो व्यक्तियों के मुक्त विकास तथा गतिविधि की अवस्थाओं को उनके नियंत्रण में लाती है; ये हैं वे अवस्थाएं जो पहले संयोग के सहारे छोड़ दी गयी थीं तथा जिन्होंने पृथक-पृथक व्यक्तियों के विरुद्ध केवल इसलिए स्वतंत्र अस्तित्व हासिल किया था कि वे व्यक्तियों के रूप में पृथक थे, कि उनकी ऐक्यबद्धता आवश्यक थी जिसे श्रम-विभाजन ने निर्धारित किया था, और जो उनकी पृथकता के कारण उनके लिए विजातीय बन गयी थी। अब तक की ऐक्यबद्धता (मनमाने ढंग की नहीं, जैसा कि उदाहरण के लिए Contrat social[31]

में प्रतिपादित किया गया है, बल्कि आवश्यक ऐक्यबद्धता) इन परिस्थितियों के बारे में एक क़रार था जिसके अन्तर्गत व्यक्ति भाग्य-देवी के करिश्मों का उपभोग करने के लिए स्वतंत्र थे (उदाहरण के लिए उत्तरी अमरीकी राज्य तथा दक्षिणी अमरीकी गणराज्यों के गठन की तुलना करें)। संयोग तथा मौक़े का कतिपय अवस्थाओं के अन्तर्गत यह निर्विघ्न उपभोग अब तक वैयक्तिक स्वतंत्रता के नाम से पुकारा जाता रहा है।—अस्तित्व की ये अवस्थाएं निस्सन्देह एक समय विशेष में उत्पादक शक्तियां तथा संसर्ग के रूप हैं।

कम्युनिज़्म तमाम पूर्ववर्ती आन्दोलनों से इस अर्थ में भिन्न है कि वह उत्पादन तथा संसर्ग के तमाम पूर्ववर्ती सम्बन्धों के आधार को उलट देता है, और पहली बार सचेत रूप से तमाम प्राकृतिक पूर्वाधारों को अब तक विद्यमान मनुष्यों की रचना के रूप में निरूपित करता है, उन्हें उनके प्राकृतिक स्वरूप से वंचित कर देता है तथा उन्हें ऐक्यबद्ध व्यक्तियों की शक्ति के अधीन करता है। इसलिए उसका संगठन मूलतः आर्थिक है, इस एकता की अवस्थाओं की भौतिक उपज है; वह मौजूदा अवस्थाओं को एकता की अवस्थाओं में बदल डालता है। जिस यथार्थता का कम्युनिज़्म निर्माण कर रहा है, वह ठीक वही सच्चा आधार है जो इस चीज़ को असम्भव बना देता है कि कोई भी चीज़ व्यक्तियों से स्वतंत्र होकर विद्यमान रहे क्योंकि यथार्थता स्वयं व्यक्तियों के बीच पूर्ववर्ती संसर्ग की उपज है। इस तरह उत्पादन तथा संसर्ग द्वारा अब तक सर्जित की गई अवस्थाओं के प्रति व्यवहार में कम्युनिस्टों का रवैया ऐसा है मानो वे अस्वाभाविक हों, अलबत्ता यह कल्पना किये बिना कि उन्हें सामग्री देना पूर्ववर्ती पीढ़ियों की योजना थी या यह उनके भाग्य में लिखा था; और इस पर विश्वास किये बिना कि ये अवस्थाएं उन्हें सर्जित करनेवाले व्यक्तियों के लिए अस्वाभाविक थीं।

[७. व्यक्तियों तथा उनके जीवन की अवस्थाओं के बीच अन्तर्विरोध उत्पादक शक्तियों तथा संसर्ग के रूप के बीच अन्तर्विरोध के रूप में। उत्पादक शक्तियों का विकास तथा संसर्ग के रूपों का परिवर्तन]

[६०] व्यक्ति के रूप में मनुष्य तथा उस मनुष्य के बीच, जो उसके लिए आकस्मिक होता है, विभेद कोई परिकल्पनात्मक विभेद नहीं है वरन् एक ऐतिहासिक तथ्य है। इस विभेद का भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न महत्व

होता है – मिसाल के तौर पर अठारहवीं शताब्दी में व्यक्ति के लिए एस्टेट एक आकस्मिक चीज़ है और न्यूनाधिक रूप में परिवार भी। यह वह विभेद नहीं है जो हमें हर युग के लिए करना है बल्कि ऐसा विभेद है जो हर युग भिन्न-भिन्न तत्वों के बीच, जिन्हें वह अस्तित्व में पाता है, स्वयं करता है, और वह इसे निस्सन्देह किसी सिद्धान्त के अनुसार नहीं करता वरन् जीवन में भौतिक टकरावों द्वारा विवश किये जाने के कारण करता है।

आगे के युग में पूर्ववर्ती युग के विपरीत जो चीज़ आकस्मिक प्रतीत होती है – और यह पूर्ववर्ती युग द्वारा सौंपे गये तत्वों पर भी लागू होती है – वह है संसर्ग का एक ऐसा रूप जो उत्पादक शक्तियों के विकास की एक निश्चित मंजिल के अनुरूप था। संसर्ग के रूप के साथ उत्पादक शक्तियों का सम्बन्ध व्यक्तियों के व्यवसाय अथवा कार्यकलाप के साथ संसर्ग के रूप का सम्बन्ध है। (इस कार्यकलाप का आधारभूत रूप निस्सन्देह भौतिक है जिस पर दूसरे सारे रूप – मानसिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि – निर्भर करते हैं। भौतिक जीवन का आकृति-गठन हर मामले में निस्सन्देह पहले से विकसित आवश्यकताओं पर निर्भर होता है, तथा इन आवश्यकताओं को पैदा किया जाना तथा साथ ही उनकी पूर्ति किया जाना एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है, जो भेड़ या कुत्ते के मामले में नहीं पायी जाती (स्टर्नर का प्रमुख तर्क[32] जिसे वह ज़िद्द के साथ *adversus* hominem* पेश करते हैं) हालांकि भेड़ तथा कुत्ते अपने वर्तमान रूप में यक़ीनन malgré eux** एक ऐतिहासिक प्रक्रिया की उपज हैं।) जब तक उपरोक्त अन्तर्विरोध नहीं होता, तब तक वे अवस्थाएं, जिनके अन्तर्गत व्यक्तियों का एक-दूसरे से संसर्ग होता है, ऐसी परिस्थितियां हैं जो उनके व्यक्तित्व से जुड़ी हुई होती हैं, उनके लिए किसी भी तरह बाहरी नहीं होतीं; ये ऐसी परिस्थितियां हैं, जिनके अन्तर्गत ही ये निश्चित व्यक्ति, निश्चित सम्बन्धों के अन्तर्गत रहते हुए भौतिक जीवन तथा उससे जुड़ी हुई हर वस्तु को उत्पादित कर सकते हैं, इस प्रकार उनके आत्म-क्रियाकलाप की अवस्थाएं हैं तथा इस आत्म-क्रियाकलाप द्वारा पैदा की जाती हैं।*** अतः व्यक्ति जिस निश्चित अवस्था के अन्तर्गत सृजन करते हैं, वह, जब तक [६१] अन्तर्विरोध प्रकट नहीं हो जाता, उनकी अभ्यनुकूलित प्रकृति, उनके इकतरफ़ा

* प्रति मनुष्य। – सं०

** संकल्प के बाहर। – सं०

*** [हाशिये पर मार्क्स की टिप्पणी :] स्वयं संसर्ग के रूप का उत्पादन।

अस्तित्व से मेल खाती है, जिसका इकतरफ़ापन तभी स्पष्ट होता है जब अन्तर्विरोध सामने आ जाता है तथा इस प्रकार आगे के व्यक्तियों के लिए अस्तित्वमान रहता है। तब यह अवस्था एक आकस्मिक बेड़ी के रूप में प्रकट होती है, तथा पूर्ववर्ती युग पर भी यह चेतना रोप दी जाती है कि यह एक बेड़ी है।

ये विविध अवस्थाएं, जो पहले आत्म-क्रियाकलाप की अवस्थाओं के रूप में और आगे चलकर उसके पांवों पर बेड़ियों के रूप में प्रकट हुईं, इतिहास के समग्र विकासक्रम में संसर्ग के रूपों की एक पूरी सामंजस्यपूर्ण शृंखला हैं, जिसका सामंजस्यभाव इसमें निहित है कि संसर्ग के पूर्ववर्ती रूप की जगह, जो एक बेड़ी बन गयी है, एक नया रूप रख दिया जाता है जो अधिक विकसित उत्पादक शक्तियों के और इस कारण व्यक्तियों के आत्म-क्रियाकलाप की उन्नत विधि के अनुरूप होता है, ऐसा रूप होता है जो अपनी बारी में बेड़ी बन जाता है और उसके बाद उसकी जगह एक और रूप बिठा दिया जाता है। ये अवस्थाएं चूंकि हर मंज़िल में उत्पादक शक्तियों के होनेवाले विकास के अनुरूप होती हैं, इस कारण उनका इतिहास साथ ही साथ हर नयी पीढ़ी द्वारा हस्तगत की जानेवाली विकासमान उत्पादक शक्तियों का इतिहास भी है, और इसलिए स्वयं मनुष्यों की शक्तियों के विकास का भी इतिहास है।

यह विकासक्रम चूंकि प्राकृतिक रूप से होता है, अर्थात् वह स्वतंत्र रूप से संयुक्त मनुष्यों की किसी आम योजना के मातहत नहीं होता, इसलिए वह विभिन्न इलाक़ों, क़बीलों, जातियों, श्रम की शाखाओं आदि से अग्रसर होता है, जिनमें से हर एक आरंभ में एक दूसरे से स्वतंत्र रूप से विकसित होता है, और सिर्फ़ धीरे-धीरे ही उनके साथ सम्बन्धों में प्रवेश करता है। इससे भी बढ़कर वह धीमी गति से चलता है; विभिन्न मंज़िलें तथा हित कभी पूरी तरह तय नहीं होते, बल्कि उन्हें केवल मुख्य हित के ही मातहत किया जाता है तथा वे आगे शताब्दियों तक इस हित के साथ-साथ घसीटते हुए चलते रहते हैं। इससे यह अर्थ निकलता है कि एक ही जाति के अन्दर मनुष्यों का, उनकी आर्थिक अवस्थाओं को छोड़कर भी, सर्वथा भिन्न-भिन्न विकास होता है, और पूर्ववर्ती हित, जिसके संसर्ग का विशिष्ट रूप आगे के हित के रूप द्वारा पहले ही बाहर किया जा चुका होता है, बाद में बहुत लम्बे समय तक भ्रामक सामान्यता में (राज्य, क़ानून) बना रहता है जिसके पास परम्परागत शक्ति होती है, तथा जो व्यक्तियों से स्वतंत्रता हासिल कर चुका होता है; यह ऐसी शक्ति होती है जो अन्ततोगत्वा केवल क्रान्ति से ही खण्डित की जा सकती है। इससे यह पता

चलता है कि कई प्रश्नों के प्रसंग में, [६२] जिनमें अधिक सामान्य लेखा-जोखा निकालने की गुंजाइश होती है, चेतना कभी-कभी समकालिक इन्द्रियानुभववादी सम्बन्धों से इस तरह आगे बढ़ी हुई क्यों प्रतीत हो सकती है कि आगे के युग के संघर्षों में पूर्ववर्ती सिद्धान्तकारों की प्रामाणिक लोगों के रूप में चर्चा की जा सके।

दूसरी ओर, जो देश उत्तरी अमरीका की तरह पहले से ही उन्नत ऐतिहासिक युग में काम शुरू करते हैं, उनमें विकास बहुत तेज़ी से होता है। ऐसे देशों के पास उन व्यक्तियों के अलावा और कोई प्राकृतिक पूर्वाधार नहीं होता जो वहां बस गये तथा जो ऐसा करने के लिए मजबूर हुए क्योंकि पुराने देशों के संसर्ग के रूप उनकी आवश्यकताओं के समरूप नहीं थे। इस तरह वे पुराने देशों के सबसे उन्नत व्यक्तियों के साथ और इस कारण संसर्ग के तदनुरूपी सबसे उन्नत रूप के साथ – इस रूप द्वारा पुराने देशों में अपने को स्थापित किये जाने से पहले – अग्रसर होना आरम्भ करते हैं। यही बात तमाम उपनिवेशों पर उस हद तक लागू होती है जिस हद तक वे मात्र फ़ौजी या व्यापारिक केन्द्र नहीं होते। कार्थेज, ग्रीक उपनिवेश, ग्यारहवीं तथा बारहवीं शताब्दी में आइसलैंड इसके उदाहरण हैं। इसी तरह का सम्बन्ध दूसरे देश पर विजय से उस समय जन्मता है जब दूसरे देश में तैयार होनेवाला संसर्ग का रूप पूरी तरह विजित देश में लाया जाता है: अपने देश में वह पूर्ववर्ती कालों से छोड़े गये हितों तथा सम्बन्धों से दबा हुआ होता था, यहां उसे पूरी तरह और निर्बाध रूप से स्थापित किया जाना चाहिये, और किसी चीज़ के लिए नहीं तो कम से कम विजेता की स्थायी सत्ता सुनिश्चित करने के लिए। (नार्मन विजय के बाद इंगलैंड और नेपल्स[33] जब उन्हें सामन्ती संगठन का सर्वांगपूर्ण रूप प्राप्त हुआ।)

[८. इतिहास में बल-प्रयोग (विजय) की भूमिका]

विजय-प्राप्ति का तथ्य इतिहास की इस पूरी परिभाषा का खण्डन करता प्रतीत होता है। अब तक बल-प्रयोग, युद्ध, लूटमार, हत्या तथा डाकाज़नी आदि को इतिहास की प्रेरक शक्ति माना जाता रहा है। यहां हम ख़ास मुद्दों तक अपने को सीमित रखेंगे और इसलिए सिर्फ़ सबसे उल्लेखनीय उदाहरण को लेंगे – बर्बर लोगों द्वारा पुरानी सभ्यता का नाश तथा उसके परिणामस्वरूप समाज के पूरी तरह नये संगठन की रचना। (रोम तथा बर्बर; सामन्तवाद तथा गाल; पूर्वी रोमन साम्राज्य तथा तुर्क।[34])

[६३] बर्बर विजेता लोगों में युद्ध, जैसा कि ऊपर लक्षित किया जा चुका है, संसर्ग का एक नियमित रूप है, जिसे अधिकाधिक उपयोग में लाया जाता है क्योंकि उत्पादन की परम्परागत और उन लोगों के लिए एकमात्र सम्भव भोंडी विधि के अन्तर्गत आबादी में वृद्धि उत्पादन के नये साधनों की आवश्यकता को जन्म देती है। दूसरी ओर इटली में भू-सम्पत्ति का संकेन्द्रण (जो ख़रीदे जाने तथा कर्ज़े के कारण ही नहीं वरन् उत्तराधिकार के कारण भी होता था, क्योंकि छिन्न-भिन्न जीवन-यापन बहुप्रचलित होने तथा विवाह विरल होने के कारण पुराने परिवार धीरे-धीरे मिटते जा रहे थे तथा उनकी सम्पत्ति चन्द लोगों के हाथों में पहुंचती रही) तथा उसके चरागाही ज़मीन में परिवर्तन ने (जिसे आज भी कार्यशील आम आर्थिक शक्तियों ने ही नहीं बल्कि लूटमार कर और नज़राने में वसूल किये गये अनाज के आयात तथा परिणामस्वरूप इतालवी अनाज की मांग के अभाव ने भी जन्म दिया था) स्वतंत्र आबादी को प्राय: पूर्णतया विलुप्त कर दिया। यहां तक कि दास भी बार-बार मिटते जाते तथा उनकी जगह नये-नये दासों को पहुंचाना पड़ता था। दासत्व सारी उत्पादन-प्रणाली का आधार बना रहा। निम्नजन, स्वतंत्र लोगों तथा दासों के बीच के लोग, सर्वहारा भीड़ से आगे कुछ बन सकने में कभी सफल नहीं हो पाये। रोम वस्तुत: एक नगर से और अधिक कभी कुछ नहीं बना; प्रान्तों के साथ उसका सम्बन्ध प्राय: विशिष्टतया राजनीतिक था और इसलिए उन्हें राजनीतिक घटनाएं ही आसानी से तोड़ सकती थीं।

इस धारणा से अधिक आम और कोई धारणा नहीं है कि अब तक का इतिहास सिर्फ़ हस्तगत करने का प्रश्न रहा है। बर्बर रोम साम्राज्य को हस्तगत करते हैं और हस्तगत करने के इस तथ्य को पुरानी दुनिया से सामन्ती प्रणाली में संक्रमण का कारण बताया जाता है। परन्तु बर्बरों द्वारा इस हस्तगतकरण में यह प्रश्न निहित है कि क्या विजित जाति ने औद्योगिक उत्पादक शक्तियां तैयार की हैं जैसा कि आधुनिक राष्ट्रों के साथ होता है, अथवा उसकी उत्पादक शक्तियां अधिकतर उसके साहचर्य तथा सामुदायिकता मात्र पर आधारित हैं। इसके अलावा हस्तगतकरण हस्तगत किये गये क्षेत्र से भी निर्धारित होता है। सम्पत्ति की दौलत को, जो कागज़ी नोटों की होती है, हस्तगत किये गये देश के उत्पादन तथा संसर्ग की अवस्थाओं के आगे झुके बिना हस्तगत नहीं किया जा सकता। यही बात आधुनिक औद्योगिक देश की कुल औद्योगिक पूंजी पर

लागू होती है। और अन्ततः हस्तगत किये जाने के क्रम का सर्वत्र बहुत शीघ्र अन्त हो जाता है, और जब हस्तगत करने के लिए कुछ नहीं रह जाता तो आपको उत्पादन करने में जुट जाना पड़ता है। उत्पादन करने की इस आवश्यकता से, जो बहुत जल्द अपने को ज़ोरदार ढंग से सामने लाती है, यह अर्थ निकलता है [६४] कि विजित भूमि पर बस जानेवाले विजेताओं द्वारा अपनाये जानेवाले समुदाय के रूप को उत्पादक शक्तियों के विकास की उस मंज़िल के अनुरूप होना चाहिए जिन्हें वे विद्यमान पाते हैं; और यदि आरम्भ से बात ऐसी नहीं होती तो उसे उत्पादक शक्तियों के अनुरूप बदलना चाहिए। इससे इस तथ्य पर भी प्रकाश पड़ता है, जिसे जनगण के निष्क्रमण की अवधि के उपरान्त सर्वत्र देखा गया है, अर्थात् यह कि दास मालिक बन गया, और यह कि विजेताओं ने विजितों से शीघ्र उनकी भाषा, संस्कृति तथा रीति-रस्मों को ग्रहण कर लिया। सामन्ती प्रणाली कदापि जर्मनी से बनी-बनायी नहीं लायी गयी थी, परन्तु जहां तक विजेताओं का सम्बन्ध था, उसका मूल विजय के दौरान सेना के सामरिक संगठन में था और यह संगठन विजय-प्राप्ति के बाद ही विजित देशों में पायी गयी उत्पादक शक्तियों की क्रिया के ज़रिए सामन्ती प्रणाली में बदला। यह रूप उत्पादक शक्तियों द्वारा किस हद तक निर्धारित हुआ, यह प्राचीन रोम के अवशेषों पर आधारित दूसरे रूपों को मूर्त रूप देने की विफल चेष्टाओं से प्रदर्शित हो जाता है (शार्ल महान आदि)।

क्रमशः'।

[९. बड़े उद्योग और मुक्त प्रतियोगिता की अवस्थाओं में उत्पादक शक्तियों तथा संसर्ग के रूप के बीच अन्तर्विरोध का विकास। श्रम और पूंजी में विरोध]

बड़े उद्योग तथा प्रतियोगिता में व्यक्तियों का सारा अस्तित्व, सारी सीमाएं, सारे पूर्वाग्रह दो सरलतम रूपों में समेकित होते हैं, ये दो रूप हैं – निजी सम्पत्ति तथा श्रम। मुद्रा के मामले में व्यक्तियों के लिए संसर्ग का हर रूप तथा स्वयं संसर्ग आकस्मिक माना जाता है। अतः धन का अर्थ यह है कि सारा पूर्ववर्ती संसर्ग विशेष अवस्थाओं के अन्दर व्यक्तियों का संसर्ग था, व्यक्तियों के रूप में व्यक्तियों का संसर्ग नहीं। ये अवस्थाएं सिमट कर दो रह जाती हैं – संचित श्रम अथवा निजी सम्पत्ति तथा वास्तविक श्रम। यदि दोनों या इनमें से एक ख़त्म हो

जाये तो संसर्ग रुक जाता है। स्वयं आधुनिक अर्थशास्त्री, उदाहरण के लिए सीसमंदी, शेर्बुइए आदि "व्यक्तियों के सहचार" के सामने "पूंजी का सहचार" प्रस्तुत करते हैं। दूसरी ओर स्वयं व्यक्ति पूरी तरह श्रम-विभाजन के अधीन होते हैं और इस कारण उन्हें एक-दूसरे पर पूरी आश्रितता के अन्तर्गत लाया जाता है। निजी सम्पत्ति – जिस हद तक स्वयं श्रम के अन्दर वह श्रम के विरुद्ध होती है – संचय की आवश्यकता से उत्पन्न होती है और उसका, आरम्भ में, अब भी एक तरह सामुदायिकता का रूप होता है; परन्तु अपने आगे विकास में वह निजी सम्पत्ति के आधुनिक रूप के पास अधिकाधिक पहुंचती जाती है। श्रम-विभाजन का आरम्भ से ही अर्थ होता है श्रम की **अवस्थाओं** – औज़ारों तथा सामग्रियों – का, और इस तरह भिन्न-भिन्न मालिकों के बीच संचित पूंजी का बंट जाना यानी पूंजी तथा श्रम के बीच विभेदीकरण, और साथ ही स्वयं सम्पत्ति के विभिन्न रूप होना। श्रम-विभाजन जितना अधिक विकसित होता है [६५] तथा संचय की जितनी वृद्धि होती है, विभेदीकरण की इस प्रक्रिया के रूप उतने ही तीक्ष्ण बनते जाते हैं। स्वयं श्रम इस विभेदीकरण के पूर्वाधार पर ही अस्तित्व में रह सकता है।

(विभिन्न राष्ट्रों के व्यक्तियों – जर्मनों तथा अमरीकियों – की वैयक्तिक शक्ति – संकरण के माध्यम तक से शक्ति – इस कारण जर्मनों की जड़वामनता; फ़्रांस तथा इंगलैंड आदि में पहले से ही विकसित भूमि पर विदेशी लोग बसे, अमरीका में सर्वथा नयी भूमि पर; जर्मनी में नैसर्गिक आबादी जहां की तहां रही।)

इस तरह यहां दो तथ्य प्रकाश में आते हैं।* पहले तो उत्पादक शक्तियां व्यक्तियों के साथ-साथ अपनी ही दुनिया के रूप में प्रकट होती हैं, व्यक्तियों से सर्वथा स्वतंत्र तथा अलग-थलग; इसकी वजह यह है कि व्यक्ति, जिनकी शक्तियां वे हैं, विभक्त रूप में तथा एक-दूसरे के विरुद्ध विद्यमान रहते हैं; जबकि दूसरी ओर ये शक्तियां इन व्यक्तियों के संसर्ग तथा सहचार में ही वास्तविक शक्तियां हैं। इस तरह हमारे पास एक ओर उत्पादक शक्तियों की समग्रता है जिन्होंने, कहा जा सकता है, भौतिक रूप ग्रहण कर लिया है तथा

* [हाशिये पर एंगेल्स की टिप्पणी :] सीसमंदी।

वे व्यक्तियों के लिए अब व्यक्तियों की शक्तियां नहीं रह गयी हैं, बल्कि निजी सम्पत्ति हैं; और इस कारण वे व्यक्तियों की सिर्फ़ उसी हद तक शक्तियां हैं जिस हद तक वे स्वयं निजी सम्पत्ति के मालिक हैं। पहले किसी भी काल में उत्पादक शक्तियों ने कभी **व्यक्तियों के रूप में** व्यक्तियों के संसर्ग के प्रति इतना उपेक्षाभरा रूप ग्रहण नहीं किया था क्योंकि स्वयं उनका संसर्ग पहले सीमाबद्ध होता था। दूसरी ओर हमारे सामने इन उत्पादक शक्तियों के विरुद्ध खड़े उन व्यक्तियों की बहुसंख्या है जिनसे ये शक्तियां अलग की गयी हैं, और जो सारे वास्तविक जीवन-तत्व से वंचित किये जाने के बाद अमूर्त व्यक्ति बन गये हैं, लेकिन जो, वैसे, केवल इस तथ्य के ही कारण ऐसी स्थिति में रख दिये गये हैं कि वे **व्यक्तियों के रूप में** एक-दूसरे से सम्बन्ध बना सकें।

वह एकमात्र सम्बन्ध, जो उन्हें अब भी उत्पादक शक्तियों तथा स्वयं अपने अस्तित्व के साथ सूत्रबद्ध करता है—श्रम—स्व-क्रिया का सारा रूपरंग खो बैठा है और [६६] उनके जीवन को पंगु बनाते हुए ही उसे बनाये रखता है। जबकि पूर्ववर्ती अवधियों में स्व-क्रिया तथा भौतिक जीवन का उत्पादन इस अर्थ में पृथक किये गये थे कि वे विभिन्न व्यक्तियों के ज़िम्मे थे, और जबकि स्वयं व्यक्तियों की संकीर्णता के कारण भौतिक जीवन के उत्पादन को स्व-क्रिया की घटिया विधि माना जाता था, अब वे इस हद तक भिन्न दिशाओं में गये हैं कि कुल मिलाकर भौतिक जीवन उद्देश्य के रूप में प्रकट होता है, और इस भौतिक जीवन को जो चीज़ पैदा करती है यानी श्रम, (जो अब स्व-क्रिया का एकमात्र सम्भव, परन्तु जैसा कि हम देखते हैं, नकारात्मक रूप है) साधन के रूप में प्रकट होती है।

[१०. निजी स्वामित्व के उन्मूलन की आवश्यकता, अवस्थाएं तथा परिणाम]

इस तरह स्थिति यहां तक पहुंच चुकी है कि व्यक्तियों को स्व-क्रिया उपलब्ध करने के लिए ही नहीं बल्कि अपने अस्तित्व की ही रक्षा करने के लिए भी उत्पादक शक्तियों की विद्यमान समग्रता हस्तगत करनी पड़ती है।

यह हस्तगतकरण हस्तगत की जानेवाली वस्तु द्वारा, उत्पादक शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है जो समग्र रूप में विकसित की जा चुकी होती हैं तथा जो केवल सार्वत्रिक संसर्ग के अन्दर विद्यमान होती हैं। इसलिए अकेले इसी पहलू के कारण हस्तगतकरण का उत्पादक शक्तियों तथा संसर्ग से मेल खानेवाला





सार्वत्रिक स्वरूप होना चाहिए। इन शक्तियों का हस्तगतकरण उत्पादन के भौतिक औज़ारों से मेल खानेवाली व्यक्तिगत क्षमताओं के विकास से अधिक और कुछ नहीं है। ठीक इसी कारण उत्पादन-उपकरणों की समग्रता का हस्तगतकरण स्वयं व्यक्तियों की क्षमताओं की समग्रता का विकास है।

इसके अलावा यह हस्तगतकरण हस्तगत करनेवाले व्यक्तियों द्वारा निर्धारित होता है। केवल वर्त्तमान काल के सर्वहारा ही, जो सारी स्व-क्रिया से पूरी तरह बाहर होते हैं, पूर्ण तथा असीमित स्व-क्रिया हासिल करने की स्थिति में होते हैं जिसमें उत्पादक शक्तियों का समग्र रूप से हस्तगतकरण तथा इस तरह क्षमताओं का समग्र रूप से विकास निहित होता है। तमाम पूर्ववर्ती क्रान्तिकारी हस्तगतकरण सीमित थे; व्यक्तियों ने, जिनकी स्व-क्रिया उत्पादन के अविकसित औज़ार तथा सीमित संसर्ग द्वारा प्रतिबंधित थी, [६७] उत्पादन के इस अविकसित औज़ार का हस्तगतकरण किया और इस कारण केवल परिसीमन की एक नयी अवस्था ही हासिल की। उत्पादन का उनका औज़ार उनकी सम्पत्ति बन गया, परन्तु वे स्वयं श्रम-विभाजन तथा उत्पादन के अपने औज़ार के अधीन बने रहे। अब तक के समस्त हस्तगतकरणों में व्यक्तियों का समूह उत्पादन के एक ही औज़ार के अधीन बना रहा; सर्वहाराओं द्वारा किये जानेवाले हस्तगतकरण में उत्पादन के औज़ारों का समूह हर व्यक्ति के अधीन किया जाना चाहिए और सम्पत्ति सबकी बनायी जानी चाहिए। अतः आधुनिक सार्वत्रिक संसर्ग व्यक्तियों द्वारा तभी नियंत्रित किया जा सकता है जब वह सब द्वारा नियंत्रित हो।

इसके अलावा हस्तगतकरण जिस ढंग से किया जाता है, वह उसे निर्धारित करता है। उसे इस तरह के एकीकरण के ज़रिए, जो स्वयं सर्वहारा वर्ग के स्वरूप के कारण केवल सार्वत्रिक ही हो सकता है, तथा ऐसी क्रान्ति के ज़रिए किया जा सकता है जिसमें एक ओर उत्पादन तथा संसर्ग और सामाजिक संगठन की पूर्ववर्ती पद्धति की शक्ति को उलट दिया जाता है, और दूसरी ओर सर्वहारा के सार्वत्रिक स्वरूप तथा शक्ति का विकास होता है, जिसके बिना यह हस्तगतकरण सम्पन्न नहीं किया जा सकता; और साथ ही इस क्रान्ति में सर्वहारा हर उस चीज़ से छुटकारा पाता है जो समाज में उसकी पूर्ववर्ती स्थिति के कारण उससे अब भी चिपकी हुई होती है।

केवल इस मंज़िल में ही स्व-क्रिया भौतिक जीवन से मेल खाती है, जो पूर्ण व्यक्तियों के रूप में व्यक्तियों के विकास से तथा हर तरह की स्वतःस्फूर्ति



के हटाये जाने से मेल खाती है। श्रम का स्व-क्रिया में रूपान्तरण पूर्ववर्ती सीमित संसर्ग का स्वयं व्यक्तियों के संसर्ग में रूपान्तरण से मेल खाता है। ऐक्यबद्ध व्यक्तियों के माध्यम से कुल उत्पादक शक्तियों के स्वहस्तगतकरण के साथ निजी स्वामित्व का अन्त हो जाता है। जहां पहले इतिहास में एक विशेष अवस्था हमेशा आकस्मिक प्रतीत होती थी, वहां अब व्यक्तियों का अलगाव तथा हर व्यक्ति का विशेष व्यक्तिगत व्यवसाय स्वयं आकस्मिक बन गये हैं।

व्यक्तियों को, जो अब [६८] श्रम-विभाजन के प्रभाव में नहीं रह जाते, दार्शनिकों ने एक आदर्श माना और उन्हें "मानव" का नाम दिया। विकासक्रम की हमारे द्वारा प्रस्तुत प्रक्रिया को उन्होंने "मानव" के विकास के रूप में इस तरह पेश किया है कि प्रत्येक ऐतिहासिक युग में "मानव" को व्यक्तियों की जगह रख दिया गया तथा उसे इतिहास की प्रेरक-शक्ति के रूप में दिखाया गया। इस प्रकार, पूरी प्रक्रिया "मानव" के आत्म-अलगाव* के रूप में परिकल्पित की गयी; इसका कारण मूलतः यह तथ्य था कि अगली मंज़िल के औसत व्यक्ति को हमेशा पूर्ववर्ती मंज़िल पर तथा अगले युग की चेतना को पिछली मंज़िल पर थोपा जाता रहा। इस प्रतिलोमन के माध्यम से, जो आरम्भ से ही वास्तविक अवस्थाओं से पृथक्करण है, पूरे के पूरे इतिहास को चेतना की विकासक्रम-प्रक्रिया में बदल देना सम्भव हुआ।

* * *

नागरिक समाज उत्पादक शक्तियों के विकास की एक निश्चित मंज़िल के अन्दर व्यक्तियों के पूरे भौतिक संसर्ग को अपनी परिधि में ले लेता है। वह सम्बद्ध मंज़िल के पूरे वाणिज्यिक तथा औद्योगिक जीवन को अपनी परिधि में ले लेता है, और उस हद तक राज्य तथा राष्ट्र की सीमा के पार पहुंचता है हालांकि दूसरी ओर फिर उसे अपने वैदेशिक सम्बन्धों में राष्ट्र के रूप में अपने को प्रतिष्ठित करना चाहिए तथा अन्दरूनी तौर पर अपने को राज्य के रूप में संगठित करना चाहिए। "नागरिक समाज" [bürgerliche Gesellschaft]** शब्द अठारहवीं शताब्दी में प्रकट हुआ, जब सम्पत्ति-सम्बन्ध अपने को प्राचीन

---

*[हाशिये पर मार्क्स की टिप्पणी :] आत्म-अलगाव।

**«Bürgerliche Gesellschaft» का अर्थ या तो "नागरिक समाज" अथवा "पूंजीवादी समाज" हो सकता है।—सं०

यूनानी-रोमन तथा मध्ययुगीन सामुदायिकता से बाहर ला चुके थे। नागरिक समाज इस रूप में केवल पूंजीपति वर्ग के साथ विकसित होता है; परन्तु सीधे उत्पादन तथा संसर्ग से तैयार होनेवाले सामाजिक संगठन को, जो तमाम युगों में राज्य का तथा शेष "भाववादी"* ऊपरी ढांचे का आधार रहा है हमेशा वही नाम दिया गया है।

[११. सम्पत्ति के साथ राज्य तथा क़ानून के सम्बन्ध]

प्राचीन यूनानी-रोमन विश्व में सम्पत्ति का प्रथम रूप मध्ययुग की तरह क़बायली सम्पत्ति है जो रोमनों के मामले में मुख्यतया युद्ध के ज़रिए, [६६] जर्मनों के मामले में मवेशियों के पालन के ज़रिए निर्धारित हुई थी। प्राचीन यूनानी-रोमन जनगण के मामले में चूंकि कई क़बीले एक नगर में साथ-साथ रहते थे इसलिए क़बायली सम्पत्ति राज्य की सम्पत्ति के रूप में सामने आती थी तथा उस पर व्यक्ति का अधिकार मात्र "उपभोग" था, जो बहरहाल आम तौर पर क़बायली सम्पत्ति की तरह केवल भू-सम्पत्ति तक सीमित था। वास्तविक निजी सम्पत्ति प्राचीन काल में आधुनिक राष्ट्रों की तरह सचल सम्पत्ति से शुरू हुई थी।—(दासता तथा सामुदायिकता) (dominium ex jure Quiritum**)। मध्ययुग में जन्म लेनेवाली जातियों के मामले में, क़बायली सम्पत्ति भिन्न-भिन्न मंज़िलों के बीच से—सामन्ती भू-सम्पत्ति, निगमों की सचल सम्पत्ति, मैनुफ़ेक्चर में लगनेवाली पूंजी—विकसित होते हुए आधुनिक पूंजी, विशुद्ध निजी सम्पत्ति बनी, जिसे बड़े उद्योग तथा सार्वत्रिक प्रतियोगिता ने जन्म दिया और जो सामुदायिकता का अपना सारा चोग़ा उतार चुकी है तथा जिसने राज्य के लिए सम्पत्ति के विकास पर प्रभाव डालने का दरवाज़ा बन्द कर दिया है। इस आधुनिक निजी सम्पत्ति के साथ आधुनिक राज्य मेल खाता है; करों के माध्यम से सम्पत्ति के स्वामियों द्वारा धीरे-धीरे ख़रीदा गया यह राज्य राष्ट्रीय ऋण के ज़रिए पूरी तरह उनकी मुट्ठी के अन्दर पहुंच चुका है तथा उसका अस्तित्व, स्टाक एक्सचेंज में राजकीय ऋण-पत्रों की घट-बढ़ द्वारा नियंत्रित होते हुए पूरी तरह वाणिज्यिक ऋण पर आश्रित हो गया है जो सम्पत्ति के स्वामी, पूंजीपति उसे देते हैं। अकेले इसी तथ्य के बल पर कि पूंजीपति वर्ग एक **वर्ग** है तथा एक **एस्टेट** नहीं रह गया है,

*अर्थात् वैचारिक, विचारधारात्मक।—सं०

**पूर्ण रोमन नागरिकों पर लागू होनेवाले क़ानून के अनुसार स्वामित्व।—सं०

वह अब स्थानीय तौर पर नहीं वरन् राष्ट्रीय तौर पर अपने को संगठित करने के लिए तथा अपने औसत स्वार्थ को एक आम रूप देने के लिए बाधित होता है। सामुदायिकता से निजी सम्पत्ति की मुक्ति के माध्यम से राज्य नागरिक समाज के साथ तथा उसके बाहर एक पृथक सत्व बन गया है; परन्तु वह संगठन के ऐसे रूप से ज्यादा और कुछ नहीं है जिसे पूंजीपति, आन्तरिक तथा बाह्य मामलों में, अपनी सम्पत्ति तथा हितों की पारस्परिक गारंटी के लिए आवश्यक रूप से अपनाते हैं। राज्य की स्वतंत्रता आजकल उन्हीं देशों में पायी जाती है जहां एस्टेट अभी पूरी तरह वर्गों के रूप में विकसित नहीं हो पायी हैं, जहां एस्टेटों को, जिन्हें अधिक उन्नत देश ख़त्म कर चुके हैं, अभी कुछ भूमिका अदा करती है, और जहां घुलामिलापन मौजूद है; कहने का मतलब है वह ऐसे देशों में पायी जाती है जहां आबादी का कोई एक भाग दूसरों पर प्रभुत्व हासिल नहीं कर सकता। यह बात ख़ास तौर पर जर्मनी पर लागू होती है। आधुनिक राज्य का सबसे सर्वांगपूर्ण उदाहरण उत्तरी [७०] अमरीका है। सभी आधुनिक फ़्रांसीसी, अंग्रेज तथा अमरीकी लेखक यह विचार व्यक्त करते हैं कि राज्य केवल निजी सम्पत्ति की ख़ातिर विद्यमान रहता हैं, इस तरह यह विचार आम आदमी की चेतना में ख़ूब गहरे बैठ चुका है।

चूंकि राज्य ऐसा रूप है जिसमें एक सत्ताधारी वर्ग के व्यक्ति अपने समान हितों को प्रयुक्त करते हैं, और जिसमें एक युग का पूरा नागरिक समाज सार रूप में प्रकट होता है, इसलिए इससे यह अर्थ निकलता है कि राज्य समस्त समान संस्थानों के गठन में मध्यस्थता करता है तथा संस्थान राजनीतिक रूप प्राप्त करते हैं। इसलिए यह भ्रम रहता है कि क़ानून इच्छा पर और सो भी अपने वास्तविक आधार से अलग-थलग **स्वतंत्र इच्छा** पर आधारित होता है। इसी तरह क़ानून को संकुचित कर विद्यमान क़ानूनों की स्थिति में पहुंचा दिया जाता है।

प्राकृतिक समुदाय के विघटन से जन्मा दीवानी क़ानून निजी सम्पत्ति के साथ-साथ विकसित होता है। रोमनों के मामले में निजी सम्पत्ति तथा दीवानी क़ानून के विकास के आगे कोई औद्योगिक तथा वाणिज्यिक परिणाम नहीं निकले, क्योंकि उत्पादन की उनकी पूरी पद्धति नहीं बदली थी।* आधुनिक राष्ट्रों के मामले में, जिनमें सामन्ती पद्धति उद्योग तथा व्यापार द्वारा विघटित कर दी गयी, निजी सम्पत्ति तथा दीवानी क़ानून के उद्भव के साथ एक नया दौर शुरू

* [हाशिये पर एंगेल्स की टिप्पणी :] (सूदख़ोरी!)

हुआ जिसमें और विकास की क्षमता थी। मध्ययुग में सामुद्रिक व्यापार करनेवाले सबसे पहले शहर अमालफ़ी ने जहाज़रानी क़ानून भी बनाया था।[35] ज्योंही उद्योग तथा वाणिज्य ने पहले इटली में और बाद में अन्य देशों में निजी स्वामित्व का विकास किया, अति विकसित रोमन दीवानी क़ानून फ़ौरन फिर से अनुमोदित किया गया तथा उसे प्रमाण के रूप में माना जाने लगा। जब आगे चलकर पूंजीपति वर्ग ने इतनी ताक़त हासिल कर ली कि राजा पूंजीपति वर्ग के माध्यम से सामन्तों को उखाड़ने के लिए उसके हितों की रक्षा करने लगे, तो तमाम देशों में – फ़्रांस में सोलहवीं शताब्दी में – क़ानून का वास्तविक विकास होने लगा, जो [७१] इंगलैंड को छोड़कर तमाम देशों में रोमन संहिता के आधार पर आगे बढ़ा। इंगलैंड में भी दीवानी क़ानून का और विकास करने के लिए (ख़ास तौर पर सचल सम्पत्ति के मामले में) रोमन क़ानूनी सिद्धान्तों को लागू करना पड़ा। (यह नहीं भूलना चाहिए कि धर्म की तरह क़ानून का भी अपना स्वतंत्र इतिहास नहीं है।)

दीवानी क़ानून में विद्यमान सम्पत्ति-सम्बन्धों को आम इच्छा का फल घोषित किया जाता है। Jus utendi et abutendi * भी एक ओर इस तथ्य को अभिपुष्ट करता है कि निजी स्वामित्व समुदाय से पूरी तरह स्वतंत्र हो चुका है, और दूसरी ओर इस भ्रम को अभिपुष्ट करता है कि स्वयं निजी स्वामित्व निजी इच्छा पर, वस्तु को मनमाने ढंग से निपटाने पर आधारित होता है। व्यवहार में abuti ** की निजी स्वामित्व के मालिक के लिये – यदि वह अपनी सम्पत्ति तथा इस कारण अपने jus abutendi *** को दूसरों के हाथों में जाते देखना नहीं चाहता – बहुत ही निश्चित आर्थिक सीमाएं होती हैं, क्योंकि वस्तु, मात्र उसकी इच्छा के प्रसंग में, वास्तव में वस्तु कदापि नहीं है, वह तो केवल संसर्ग में तथा क़ानून से स्वतंत्र रहकर वस्तु, सच्ची सम्पत्ति बनती है (**सम्बन्ध** जिसे दार्शनिक विचार कहते हैं ****)। यह क़ानूनी भ्रम, जो क़ानून को मात्र इच्छा

* किसी वस्तु का उपयोग और दुरुपयोग करने अर्थात् अपनी इच्छा के अनुसार उपयोग करने का अधिकार। – सं०

** दुरुपयोग करना। – सं०

*** दुरुपयोग का अधिकार। – सं०

**** [हाशिये पर मार्क्स की टिप्पणी :] **दार्शनिकों के लिए सम्बन्ध = विचार।** वे केवल "मनुष्य" के अपने साथ सम्बन्ध को जानते हैं, इस कारण उनके लिए तमाम वास्तविक सम्बन्ध विचार बन जाते हैं।

बनाकर रख देता है, आवश्यक रूप से सम्पत्ति सम्बन्धों के और विकास के दौरान, उस स्थिति की ओर ले जाता है जहां इन्सान के पास किसी वस्तु पर क़ानूनी हक़ तो होता है लेकिन वह उसके पास नहीं होती। उदाहरण के लिए ज़मीन के किसी टुकड़े से आय प्रतियोगिता के कारण ख़त्म हो जाती है, उस दशा में भी मालिक का उस टुकड़े पर jus utendi et abutendi के साथ क़ानूनी हक़ ज़रूर बना रहेगा लेकिन उस पर वह कुछ नहीं कर सकता; अगर उसके पास इस ज़मीन के अलावा काश्त के लिए पर्याप्त पूंजी नहीं हो तो ज़मीन के मालिक के रूप में उसके पास कुछ भी नहीं है। क़ानूनवेत्ताओं का यह भ्रम इस तथ्य पर भी प्रकाश डालता है कि हर संहिता और उनके लिए भी यह सर्वथा संयोग की बात है कि लोग अपने बीच सम्बन्ध (जैसे क़रार) करते हैं, उससे इस पर भी प्रकाश पड़ता है कि वे समझते हैं कि इन सम्बन्धों में इच्छानुसार प्रवेश किया जा [सकता है] अथवा नहीं [७२] और उनका विषय विशुद्धतः संविदाकारी पक्षों की व्यक्तिगत [मुक्त] इच्छा पर निर्भर करता है।

उद्योग तथा वाणिज्य के विकास के माध्यम से जब कभी संसर्ग के नये रूप (जैसे बीमा कम्पनियां आदि) बने हैं, क़ानून हमेशा उन्हें सम्पत्ति हासिल करने की नयी विधियों के रूप में स्थान देने के लिए बाधित हुआ है।*

[१२. सामाजिक चेतना के रूप]

श्रम-विभाजन का विज्ञान पर प्रभाव।

राज्य, क़ानून, नैतिकता आदि के सम्बन्ध में **दमन** की भूमिका।

क़ानून [में] पूंजीपतियों को अपने को ठीक इस कारण आम अभिव्यक्ति देनी होती है कि वे एक वर्ग के रूप में शासन करते हैं।

प्रकृतिविज्ञान तथा इतिहास।

राजनीति, क़ानून, विज्ञान आदि का, कला, धर्म आदि का कोई इतिहास नहीं है।**

---

*इसके बाद पांडुलिपि के अन्त में मार्क्स के हाथ से लिखी हुई टिप्पणियां हैं, उन्होंने इनका और विशदीकरण करने के प्रयोजन से लिखा था। – सं०

**[हाशिये पर मार्क्स की टिप्पणी :] प्राचीन यूनानी-रोमन राज्य में, सामन्तवाद में तथा निरंकुश राजतंत्रवाद में "सामुदायिकता" जिस रूप में प्रकट होता है, उस रूप में उससे, इस सम्बन्ध से धार्मिक अवधारणाएं ख़ास तौर पर मेल खाती हैं।

सिद्धान्तकार हर चीज को क्यों उलट कर रख देते हैं?

धर्ममतावलम्बी, क़ानूनवेत्ता, राजनीतिज्ञ।

क़ानूनवेत्ता, राजनीतिज्ञ (आम तौर पर राजनेता), नैतिकतावादी, धर्ममतावलम्बी।

एक वर्ग के अन्दर इस विचारधारात्मक अन्तर्विभाजन के संबंध में: १) **व्यवसाय श्रम-विभाजन के कारण स्वतंत्र अस्तित्व धारण करता है**; हर एक अपनी दस्तकारी को असल मानता है। उनकी दस्तकारी का स्वरूप ही ऐसा है कि वे अपनी दस्तकारी तथा यथार्थ के बीच सम्बन्ध के बारे में भ्रमों का सुगमतया शिकार बन जाते हैं। चेतना में, विधिशास्त्र तथा राजनीति आदि में सम्बन्ध संप्रत्यय बन जाते हैं; चूंकि वे इन सम्बन्धों से आगे नहीं बढ़ते, इसलिए सम्बन्धों के संप्रत्यय भी उनके दिमागों में स्थिर संप्रत्यय बन जाते हैं। उदाहरण के लिए न्यायाधीश संहिता लागू करता है, इसलिए वह क़ानून को वास्तविक, सक्रिय प्रेरक-शक्ति मान बैठता है। अपने माल के लिए आदर, क्योंकि उनके व्यवसाय का आम मामलों से सम्बन्ध होता है।

क़ानून का विचार। राज्य का विचार। **साधारण** चेतना में मामला प्रतिलोमित होता है।

धर्म आरम्भ से ही **अनुभवातीत** की चेतना होता है जो **वास्तविक** आवश्यकता उत्पन्न होती है।

यह अधिक लोकप्रिय होना चाहिए।

क़ानून, धर्म आदि के मामले में परम्परा।

[७३]* व्यक्तियों ने हमेशा अपने से आरम्भ किया तथा आरम्भ करते हैं। के सम्बन्ध उनके वास्तविक जीवन के सम्बन्ध हैं। यह कैसे होता है कि उनके

*इस अन्तिम पृष्ठ पर पाण्डुलिपि में संख्या नहीं पड़ी हुई है। उसमें इतिहास भौतिकवादी संप्रत्ययन के लेखक द्वारा प्रतिपादन की आरम्भिक णियां हैं। यहां व्यक्त विचार अध्याय के पहले भाग, अनुभाग ३ में संवर्द्धित गये हैं।—सं०

सम्बन्ध उनके ही विरुद्ध स्वतंत्र अस्तित्व ग्रहण कर लेते हैं? और यह कि उनके अपने जीवन की शक्तियां उन पर हावी हो जाती हैं?

संक्षेप में **श्रम-विभाजन**, जिसका स्तर किसी विशेष समय की उत्पादक शक्ति के विकास पर निर्भर करता है।

भू-सम्पत्ति। सामुदायिक सम्पत्ति। सामन्ती। आधुनिक।
एस्टेट सम्पत्ति, मैनुफ़ेक्चर सम्पत्ति। औद्योगिक पूंजी।

नवम्बर १८४५ तथा अगस्त १८४६ के बीच मार्क्स तथा एंगेल्स द्वारा ब्रसेल्स में लिखित।

पहली बार रूसी में 'मार्क्स और एंगेल्स का अभिलेखागार', पुस्तक १, १६२४ में प्रकाशित।

अंग्रेज़ी से अनूदित।

फ़्रेडरिक एंगेल्स

कम्युनिज़्म के सिद्धान्त[36]

प्रश्न १: कम्युनिज़्म क्या है?

उत्तर: कम्युनिज़्म सर्वहारा की मुक्ति की शर्तों का सिद्धान्त है।

प्रश्न २: सर्वहारा क्या है?

उत्तर: सर्वहारा समाज का वह वर्ग है जो अपनी आजीविका के साधन पूर्णतया तथा केवल अपने श्रम की बिक्री से हासिल करता है, किसी पूंजी से हासिल किये गये मुनाफ़े से नहीं, जिसकी भलाई और दुख, जिसकी ज़िन्दगी और मौत, जिसका पूरा अस्तित्व श्रम की मांग पर, इस कारण, अच्छे कारोबार के समय तथा बुरे कारोबार के समय की अदला-बदली पर, बेलगाम होड़ से पैदा होनेवाले उतार-चढ़ावों पर निर्भर करते हैं। संक्षेप में, सर्वहारा अथवा सर्वहारा वर्ग, उन्नीसवीं शताब्दी का श्रमजीवी वर्ग है।

प्रश्न ३: तो क्या, इसका मतलब यह हुआ कि सर्वहारा हमेशा से विद्यमान नहीं रहे हैं?

उत्तर: नहीं। ग़रीब लोग तथा श्रमजीवी वर्ग हमेशा से रहे हैं तथा श्रमजीवी वर्ग अधिकतर ग़रीब रहे हैं। परन्तु ऐसे ग़रीब, ऐसे मज़दूर, अर्थात् सर्वहारा, जो अभी-अभी चर्चित अवस्थाओं के अन्दर रहे हैं, हमेशा से उसी तरह अस्तित्वमान नहीं रहे हैं जिस तरह होड़ हमेशा से मुक्त तथा बेलगाम नहीं रही है।

प्रश्न ४: सर्वहारा का जन्म कैसे हुआ?

उत्तर: सर्वहारा उस औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप पैदा हुआ जो गत शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंगलैंड में प्रकट हुई थी और जिसकी तब से संसार के समस्त सभ्य देशों में पुनरावृत्ति होती रही है। भाप-इंजन, बुनाई की विविध मशीनों, विद्युतचालित करघों तथा बहुत बड़ी संख्या में अन्य यांत्रिक उपकरणों

के आविष्कार ने इस औद्योगिक क्रान्ति को जन्म दिया था। इन मशीनों ने, जो बहुत महंगी थीं और फलस्वरूप जिन्हें केवल बड़े पूंजीपति ही ख़रीद सकते थे, उत्पादन की तब तक विद्यमान पद्धति को बदल दिया तथा तब तक विद्यमान मज़दूरों को बेदख़ल कर दिया क्योंकि मशीनें अपने अपरिष्कृत चरखों तथा हथकरघों से काम करनेवाले मज़दूरों से अधिक सस्ते तथा बेहतर माल उत्पादित कर रही थीं। इस प्रकार इन मशीनों ने उद्योग को पूरी तरह बड़े पूंजीपतियों के हवाले कर दिया तथा मज़दूरों की अत्यल्प सम्पत्ति (औज़ार, हथकरघे आदि) को निकम्मा बना दिया, इससे पूंजीपति शीघ्र हर चीज़ के मालिक बन गये और मज़दूरों के पास कुछ भी नहीं रह गया। इस प्रकार वस्त्र उत्पादन के क्षेत्र में फ़ैक्टरी प्रणाली चालू की गयी।—मशीनों तथा फ़ैक्टरी प्रणाली को उत्प्रेरणा मिलने की ही देर थी कि उसने उद्योग की तमाम अन्य शाखाओं पर, विशेष रूप से कपड़े पर छपाई तथा पुस्तकें मुद्रित करनेवाले व्यवसायों, मिट्टी के बर्तन बनाने के धंधे और लोहे की चीज़ें बनानेवाले उद्योग पर तेज़ी से धावा बोल दिया। श्रम अनेकानेक मज़दूरों के बीच अधिकाधिक बंटता चला गया, इस कारण जो मज़दूर पहले पूरी वस्तु तैयार करता था, वह अब वस्तु का मात्र एक भाग बनाने लगा। इस श्रम-विभाजन ने माल को अधिक शीघ्रतापूर्वक और इस कारण अधिक सस्ते दामों पर मुहैया करना सम्भव बना दिया। उसने हर मज़दूर के श्रम को बहुत ही सरल, निरन्तर दुहराती रहनेवाली यंत्रवत् क्रिया की स्थिति में पहुंचा दिया, जिसे मशीन उतनी ही अच्छी तरह ही नहीं वरन् उससे कहीं बेहतर ढंग से कर सकती थी। इस प्रकार उद्योग की ये तमाम शाखाएं बुनाई तथा कताई उद्योगों की ही तरह एक-एक कर भाप, मशीनों तथा फ़ैक्टरी प्रणाली के आधिपत्य के अंतर्गत होती चली गयीं। परन्तु इससे वे सब की सब बड़े पूंजीपतियों के हाथों में पहुंच गयीं, और यहां भी मज़दूर स्वतंत्रता के अन्तिम अंशों से वंचित कर दिये गये। वास्तविक मैनुफ़ेक्चर के साथ-साथ धीरे-धीरे दस्तकारियां भी उसी तरह अधिकाधिक मात्रा में फ़ैक्टरी प्रणाली के आधिपत्य के अन्तर्गत होती चली गयीं क्योंकि यहां भी बड़े पूंजीपतियों ने बड़े-बड़े वर्कशाप बनाकर, जिनमें बहुत-सारा ख़र्चा बच जाता था तथा मज़दूरों के बीच श्रम का सुविधापूर्वक विभाजन किया जा सकता था, छोटे कारीगरों को बाहर धकेल दिया। इस तरह परिणाम यह हुआ है कि तमाम सभ्य देशों में श्रम की लगभग सभी शाखाएं फ़ैक्टरी प्रणाली के अन्तर्गत संचालित होती हैं, और लगभग इन तमाम शाखाओं में से दस्तकारी तथा मैनुफ़ेक्चर को बड़े पैमाने के

उद्योग ने बाहर धकेल दिया है।—फलस्वरूप पहले के मध्य वर्ग, ख़ास तौर पर छोटे दर्जे के कारीगरों को बरबादी की ओर पहुंचा दिया गया है, मजदूरों की पहले की स्थिति बिलकुल बदल गयी है, तथा दो नये वर्ग, जो धीरे-धीरे तमाम अन्य वर्गों को अपने अन्दर समा रहे हैं, अस्तित्व में आये हैं, अर्थात्—

१. बड़े पूंजीपतियों का वर्ग, जो तमाम सभ्य देशों में अब जीवन-निर्वाह के सारे साधनों तथा कच्चे माल और औज़ारों (मशीनों, फ़ैक्टरियों आदि) का, जिनकी जीवन-निर्वाह के इन साधनों के उत्पादन के लिए जरूरत पड़ती है, प्रायः पूर्णतया स्वामी हैं। यह वर्ग है पूंजीपति वर्ग अथवा पूंजीपति।

२. उन लोगों का वर्ग जिनके पास बिल्कुल कुछ नहीं है, जो इस कारण पूंजीपतियों को अपना श्रम बेचने के लिए बाध्य होते हैं ताकि बदले में जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधन हासिल कर सकें। इस वर्ग को सर्वहारा वर्ग अथवा सर्वहारा के नाम से पुकारा जाता है।

प्रश्न ५: सर्वहाराओं के श्रम की पूंजीपतियों के हाथ बिक्री किन परिस्थितियों में होती है?

उत्तर: श्रम किसी भी दूसरे माल की भांति एक माल है तथा उसका दाम भी अन्य मालों के दाम की ही तरह उन्हीं क़ानूनों से निर्धारित होता है। बड़े पैमाने के उद्योग अथवा मुक्त होड़ के आधिपत्य के अन्तर्गत—जैसा कि हम देखेंगे, यह एक ही चीज है—किसी माल का दाम औसतन हमेशा उस माल की उत्पादन-लागत के बराबर होता है। इसलिए श्रम का दाम श्रम की उत्पादन-लागत के बराबर है। श्रम की उत्पादन-लागत जीवन-निर्वाह के साधनों की ठीक वह राशि है जिसकी जरूरत इसलिए पड़ती है कि मजदूर को काम करने योग्य रखा जा सके और मजदूर वर्ग को मरने से रोका जा सके। मजदूर को अपने श्रम के बदले उससे अधिक नहीं मिलेगा जितना उस उद्देश्य के लिए आवश्यक होता है; श्रम का दाम अथवा मजदूरी न्यूनतम, आजीविका बनाये रखने योग्य न्यूनतम होगा। चूंकि कारोबार की हालत कभी बिगड़ जाती है तथा कभी बेहतर हो जाती है, इसलिए मजदूर को कभी कम, कभी ज्यादा मिलता है, ठीक उसी तरह जिस तरह कारख़ानेदार को अपने माल के लिए कभी ज्यादा और कभी कम मिलता है। परन्तु वक़्त चाहे अच्छा हो या बुरा, कारख़ानेदार को औसतन अपने माल के लिए उसकी उत्पादन-लागत से जिस तरह न तो अधिक मिलता है और न कम, उसी तरह मजदूर को उस न्यूनतम से न तो अधिक मिलेगा और न कम। श्रम की तमाम शाखाओं को बड़े पैमाने का उद्योग ज्यों-ज्यों

अधिकाधिक अपने क़ब्ज़े में करता जायेगा, मज़दूरी का यह आर्थिक नियम उतनी ही कड़ाई से लागू होगा।

प्रश्न ६: औद्योगिक क्रान्ति से पहले कौनसे श्रमजीवी वर्ग विद्यमान थे?

उत्तर: सामाजिक विकास की भिन्न-भिन्न मंज़िलों के अनुसार श्रमजीवी वर्ग भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में रहते थे और सम्पत्तिधारी तथा सत्ताधारी वर्गों से उनके सम्बन्ध भिन्न-भिन्न प्रकार के होते थे। प्राचीन काल में मेहनतकश लोग अपने मालिकों के **दास** थे, ठीक उसी तरह जिस तरह वे कई पिछड़े हुए देशों तथा संयुक्त राज्य अमरीका तक के दक्षिणी भाग में आज भी हैं। मध्य युग में वे भूमि के मालिक अभिजात वर्ग के **भू-दास** थे, ठीक उसी तरह जिस तरह वे आज भी हंगरी, पोलैंड तथा रूस में हैं। मध्य युग में तथा औद्योगिक क्रान्ति होने तक शहरों में दस्तकार भी थे जो निम्नपूंजीपति उस्तादों की नौकरी करते थे। मैनुफ़ैक्चर के विकास के साथ-साथ धीरे-धीरे मैनुफ़ैक्चर मज़दूरों का उद्भव होने लगा जिन्हें अब कमोबेश बड़े पूंजीपतियों ने काम पर रख लिया था।

प्रश्न ७: सर्वहारा दास से किस तरह भिन्न होता है?

उत्तर: दास सीधे-सीधे बेच दिया जाता है, सर्वहारा को रोज़-रोज़ घड़ी-घड़ी अपने को बेचना पड़ता है। हर दास के लिये, जो **एक ही** मालिक की सम्पत्ति होता है, और मालिक के हितार्थ ही उसके जीवन-निर्वाह की—वह चाहे कितना ही घटिया क्यों न हो—गारंटी रहती है; हर सर्वहारा के लिए, जो पूरे पूंजीपति **वर्ग** की सम्पत्ति होता है और जिसका श्रम केवल उसी समय ख़रीदा जाता है जब किसी को उसकी आवश्यकता पड़ती है, गारंटीशुदा जीवन-निर्वाह की व्यवस्था नहीं होती। सर्वहारा के लिए जीवन-निर्वाह की केवल समग्र **वर्ग** के रूप में गारंटी की जाती है। दास होड़ से बाहर रहता है, सर्वहारा उसके अन्दर रहता है और उसके सारे उतार-चढ़ाव को अनुभव करता है। दास को एक वस्तु माना जाता है, नागरिक समाज का सदस्य नहीं। सर्वहारा को व्यक्ति के रूप में, नागरिक समाज के सदस्य के रूप में देखा जाता है। इसलिए दास सर्वहारा से बेहतर जीवन बिता सकता है, परन्तु सर्वहारा समाज के विकास की उच्चतर मंज़िल का मनुष्य होता है और स्वयं दास से उच्चतर मंज़िल में होता है। दास निजी स्वामित्व के तमाम सम्बन्धों में केवल दासत्व का सम्बन्ध भंग कर ही अपने को मुक्त करता है और इस प्रकार स्वयं सर्वहारा बन जाता है; सर्वहारा सामान्य रूप से निजी स्वामित्व को मिटाकर ही अपने को मुक्त कर सकता है।

प्रश्न ८: सर्वहारा भू-दास से किस तरह भिन्न होता है?

उत्तर: भू-दास के पास उत्पादन के औज़ार और ज़मीन का एक टुकड़ा होता है, जिसके बदले वह उपज का एक हिस्सा दे देता है या कुछ काम करता है। सर्वहारा उत्पादन के उन औज़ारों से काम करता है जो दूसरे के होते हैं, वह इस दूसरे के लिए काम करता है जिसके बदले आमदनी का एक हिस्सा पाता है। भू-दास देता है, सर्वहारा को दिया जाता है। भू-दास के लिए जीवन-निर्वाह की गारंटी होती है, सर्वहारा के लिए नहीं। भू-दास होड़ से बाहर होता है, सर्वहारा उसके अन्दर। भू-दास या तो शहर भागकर और वहां दस्तकार बनकर अपने को स्वतंत्र करता है अथवा अपने मालिक को श्रम या उपज देने के बदले धन देकर तथा इस तरह मुक्त पट्टेदार बनकर, अथवा सामन्ती मालिक को भगाकर तथा स्वयं मालिक बनकर, संक्षेप में, इस या उस तरह सम्पत्तिधारी वर्ग तथा होड़ में शामिल होकर अपने को स्वतंत्र करता है। सर्वहारा होड़, निजी स्वामित्व तथा समस्त वर्ग विभेद मिटाकर अपने को स्वतंत्र करता है।

प्रश्न ९: सर्वहारा दस्तकार से किस तरह भिन्न होता है?*

प्रश्न १०: सर्वहारा मैनुफ़ेक्चर मज़दूर से किस तरह भिन्न होता है?

उत्तर: सोलहवीं सदी से लेकर अठारहवीं सदी तक के मैनुफ़ेक्चर मज़दूर लगभग सभी जगह उस समय भी उत्पादन के अपने औज़ार, अपने करघों, घरेलू चरखों तथा ज़मीन के उस छोटे टुकड़े का स्वामी हुआ करता था जिस पर वह फ़ुर्सत के वक़्त काश्त किया करता था। सर्वहारा के पास इनमें से कुछ भी नहीं है। मैनुफ़ेक्चर मज़दूर प्रायः देहात में अपने भू-स्वामी या अपने मालिक के साथ पितृसत्तात्मक सम्बन्धों के अन्तर्गत रहता है; सर्वहारा अधिकतर बड़े शहरों में बसता है और अपने मालिक के साथ उसका सम्बन्ध विशुद्ध रूप से मुद्रा सम्बन्ध हुआ करता है। मैनुफ़ेक्चर मज़दूर, जिसे बड़े पैमाने का उद्योग पितृसत्तात्मक सम्बन्धों से बाहर ले आता है, वह सम्पत्ति खो बैठता है जिस पर उस समय तक उसका स्वामित्व होता था और इस तरह वह स्वयं सर्वहारा बन जाता है।

प्रश्न ११: औद्योगिक क्रान्ति के तथा समाज के पूंजीपतियों तथा सर्वहाराओं में बंट जाने के तात्कालिक परिणाम क्या थे?

उत्तर: **सबसे पहले**, मशीनी श्रम के कारण औद्योगिक वस्तुओं की क़ीमतें चूंकि निरन्तर घटती जा रही थीं, मैनुफ़ेक्चर या शारीरिक श्रम पर आधारित

*पाण्डुलिपि में एंगेल्स ने उत्तर देने के लिए खाली जगह छोड़ दी है।—सं०

उद्योग की पुरानी प्रणाली संसार के तमाम देशों में पूर्णतया नष्ट हो गयी। समस्त अर्द्ध-बर्बर देशों को, जो अभी तक ऐतिहासिक विकास से कमोबेश अलग-थलग थे तथा जिनका उद्योग अभी तक मैनुफ़ेक्चर पर आधारित था, इस प्रकार अपने अलगाव से जबर्दस्ती बाहर ले आया गया। उन्होंने अंग्रेज़ों का सस्ता माल ख़रीदा तथा अपने मैनुफ़ेक्चर मजदूरों को नष्ट होने दिया। इससे हुआ यह कि जो देश, उदाहरण के लिए भारत, सहस्राब्दियों तक गतिरोध के स्थिति में रहे, उनका ऊपर से नीचे तक क्रान्तिकरण हो गया, और चीन तक अब क्रान्ति की ओर अग्रसर हो रहा है। इस तरह हुआ यह कि आज इंगलैंड में जिस मशीन का आविष्कार होता है, वह एक साल के अन्दर चीन में लाखों-लाख मजदूरों की रोज़ी-रोटी छीन लेती है। इस तरह बड़े पैमाने का उद्योग पृथ्वी के तमाम जनगण को एक दूसरे के साथ सम्बन्धों के अन्तर्गत ले आया है, उसने तमाम छोटी स्थानीय मंडियों को बटोरकर एक विश्व मंडी बना डाली है, सभ्यता तथा प्रगति के लिए सर्वत्र पथ प्रशस्त किया है और स्थिति ऐसे बिन्दु पर पहुंच गयी है कि सभ्य देशों में होनेवाली हर घटना तमाम अन्य देशों को प्रभावित करती है। इस प्रकार यदि इंगलैंड या फ़ांस के मजदूर अब अपने को स्वतंत्र कर दें तो इससे अन्य सभी देशों में क्रान्तियों को प्रेरणा मिलेगी जिनके फलस्वरूप देर-सबेर वहां भी मजदूरों की मुक्ति हो जायेगी।

दूसरे, बड़े पैमाने के उद्योग ने जहां कहीं मैनुफ़ेक्चर की जगह ली है, वहां औद्योगिक क्रान्ति ने पूंजीपति वर्ग, उसकी दौलत तथा उसकी शक्ति का अधिकतम मात्रा में विकास किया तथा उसे देश में प्रथम वर्ग बना दिया। परिणामस्वरूप जहां कहीं ऐसा हुआ, पूंजीपति वर्ग ने राजनीतिक सत्ता अपने हाथों में ले ली तथा तब तक के सत्ताधारी वर्गों को – अभिजात वर्ग, शिल्प-संघ के बर्गरों तथा इन दोनों का प्रतिनिधित्व करनेवाले निरंकुश राजतंत्र को – बाहर खदेड़ दिया। पूंजीपति वर्ग ने भू-सम्पत्ति के उत्तराधिकार या उसकी बिक्री पर पाबन्दी मिटाकर तथा अभिजात वर्ग के विशेषाधिकार मिटाकर अभिजात वर्ग, सामन्त वर्ग की शक्ति को नष्ट कर दिया। पूंजीपति वर्ग ने सारे शिल्प-संघों तथा दस्तकारी विशेषाधिकारों को मिटाकर शिल्प-संघीय बर्गरों की ताक़त ख़त्म कर दी। उसने इन दों की जगह मुक्त प्रतियोगिता को रखा, यानी समाज की एक ऐसी प्रणाली रखी जिसमें हर एक को उद्योग की किसी भी शाखा में संलग्न होने का अधिकार रहता है और जहां आवश्यक पूंजी के अभाव को छोड़कर और कोई चीज़ उसके लिए बाधक नहीं बन सकती। इसलिए मुक्त होड़ का प्रचलन इस बात की

सार्वजनिक घोषणा है कि समाज के सदस्य अब से केवल उसी हद तक असमान हैं जिस हद तक उनकी पूंजी असमान है, कि पूंजी निर्णायक शक्ति है और इस कारण पूंजीपति, बुर्जुआ समाज का प्रथम वर्ग बन गया है। परन्तु मुक्त होड़ बड़े पैमाने के उद्योग के आरम्भिक काल में ही आवश्यक है क्योंकि समाज की केवल यही एकमात्र अवस्था है जिसमें बड़े पैमाने का उद्योग पनप सकता है।—पूंजीपति वर्ग इस तरह सामन्तों तथा शिल्प-संघीय बर्गरों की सामाजिक शक्ति ज्योंही नष्ट कर डालता है, वह उनकी राजनीतिक शक्ति भी नष्ट कर देता है। समाज में प्रथम वर्ग बनने के बाद पूंजीपति वर्ग ने अपने को राजनीतिक क्षेत्र में भी प्रथम वर्ग घोषित कर दिया। यह काम उसने प्रतिनिधिमूलक प्रणाली स्थापित करके किया जो क़ानून के सामने पूंजीवादी समानता तथा मुक्त होड़ की क़ानूनी मान्यता पर आधारित है और जिसे यूरोपीय देशों में संवैधानिक राजतंत्र के रूप में प्रचलित किया गया था। इन संवैधानिक राजतंत्रों के अन्तर्गत केवल वे लोग ही निर्वाचक होते हैं जिनके पास कुछ मात्रा में पूंजी होती है, अर्थात् जो पूंजीपति होते हैं; ये पूंजीपति निर्वाचक प्रतिनिधि चुनते हैं और ये पूंजीवादी प्रतिनिधि आपूर्ति से इन्कार करने के अधिकार के बल पर पूंजीवादी सरकार चुना करते हैं।

तीसरे, औद्योगिक क्रान्ति ने सर्वहारा वर्ग का उसी हद तक निर्माण किया जिस हद तक उसने पूजीपति वर्ग का निर्माण किया। पूंजीपति वर्ग जिस हिसाब से दौलत हासिल करता गया, सर्वहाराओं की तादाद भी उसी हिसाब से बढ़ती गयी। चूंकि सर्वहाराओं को केवल पूंजी ही काम पर लगा सकती है और चूंकि पूंजी तभी बढ़ सकती है जब वह मज़दूरों को रोज़गार पर रखे, सर्वहारा वर्ग की वृद्धि पूंजी की वृद्धि के साथ बिल्कुल क़दम से क़दम मिलाती है। साथ ही वह बड़े शहरों में, जहां उद्योग को सबसे अधिक लाभप्रद ढंग से चलाया जा सकता है, पूंजीपतियों तथा सर्वहाराओं को जमा कर देती है, और एक ही जगह पर लोगों के बहुत बड़े समूह के इस जमाव से सर्वहारा अपनी शक्ति से अवगत हो जाते हैं। इसके अलावा इसका जितना अधिक विकास होता है, जितनी ज्यादा मशीनों का, जो शारीरिक श्रम का ख़ात्मा करती हैं, आविष्कार होता है, बड़े पैमाने का उद्योग, जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, मज़दूरी को उतना ही ज्यादा संकुचित कर न्यूनतम बिन्दु पर ले आता है तथा इस प्रकार सर्वहारा की परिस्थितियों को असहनीय बना देता है। इस प्रकार एक ओर सर्वहारा के बढ़ते हुए असन्तोष तथा दूसरी ओर उसकी बढ़ती हुई शक्ति के ज़रिये औद्योगिक क्रान्ति सर्वहारा द्वारा सामाजिक क्रान्ति किये जाने का पथ प्रशस्त करती है।

प्रश्न १२: औद्योगिक क्रान्ति के और क्या परिणाम निकले?

उत्तर: भाप इंजन तथा अन्य मशीनों के रूप में बड़े पैमाने के उद्योग ने ऐसे साधनों का निर्माण किया जिनसे अत्यल्प समय में और मामूली ख़र्चे पर औद्योगिक उत्पादन को असीमित रूप से बढ़ाना सम्भव हुआ। मुक्त होड़ ने, जो बड़े पैमाने के उद्योग का अपरिहार्य फल है, उत्पादन की अनुकूल स्थितियों की बदौलत शीघ्र अतीव गहन स्वरूप ग्रहण कर डाला; पूंजीपति बहुत बड़ी तादाद में उद्योग में घुसे। और उससे बहुत अधिक पैदा होने लगा जितना इस्तेमाल हो सकता था। फल यह हुआ कि तैयार माल बेचा नहीं जा सका और तथाकथित व्यापार संकट शुरू हुआ। कारख़ाने ठप्प हो गये, उनके मालिक दिवालिया हो गये तथा मज़दूरों को रोज़ी-रोटी से हाथ धोना पड़ा। भारी तंगहाली शुरू हुई। कुछ समय बाद अतिरिक्त माल बिक गया, कारख़ाने फिर चालू हो गये, मजदूरी फिर बढ़ गयी, और धीरे-धीरे कारोबार बढ़ते हुए पहले से कहीं तेज़ हो गया। लेकिन बहुत अधिक समय नहीं गुज़रा था कि बहुत ही अधिक परिमाण में माल उत्पादित होने लगा, एक और संकट शुरू हुआ और उसने भी पूर्ववर्ती संकट का रास्ता पकड़ा। इस प्रकार इस शताब्दी के आरम्भ से उद्योग की हालत बराबर समृद्धि के दौरों तथा संकट के दौरों के बीच झूलती रही; और इस तरह का संकट पांच-सात साल तक के प्रायः नियमित अन्तरालों में पैदा होता रहा, वह अपने साथ मज़दूरों के लिए असहनीय दुर्दशा और क्रान्तिकारी उफान, तथा पूरी मौजूदा प्रणाली के लिए सबसे बड़ा ख़तरा लाता गया।

प्रश्न १३: नियमित रूप से सामने आनेवाले इन व्यापारिक संकटों से क्या निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं?

उत्तर: पहला, अपने विकास की आरम्भिक मंज़िलों में बड़े पैमाने के उद्योग ने यद्यपि स्वयं मुक्त होड़ को जन्म दिया, पर अब मुक्त होड़ की परिधि उसके लिए छोटी पड़ गयी है; होड़ तथा सामान्यतया अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा किया जानेवाला औद्योगिक उत्पादन का काम बड़े पैमाने के उद्योग के पांवों के लिए बेड़ियां बन गये हैं, जिन्हें उसे तोड़ना है तथा जिन्हें वह तोड़ेगा; बड़े पैमाने का उद्योग जब तक वर्तमान आधार पर संचालित होता रहेगा, वह हर सात साल बाद दुहरानेवाली आम अव्यवस्था के बीच से गुज़रते हुए ही ज़िंदा रह सकता है, जो हर बार सर्वहाराओं को कष्टों के कुंड में झोंककर ही नहीं वरन् बहुत बड़ी तादाद में पूंजीपतियों को भी बरबाद कर पूरी सभ्यता को खटाई में डालता है; इसलिए या तो बड़े पैमाने के उद्योग का परित्याग करना होगा जो

सर्वथा असम्भव है, अथवा यह मानना होगा कि वह समाज का एक बिल्कुल नया संगठन सर्वथा आवश्यक बनाता है जिसमें एक दूसरे से होड़ करनेवाले पृथक्-पृथक् कारख़ानेदार नहीं वरन् पूरा समाज एक निश्चित योजना के अनुसार तथा सब की आवश्यकताओं के अनुसार औद्योगिक उत्पादन का संचालन करे।

दूसरा, बड़े पमाने का उद्योग तथा उस द्वारा सम्भव बनाया जानेवाला उत्पादन का असीम विकास ऐसी सामाजिक व्यवस्था को जन्म दे सकते हैं जिसमें जीवन की सभी आवश्यक वस्तुओं का इतना बड़ा उत्पादन होगा कि समाज का हर सदस्य अपनी सारी शक्तियों तथा योग्यताओं का पूर्णतम स्वतंत्रता के साथ विकास तथा उपयोग करने में समर्थ होगा। इस तरह बड़े पैमाने के उद्योग का ठीक वह गुण, जो आज के समाज में सारी ग़रीबी तथा सारे व्यापारिक संकटों को जन्म देता है, यही वह गुण है जो भिन्न सामाजिक संगठन में उस दरिद्रता को तथा इन विनाशकारी उतार-चढ़ावों को नष्ट कर देगा।

अतः यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है:

१. अब से इन सारी बुराइयों के लिए उस सामाजिक व्यवस्था को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है जो विद्यमान परिस्थितियों से मेल नहीं खाती;

२. इन बुराइयों को एक नयी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के माध्यम से पूरी तरह मिटाने के साधन उपलब्ध हैं।

प्रश्न १४: यह नयी सामाजिक व्यवस्था किस तरह की होनी चाहिए?

उत्तर: सबसे पहले नयी सामाजिक व्यवस्था आम तौर पर उद्योग तथा उत्पादन की तमाम शाखाओं को चलाने का काम अपने बीच होड़ करनेवाले अलग-अलग लोगों के हाथों से छीनकर अपने पास ले लेगी और फिर समूचे रूप से समाज की ओर से, अर्थात् एक सामाजिक योजना के अनुसार तथा समाज के तमाम सदस्यों की शिरकत के साथ उत्पादन की इन शाखाओं का संचालन करेगी। इस तरह वह होड़ का अन्त कर देगी तथा उसके स्थान पर साहचर्य की प्रतिष्ठापना करेगी। चूंकि अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा उद्योग का संचालन अवश्यम्भावी रूप से निजी स्वामित्व की ओर ले जाता है और चूंकि होड़ उस तौर-तरीक़े के अलावा और कुछ नहीं है जिससे उद्योग अलग-अलग निजी सम्पत्तिधारियों द्वारा संचालित किया जाता है, इसीलिए निजी स्वामित्व को उद्योग के वैयक्तिक संचालन तथा होड़ से पृथक् नहीं किया जा सकता। इस कारण निजी स्वामित्व को भी मिटाना होगा तथा उसके स्थान पर उत्पादन के औज़ारों का समान उपयोग होगा तथा तमाम वस्तुओं का वितरण सबकी सहमति से

होगा, अथवा तथाकथित वस्तुओं की साझेदारी होगी। निजी स्वामित्व का उन्मूलन समूची सामाजिक व्यवस्था के रूपान्तरण की, जो उद्योग के विकास से अनिवार्यतः जन्म लेता है, सबसे अधिक संक्षिप्त तथा सबसे अधिक सामान्यीकृत अभिव्यक्ति है, इसलिए यह उचित ही है कि यह कम्युनिस्टों द्वारा पेश की गयी मुख्य मांग है।

प्रश्न १५ : तो क्या इसका अर्थ यह हुआ कि निजी स्वामित्व का पहले उन्मूलन असम्भव था?

उत्तर : बिल्कुल ठीक। सामाजिक व्यवस्था में प्रत्येक परिवर्तन, स्वामित्व-सम्बन्धों में प्रत्येक क्रान्ति नयी उत्पादक शक्तियों के, जो पुराने स्वामित्व-सम्बन्धों से मेल नहीं खातीं, सृजन का अवश्यम्भावी परिणाम है। स्वयं निजी स्वामित्व का इसी प्रकार उद्भव हुआ। बात यह है कि निजी स्वामित्व हमेशा से तो विद्यमान नहीं है; मध्य युग के अन्त के समय, जब मैनुफ़ेक्चर के रूप में उत्पादन की नयी प्रणाली चालू हुई, जिसका उस समय मौजूद सामन्ती तथा शिल्प-संघीय स्वामित्व से मेल नहीं था, मैनुफ़ेक्चर ने, जो पुराने स्वामित्व-सम्बन्धों से बाहर फैल गया था, स्वामित्व के एक नये रूप का – निजी स्वामित्व का – सृजन किया। मैनुफ़ेक्चर और बड़े पैमाने के उद्योग की पहली मंज़िल के दौरान निजी स्वामित्व के अलावा स्वामित्व का और कोई रूप सम्भव ही नहीं था, निजी स्वामित्व की नींव पर आधारित व्यवस्था के अलावा समाज की और कोई व्यवस्था नहीं हो सकती थी। जब तक उत्पादन इतने पर्याप्त रूप में नहीं होता कि सब के लिए केवल आपूर्ति ही नहीं, बल्कि सामाजिक पूंजी की वृद्धि के लिए तथा उत्पादक शक्तियों के और आगे विकास के लिए भी वस्तुएं बेशी मात्रा में मुहैया की जा सकें, तब तक समाज की उत्पादक शक्तियों पर शासन करनेवाला एक प्रभुताशाली वर्ग तथा एक ग़रीब, उत्पीड़ित वर्ग हमेशा बने रहेंगे। ये वर्ग किस तरह बनते हैं, यह उत्पादन के विकास की मंज़िल पर निर्भर करेगा। मध्य युग में, जो कृषि पर आश्रित था, हमें भू-स्वामी तथा भू-दास मिलते हैं; उत्तर मध्य युग के शहर हमारे सामने शिल्प-संघ के उस्ताद-कारीगर, उसके शागिर्द तथा दिहाड़ी पर काम करनेवाले मज़दूर प्रस्तुत करते हैं; सत्तरहवीं शताब्दी में मैनुफ़ेक्चरर तथा मैनुफ़ेक्चर मज़दूर; उन्नीसवीं शताब्दी में बड़े कारख़ानेदार तथा सर्वहारा सामने आते हैं। यह स्पष्ट है कि उत्पादक शक्तियां अभी तक इतने व्यापक रूप से विकसित नहीं हो पायी थीं कि वे सब के लिए काफ़ी पैदा कर पातीं और निजी स्वामित्व को इन उत्पादक शक्तियों के लिए बेड़ियां, अवरोध बना सकतीं। परन्तु

अब, जबकि बड़े पैमाने के उद्योग के विकास ने **प्रथमतया** पूंजी तथा उत्पादक शक्तियों का अभूतपूर्व पैमाने पर सृजन कर दिया है तथा इन उत्पादक शक्तियों को अत्यल्प समय में अनवरत रूप से बढ़ानेवाले साधन विद्यमान हैं; जबकि **द्वितीयतः** ये उत्पादक शक्तियां चन्द पूंजीपतियों के हाथों में संकेन्द्रित हैं और उधर बहुत बड़ा जन-समुदाय अधिकाधिक संख्या में सर्वहारा की क़तारों में पहुंचता जा रहा है और उसकी हालत उसी मात्रा में अधिकाधिक दयनीय तथा असह्य बनती जा रही है जिस मात्रा में पूंजीपति वर्ग की दौलत बढ़ती जाती है; जबकि **तृतीयतः** ये शक्तिशाली तथा सुगमतया बढ़नेवाली उत्पादक शक्तियां निजी स्वामित्व तथा पूंजीपति वर्ग से इतनी अधिक बढ़ चुकी हैं कि वे सामाजिक व्यवस्था के अन्दर प्रचण्ड उथल-पुथल पैदा कर रही हैं, – निजी स्वामित्व को मिटाना सम्भव ही नहीं, बल्कि नितान्त अनिवार्य भी हो गया है।

प्रश्न १६: क्या निजी स्वामित्व को शान्तिपूर्ण उपायों से मिटाना सम्भव होगा?

उत्तर: वांछनीय तो यही है और कम्युनिस्ट आखिरी लोग होंगे जो इसका विरोध करेंगे। कम्युनिस्ट बहुत अच्छी तरह जानते हैं कि सारे षड्यंत्र निरर्थक ही नहीं, हानिप्रद तक होते हैं। वे बहुत अच्छी तरह जानते हैं कि क्रान्तियां जानबूझकर और मनमाने ढंग से नहीं रची जातीं, वे तो सर्वत्र तथा हमेशा उन परिस्थितियों का अवश्यम्भावी परिणाम थीं जो अलग-अलग पार्टियों तथा पूरे वर्गों की इच्छा तथा नेतृत्व से बाहर थीं। परन्तु वे यह भी अनुभव करते हैं कि लगभग हर सभ्य देश में सर्वहारा वर्ग का विकास बलपूर्वक कुचल दिया जाता है तथा कम्युनिस्टों के विरोधी इस तरह क्रान्ति को बढ़ावा देने का हर तरह काम करते हैं। यदि उत्पीड़ित सर्वहारा वर्ग अन्ततः क्रान्ति के लिए उत्प्रेरित है तो हम कम्युनिस्ट तब सर्वहाराओं के ध्येय की रक्षा उसी तरह करनी से करेंगे जिस तरह इस समय कथनी से करते हैं।

प्रश्न १७: क्या निजी स्वामित्व को एक ही झटके में मिटाना सम्भव है?

उत्तर: नहीं, यह उसी तरह असम्भव है जिस तरह **एक ही झटके में** मौजूदा उत्पादक शक्तियों को उतनी मात्रा में नहीं बढ़ाया जा सकता जो कम्यून का निर्माण करने के लिए आवश्यक होती है। इसलिए सर्वहारा क्रान्ति, जो सारी सम्भावनाओं को देखते हुए समीप आती जा रही है, मौजूदा समाज को धीरे-धीरे ही रूपान्तरित कर सकेगी और वह निजी स्वामित्व को तभी मिटा सकेगी जब उत्पादन के साधनों का आवश्यक परिमाण में निर्माण हो जायेगा।

प्रश्न १८ : इस क्रान्ति का विकास मार्ग कैसा होगा?

उत्तर : पहले तो वह एक **जनवादी व्यवस्था** को और इस प्रकार प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सर्वहारा के राजनीतिक शासन को प्रतिष्ठापित करेगी। प्रत्यक्ष रूप में इंगलैंड में, जहां सर्वहारा इस समय भी आबादी की बहुसंख्या है। परोक्ष रूप से फ्रांस तथा जर्मनी में जहां अधिकांश सर्वहाराओं के अतिरिक्त ऐसे छोटे किसान तथा पूंजीपति हैं जिनका इस समय सर्वहाराकरण हो रहा है, और जो अपने राजनीतिक हितों में सर्वहारा पर अधिकाधिक आश्रित होते जा रहे हैं और इसलिए जिन्हें शीघ्र सर्वहारा की मांगों के आगे झुकना होगा। शायद इसके लिए दूसरा संघर्ष करना पड़ेगा जिसका समापन सर्वहारा वर्ग की विजय के रूप में ही होगा।

यदि जनवाद को सीधे निजी स्वामित्व पर प्रहार करने तथा सर्वहारा का अस्तित्व सुनिश्चित करने के लिए कार्रवाइयां सम्पन्न करने के साधन के रूप में इस्तेमाल नहीं किया जाता तो वह सर्वहारा के लिए बिल्कुल बेकार होगा। इन कार्रवाइयों में, जो इस समय भी विद्यमान सम्बन्धों के परिणाम हैं, मुख्य निम्नलिखित हैं–

१. वर्द्धमान आयकरों, ऊंचे उत्तराधिकार करों, सगोत्रीय वंशानुक्रम (भाई, भतीजे आदि) के उत्तराधिकार के उन्मूलन, अनिवार्य ऋण आदि साधनों से निजी स्वामित्व को सीमित करना।

२. अंशतः राजकीय उद्योग की ओर से होड़ के ज़रिये तथा अंशतः करेंसी नोटों में मुआवज़े की अदायगी के ज़रिये भू-स्वामियों, कारख़ानेदारों, रेलों और जहाज़ों के स्वामियों की सम्पत्ति को धीरे-धीरे छीन लेना।

३. बहुसंख्यक जनता के ख़िलाफ़ विद्रोह करनेवालों तथा उत्प्रवासियों की सम्पत्ति छीन लेना।

४. राष्ट्रीय जागीरों में, राष्ट्रीय कारख़ानों तथा वर्कशापों में सर्वहाराओं के श्रम या व्यवसाय का संगठन करना तथा इस प्रकार स्वयं मज़दूरों के बीच होनेवाली होड़ का अन्त कर देना तथा जब तक कारख़ानेदार मौजूद रहते हैं, तब तक उन्हें उतनी ही ऊंची मज़दूरी देने के लिए बाध्य करना जितनी राज्य देता है।

५. निजी स्वामित्व का पूर्ण उन्मूलन होने तक समाज के तमाम सदस्यों के लिए काम करने की समान अनिवार्यता। औद्योगिक सेनाओं का गठन, विशेष रूप से कृषि के लिए।

६. राजकीय पूंजी वाले राष्ट्रीय बैंक के माध्यम से तथा समस्त निजी बैंकों

को बन्द कर तथा बैंकपतियों को कुचलकर ऋण तथा बैंक कार्यप्रणाली का राज्य के हाथों में संकेन्द्रण।

७. जिस अनुपात से राष्ट्र के पास मौजूद पूंजी की मात्रा तथा श्रमिकों की संख्या बढ़ती है, उसी अनुपात से राष्ट्रीय कल-कारख़ानों, वर्कशापों, रेलों और जलपोतों की संख्या में वृद्धि, सारी बिना जोती ज़मीन की काश्त तथा पहले से जोती ज़मीन का सुधार।

८. तमाम बच्चों को, ज्योंही वे इतने बड़े हो जायें कि मां के लिए उनकी देखभाल करने की ज़रूरत न रहे, राष्ट्रीय संस्थानों में तथा राष्ट्रीय ख़र्च पर शिक्षा। शिक्षा उत्पादन से जुड़ी हो।

९. उद्योग और साथ ही कृषि में काम करनेवाले नागरिकों के कम्यूनों के लिए राष्ट्रीय जागीरों पर समान आवासगृहों के रूप में बड़े-बड़े प्रासादों का निर्माण तथा शहरी और देहाती जीवन के लाभों को इस तरह मिलाना कि नागरिकों को उनमें से किसी एक का इकतरफ़ापन तथा असुविधाएं न झेलनी पड़ें।

१०. तमाम स्वच्छताहीन तथा ख़राब ढंग से बने मकानों तथा मुहल्लों को गिरा देना।

११. नाजायज तथा जायज़ बच्चों द्वारा उत्तराधिकार का समान रूप से उपभोग।

१२. परिवहन के तमाम साधनों का राष्ट्र के हाथों में संकेन्द्रण।

निस्सन्देह ये सारी कार्रवाइयां फ़ौरन लागू नहीं की जा सकतीं। परन्तु एक हमेशा दूसरे को जन्म देगी। निजी स्वामित्व पर एक बार पहला मूलगामी आघात हो जाये, सर्वहारा और आगे बढ़ने तथा राज्य के हाथों में सारी पूंजी, सारी कृषि, सारे उद्योग, सारे परिवहन, विनिमय के सारे साधनों को संकेन्द्रित करने की ओर अग्रसर होने के लिए विवश होगा। ये सब कार्रवाइयां ऐसे परिणाम दिलाने का काम करती हैं; और जिस अनुपात से देश की उत्पादक शक्तियां सर्वहारा के श्रम से बढ़ती जायेंगी, उसी अनुपात से ये कार्रवाइयां पूर्तियोग्य बनेंगी तथा उनके केन्द्रीयकरणकारी फलों का विकास होगा। अन्ततः जब सारी पूंजी, सारा उत्पादन और सारा विनिमय राष्ट्र के हाथों में जमा हो जायेगा, निजी स्वामित्व का अस्तित्व अपने-आप मिट जायेगा, मुद्रा अनावश्यक हो जायेगी तथा उत्पादन इतना बढ़ जायेगा और लोग इतने बदल जायेंगे कि पुराने सामाजिक सम्बन्धों के अन्तिम रूप धराशायी हो सकेंगे।

प्रश्न १६ : क्या यह सम्भव है कि यह क्रान्ति अकेले एक ही देश में सम्पन्न हो ?

उत्तर : नहीं। बड़े पैमाने के उद्योग ने विश्व मंडी का पहले ही निर्माण कर पृथ्वी के समस्त जनगण तथा विशेष रूप से सभ्य जनगण को इस तरह सूत्रबद्ध कर दिया है कि हर जनता उस चीज़ पर आश्रित होती है जो दूसरे के साथ घटित होती है। इसके अलावा बड़े पैमाने के उद्योग ने तमाम सभ्य देशों का सामाजिक विकास इतना समतल बना दिया है कि इन तमाम देशों में पूंजीपति तथा सर्वहारा समाज के दो निर्णायक वर्ग बन गये हैं, तथा उनके बीच संघर्ष आज का मुख्य संघर्ष बन चुका है। अतएव कम्युनिस्ट क्रान्ति राष्ट्रीय क्रांति ही नहीं, वह तमाम सभ्य देशों में, कम से कम इंगलैंड, अमरीका, फ़्रांस तथा जर्मनी में एकसाथ होगी।[14] इनमें से हर देश में उसे विकसित होने में अधिक या कम समय लगेगा, जो इस बात पर निर्भर करेगा कि किस के पास अधिक विकसित उद्योग, अधिक दौलत तथा उत्पादक शक्तियों की अधिक मात्रा है। इसलिए जर्मनी में उसकी सबसे धीमी तथा कठिनाईपूर्ण गति होगी; इंगलैंड में वह सबसे शीघ्र तथा सुगमतापूर्वक सम्पन्न होगी। वह संसार के अन्य देशों के विकास की अब तक विद्यमान विधि को पूरी तरह बदलते हुए तथा उसकी रफ़्तार बहुत तेज़ करते हुए उन पर बहुत प्रभाव डालेगी। यह विश्व क्रान्ति है और इसलिए पूरा संसार उसका रंगमंच बनेगा।

प्रश्न २० : निजी स्वामित्व के अन्तिम उन्मूलन के क्या परिणाम होंगे ?

उत्तर : निजी पूंजीपति तमाम उत्पादक शक्तियों, संचार के साधनों, साथ ही उत्पादित वस्तुओं के विनिमय तथा वितरण का जो उपयोग करते हैं, उसका समाज द्वारा हस्तगतकरण तथा उपलब्ध साधनों और समग्र रूप में समाज की आवश्यकताओं पर आधारित एक योजना के अनुसार समाज द्वारा उनका प्रबन्ध सबसे पहले उन कुपरिणामों का उन्मूलन कर देंगे जो बड़े पैमाने के उद्योग के साथ इस समय संलग्न हैं। संकट ख़त्म हो जायेंगे; विस्तारित उत्पादन, जिसके परिणामस्वरूप समाज की वर्तमान व्यवस्था में अति उत्पादन होता है तथा जो दरिद्रता का इतना सशक्त कारण है, तब पर्याप्त नहीं रह जायेगा और उसे आगे विस्तारित करना पड़ेगा। समाज की तात्कालिक आवश्यकताओं से अधिक अतिरिक्त उत्पादन अपने साथ दरिद्रता लाने के बजाय सब की ज़रूरतें पूरी करेगा, नयी ज़रूरतें और उसके साथ ही उनकी पूर्ति के नये साधन पैदा करेगा। वह और अधिक प्रगति की शर्त तथा प्रेरक शक्ति बन जायेगा, प्रगति करते समय

वह पूरी सामाजिक व्यवस्था को अस्त-व्यस्त नहीं करेगा जैसा कि अब तक हमेशा होता आया है। निजी स्वामित्व के जूए से एक बार मुक्त हो चुकने के बाद बड़े पैमाने का उद्योग इतने बड़े पैमाने पर विकसित होगा कि उसके सामने उसके विकास का वर्तमान स्तर उसी तरह तुच्छ लगने लगेगा जिस तरह हमारे ज़माने में बड़े उद्योग की तुलना में मैनुफ़ेक्चर प्रणाली तुच्छ लगती है। उद्योग का यह विकास समाज को वस्तुएं इतनी मात्रा में मुहैया करेगा कि वे सब की आवश्यकताएं पूरी करने के लिए पर्याप्त होंगी। कृषि भी, जिसे निजी स्वामित्व का दबाव तथा ज़मीन का विखण्डन उपलब्ध सुधारों तथा वैज्ञानिक उपलब्धियों का उपयोग करने से रोके हुए थे नयी उन्नति करेगी और समाज के सामने वस्तुओं को पर्याप्त मात्रा में पेश कर देगी। इस तरह समाज इस प्रकार के वितरण के लिए पर्याप्त वस्तुएं पैदा करेगा जो उसके सारे सदस्यों की आवश्यकता की पूर्ति करेगा। विभिन्न शत्रुतापूर्ण वर्गों में समाज का विभाजन अनावश्यक हो जायेगा। वह अनावश्यक ही नहीं, अपितु वह नयी सामाजिक व्यवस्था के प्रतिकूल होगा। वर्ग श्रम-विभाजन से अस्तित्व में आये थे और श्रम-विभाजन अपने विद्यमान रूप में पूरी तरह लुप्त हो जायेगा। औद्योगिक तथा कृषि उत्पादन को वर्णित ऊंचाइयों तक विकसित करने के लिए यांत्रिक तथा रासायनिक साधन ही काफ़ी नहीं होंगे, इन साधनों का उपयोग करनेवाले लोगों की योग्यता भी उतनी ही विकसित होनी चाहिए। जिस तरह पिछली शताब्दी में बड़े पैमाने के उद्योग के अन्तर्गत लाये गये किसानों तथा मैनुफ़ेक्चर मज़दूरों को अपने जीवन का पूरा रंग-ढंग बदलना पड़ा था, और वे स्वयं बिल्कुल भिन्न प्रकार के लोग बन गये थे, ठीक उसी तरह समग्र रूप से समाज द्वारा उत्पादन का संयुक्त संचालन तथा फलस्वरूप उत्पादन का नया विकास बिल्कुल भिन्न लोगों की अपेक्षा करते हैं तथा उनका सृजन भी करेंगे। उत्पादन का सयुक्त संचालन ऐसे लोगों द्वारा जिस रूप में वे आज हैं नहीं किया जा सकता जबकि हर व्यक्ति उत्पादन की किसी एक शाखा से सम्बन्धित है, उससे बंधा हुआ है, उस द्वारा शोषित किया जाता है, जबकि इनमें से हर एक अपनी अन्य सभी योग्यताओं को कुचलकर अपनी केवल **एक ही** योग्यता का विकास करता है और पूरे उत्पादन की केवल **एक** शाखा अथवा एक शाखा के एक भाग को जानता है। समकालीन उद्योग तक के लिए ऐसे लोगों की आवश्यकता कम होती जाती है। जो उद्योग पूरे समाज द्वारा संयुक्त रूप से तथा एक योजना के अनुसार संचालित होता हो, उसके लिए ऐसे लोगों की दरकार है जिनकी योग्यताओं का सर्वतोमुखी विकास हो,

जो उत्पादन की समूची प्रणाली का सर्वेक्षण करने की क्षमता रखते हों। फलस्वरूप श्रम-विभाजन, जो एक व्यक्ति को किसान, दूसरे को मोची, तीसरे को मजदूर, चौथे को शेयर मार्केट का सट्टेबाज बनाता है और जिसकी जड़ें मशीनी व्यवस्था पहले ही खोद चुकी है, इस प्रकार पूर्णतया लुप्त हो जायेगा। शिक्षा नौजवानों को इस योग्य बनायेगी कि वे उत्पादन की पूरी प्रणाली से शीघ्रतापूर्वक परिचित हो सकेंगे, वह उन्हें सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार अथवा अपनी प्रवृत्तियों की प्रेरणा पर बारी-बारी से उद्योग की एक शाखा से दूसरी शाखा में प्रवेश करने में समर्थ बनायेगी। अतः वह विकास के उस इकतरफ़ापन को ख़त्म कर देगी जिसे वर्तमान श्रम-विभाजन सब पर थोपे हुए है। इस प्रकार कम्युनिस्ट ढंग से संगठित समाज अपने सदस्यों को व्यापक रूप से विकसित अपनी योग्यताओं को व्यापक ढंग से उपयोग में लाने का सुअवसर देगा। इसके साथ-साथ विविध वर्ग अनिवार्यतः लुप्त हो जायेंगे। इस प्रकार कम्युनिस्ट ढंग से संगठित समाज एक ओर वर्गों के अस्तित्व से मेल नहीं खाता तथा दूसरी ओर इस समाज का निर्माण ही इन वर्ग विभेदों को मिटाने के साधन मुहैया करता है।

इससे यह अर्थ निकलता है कि शहर तथा देहात के बीच अन्तर भी लुप्त हो जायेगा। दो भिन्न वर्गों के बजाय एक ही तरह के लोगों द्वारा कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन का कार्य किया जाना कम्युनिस्ट के लिए – भले ही विशुद्ध भौतिक कारणों से – एक अनिवार्य शर्त है। बड़े शहरों में औद्योगिक आबादी के जमाव के साथ-साथ कृषक आबादी का देश भर में बिखराव कृषि तथा उद्योग की अविकसित मंज़िल के लिए ही अनुकूल है, वह आगे के विकास की, जो इस समय भी अपने को अत्यधिक प्रत्यक्ष करता जा रहा है, राह में एक बाधा है।

उत्पादक शक्तियों के समान तथा नियोजित उपयोग के लिए समाज के तमाम सदस्यों का आम साहचर्य; इतनी मात्रा में उत्पादन का विकास कि वह सब की आवश्यकताएं पूरी कर सके; ऐसी अवस्था की समाप्ति, जिसमें कुछ लोगों की आवश्यकताओं की दूसरों की क़ीमत पर पूर्ति होती हो; वर्गों तथा उनके विरोधों का पूर्ण उन्मूलन; श्रम के अब तक प्रचलित विभाजन के उन्मूलन के माध्यम से, औद्योगिक प्रशिक्षण के माध्यम से, गतिविधियों के परिवर्तन के माध्यम से, सब द्वारा रचित वरदानों में सब की शिरकत के माध्यम से, शहर तथा देहात के परस्पर विलय के माध्यम से समाज के तमाम सदस्यों की योग्यताओं का सर्वतोमुखी विकास – ऐसे हैं निजी स्वामित्व के उन्मूलन के मुख्य फल।

प्रश्न २१: समाज की कम्युनिस्ट ढंग की व्यवस्था का परिवार पर क्या प्रभाव पड़ेगा?

उत्तर: वह पुरुषों तथा नारियों के बीच सम्बन्धों को विशुद्ध रूप से निजी मामला बना देगी जिसका केवल सम्बन्धित व्यक्तियों से सरोकार होगा तथा जो समाज से किसी भी तरह के हस्तक्षेप की अपेक्षा नहीं करेगा। यह निजी स्वामित्व के उन्मूलन तथा बच्चों के सार्वजनिक प्रशिक्षण की बदौलत सम्भव होगा। इस तरह प्रचलित विवाह की दोनों आधारशिलाएं नष्ट की जाती हैं—पत्नी की अपने पति पर तथा बच्चों की अपने मां-बाप पर आश्रितता जो निजी स्वामित्व से प्रभावित होती है। पत्नियों की सर्वोपभोग्यता के विरुद्ध नैतिकता का उपदेश झाड़नेवाले कूपमण्डूकों की चिल्ल-पों का यह उत्तर है। पत्नियों की सर्वोपभोग्यता ऐसा व्यापार है जो पूरी तरह पूंजीवादी समाज का चारित्रिक गुण है और आज वेश्यावृत्ति के रूप में विशुद्ध रूप से विद्यमान है। परन्तु वेश्यावृत्ति की जड़ें तो निजी स्वामित्व के अन्दर हैं और वह उसके साथ ही ढह जायेगी। इस कारण पत्नियों की सर्वोपभोग्यता की स्थापना के बजाय कम्युनिस्ट ढंग का संगठन इसका अन्त कर देगा।

प्रश्न २२: विद्यमान जातियों के प्रति कम्युनिस्ट ढंग के संगठन का क्या रुख होगा?

—वही।[37]

प्रश्न २३: विद्यमान धर्मों के प्रति उसका क्या रुख होगा?

—वही।

प्रश्न २४: कम्युनिस्ट समाजवादियों से किस तरह भिन्न होते हैं?

उत्तर: तथाकथित समाजवादियों को तीन समूहों में बांटा जा सकता है।

पहले समूह में उस सामन्ती तथा पितृसत्तात्मक समाज के समर्थक आते हैं, जिसे बड़े पैमाने के उद्योग तथा विश्वव्यापार द्वारा तथा पूंजीवादी समाज द्वारा, जिसे इन दो ने जन्म दिया है, नष्ट किया जा चुका है या नित्यप्रति नष्ट किया जा रहा है। वर्तमान समाज के मौजूदा कष्टों से यह समूह यह निष्कर्ष निकालता है कि सामन्ती तथा पितृसत्तात्मक समाज की फिर से स्थापना होनी चाहिए क्योंकि वह इन कष्टों से मुक्त था। उनके सारे प्रस्ताव प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इसी ओर लक्षित हैं। सर्वहारा के दुख-कष्टों के लिए उसकी दिखाऊ सहानुभूति तथा उन पर मगर के आंसू बहाने के बावजूद **प्रतिक्रियावादी** समाजवादियों के इस समूह का कम्युनिस्ट डटकर विरोध करेंगे क्योंकि:

१. वे ऐसी चीज़ की कामना करते हैं जो सर्वथा असम्भव है;

२. वे अभिजात वर्ग, शिल्प-संघों के उस्तादों तथा मैनुफ़ेक्चररों और उनके अनुचरों, निरंकुश अथवा सामन्ती राजाओं, पदाधिकारियों, सैनिकों, पादरियों के राज को, ऐसे समाज को फिर से क़ायम करना चाहते हैं, जो वर्तमान समाज की ख़ामियों से मुक्त होने के बावजूद अपनी ही अनेकानेक कष्टों से ग्रस्त था और जिसमें उत्पीड़ित मज़दूरों को कम्युनिस्ट ढंग के संगठन द्वारा मुक्त करने की कोई सम्भावना नहीं थी;

३. वे अपने असल इरादों को हमेशा उस समय प्रकाश में ले आते हैं जब सर्वहारा क्रान्तिकारी तथा कम्युनिस्ट बन जाता है; उस दशा में वे तुरन्त सर्वहारा के विरुद्ध हमेशा पूंजीपति वर्ग के साथी बन जाते हैं।

दूसरा समूह वर्तमान समाज के पक्षधरों को लेकर बना है; इस समाज की व्याधियों ने, जो उसके अवश्यम्भावी परिणाम हैं, इन लोगों में उसके अस्तित्व के लिए चिन्ता पैदा कर दी है। वे इस चीज़ के लिए प्रयत्नशील हैं कि वर्तमान समाज से जुड़ी व्याधियों का अन्त कर इस समाज को अक्षुण्ण रखा जाये। इसके लिए उनमें से कुछ विविध मंगल-कल्याणकारी प्रस्ताव पेश करते हैं जबकि दूसरे विराट सुधार प्रणालियों की वकालत करते हैं जो समाज के पुनर्गठन के बहाने वर्तमान समाज की आधारशिलाओं को और इस तरह स्वयं समाज को क़ायम रखेंगी। कम्युनिस्टों को इन **पूंजीवादी समाजवादियों** का निरन्तर विरोध करना होगा क्योंकि वे कम्युनिस्टों के दुश्मनों के हितार्थ काम करते हैं तथा उस समाज की रक्षा कर रहे हैं जिसे कम्युनिस्ट नष्ट करने के लिए कटिबद्ध हैं।

आख़िर में, तीसरा समूह जनवादी समाजवादियों को लेकर बना है, जो कम्युनिस्टों की ही तरह प्रश्न ...* में उल्लिखित कार्रवाइयों को अंशतः चाहते हैं, परन्तु वे कम्युनिज़्म में संक्रमण के साधन के रूप में नहीं वरन् वर्तमान समाज की दरिद्रता तथा दुख-कष्टों का अन्त करने के साधन के रूप में चाहते हैं। ये **जनवादी समाजवादी** या तो सर्वहारा हैं जिन्हें अपने वर्ग की मुक्ति की अवस्थाओं के बारे में पर्याप्त ज्ञान नहीं हुआ है, अथवा वे निम्नपूंजीपति वर्ग के, उस वर्ग के प्रतिनिधि हैं जिसके हित जनवाद के हासिल होने तथा उससे सम्बन्धित समाजवादी कार्रवाइयों के पूर्ण होने तक कई मामलों में सर्वहारा वर्ग के हित के सदृश रहते हैं। अतः कार्रवाई करने के मौक़ों पर कम्युनिस्टों को जनवादी

* यहां पाण्डुलिपि में खाली जगह है। प्रश्न १८ का उत्तर देखें। — सं०

समाजवादियों के साथ समझौता करना पड़ेगा तथा जब सम्भव हो, उनके साथ कम से कम कुछ समय तक, जब तक ये समाजवादी सत्ताधारी पूंजीपति वर्ग की चाकरी नहीं करने लगते तथा कम्युनिस्टों पर प्रहार नहीं करते, सामान्यतया एक मिली-जुली नीति का पालन करना पड़ेगा। यह स्पष्ट है कि यह समान कार्रवाई उनके साथ मतभेदों पर बहस करने की सम्भावना नहीं मिटाती।

प्रश्न २५: आज की अन्य पार्टियों के प्रति कम्युनिस्टों का क्या रुख़ है?

उत्तर: यह रुख़ देश-देश के अनुसार भिन्न-भिन्न है।—इंगलैंड, फ़्रांस तथा बेल्जियम में, जहां पूंजीपति वर्ग का शासन है, फ़िलहाल कम्युनिस्टों और विभिन्न जनवादी पार्टियों के समान हित हैं, ये जनवादी समाजवादी कार्रवाइयों में, जिनकी वे इस समय सर्वत्र वकालत कर रहे हैं, कम्युनिस्टों के लक्ष्यों के जितने समीप आते हैं, अर्थात् वे सर्वहारा वर्ग के हितों की जितनी अधिक स्पष्टता तथा जितनी अधिक निश्चितता के साथ रक्षा करेंगे और जितना अधिक वे सर्वहारा वर्ग का सहारा लेंगे, उनके हितों का यह साम्य उतना ही अधिक होगा। उदाहरण के लिए इंगलैंड में चार्टिस्ट[38], जो सब मज़दूर हैं, जनवादी निम्नपूंजीपतियों अथवा तथाकथित उग्रवादियों की तुलना में कम्युनिस्टों के कहीं समीप हैं।

अमरीका में जहां जनवादी संविधान प्रचलित हो चुका है, कम्युनिस्टों को उस पार्टी का पक्ष लेना होगा जो इस संविधान को पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध लागू करेगा तथा उसे सर्वहारा वर्ग के हित में इस्तेमाल करेगा, अर्थात् उन्हें राष्ट्रीय कृषि सुधारकों का पक्ष लेना होगा।

स्विट्ज़रलैंड में उग्रवादी हालांकि अब भी बहुत ही मिली-जुली पार्टी के लोग हैं फिर भी केवल वे ही ऐसे लोग हैं जिनके साथ कम्युनिस्ट समझौता कर सकते हैं, और इन उग्रवादियों के बीच वोद तथा जेनेवा के आमूलवादी सबसे प्रगतिशील हैं।

आख़िर में **जर्मनी** आता है, जहां पूंजीपति वर्ग तथा राजतंत्र के बीच निर्णायक संघर्ष अब भी बहुत दूर है। परन्तु कम्युनिस्ट चूंकि पूंजीपति वर्ग द्वारा सत्ताधारण करने के बाद ही उसके विरुद्ध निर्णायक संघर्ष करने के भरोसे नहीं बैठे रह सकते, इसलिए यह कम्युनिस्टों के ही हित में है कि वे पूंजीपति वर्ग को सत्ता शीघ्रातिशीघ्र हासिल करने में मदद दें ताकि उसे जितनी जल्दी सम्भव हो, उलटा जा सके। अतः कम्युनिस्टों को हमेशा सरकारों के ख़िलाफ़ उदारपंथी पूंजीपतियों का साथ देना चाहिए परन्तु इस बारे में सतर्क रहना चाहिए कि वे पूंजीपति वर्ग की ही तरह आत्म-वंचना के शिकार न बनें अथवा पूंजीपति वर्ग की

मन को लुभानेवाली इन घोषणाओं पर विश्वास न करने लगें कि उसकी विजय से सर्वहारा के लिए लाभदायी फल निकलेंगे। पूंजीपति वर्ग की विजय से कम्युनिस्टों के लिए मात्र ये लाभ हैं: १. विभिन्न रियायतें जो कम्युनिस्टों के लिए अपने सिद्धान्तों की रक्षा, उन पर विचार-विमर्श तथा उनके प्रसार को अधिक सुगम बनायेंगी तथा इस प्रकार सर्वहारा का एक ठोस, संघर्षशील तथा सुसंगठित वर्ग में एकीकरण किया जा सकेगा, और २. यह पक्का हो जायेगा कि जिस दिन निरंकुश सरकारों का तख़्ता उलट दिया जायेगा, उस दिन से पूंजीपतियों तथा सर्वहाराओं के बीच संघर्ष की बारी आ जायेगी। उस दिन के उपरान्त कम्युनिस्टों की पार्टी नीति वही होगी जो उन देशों में है जहां पूंजीपति वर्ग अभी शासन कर रहा है।

एंगेल्स द्वारा अक्तूबर-नवम्बर १८४७ में लिखित।

पहली बार १९१४ में पृथक संस्करण के रूप में प्रकाशित।

अंग्रेज़ी से अनूदित।

कार्ल मार्क्स और फ़्रेडरिक एंगेल्स

कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र[39]

१८७२ के जर्मन संस्करण की भूमिका

कम्युनिस्ट लीग[40] नामक मजदूरों के अन्तर्राष्ट्रीय संघ ने, जो उस ज़माने की हालतों में एक गुप्त संघ ही हो सकता था, सन् १८४७ के नवम्बर में लन्दन में हुई अपनी कांग्रेस में हम दोनों को यह काम सौंपा कि हम पार्टी का एक विस्तृत सैद्धांतिक और व्यावहारिक कार्यक्रम प्रकाशनार्थ तैयार करें। यही निम्न-लिखित 'घोषणापत्र' के जन्म की कहानी है, जिसकी पाण्डुलिपि फ़रवरी क्रान्ति[41] से कुछ ही सप्ताह पहले छपने के लिए लन्दन भेजी गयी थी। वह सबसे पहले जर्मन भाषा में छपी, और उसके बाद इसके कम से कम बारह भिन्न-भिन्न जर्मन संस्करण जर्मनी, इंगलैंड और अमरीका में प्रकाशित हुए। अंग्रेज़ी में सबसे पहले यह सन् १८५० में «*Red Republican*»[42] पत्रिका में लन्दन में प्रकाशित हुआ, अनुवाद कुमारी हेलेन मैकफ़र्लेन ने किया था और सन् १८७१ में इसके कम से कम तीन भिन्न-भिन्न अंग्रेज़ी अनुवाद अमरीका में प्रकाशित हुए। इसका फ़्रांसीसी अनुवाद पेरिस में सन् १८४८ के जून विद्रोह[43] के कुछ ही पहले निकला था और हाल में वह न्यूयार्क के «*Le Socialiste*»[44] नामक पत्र में फिर प्रकाशित हुआ है। आजकल एक नया अनुवाद भी तैयार हो रहा है। जर्मन भाषा में पहली बार निकलने के कुछ ही समय बाद इसका एक पोलिश अनुवाद भी लन्दन में प्रकाशित हुआ। इस शताब्दी के सातवें दशक में जेनेवा में एक रूसी अनुवाद निकला।[45] प्रथम प्रकाशन के थोड़े ही समय बाद डेनिश भाषा में भी इसका अनुवाद हुआ था।

पिछले पचीस वर्षों में परिस्थिति चाहे कितनी भी बदल गयी हो, इस 'घोषणापत्र' में निरूपित आम सिद्धांत समग्र रूप में आज भी उतने ही सही हैं, जितने कि पहले थे। एकाध जगह उसमें छोटा-मोटा सुधार किया जा सकता है। सिद्धांतों का क्रियान्वयन, जैसा कि ख़ुद 'घोषणापत्र' में कहा गया है, हर जगह

और हमेशा विद्यमान ऐतिहासिक परिस्थितियों पर निर्भर करेगा और इसी कारण अध्याय २ के अन्त में प्रस्तावित क्रान्तिकारी कार्रवाइयों पर कोई विशेष ज़ोर नहीं दिया गया। आज यह भाग बहुत अंशों में अत्यंत भिन्न रूप में लिखा जाता। आधुनिक उद्योग की पिछले पचीस वर्षों की ज़बर्दस्त तरक़्क़ी और उसके साथ होनेवाली मज़दूर वर्ग के पार्टी-संगठन की उन्नति और विस्तार को देखते हुए, फ़रवरी क्रांति में और उसके बाद उससे भी ज़्यादा पेरिस कम्यून[46] में, जिसमें पहली बार सर्वहारा के हाथ में पूरे दो महीने तक राजनीतिक सत्ता रही, प्राप्त व्यावहारिक अनुभव को देखते हुए इस कार्यक्रम की कुछ तफ़सीलें पुरानी पड़ गयी हैं। कम्यून ने एक बात तो ख़ास तौर से साबित कर दी, वह यह कि "मज़दूर वर्ग राज्य की बनी-बनायी मशीन पर क़ब्ज़ा करके उसका उपयोग अपने उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए नहीं कर सकता।" (देखिए—'फ़्रांस में गृहयुद्ध। अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ की जनरल कौंसिल की चिट्ठी', जर्मन संस्करण, पृष्ठ १९, जहां इस बात की और विस्तृत विवेचना की गयी है।) फिर यह स्वतःस्पष्ट है कि इसमें दी हुई समाजवादी साहित्य की आलोचना भी आज की दृष्टि से अपूर्ण है, क्योंकि उसमें १८४७ तक का ही ज़िक्र है। इसके अलावा विभिन्न विरोधी पार्टियों के साथ कम्युनिस्टों के संबंध के बारे में जो टिप्पणियां की गयी हैं (चौथा अध्याय), वे यद्यपि सैद्धांतिक रूप से अब भी सही हैं, तथापि व्यवहार में पुरानी पड़ गयी हैं, क्योंकि तब से राजनीतिक परिस्थिति बिल्कुल ही बदल गयी है, और जिन राजनीतिक पार्टियों को वहां गिनाया गया है, उनमें से अधिकांश इतिहास की धारा में विलीन हो चुकी हैं।

लेकिन 'घोषणापत्र' तो एक ऐतिहासिक दस्तावेज़ बन गया है जिसमें परिवर्तन करने का अब हमें कोई अधिकार नहीं रह गया है। हो सकता है कि आगे एक संस्करण निकले जिसमें भूमिका द्वारा १८४७ से आज तक के समय के व्यवधान को दूर किया जा सके। यह संस्करण तो इतना अप्रत्याशित था कि हमें उस तरह की भूमिका लिखने का समय ही नहीं मिला।

कार्ल मार्क्स
फ़्रेडरिक एंगेल्स

लन्दन, २४ जून १८७२

१८८२ के दूसरे रूसी संस्करण की भूमिका

'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र' का, जिसका अनुवाद बकूनिन ने किया था, प्रथम रूसी संस्करण सातवें दशक के आरम्भ में 'कोलोकोल' के मुद्रण कार्यालय ने प्रकाशित किया था।[47] उस समय पश्चिम 'घोषणापत्र' के रूसी संस्करण में केवल साहित्यिक अनोखापन ही देख सकता था। परन्तु अब इस तरह का दृष्टिकोण असम्भव है।

उस समय (दिसम्बर १८४७) सर्वहारा आन्दोलन का कितना सीमित क्षेत्र था, उसे 'घोषणापत्र' का आख़िरी अध्याय – विभिन्न देशों में विभिन्न विरोधी पार्टियों के संबंध में कम्युनिस्टों की स्थिति – सर्वाधिक स्पष्टता के साथ प्रदर्शित कर देता है। इसमें ठीक रूस तथा संयुक्त राज्य अमरीका ग़ायब हैं। यह वह ज़माना था, जब रूस सारे यूरोपीय प्रतिक्रियावाद की आख़िरी बड़ी आरक्षित शक्ति था, जब अमरीका ने आप्रवासन के माध्यम से यूरोप की सारी बेशी सर्वहारा शक्तियों को अपने अन्दर खपा लिया था। दोनों देश यूरोप को कच्ची सामग्रियां मुहैया कर रहे थे और साथ ही वे उसके औद्योगिक माल की खपत की मंडियां भी थे। उस समय दोनों इस या उस रूप में विद्यमान यूरोपीय व्यवस्था के आधार-स्तम्भ थे।

आज स्थिति कितनी बदल चुकी है! ठीक यही यूरोपीय आप्रवासन अथाह कृषि उत्पादन के लिये उत्तरी अमरीका के वास्ते उपयुक्त सिद्ध हुआ, जिसके साथ होड़ आज छोटे-बड़े सारे यूरोपीय भू-स्वामित्व की नींवों को ही हिला रही है। इसके अलावा उसने अमरीका को अपने विपुल औद्योगिक संसाधन इतनी स्फूर्ति के साथ तथा इतने बड़े पैमाने पर अपने लाभार्थ उपयोग में लाने में सक्षम बनाया कि उससे पश्चिमी यूरोप और ख़ास तौर पर इंगलैण्ड की अब तक मौजूद इजारेदारी की जल्द ही कमर टूट जायेगी। दोनों परिस्थितियों का स्वयं अमरीका पर क्रान्तिकारी ढंग से प्रभाव पड़ रहा है। किसानों के लघु तथा मध्यम दर्जे का भू-स्वामित्व, जो पूरी राजनीतिक संरचना का आधार है, क़दम-ब-क़दम विराट फ़ार्मों के साथ होड़ में ढहता जा रहा है; इसके साथ ही औद्योगिक क्षेत्रों में पहली बार बहुत बड़ी संख्या वाले सर्वहारा वर्ग का तथा पूंजियों के कल्पनातीत संकेंद्रण का विकास हो रहा है।

और अब रूस! १८४८–१८४९ की क्रान्ति के दौरान यूरोपीय राजाओं ने ही नहीं, वरन यूरोपीय पूंजीपतियों ने भी सर्वहारा वर्ग से, जो अभी जाग ही रहा था, अपनी मुक्ति मात्र रूसी हस्तक्षेप में पायी। ज़ार को यूरोपीय प्रतिक्रियावाद का सरदार घोषित कर दिया गया। आज वह गातचिना में क्रान्ति का युद्धबन्दी है[48] और रूस यूरोप में क्रान्तिकारी कार्यकलाप का हरावल है।

'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' ने आधुनिक पूंजीवादी स्वामित्व के अवश्यम्भावी आसन्न विघटन की उद्घोषणा को अपना लक्ष्य बनाया था। परन्तु रूस में हम तेज़ी से विकसित हो रही पूंजीवादी ठगी तथा पूंजीवादी भू-स्वामित्व के, जिसने अभी-अभी विकसित होना आरम्भ किया है, साथ ही आधी से अधिक ऐसी भूमि पाते हैं जिस पर किसानों का समान स्वामित्व है। सवाल यह है—क्या रूसी ग्राम समुदाय जो बुरी तरह अन्तर्ध्वस्त होते हुए भी भूमि के आदिकालीन समान स्वामित्व का रूप है, सीधे कम्युनिस्ट ढंग के समान स्वामित्व के उच्चतर रूप में प्रवेश कर सकता है? या इसके विपरीत उसे भी क्या विघटन की उसी प्रक्रिया के बीच से गुज़रना पड़ेगा जो पश्चिम के ऐतिहासिक विकासक्रम के लिए लाक्षणिक है?

इस समय इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर यह है—यदि रूसी क्रान्ति पश्चिम में सर्वहारा क्रान्ति के लिये इस तरह का संकेत बन जाये कि वे दोनों एक दूसरे के परिपूरक बन सकें तो भूमि का वर्तमान रूसी सामुदायिक स्वामित्व कम्युनिस्ट विकास के लिए प्रस्थान-बिन्दु बन सकता है।

कार्ल मार्क्स
फ़्रेडरिक एंगेल्स

लन्दन, २१ जनवरी १८८२

१८८३ के जर्मन संस्करण की फ़्रे० एंगेल्स की भूमिका

अफ़सोस की बात है कि वर्तमान संस्करण की भूमिका पर मुझे अकेले हस्ताक्षर करने पड़ रहे हैं। मार्क्स, जिनका यूरोप तथा अमरीका का सारा मज़दूर वर्ग इतना ऋणी है जितना किसी और का नहीं है, हाइगेट समाधि-स्थली

में विश्राम कर रहे हैं और उनकी समाधि के ऊपर घास के पहले पौधे बढ़ने भी लगे हैं। उनकी मृत्यु के बाद 'घोषणापत्र' को संशोधित करने अथवा उसके लिए परिशिष्ट लिखने की बात तो और भी नहीं सोची जा सकती। इसलिए मैं यहां फिर निम्नलिखित बात स्पष्ट रूप से कहना ज़रूरी मानता हूं –

'घोषणापत्र' में शुरू से लेकर आख़िर तक विद्यमान मूल विचार, यह विचार विशुद्ध रूप से मार्क्स का है कि प्रत्येक ऐतिहासिक युग का आर्थिक उत्पादन तथा उससे अनिवार्यतः उत्पन्न होनेवाली सामाजिक संरचना उस युग के राजनीतिक तथा बौद्धिक इतिहास की आधार-शिला हुआ करते हैं; कि इसके परिणामस्वरूप (भूमि के आदिम सामुदायिक स्वामित्व के विघटन के बाद से) निरन्तर पूरा इतिहास सामाजिक विकास की भिन्न-भिन्न मंज़िलों में वर्ग संघर्षों, शोषितों तथा शोषकों के बीच, शासितों तथा शासकों के बीच संघर्षों का इतिहास रहा है; कि यह संघर्ष अब उस मंज़िल में पहुंच चुका है जहां शोषित तथा उत्पीड़ित वर्ग (सर्वहारा वर्ग) पूरे समाज को शोषण, उत्पीड़न तथा वर्ग संघर्ष से सदा-सर्वदा के लिए मुक्त किये बिना उत्पीड़न तथा शोषण करनेवाले वर्ग (पूंजीपति वर्ग) से अपने को मुक्त नहीं कर सकता।*

मैं यह बात पहले भी कई बार कह चुका हूं; परन्तु ठीक इस समय यह ज़रूरी है कि यह भी स्वयं 'घोषणापत्र' के प्राक्कथन के रूप में मौजूद रहे।

फ़े० एंगेल्स

लन्दन, २८ जून १८८३

---

*मैंने अंग्रेज़ी अनुवाद की भूमिका में लिखा था, "इस प्रस्थापना की ओर, जो मेरी राय में इतिहास के लिए अवश्यम्भावी रूप से वही करने जा रही है जो डारविन के सिद्धान्त ने जीव-विज्ञान के लिए किया है, हम दोनों १८४५ से पहले कुछ सालों तक धीरे-धीरे बढ़ते रहे। मैं उसकी ओर स्वतंत्र रूप से कहां तक बढ़ सका, इसे 'इंगलैंड में मज़दूर वर्ग की दशा' नामक मेरी रचना सर्वोत्तम ढंग से प्रदर्शित कर देती है। परन्तु जब मैं १८४५ के वसन्त में मार्क्स से पुनः ब्रसेल्स में मिला तो इस विचार को वह पहले ही विकसित कर बैठे थे और उसे उन्होंने मेरे सामने जिस रूप में प्रस्तुत किया, वह प्रायः उतना ही स्पष्ट था जितने स्पष्ट रूप में उसे मैंने यहां बयान किया है।" (**१८९० के जर्मन संस्करण में एंगेल्स का नोट।**)

१८९० के जर्मन संस्करण की फ्रे० एंगेल्स की भूमिका से

'घोषणापत्र' का अपना एक अलग इतिहास रहा है। प्रकाशन के साथ ही उसका वैज्ञानिक समाजवाद के हरावलों द्वारा, जिनकी संख्या अभी बिल्कुल ही अधिक न थी, उत्साहपूर्ण स्वागत हुआ (जैसा कि पहली भूमिका में गिनाये गये अनुवादों द्वारा स्पष्ट है); किन्तु थोड़े ही दिनों बाद, जून १८४८ में पेरिस के मजदूरों की पराजय से शुरू होनेवाली प्रतिक्रिया के साथ वह पृष्ठभूमि में ढकेल दिया गया, और अन्त में जब नवम्बर १८५२ में कोलोन के कम्युनिस्टों को सजा दी गयी[40] तो वह "क़ानूनी तौर पर" बहिष्कृत कर दिया गया। फ़रवरी क्रांति के साथ जिस मजदूर आन्दोलन का सूत्रपात हुआ था, उसके सार्वजनिक रंगमंच से ओझल हो जाने के बाद 'घोषणापत्र' भी पृष्ठभूमि में चला गया।

जब यूरोप के मजदूर वर्ग ने शासक वर्गों की सत्ता के खिलाफ़ नया हमला बोलने के लिए दुबारा काफ़ी ताक़त बटोर ली, तो अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ का आविर्भाव हुआ। उसका उद्देश्य यूरोप और अमरीका के तमाम जुझारू मजदूर वर्ग को एक विशाल सेना के रूप में एकजुट करना था। इसलिए, संघ 'घोषणापत्र' में स्थापित **सिद्धांतों को प्रस्थान-बिन्दु मानकर नहीं चल सकता था।** उसका ऐसा कार्यक्रम होना लाज़िमी था जिससे इंगलैंड की ट्रेड-यूनियनों, फ़्रांस, बेल्जियम, इटली और स्पेन के प्रूदोंपंथियों तथा जर्मनी के लासालपंथियों* के लिए दरवाज़ा बन्द न हो जाये। इस कार्यक्रम को — इन्टरनेशनल की नियमावली के प्राक्कथन को — मार्क्स ने बड़ी ख़ूबी के साथ तैयार किया जिसे बकूनिन और अराजकतावादियों तक ने माना। जहां तक 'घोषणापत्र' में निरूपित सिद्धांतों की अन्तिम विजय का प्रश्न है, मार्क्स ने मजदूर वर्ग के बौद्धिक विकास पर पूर्ण और एकमात्र रूप से भरोसा किया जो सम्मिलित कार्य तथा आपसी वाद-विवाद के फलस्वरूप अवश्यंभावी है। पूंजी के खिलाफ़ संघर्ष की घटनाओं और संघर्ष

---

*व्यक्तिगत तौर पर लासाल हमसे हमेशा यही कहते थे कि वह मार्क्स के "शिष्य" हैं और ऐसा होने के नाते वह निस्संदेह 'घोषणापत्र' को आधार के रूप में ग्रहण करते थे। मगर उनके उन अनुयायियों की बात बिल्कुल ही अलग थी जो सरकारी साख द्वारा समर्थित उत्पादकों की सहकारी समितियों की लासाल की मांग से आगे नहीं जाते थे और जो पूरे मजदूर वर्ग को राजकीय सहायता के समर्थकों और आत्म-निर्भरता के समर्थकों में बांटते थे। (**एंगेल्स का नोट।**)

के बराबर उलट-फेर ने, जीत से अधिक हार ने, लड़ाकों के सामने उनकी सर्वव्याधिहर महौषधियों की अपर्याप्तता प्रत्यक्ष कर दी जिन पर वे अभी तक टिके हुए थे और उनके दिमाग़ों को मज़दूरों के उद्धार की वास्तविक परिस्थितियों को पूरी तरह समझने के लिए अधिक ग्रहणशील बना दिया। और मार्क्स का विचार सही था। १८७४ में जब इन्टरनेशनल भंग कर दिया गया तो उस समय का मज़दूर वर्ग, १८६४ की तुलना में, जब उसकी स्थापना हुई थी, एकदम भिन्न था। लैटिन देशों में प्रूदोंवाद और जर्मनी का विशिष्ट लासालवाद मरणासन्न थे, और इंगलैंड की घोर दक़ियानूसी ट्रेड-यूनियनें तक धीरे-धीरे उस बिंदु पर पहुंच रही थीं जहां १८८७ में स्वानज़ी कांग्रेस में उनके अध्यक्ष* उनकी ओर से यह एलान कर सके कि "यूरोपीय महाद्वीप का समाजवाद हमारे लिए भय की वस्तु नहीं रह गया है"। फिर भी १८८७ तक महाद्वीपीय समाजवाद लगभग पूर्णतः वही सिद्धांत था जिसकी 'घोषणापत्र' ने घोषणा की थी। चुनांचे 'घोषणापत्र' का इतिहास १८४८ के बाद से आधुनिक मज़दूर आन्दोलन के इतिहास को एक हद तक प्रतिबिम्बित करता है। आज तो निस्संदेह 'घोषणापत्र' समस्त समाजवादी साहित्य की सबसे अधिक प्रचलित, सबसे अधिक अन्तर्राष्ट्रीय कृति है और वह, साइबेरिया से लेकर कैलिफ़ोर्निया तक, सभी देशों के करोड़ों मज़दूरों का समान कार्यक्रम है।

तो भी उसके प्रकाशन के समय हम इसे **समाजवादी** घोषणापत्र का नाम नहीं दे सकते थे। १८४७ में दो तरह के लोग समाजवादी माने जाते थे। एक तरफ़ तो थे विभिन्न कल्पनावादी पद्धतियों के अनुयायी – मुख्यतः इंगलैंड के ओवेनपंथी और फ़्रांस के फ़ूरियेवादी जो दोनों ही घटते-घटते उस समय संकीर्ण पंथ मात्र रह गये थे और धीरे-धीरे ख़त्म हो रहे थे। दूसरी ओर थे नाना प्रकार के सामाजिक नीम-हकीम जो, पूंजी और मुनाफ़े को ज़रा भी क्षति पहुंचाये बिना, अपनी तरह-तरह की सर्वव्याधिहर महौषधियों और तरह-तरह की पैवन्दबाज़ी के ज़रिये सामाजिक बुराइयों का अन्त कर देना चाहते थे। ये दोनों ही तरह के लोग मज़दूर आन्दोलन के बाहर के लोग थे और वे अपने समर्थन के लिए "शिक्षित" वर्गों की आस लगाते थे। इसके विपरीत, मज़दूर वर्ग का वह भाग जो यह विश्वास करते हुए कि केवल राजनीतिक क्रान्ति पर्याप्त नहीं है, समाज के आमूल पुनर्निर्माण की मांग करता था, उस समय अपने को **कम्युनिस्ट** कहता था। यह

* डब्ल्यू० बीवेन। – सं०

अब भी अनगढ़, मात्र सहजभावी और प्रायः किंचित अपक्व कम्युनिज़्म था। तो भी उसमें इतनी शक्ति थी कि उसने काल्पनिक कम्युनिज़्म की दो पद्धतियों को जन्म दिया—फ़्रांस में काबे के "इकारियन" कम्युनिज़्म और जर्मनी में वाइटलिंग के कम्युनिज़्म को। १८४७ में समाजवाद पूंजीवादी आंदोलन का और कम्युनिज़्म मज़दूर आन्दोलन का सूचक था। कम से कम यूरोपीय महाद्वीप में समाजवाद सर्वथा सम्भ्रांत था जबकि कम्युनिज़्म इसका बिल्कुल उलटा था। और चूंकि हमारी उस समय ही यह पक्की राय बन चुकी थी कि "मज़दूर वर्ग का उद्धार स्वयं मज़दूर वर्ग के हाथों ही हो सकता है",[50] इसलिए इन दोनों में से हम कौनसा नाम चुनें, इसमें हमें कोई हिचकिचाहट नहीं हो सकती थी। और न तब से इस नाम का त्याग करने का हमें कभी ख़्याल भी हुआ है।

"दुनिया के मज़दूरो, एक हो!"—जब यह नारा हमने आज से बयालीस साल पहले—प्रथम पेरिस क्रांति के ठीक पहले, जब सर्वहारा वर्ग अपनी ख़ुद की मांगों को लेकर सामने आया था,—बुलंद किया था, तब बहुत थोड़े लोगों ने उसे प्रतिध्वनित किया था। किन्तु २८ सितम्बर १८६४ को पश्चिमी यूरोप के अधिकांश देशों के सर्वहाराओं ने मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ की स्थापना की जिसकी स्मृति गौरवपूर्ण है। यह सच है कि इन्टरनेशनल स्वयं केवल नौ साल जीवित रहा। किन्तु उसने सभी देशों के सर्वहाराओं का जो अविनाशी एका क़ायम कर दिया था वह आज भी जीवित है और पहले से कहीं अधिक शक्तिशाली है। इसका सबसे बड़ा साक्षी आज का यह दिन है, क्योंकि आज के दिन[51], जब मैं ये पंक्तियां लिख रहा हूं, यूरोप और अमरीका के सर्वहारा अपनी सामरिक शक्तियों का दिग्दर्शन कर रहे हैं जो पहली बार मैदान में उतारी गयी हैं, **एक** सेना की तरह, **एक** झंडे के नीचे, **एक** तात्कालिक उद्देश्य के लिए—१८६६ में इन्टरनेशनल की जेनेवा कांग्रेस द्वारा और फिर १८८९ में पेरिस की मज़दूर-कांग्रेस द्वारा घोषित आठ घंटे के स्टैंडर्ड काम के दिन को क़ानून द्वारा स्थापित कराने के उद्देश्य से—मैदान में उतारी गयी हैं। और आज के दृश्य से सभी देशों के पूंजीपतियों और ज़मींदारों की आंखें खुल जायेंगी और वे देख लेंगे कि तमाम देशों के मज़दूर आज सचमुच एक हैं।

काश, आज मार्क्स भी अपनी आंखों से इस दृश्य को देखने के लिए मेरे साथ होते!

फ़्रे० एंगेल्स

लंदन, १ मई १८९०

१८९२ के पोलिश संस्करण की फ़्रे० एंगेल्स की भूमिका

'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' का एक नया पोलिश संस्करण निकालना आवश्यक हो गया है, यह तथ्य नाना प्रकार के विचारों को जन्म देता है।

सबसे पहले यह उल्लेखनीय है कि इधर 'घोषणापत्र' यूरोपीय महाद्वीप में बड़े पैमाने के उद्योग का एक तरह का सूचक बन गया। किसी देश विशेष में बड़े पैमाने का उद्योग जितना विकसित होता है, उस देश के मजदूरों में सम्पत्तिधारी वर्गों के संबंध में मजदूर वर्ग के रूप में अपनी स्थिति का ज्ञान हासिल करने की मांग उतनी ही बढ़ती जाती है, उनके मध्य समाजवादी आन्दोलन उतना ही फैलता जाता है तथा 'घोषणापत्र' की मांग उतनी ही बढ़ती जाती है। इस तरह किसी भी देश में उसकी भाषा में "घोषणापत्र" का जितनी संख्या में प्रसारण होता है, उससे मज़दूर आन्दोलन की स्थिति को ही नहीं, वरन बड़े पैमाने के उद्योग के विकास के परिमाण को भी मापा जा सकता है।

इसलिए नया पोलिश संस्करण पोलिश उद्योग की निश्चित प्रगति इंगित करता है। इसमें सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं है कि दस साल पहले प्रकाशित संस्करण के बाद वस्तुतः यह प्रगति हुई है। रूसी पोलैंड, कांग्रेसीय पोलैंड[52] रूसी साम्राज्य का बहुत बड़ा औद्योगिक क्षेत्र बन गया है। बड़े पैमाने का रूसी उद्योग जहां यत्र-तत्र बिखरा हुआ है—एक हिस्सा फ़िनलैंड की खाड़ी के आसपास, दूसरा—मध्य भाग में (मास्को तथा व्लादीमिर में), तीसरा—काले सागर और अज़ोव सागर के तटवर्ती क्षेत्रों तथा अन्य और स्थानों में—वहां पोलिश उद्योग को अपेक्षाकृत छोटे इलाक़े में ठूंस दिया गया है और वह इस तरह के संकेन्द्रण के लाभ तथा हानि दोनों भोग रहा है। रूसी उद्योगपतियों ने लाभों को उस समय स्वीकारा जब उन्होंने पोलों को रूसी बनाने की उत्कट इच्छा के बावजूद पोलैंड के विरुद्ध संरक्षण टैरिफ़ों की मांग की। हानि—पोलिश उद्योग-पतियों तथा रूसी सरकार के लिए—पोलिश मज़दूरों के बीच समाजवादी विचारों के द्रुत प्रसार तथा 'घोषणापत्र' की बढ़ती हुई मांग में प्रत्यक्ष है।

परन्तु पोलिश उद्योग की यह तीव्र प्रगति, जो रूस के उद्योग के विकास की रफ़्तार को पीछे छोड़ रही है, अपनी जगह पोलिश जनता की अनन्त जीवन्तता तथा उसके आसन्न राष्ट्रीय पुनरुत्थान की नयी गारंटी है। और एक स्वतंत्र,

मजबूत पोलैंड का पुनरुत्थान ऐसा मामला है जो केवल पोलों से ही नहीं, वरन हम से भी सरोकार रखता है। यूरोपीय राष्ट्रों का ईमानदारी भरा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तभी सम्भव है जब इनमें से हर राष्ट्र अपने में पूर्णतया स्वायत्तशासी हो। १८४८ की क्रान्ति ने, जिसने सर्वहारा के झंडे के नीचे सर्वहारा योद्धाओं से केवल पूंजीपति वर्ग का काम कराया, अपनी वसीयत के निष्पादकों – लूई बोनापार्त तथा बिस्मार्क – के जरिये इटली, जर्मनी तथा हंगरी के लिए भी आजादी हासिल की; परन्तु पोलैंड को, जिसके द्वारा १७९२ से क्रान्ति के लिए किया जानेवाला कार्य इन तीनों के कुल कार्य से अधिक था, उस समय जब उसने १८६३ में[58] दस गुनी अधिक रूसी शक्ति के सामने शिकस्त खायी, अपने संसाधनों के सहारे छोड़ दिया गया। अभिजात वर्ग पोलिश स्वतंत्रता को न तो बरक़रार रख सका और न उसे फिर से हासिल कर सका। पूंजीपति वर्ग के लिए यह स्वतंत्रता आज कम से कम ऐसी तो है ही जिसके प्रति वह उदासीन रह सकता है। फिर भी यूरोपीय राष्ट्रों के सामंजस्यपूर्ण सहयोग के लिए वह आवश्यक है। उसे केवल तरुण पोलिश सर्वहारा वर्ग हासिल कर सकता है और उसके हाथों में वह सुरक्षित भी है। बात यह है कि यूरोप के बाक़ी सभी मजदूरों के लिए पोलैंड की स्वतंत्रता उतनी ही आवश्यक है जितनी वह स्वयं पोलिश मजदूरों के लिए है।

फ़्रे० एंगेल्स

लन्दन, १० फ़रवरी १८९२

१८९३ के इतालवी संस्करण की फ़्रे० एंगेल्स की भूमिका

इतालवी पाठक के नाम

कहा जा सकता है कि 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र' के प्रकाशन का १८ मई १८४८ के दिन के साथ, मिलान तथा बर्लिन में उन क्रान्तियों के दिन के साथ संयोग हुआ है जो दो राष्ट्रों के सशस्त्र विद्रोह थे: इनमें से एक राष्ट्र तो यूरोपीय महाद्वीप के केन्द्र में तथा दूसरा भूमध्यसागरीय क्षेत्र के केन्द्र में स्थित है; ये दो राष्ट्र तब तक फूट तथा आन्तरिक कलह के कारण दुर्बल पड़े हुए थे तथा इस कारण वे विदेशी आधिपत्य के चंगुल में फंस गये। जहां इटली आस्ट्रिया के

सम्राट के मातहत था, वहां जर्मनी रूसी साम्राज्य के ज़ारों के जूए के, जो अधिक परोक्ष होते हुए भी कम कारगर नहीं था, मातहत था। १८ मार्च १८४८ के नतीजों ने इटली तथा जर्मनी दोनों का यह कलंक धो दिया; अगर १८४८ से १८७१ तक ये दो महान राष्ट्र पुनर्गठित हुए और फिर से स्वतंत्र हो गये, तो इसकी वजह, जैसा कि मार्क्स कहा करते थे, यह थी कि जिन लोगों ने १८४८ की क्रान्ति को कुचला था, वे ही न चाहते हुए भी उसकी वसीयत के निष्पादक बन गये।

वह क्रान्ति सर्वत्र मज़दूर वर्ग का कार्य थी; मज़दूर वर्ग ने ही बैरीकेडों का निर्माण किया था और उसका मूल्य अपना ख़ून देकर चुकाया था। सिर्फ़ पेरिस के मज़दूर ही ऐसे लोग थे जिनका पूंजीपति वर्ग का तख़्ता उलटने का एक निश्चित इरादा था। वे अपने वर्ग तथा पूंजीपति वर्ग के बीच विद्यमान अवश्यम्भावी वैरभाव से अवश्य अवगत थे, फिर भी न देश की आर्थिक प्रगति और न आम फ़्रांसीसी मज़दूरों का बौद्धिक विकास अभी ऐसी मंज़िल पर पहुंच पाये थे जो सामाजिक पुनर्निर्माण को सम्भव बनाती। अतः अन्ततोगत्वा क्रान्ति के फल पूंजीपति वर्ग द्वारा बटोरे गये। दूसरे देशों में, इटली, जर्मनी तथा आस्ट्रिया में मज़दूर पूंजीपति वर्ग को सत्ता तक पहुंचाने के अलावा और कुछ नहीं कर सके। परन्तु किसी भी देश में पूंजीपति वर्ग का शासन राष्ट्रीय स्वाधीनता के बिना असम्भव है। अतः १८४८ की क्रान्ति अपने साथ उन राष्ट्रों की एकता तथा स्वायत्तता लायी जिन में उनका तब तक अभाव था – इटली, जर्मनी, हंगरी; अब पोलैंड की बारी है।

इस तरह १८४८ की क्रान्ति भले ही समाजवादी क्रान्ति न रही हो, उसने उसके लिए पथ प्रशस्त किया, उसकी आधारभूमि तैयार की। तमाम देशों में बड़े पैमाने के उद्योग के विकास के कारण पूंजीवादी शासन व्यवस्था ने पिछले ४५ वर्षों के दौरान सर्वत्र बहुत बड़ी तादाद वाले, संकेन्द्रित तथा सशक्त सर्वहारा वर्ग का निर्माण किया। इस तरह उसने 'घोषणापत्र' के शब्दों में अपनी क़ब्र खोदनेवाले तैयार कर दिये। हर राष्ट्र की स्वायत्तता तथा एकता को पुनःस्थापित किये बिना सर्वहारा वर्ग की अन्तर्राष्ट्रीय एकता अथवा समान लक्ष्यों की प्राप्ति में इन राष्ट्रों का शान्तिपूर्ण सचेतन सहयोग हासिल करना असम्भव होगा। ज़रा १८४८ के पूर्व की राजनीतिक अवस्थाओं में इतालवी, हंगेरियाई, जर्मन, पोलिश तथा रूसी मज़दूरों की संयुक्त अन्तर्राष्ट्रीय कार्रवाई की कल्पना तो कीजिये!

इसलिए १८४८ की लड़ाई बेकार नहीं लड़ी गयी। उस क्रान्तिकारी युग से

हमें अलग करनेवाले ४५ वर्ष भी निरुद्देश्य नहीं रहे। फल परिपक्व हो रहे हैं, और मैं केवल यही कामना करता हूं कि इस इतालवी अनुवाद का प्रकाशन इतालवी सर्वहारा की विजय के लिए उसी तरह शुभ हो जिस तरह मूल का प्रकाशन अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति के लिए शुभ रहा।

'घोषणापत्र' अतीत में पूंजीवाद द्वारा अदा की गयी क्रान्तिकारी भूमिका के साथ पूरा न्याय करता है। पहला पूंजीवादी राष्ट्र इटली था। सामन्ती मध्य युग के अन्त तथा आधुनिक पूंजीवादी युग के समारम्भ का द्योतक एक विराट मानव है, वह है एक इतालवी दांते, मध्य युग का अन्तिम कवि तथा आधुनिक युग का प्रथम कवि। सन १३०० की भांति आज भी नूतन ऐतिहासिक युग समीप आता जा रहा है। क्या इटली हमें ऐसा नया दांते देगा जो इस नये, सर्वहारा युग के जन्म की घड़ी का द्योतक होगा?

फ़्रेडरिक एंगेल्स

लन्दन, १ फ़रवरी १८९३

कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र[39]

आज यूरोप को एक भूत आतंकित कर रहा है—कम्युनिज़्म का भूत। इस भूत को भगाने के लिए पोप और ज़ार, मेट्टरनिख़ और गीज़ो, फ़्रांसीसी उग्रवादी और जर्मन ख़ुफ़िया पुलिस—बूढ़े यूरोप के सारे सत्ताधारी एक हो गये हैं।

कौनसी ऐसी विरोधी पार्टी है जिसे उसके सत्तारूढ़ विरोधियों ने कम्युनिस्ट कहकर बदनाम न किया हो? कौनसी ऐसी विरोधी पार्टी है जिसने पलटकर अपने से अधिक आगे बढ़ी हुई विरोधी पार्टियों और अपने प्रतिक्रियावादी विरोधियों—दोनों पर ही कम्युनिस्ट होने का आरोप लगाकर उनकी भर्त्सना न की हो?

इस तथ्य से दो बातें निकलती हैं:

१. यूरोप के सभी सत्ताधारियों ने स्वीकार कर लिया है कि कम्युनिज़्म स्वयं एक शक्ति है।

२. अब समय आ गया है कि कम्युनिस्ट खुले आम तमाम दुनिया के सामने अपने विचारों, उद्देश्यों और अपनी प्रवृत्तियों को प्रकाशित करें और कम्युनिज़्म के भूत की इस नानी की कहानी का पार्टी के अपने एक घोषणापत्र द्वारा ख़ात्मा कर दें।

इसी उद्देश्य से विभिन्न राष्ट्रों के कम्युनिस्ट लन्दन में जमा हुए और उन्होंने निम्नलिखित 'घोषणापत्र' तैयार किया जो अंग्रेज़ी, फ़्रांसीसी, जर्मन, इतालवी, फ़्लेमिश और डेनिश भाषाओं में प्रकाशित किया जायेगा।

१

पूंजीपति और सर्वहारा*

अभी तक आविर्भूत समस्त समाज का इतिहास** वर्ग-संघर्षों का इतिहास रहा है।

स्वतंत्र मनुष्य और दास, पेट्रीशियन और प्लेबियन, सामन्त और भू-दास,

---

*पूंजीपति से मतलब आधुनिक पूंजीपति वर्ग से, अर्थात् सामाजिक उत्पादन के साधनों के स्वामियों, उजरती श्रम का उपयोग करनेवालों से है। सर्वहारा से मतलब आधुनिक उजरती मजदूरों से है, जिनके पास उत्पादन का अपना ख़ुद का कोई साधन नहीं होता, इसलिए जो जीवित रहने के लिए अपनी श्रम-शक्ति को बेचने को विवश होते हैं। (**१८८८ के अंग्रेजी संस्करण में एंगेल्स का नोट।**)

अर्थात् समस्त **लिपिबद्ध इतिहास। १८४७ में समाज का पूर्व-इतिहास, अर्थात् लिखित इतिहास के पहले का सामाजिक संगठन, बिल्कुल अज्ञात था। उसके बाद हक्स्ट्हाउज़ेन ने रूस में भूमि के सामुदायिक स्वामित्व का पता लगाया; मारेर ने सिद्ध किया कि यही वह सामाजिक आधार था, जिसे ग्रहण कर ट्यूटन नस्लों ने इतिहास में पदार्पण किया और धीरे-धीरे यह पता चला कि भारत से आयरलैंड तक हर जगह ग्राम-समुदाय ही समाज का आदि रूप था या रहा होगा। इस आदिम कम्युनिस्ट समाज के आंतरिक संगठन का अपने ठेठ रूप में स्पष्टीकरण मोर्गन की **गोत्र** के असली स्वरूप और **क़बीले** के साथ उसके वास्तविक संबंध की महती खोज द्वारा हुआ। इस आदिम समुदाय के मिट जाने के साथ समाज में अलग-अलग और अंततः विरोधी वर्गों का विभेद होने लगता है। मैंने अपनी पुस्तक *«Der Ursprung der Familie, des Privateigentums und des Staats»*, 2. Aufl., Stuttgart, 1886, ('परिवार, निजी संपत्ति तथा राज्य की उत्पत्ति', दूसरा जर्मन संस्करण, स्टूटगार्ट, १८८६) में इन ग्राम-समुदायों के विघटन की प्रक्रिया पर नज़र दौड़ाने की कोशिश की है। (**१८८८ के अंग्रेजी संस्करण में एंगेल्स का नोट।**)[54]

शिल्प-संघ का उस्ताद-कारीगर* और मजदूर-कारीगर – संक्षेप में उत्पीड़क और उत्पीड़ित बराबर एक दूसरे का विरोध करते आये हैं। वे कभी छिपे, कभी प्रकट रूप से लगातार एक दूसरे से लड़ते रहे हैं, जिस लड़ाई का अन्त हर बार या तो पूरे समाज के क्रांतिकारी पुनर्गठन में, या संघर्षरत दोनों ही वर्गों की बर्बादी में हुआ है।

इतिहास के विगत युगों में हम प्रायः हर जगह विभिन्न सामाजिक श्रेणियों में विभाजित समाज का एक पेचीदा ढांचा पाते हैं – सामाजिक श्रेणियों की नानारूपी दर्जाबन्दी। प्राचीन रोम में पेट्रीशियन, नाइट, प्लेबियन और दास मिलते हैं। मध्य युग में सामंती लार्ड, अधीन जागीरदार, उस्ताद-कारीगर, मजदूर-कारीगर, भू-दास दिखाई देते हैं; और लगभग इन सभी वर्गों में गौण दर्जाबन्दियां होती हैं।

आधुनिक पूंजीवादी समाज ने, जो सामन्ती समाज के ध्वंस से पैदा हुआ है, वर्ग-विरोधों को ख़तम नहीं किया। उसने केवल पुराने के स्थान पर नये वर्ग, उत्पीड़न की पुरानी अवस्थाओं के स्थान पर नयी अवस्थाएं, और संघर्ष के पुराने रूपों की जगह नये रूप खड़े कर दिये हैं।

किन्तु दूसरे युगों की तुलना में हमारे युग की, पूंजीवादी युग की विशेषता यह है कि इसने वर्ग-विरोधों को सरल बना दिया है। आज पूरा समाज दो विशाल शत्रु शिविरों में, एक दूसरे के ख़िलाफ़ खड़े दो विशाल वर्गों में – पूंजीपति और सर्वहारा वर्गों में – अधिकाधिक विभक्त होता जा रहा है।

मध्य युग के भू-दासों से प्रारम्भिक शहरों के अधिकारपत्र प्राप्त बर्गर पैदा हुए थे। इन्हीं बर्गरों से आगे चलकर प्रथम पूंजीवादी तत्त्वों का विकास हुआ।

अमरीका की खोज और गुडहोप केप का रास्ता निकाल लेने से उदीयमान पूंजीपति वर्ग के प्रसार के लिए नया क्षेत्र खुल गया। भारत और चीन के बाजार, अमरीका के उपनिवेशन, उपनिवेशों के साथ व्यापार, विनिमय के साधनों और माल के उत्पादन में आम वृद्धि ने वाणिज्य, नौपरिवहन और उद्योग को, और फलस्वरूप लड़खड़ाते हुए सामन्ती समाज के क्रान्तिकारी तत्त्वों को, तेजी के साथ विकास करने का अभूतपूर्व अवसर दिया।

---

*शिल्प-संघ के उस्ताद-कारीगर से मतलब शिल्प-संघ के अध्यक्ष से नहीं, उसके पूर्ण अधिकारप्राप्त सदस्य से है, जिसे शिल्प-संघ के अंदर उस्ताद का स्थान प्राप्त था। (१८८८ के अंग्रेजी संस्करण में एंगेल्स का नोट।)

उद्योग की सामंती प्रणाली, जिसमें औद्योगिक उत्पादन पर बन्द शिल्प-संघों का एकाधिकार होता था, नये बाज़ारों की बढ़ती हुई जरूरतों की पूर्ति के लिए अब काफ़ी न थी। अतः उसकी जगह मैनुफ़ेक्चर की प्रथा ने ले ली। शिल्प-संघ के उस्ताद-कारीगरों को मैनुफ़ेक्चरिंग मध्यम वर्ग ने ढकेलकर एक ओर कर दिया। अलग-अलग निगमित शिल्प-संघों का श्रम-विभाजन एक ही अकेले वर्कशाप के श्रम-विभाजन के आगे लुप्त हो गया।

इस बीच बाज़ार बराबर बढ़ते गये और माल की मांग भी बराबर बढ़ती गयी। ऐसी दशा में मैनुफ़ेक्चर की प्रथा भी नाकाफ़ी सिद्ध होने लगी। तब भाप और मशीन के उपयोग ने औद्योगिक उत्पादन में क्रान्ति पैदा कर दी। अतः अब मैनुफ़ेक्चर का स्थान आधुनिक उद्योग ने, और औद्योगिक मध्यम वर्ग का स्थान औद्योगिक धन्नासेठों ने, उद्योग के बड़े-बड़े लशकरों के मालिकों ने, आधुनिक पूंजीपतियों ने ले लिया।

आधुनिक उद्योग ने विश्व-बाज़ार की स्थापना की है, जिसके लिए अमरीका की खोज ने पथ प्रशस्त कर दिया था। इस बाज़ार ने वाणिज्य, नौपरिवहन और स्थल संचार की जबर्दस्त उन्नति की। आगे चलकर इस उन्नति का प्रभाव उद्योग के विस्तरण पर पड़ा; और जिस अनुपात में उद्योग, वाणिज्य, नौपरिवहन और रेलवे में वृद्धि हुई, उसी अनुपात में पूंजीपति वर्ग ने उन्नति की और उसकी पूंजी बढ़ी, और उसने मध्य युग से चले आते हुए प्रत्येक वर्ग को पृष्ठभूमि में ढकेल दिया।

चुनांचे हम देखते हैं कि किस तरह आधुनिक पूंजीपति वर्ग स्वयं एक लम्बे विकासक्रम की, उत्पादन और विनिमय की प्रणालियों में हुई अनेक क्रान्तियों की उपज है।

पूंजीपति वर्ग की उन्नति के प्रत्येक पग के साथ उस वर्ग की तदनुरूप राजनीतिक उन्नति हुई। सामन्तों के प्रभुत्व काल में वह एक उत्पीड़ित वर्ग था। मध्ययुगीन कम्यून* में वह सशस्त्र और स्वशासित साहचर्य था; कहीं पर (जैसे इटली और जर्मनी में) स्वतंत्र शहरी प्रजातंत्र और कहीं पर (जैसे फ़्रांस में) राजतंत्रीय श्रेणी-व्यवस्था की कराधीन "तृतीय श्रेणी"; बाद में मैनुफ़ेक्चर की

*फ़्रांस के नवोदित नगरों ने अपने सामन्ती प्रभुओं और मालिकों से स्थानीय स्वशासन और "तृतीय श्रेणी" के रूप में राजनीतिक अधिकार जीतने के पहले ही अपने को "कम्यून" कहना शुरू कर दिया था। आम तौर से यहां पूंजीपति वर्ग के आर्थिक विकास के सम्बन्ध में इंगलैंड को और राजनीतिक विकास के

प्रथा के दौरान उसने अभिजात वर्ग के प्रतिसंतुलन के रूप में अर्द्धसामंती अथवा पूर्ण निरंकुश राजतंत्रों की सेवा की, और आम तौर पर शक्तिशाली राजतन्त्रों की आधारशिला का काम किया तथा अंततः आधुनिक उद्योग और विश्व-बाज़ार की स्थापना के बाद आधुनिक प्रातिनिधिक राज्य में अनन्य रूप से अपने लिए पूर्ण राजनीतिक प्रभुत्व जीत लिया। आधुनिक राज्य का कार्यकारी मंडल पूरे पूंजीपति वर्ग के सम्मिलित हितों का प्रबन्ध करनेवाली कमेटी के अलावा और कुछ नहीं है।

पूंजीपति वर्ग ने इतिहास में बहुत ही क्रान्तिकारी भूमिका अदा की है।

पूंजीपति वर्ग ने, जहां पर भी उसका पलड़ा भारी हुआ, वहां सभी सामन्ती, पितृसत्तात्मक और "काव्यात्मक" संबंधों का अन्त कर दिया। उसने मनुष्य को अपने "स्वाभाविक बड़ों" के साथ बांध रखनेवाले नाना प्रकार के सामंती सम्बन्धों को निर्ममता से तोड़ डाला; और नग्न स्वार्थ के, "नक़द पैसे-कौड़ी" के हृदयशून्य व्यवहार के सिवा मनुष्यों के बीच और कोई दूसरा संबंध बाक़ी नहीं रहने दिया। धार्मिक श्रद्धा के स्वर्गोपम आनन्दातिरेक को, वीरोचित उत्साह और कूपमंडूकतापूर्ण भावुकता को उसने आना-पाई के स्वार्थी हिसाब-किताब के बर्फ़ीले पानी में डुबा दिया है। मनुष्य के वैयक्तिक मूल्य को उसने विनिमय-मूल्य बना दिया है, और पहले के अनगिनत प्रदत्त और हासिल किये गये स्वातंत्र्यों की जगह अब उसने उस **एक** निर्लज्जतापूर्ण स्वातंत्र्य की स्थापना की है जिसे मुक्त व्यापार कहते हैं। एक शब्द में, धार्मिक और राजनीतिक धोखे की टट्टी के पीछे छिपे शोषण के स्थान पर उसने नग्न, निर्लज्ज, प्रत्यक्ष और पाशविक शोषण की स्थापना की है।

जिन पेशों के संबंध में अब तक लोगों के मन में आदर और श्रद्धा की भावना थी, उन सबका प्रभामण्डल पूंजीपति वर्ग ने छीन लिया। वकील, डाक्टर, पुरोहित, कवि और वैज्ञानिक, सभी को उसने अपना वेतन-भोगी मज़दूर बना लिया है।

सम्बन्ध में फ़्रांस को उदाहरण माना गया है। (**१८८८ के अंग्रेज़ी संस्करण में एंगेल्स का नोट।**)

इटली और फ़्रांस के शहरियों ने अपने शहरी समुदायों को, सामन्ती प्रभुओं से स्वशासन के अपने प्रारम्भिक अधिकारों को ख़रीद लेने या छीन लेने के बाद, यही नाम दिया था। (**१८९० के जर्मन संस्करण में एंगेल्स का नोट।**)

पूंजीपति वर्ग ने पारिवारिक सम्बन्धों के ऊपर से भावुकता का पर्दा उतार फेंका है और पारिवारिक सम्बन्ध को केवल द्रव्य के सम्बन्ध में बदल दिया है।

पूंजीपति वर्ग ने दिखा दिया है कि मध्य युग में शक्ति के उन बर्बर प्रदर्शनों के साथ-साथ, जिनकी प्रतिगामी लोग इतनी तारीफ़ करते हैं, अकर्मण्यता और आलस्य कैसे और क्यों जुड़े हुए थे। उसने सबसे पहले दिखलाया कि मानव की क्रियाशक्ति क्या कुछ कर सकती है। उसने जो जादू कर दिखाया है वह मिस्र के पिरामिडों, रोम की जल-प्रणाली और गोथिक गिरजाघरों से कहीं अधिक आश्चर्यजनक है। उसने जैसे बड़े-बड़े अभियान आयोजित किये हैं, उनके सामने पुराने समय की जातियों के समस्त निष्क्रमण और धार्मिक अभियान[55] फीके पड़ जाते हैं।

उत्पादन के औज़ारों में लगातार क्रांतिकारी परिवर्तन और उसके फलस्वरूप उत्पादन के सम्बन्धों में, और साथ-साथ समाज के सारे सम्बन्धों में क्रांतिकारी परिवर्तन के बिना पूंजीपति वर्ग जीवित नहीं रह सकता। इसके विपरीत, उत्पादन के पुराने तरीक़ों को ज्यों का त्यों बनाये रखना पहले के सभी औद्योगिक वर्गों के जीवित रहने की पहली शर्त थी। उत्पादन प्रणाली में निरंतर क्रान्तिकारी परिवर्तन, सभी सामाजिक अवस्थाओं में लगातार उथल-पुथल, शाश्वत अनिश्चयता और हलचल – ये चीज़ें पूंजीवादी युग को पहले के सभी युगों से अलग करती हैं। सभी स्थिर और जड़ीभूत सम्बन्ध, जिनके साथ प्राचीन और पूज्य पूर्वाग्रहों तथा मतों की एक पूरी शृंखला होती है, मिटा दिये जाते हैं, और सभी नये बननेवाले सम्बन्ध जड़ीभूत होने के पहले ही पुराने पड़ जाते हैं। जो कुछ भी ठोस है वह हवा में उड़ जाता है, जो कुछ पावन है, वह भ्रष्ट हो जाता है, और आख़िरकार मनुष्य संजीदा नज़र से जीवन की वास्तविक हालतों को, मानव मानव के आपसी सम्बन्धों को देखने के लिए मजबूर हो जाता है।

अपने माल के लिए बराबर फैलते हुए बाज़ार की ज़रूरत के कारण पूंजीपति वर्ग दुनिया के कोने-कोने की ख़ाक छानता है। वह हर जगह घुसने को, हर जगह पैर जमाने को, हर जगह सम्पर्क क़ायम करने को बाध्य होता है।

विश्व-बाज़ार का अपने लाभ के लिए इस्तेमाल कर पूंजीपति वर्ग ने हर देश में उत्पादन और खपत को एक सार्वभौमिक रूप दे दिया है। प्रतिगामियों की भावनाओं को गहरी चोट पहुंचाते हुए उसने उद्योग के पैरों के नीचे से उस राष्ट्रीय आधार को खिसका दिया है जिसपर वह खड़ा था। पुराने जमे-जमाये सभी राष्ट्रीय उद्योग या तो नष्ट कर दिये गये हैं या हर रोज़ नष्ट किये जा रहे

हैं। उनका स्थान ऐसे नये-नये उद्योग ले रहे हैं, जिनकी स्थापना सभी सभ्य देशों के लिए जीवन-मरण का प्रश्न बन जाती है; ऐसे नये उद्योग ले रहे हैं जो उत्पादन के लिए अब अपने देश का कच्चा माल नहीं इस्तेमाल करते, बल्कि दूर-दूर देशों से लाया हुआ कच्चा माल इस्तेमाल करते हैं; ऐसे उद्योग ले रहे हैं जिनके उत्पादन की खपत सिर्फ़ उसी देश में नहीं, बल्कि पृथ्वी के कोने-कोने में होती है। उन पुरानी आवश्यकताओं की जगह, जिन्हें स्वदेश की बनी चीज़ों से पूरा किया जाता था, अब ऐसी नयी-नयी आवश्यकताएं पैदा हो गयी हैं जिन्हें पूरा करने के लिए दूर-दूर के देशों और भू-भागों से माल मंगाना होता है। पुरानी स्थानीय और राष्ट्रीय पृथक्ता और आत्मनिर्भरता का स्थान चौतरफ़ा, अन्तःसम्पर्क ने, समस्त राष्ट्रों की परस्पर निर्भरता ने ले लिया है। और भौतिक उत्पादन की ही तरह, बौद्धिक उत्पादन के जगत् में भी यही परिवर्तन घटित हुआ है। अलग-अलग राष्ट्रों की बौद्धिक कृतियां सार्वभौमिक सम्पत्ति बन गयी हैं। राष्ट्रीय एकांगीपन और संकुचित दृष्टिकोण दोनों अधिकाधिक असंभव होते जा रहे हैं, और अनेक राष्ट्रीय और स्थानीय साहित्यों से एक विश्व-साहित्य उत्पन्न हो रहा है।

उत्पादन के तमाम औज़ारों में तीव्र उन्नति और संचार-साधनों की विपुल सुविधाओं के कारण पूंजीपति वर्ग सभी राष्ट्रों को, यहां तक कि बर्बर से बर्बर राष्ट्रों को भी सभ्यता की परिधि में खींच लाता है। उसके माल की सस्ती क़ीमत एक ऐसा तोपख़ाना है जिसके ज़रिए वह सभी चीनी दीवारों को ढहा देता है, और विदेशियों के प्रति तीव्र और घोर घृणा रखनेवाली बर्बर जातियों को आत्मसमर्पण के लिए मजबूर कर देता है। प्रत्येक राष्ट्र को, इस भय से कि अन्यथा वह लुप्त हो जायेगा, वह पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली अपनाने के लिए मजबूर कर देता है; वह उन्हें मजबूर करता है कि, जिसे वह सभ्यता कहता है, उसे वे भी अपने बीच क़ायम करें, अर्थात् ख़ुद पूंजीपति बन जायें। संक्षेप में, पूंजीपति वर्ग सारे जगत् को अपने ही सांचे में ढाल देता है।

पूंजीपति वर्ग ने देहातों को शहरों के अधीन कर दिया है। उसने बहुत बड़े-बड़े शहर बसाये हैं और, देहातों की तुलना में शहरों की जनसंख्या में प्रचंड वृद्धि की है, और इस प्रकार जनसंख्या के एक बड़े भाग को देहाती जीवन की जड़ता से मुक्त किया है। जिस तरह पूंजीपति वर्ग ने देहातों को शहरों का आश्रित बना दिया है, उसी तरह उसने बर्बर और अर्द्धबर्बर देशों को सभ्य देशों का, कृषक-राष्ट्रों को पूंजीवादी राष्ट्रों का, पूरब को पश्चिम का आश्रित बना दिया है।

बिखरी हुई आबादी, बिखरे हुए उत्पादन के साधनों और बिखरी हुई संपत्ति को पूंजीपति वर्ग अधिकाधिक ख़तम करता जाता है। बिखरी हुई आबादियों को उसने एक जगह जमा किया है, उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण किया है, और सम्पत्ति को चन्द लोगों के हाथों में संकेंद्रित कर दिया है। राजनीतिक केन्द्रीकरण इसका अवश्यम्भावी परिणाम है। जो प्रांत पहले स्वतंत्र या ढीले-ढाले ढंग से सम्बद्ध थे और जिनके हित और क़ानून, जिनकी सरकारें और कर-प्रणालियां अलग-अलग थीं, वे समूहबद्ध होकर, एक सरकार, एक विधि-संहिता, एक राष्ट्रीय वर्ग-हित, एक सीमा और कर-प्रणाली के साथ, आज एक राष्ट्र बन गये हैं।

मुश्किल से अपने एक शताब्दी के शासन-काल में पूंजीपति वर्ग ने जितनी शक्तिशाली और प्रचंड उत्पादन शक्तियां उत्पन्न की हैं, उतनी पिछली तमाम पीढ़ियों में मिलाकर भी नहीं उत्पन्न हुईं। प्राकृतिक शक्तियों का मनुष्य द्वारा वशीभूत किया जाना, मशीनों का उपयोग, उद्योग और खेतीबारी में रसायन-शास्त्र का प्रयोग, वाष्प-चालित परिवहन, रेलवे, बिजली के तार, पूरे के पूरे महाद्वीपों का खेती के लिए साफ़ किया जाना, नदियों से नहरों की निकासी, पूरी आबादियों का मानो छूमंतर से पैदा हो जाना, क्या पिछली शताब्दियों में कोई यह सोच भी सकता था कि सामाजिक श्रम के गर्भ में ऐसी उत्पादक शक्तियां सोयी पड़ी हैं?

तो हम देखते हैं: उत्पादन और विनिमय के साधन, जिनकी बुनियाद पर पूंजीपति वर्ग ने अपना निर्माण किया है, सामन्ती समाज में ही पैदा हो गये थे। लेकिन उत्पादन और विनिमय के साधनों के विकास की एक ख़ास मंजिल पर वे अवस्थाएं, जिनमें सामन्ती समाज उत्पादन और विनिमय करता था, अर्थात् कृषि और मैनुफ़ेक्चर उद्योग का सामन्ती संगठन, या यूं कहिए कि सम्पत्ति के सामंती सम्बन्ध, नवोन्नत उत्पादक शक्तियों से बिल्कुल बेमेल हो गये; वे बहुत सारी बेड़ियां बन गये। उन्हें तोड़ फेंकना आवश्यक हो गया, और उन्हें तोड़ फेंका गया।

उनका स्थान पूंजीपति वर्ग के आर्थिक और राजनीतिक प्रभुत्व और अनुकूल सामाजिक और राजनीतिक ढांचे के साथ मुक्त होड़ ने ले लिया।

आज हमारे सामने ठीक इसी तरह की गति हो रही है। उत्पादन, विनिमय और सम्पत्ति के अपने सम्बन्धों सहित आधुनिक पूंजीवादी समाज, वह समाज जिसने तिलस्म से उत्पादन और विनिमय के ऐसे विशाल साधनों को खड़ा कर

दिया है, एक ऐसे जादूगर के समान है जिसने अपने जादू के ज़ोर से पाताल लोक की शक्तियों को बुला तो लिया है, लेकिन अब इन्हें क़ाबू में रखने में वह असमर्थ है। पिछले कई दशकों से उद्योग और वाणिज्य का इतिहास आधुनिक उत्पादक शक्तियों का उत्पादन की आधुनिक अवस्थाओं के खिलाफ़, सम्पत्ति के उन सम्बन्धों के खिलाफ़ विद्रोह का ही इतिहास है, जो पूंजीपति वर्ग और उसके शासन के अस्तित्व की शर्तें हैं। यहां पर उन वाणिज्यिक संकटों का ज़िक्र कर देना काफ़ी है जिनके नियतकालिक आवर्तन द्वारा पूंजीवादी समाज के अस्तित्व की, हर बार अधिक सख़्ती के साथ, परीक्षा होती है। इन संकटों में न केवल मौजूदा पैदावार के ही बल्कि पहले से उत्पन्न उत्पादक शक्तियों के भी एक बड़े भाग को भी समय-समय पर नष्ट कर दिया जाता है। इन संकटों के समय एक महामारी फट पड़ती है जो पिछले तमाम युगों में एक बिल्कुल बेतुकी बात समझी जाती— अर्थात् अतिउत्पादन की महामारी। समाज अचानक अपने को क्षणिक बर्बरता की अवस्था में लौटा हुआ पाता है; ऐसा लगता है कि उसके जीवन-निर्वाह के तमाम साधनों को किसी अकाल या सर्वनाशी विश्व-युद्ध ने एकबारगी ख़तम कर दिया है; उद्योग और वाणिज्य नष्ट हो गये ज्ञात होते हैं। और यह सब क्यों? इसलिए कि समाज में सभ्यता का, जीवन-निर्वाह के साधनों का, उद्योग और वाणिज्य का अजीर्ण हो गया है। समाज की मौजूदा उत्पादक शक्तियां पूंजीवादी सम्पत्ति की अवस्थाओं को अब उन्नत नहीं करतीं; बल्कि वे इन अवस्थाओं के लिए बहुत ज्यादा मजबूत बन जाती हैं, जिनकी बेड़ियों में वे जकड़ी हुई होती हैं; और जैसे ही वे इन बेड़ियों को तोड़ देती हैं वैसे ही वे पूरे पूंजीवादी समाज में अव्यवस्था पैदा कर देती हैं, पूंजीवादी संपत्ति को ख़तरे में डाल देती हैं। पूंजीवादी समाज की अवस्थायें उनके द्वारा उत्पादित संपत्ति को समाविष्ट करने के लिए बहुत संकुचित हो जाती हैं। पूंजीपति वर्ग इन संकटों से किस प्रकार अपने को उबारता है? एक ओर उत्पादक शक्तियों के एक बड़े भाग को जबरदस्ती नष्ट करके और दूसरी ओर नये-नये बाजारों पर क़ब्ज़ा जमा कर और साथ ही पुराने बाजारों का और भी मुकम्मल तौर पर इस्तेमाल कर—यानी और भी वृहत् और विनाशकारी संकटों के लिए पथ प्रशस्त कर, और इन संकटों के रोकने के साधनों को घटाकर।

जिन हथियारों से पूंजीपति वर्ग ने सामन्तवाद को मार गिराया था, वे ही अब पूंजीपति वर्ग के खिलाफ़ मोड़ दिये जाते हैं।

किन्तु पूंजीपति वर्ग ने ऐसे हथियारों को ही नहीं गढ़ा है जो उसका अन्त

कर देंगे, बल्कि उसने ऐसे आदमियों को भी पैदा किया है जो इन हथियारों का इस्तेमाल करेंगे — आज के मज़दूर, आज का **सर्वहारा वर्ग।**

जिस अनुपात में पूंजीपति वर्ग का, अर्थात् पूंजी का विकास होता है, उसी अनुपात में सर्वहारा वर्ग का, आधुनिक मज़दूरों के एक वर्ग का विकास होता है जो तभी तक ज़िन्दा रह सकते हैं जब तक उन्हें काम मिलता जाये, और उन्हें काम तभी तक मिलता है, जब तक उनका श्रम पूंजी में वृद्धि करता है। ये मज़दूर, जो अपने को अलग-अलग बेचने के लिए लाचार हैं, अन्य व्यापारिक माल की तरह ख़ुद भी माल हैं, और इसलिए वे होड़ के हर उतार-चढ़ाव तथा बाज़ार की हर तेज़ी-मन्दी के शिकार होते हैं।

मशीनों के विस्तृत इस्तेमाल तथा श्रम-विभाजन के कारण सर्वहाराओं के काम का वैयक्तिक चरित्र नष्ट हो गया है, और इसलिए यह काम उनके लिए आकर्षक नहीं रह गया है। मज़दूर मशीन का पुछल्ला बन जाता है और उससे सबसे सरल, नीरस और आसानी से प्राप्त योग्यता की मांग की जाती है। इसलिए मज़दूर के "उत्पादन" पर ख़र्च लगभग पूर्णत: उसके जीवन-निर्वाह और वंश-वृद्धि के लिए आवश्यक साधनों तक सीमित रह गया है। लेकिन हर माल का, और इसलिए श्रम का भी दाम[56] उसके उत्पादन में लगे हुए ख़र्च के बराबर होता है। अत: जिस अनुपात में काम की अरुचिकरता में वृद्धि होती है, उसी अनुपात में मज़दूरी घटती है। यही नहीं, जिस मात्रा में मशीनों का इस्तेमाल तथा श्रम का विभाजन बढ़ता है उसी मात्रा में श्रम का बोझ भी बढ़ता जाता है, चाहे यह काम के घंटे बढ़ाने के ज़रिये हो या निर्धारित समय में मज़दूरों से अधिक काम लेने या मशीन की रफ़्तार बढ़ाने आदि के ज़रिये।

आधुनिक उद्योग ने पितृसत्तात्मक उस्ताद के छोटे-से वर्कशाप को औद्योगिक पूंजीपति के विशाल कारख़ाने में बदल दिया है। कारख़ाने में भरे झुंड के झुंड मज़दूर सैनिकों की तरह संगठित किये जाते हैं। औद्योगिक फ़ौज के सिपाहियों की तरह वे बाक़ायदा एक दरजावार तरतीब में बंटे हुए अफ़सरों और साजटों की कमान में रखे जाते हैं। वे केवल पूंजीपति वर्ग और पूंजीवादी राज्य के ही ग़ुलाम नहीं हैं; बल्कि हर दिन, हर घंटे वे मशीन के, ओवरसियर के, और सर्वोपरि ख़ुद कारख़ानेदार पूंजीपति के ग़ुलाम होते हैं। यह तानाशाही जितनी ही अधिक खुलकर यह घोषित करती है कि मुनाफ़ा ही उसका लक्ष्य और उद्देश्य है, उतनी ही अधिक वह तुच्छ, घृणित और कटु होती है।

शारीरिक श्रम में जितनी ही प्रवीणता और मशक़्क़त की जरूरत कम होती जाती है, अर्थात् जितनी ही आधुनिक उद्योग में प्रगति होती जाती है, उतना ही अधिक पुरुषों का स्थान स्त्रियां लेती जाती हैं। जहां तक मज़दूर वर्ग का प्रश्न है, आयु और लिंगभेद का कोई विशिष्ट सामाजिक हेतु नहीं रह गया है। सभी श्रम के औज़ार हैं – आयु और लिंगभेद के अनुसार किसी पर कम ख़र्च बैठता है, तो किसी पर ज्यादा।

कारख़ानेदार द्वारा मज़दूर के शोषण का फ़िलहाल अन्त हुआ नहीं, और उसे नक़द मज़दूरी मिली नहीं, कि फ़ौरन पूंजीपति वर्ग के अन्य शोषक – मकान-मालिक, दूकानदार, गिरवी रखनेवाला महाजन आदि – उस पर टूट पड़ते हैं।

मध्यम वर्ग के नीचे के स्तर – छोटे कारख़ानेदार, छोटे व्यापारी, छोटे किरायजीवी, दस्तकार और किसान – ये सब धीरे-धीरे सर्वहारा वर्ग की स्थिति में पहुंच जाते हैं। कुछ तो इसलिए कि जिस पैमाने पर आधुनिक उद्योग चलता है उसके लिए उनकी छोटी पूंज़ी पूरी नहीं पड़ती और बड़े पूंजीपतियों के साथ होड़ में वह डूब जाती है; और कुछ इसलिए कि उत्पादन के नये-नये तरीक़ों के निकल आने के कारण उनके विशिष्टीकृत कौशल का कोई मूल्य नहीं रह जाता है। इस प्रकार आबादी के सभी वर्गों से सर्वहारा वर्ग की भर्ती होती है।

सर्वहारा वर्ग विकास की विभिन्न मंज़िलों से गुज़रता है। जन्म-काल से ही पूंजीपति वर्ग से उसका संघर्ष शुरू हो जाता है।

शुरू में अकेले-दुकेले मज़दूर लड़ते हैं, फिर एक कारख़ाने के मज़दूर मिलकर लड़ते हैं, तब फिर एक उद्योग के एक इलाक़े के सब मज़दूर एकसाथ उस पूंजीपति से मोर्चा लेते हैं जो उनका सीधे-सीधे शोषण करता है। उनका हमला उत्पादन की पूंजीवादी अवस्थाओं पर नहीं होता, बल्कि ख़ुद उत्पादन के औज़ारों पर होता है। वे अपनी मेहनत के साथ होड़ करनेवाले बाहर से मंगाये गये सामानों को नष्ट कर देते हैं, मशीनों को चूर कर देते हैं, फ़ैक्टरियों में आग लगा देते हैं और मध्य युग के कारीगर की खोई हुई हैसियत को फिर से क़ायम करने की बलपूर्वक कोशिश करते हैं।

इस अवस्था में मज़दूर देश भर में बिखरे हुए असंबद्ध और अपनी ही आपसी होड़ के कारण बंटे हुए जन-समुदाय होते हैं। अगर कहीं मिलकर वे अपना एक ठोस संगठन बना भी लेते हैं तो यह अभी उनके सक्रिय एके का फल नहीं, बल्कि पूंजीपति वर्ग के एके का फल होता है, क्योंकि पूंजीपति वर्ग को अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पूरे सर्वहारा वर्ग को गतिशील करना पड़ता है और

वह ऐसा करने में अभी कुछ समय तक समर्थ भी होता है। इसलिए इस अवस्था में सर्वहारा वर्ग अपने शत्रुओं से नहीं, बल्कि अपने शत्रुओं के शत्रुओं से, निरंकुश राजतंत्र के अवशेषों, भूस्वामियों, ग़ैर-औद्योगिक पूंजीपतियों, निम्नपूंजीपतियों से लड़ता है। इस प्रकार, इतिहास की समस्त गतिविधि के सूत्र पूंजीपतियों के हाथों में केन्द्रित रहते हैं; इस प्रकार हासिल की गयी हर जीत पूंजीपति वर्ग की जीत होती है।

लेकिन उद्योग के विकास के साथ-साथ सर्वहारा वर्ग की संख्या में ही वृद्धि नहीं होती, बल्कि वह बड़ी-बड़ी जमातों में संकेन्द्रित हो जाता है, उसकी ताक़त बढ़ जाती है, और उसे अपनी इस ताक़त का अधिकाधिक एहसास होने लगता है। मशीनें जिस अनुपात में श्रम के तमाम भेदों को मिटाती जाती हैं, और लगभग सभी जगह मज़दूरी को एक ही निम्न स्तर पर लाती जाती हैं, उसी अनुपात में सर्वहारा वर्ग की पांतों में नाना प्रकार के हित और जीवन की अवस्थायें अधिकाधिक एकसम होती जाती हैं। पूंजीपति वर्ग की बढ़ती हुई आपसी होड़, और उससे पैदा होनेवाले व्यापारिक संकटों के कारण मज़दूरों की मज़दूरी और भी अस्थिर हो जाती है। मशीनों में लगातार सुधार, जो निरंतर तेज़ी के साथ बढ़ता जाता है, मज़दूरों की जीविका को अधिकाधिक अनिश्चित बना देता है। अलग-अलग मज़दूरों और अलग-अलग पूंजीपतियों की टक्करें अधिकाधिक रूप से दो वर्गों के बीच की टक्करों की शक्ल अख़्तियार करती जाती हैं। और तब पूंजीपतियों के विरुद्ध मज़दूर अपने संगठन (ट्रेड-यूनियनें) बनाने लगते हैं, मज़दूरी की दर को क़ायम रखने के लिए वे संघबद्ध होते हैं; समय-समय पर होनेवाले इन विद्रोहों के लिए पहले से तैयार रहने के निमित्त वे स्थायी संघों की स्थापना करते हैं। जहां-तहां उनकी लड़ाई बलवों का रूप धारण कर लेती है।

जब-तब मज़दूरों की जीत भी होती है लेकिन केवल वक़्ती तौर पर। उनकी लड़ाइयों का असली फल तात्कालिक नतीजों में नहीं, बल्कि मज़दूरों की निरंतर बढ़ती हुई एकता में है। आधुनिक उद्योग द्वारा उत्पन्न किये गये संचार-साधनों से, जो अलग-अलग जगहों के मज़दूरों को एक दूसरे के सम्पर्क में ला देते हैं, एकता के इस काम में मदद मिलती है। एक ही प्रकार के अनगिनत स्थानीय संघर्षों को केन्द्रीकृत करके उन्हें एक राष्ट्रीय वर्ग-संघर्ष का रूप देने के लिए बस इसी प्रकार के सम्पर्क की ज़रूरत थी। लेकिन प्रत्येक वर्ग-संघर्ष एक राजनीतिक संघर्ष होता है। और उस एके को, जिसे हासिल करने के लिए पुराने ज़माने में यातायात

की घोर असुविधाओं के कारण मध्य युग के बर्गरों को सदियां लगी थीं, रेलों की कृपा से आधुनिक मज़दूर कुछ ही वर्षों में हासिल कर लेते हैं।

सर्वहाराओं का अपना वर्गरूपी संगठन और फलतः एक राजनीतिक पार्टी के रूप में उनका संगठन उनकी आपसी होड़ के कारण बराबर गड़बड़ी में पड़ जाता है। लेकिन हर बार वह फिर उठ खड़ा होता है—पहले से भी अधिक मज़बूत, दृढ़ और शक्तिशाली बनकर। ख़ुद पूंजीपति वर्ग की भीतरी फूटों का फ़ायदा उठाकर वह मज़दूरों के ख़ास-ख़ास हितों को क़ानूनी तौर पर भी मनवा लेता है। इंगलैंड में दस घंटे के काम के दिन का क़ानून इसी तरह पास हुआ था।

पुराने समाज के विभिन्न वर्गों की टक्करें कुल मिलाकर सर्वहारा वर्ग के विकास को अनेक रूपों में मदद ही पहुंचाती हैं। पूंजीपति वर्ग अपने को लगातार लड़ाई में फंसा पाता है: पहले अभिजात वर्ग के साथ, फिर ख़ुद पूंजीपति वर्ग के उन भागों के साथ, जिनके हित औद्योगिक प्रगति के प्रतिकूल हो जाते हैं और अन्ततः विदेशों के पूंजीपतियों के साथ तो सदा ही। इन तमाम लड़ाइयों में वह सर्वहारा वर्ग से अपील करने के लिए, उससे मदद मांगने के लिए और इस प्रकार उसे राजनीतिक अखाड़े में खींच लाने के लिए मजबूर होता है। अतः पूंजीपति वर्ग ख़ुद ही सर्वहारा वर्ग को अपने राजनीतिक और सामान्य शिक्षण के तत्वों से सम्पन्न कर देता है, अर्थात् उनके हाथ में पूंजीपति वर्ग से लड़ने के लिए हथियार देता है।

इसके अलावा, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, उद्योग की उन्नति के कारण शासक वर्गों के पूरे के पूरे समूह सर्वहाराओं की अवस्था में पहुंचा दिये जाते हैं, या कम से कम उनके अस्तित्व की अवस्थाओं के लिए ख़तरा पैदा हो जाता है। ये लोग भी सर्वहारा वर्ग को ज्ञानोद्दीप्ति और प्रगति के नये तत्त्व प्रदान करते हैं।

अन्त में, वर्ग-संघर्ष जब निर्णायक घड़ी के नज़दीक पहुंच जाता है, तब शासक वर्ग में, वास्तव में सम्पूर्ण पुराने समाज के अन्दर हो रही विघटन की प्रक्रिया इतना प्रचंड और प्रत्यक्ष रूप धारण कर लेती है कि शासक वर्ग का एक छोटा-सा हिस्सा उससे अलग होकर क्रान्तिकारी वर्ग के साथ—उस वर्ग के साथ जिसके हाथ में भविष्य होता है—आ मिलता है। इसलिए, जिस तरह पहले के युग में सामन्तों का एक भाग टूटकर पूंजीपति वर्ग से आ मिला था, उसी तरह अब पूंजीपति वर्ग का एक हिस्सा, और ख़ास तौर से पूंजीवादी विचारकों का एक हिस्सा, जिसने अपने को इतिहास की समग्र गति को सैद्धांतिक रूप में समझने के योग्य स्तर पर उठा लिया है, सर्वहारा वर्ग से आकर मिल जाता है।

पूंजीपति वर्ग के मुक़ाबले में आज जितने भी वर्ग खड़े हैं उन सब में सर्वहारा ही वास्तव में क्रांतिकारी वर्ग है। दूसरे वर्ग आधुनिक उद्योग के समक्ष ह्रासोन्मुख होकर अंततः विलुप्त हो जाते हैं; सर्वहारा वर्ग ही उसकी मौलिक और विशिष्ट उपज है।

निम्न मध्यम वर्ग के लोग – छोटे कारखानेदार, दस्तकार, छोटे व्यापारी, किसान – ये सब मध्यम वर्ग के अंश के रूप में अपने अस्तित्व को विनष्ट होने से बचाने के लिए पूंजीपति वर्ग से लोहा लेते हैं। इसलिए वे क्रान्तिकारी नहीं, रूढ़िवादी हैं। इतना ही नहीं, चूंकि वे इतिहास के चक्र को पीछे की ओर घुमाने की कोशिश करते हैं इसलिए वे प्रतिगामी हैं। अगर कहीं वे क्रान्तिकारी हैं तो सिर्फ़ इसलिए हैं कि उन्हें बहुत जल्द सर्वहारा वर्ग में मिल जाना है; चुनांचे वे अपने वर्तमान नहीं बल्कि भविष्य के हितों की रक्षा करते हैं; अपने दृष्टिबिंदु को त्यागकर वे सर्वहारा का दृष्टिबिंदु अपना लेते हैं।

"लंपट-सर्वहारा", समाज का कचड़ा, पुराने समाज के निम्नतम स्तरों में से निकला हुआ और निष्क्रियता के कीचड़ में सड़ता हुआ समुदाय जहां-तहां सर्वहारा क्रांति की आंधी में पड़कर आंदोलन में खिंच आ सकता है, लेकिन उसके जीवन की अवस्थाएं उसे प्रतिक्रियावादी षड्यंत्र के भाड़े के टट्टू का काम करने के लिए कहीं अधिक मौज़ूं बना देती हैं।

सर्वहारा वर्ग की मौजूदा अवस्था में पुराने समाज की अवस्थाओं का अब नाम-निशान तक बाक़ी नहीं रह गया है। सर्वहारा के पास कोई सम्पत्ति नहीं है; अपनी स्त्री और अपने बच्चों के साथ उसका जो सम्बन्ध है वह पूंजीवादी पारिवारिक सम्बन्धों से बिल्कुल ही भिन्न है। आधुनिक औद्योगिक श्रम ने, पूंजी के आधुनिक जुए ने – जो इंगलैंड, फ़्रांस, अमरीका और जर्मनी, सब जगह एक ही जैसा है – उसके राष्ट्रीय चरित्र के सभी चिह्नों का अन्त कर दिया है। क़ानून, नैतिकता, धर्म – ये सब उसके लिए पूंजीवादी ढकोसले मात्र हैं, जिनकी ओट में घातक पूंजीवादी हित छिपे हुए हैं।

आज तक जिन-जिन वर्गों का पलड़ा भारी हुआ है, उन सब ने अपने पहले से हासिल दरजे को मज़बूत बनाने के लिए समाज को अपनी अधिकरण-प्रणाली के अधीन करने की कोशिश की है। सर्वहारा वर्ग अपनी अब तक की अधिकरण-प्रणाली का और उसके साथ-साथ पहले की सभी अधिकरण-प्रणालियों का अन्त किये बिना समाज की उत्पादक शक्तियों का स्वामी नहीं बन सकता। सर्वहारा वर्ग के पास जोड़ने और सुरक्षित रखने के लिए अपना कुछ भी नहीं है; उसका

जीवन-लक्ष्य निजी संपत्ति की पुरानी सभी गारंटियों और ज़मानतों को नष्ट कर देना है।

पहले के तमाम ऐतिहासिक आन्दोलन अल्पमत के आन्दोलन रहे हैं या अल्पमत के फ़ायदे के लिए रहे हैं। किन्तु सर्वहारा आन्दोलन विशाल बहुमत का, विशाल बहुमत के फ़ायदे के लिए होनेवाला चेतन तथा स्वतन्त्र आन्दोलन है। हमारे वर्तमान समाज का सबसे निचला स्तर, सर्वहारा वर्ग, शासकीय समाज की तमाम ऊपरी परतों को पलटे बिना हिल तक नहीं सकता, किसी प्रकार अपने को ऊपर नहीं उठा सकता।

पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ सर्वहारा वर्ग का संघर्ष, यद्यपि अन्तर्य की दृष्टि से नहीं, तथापि रूप की दृष्टि से शुरू में राष्ट्रीय संघर्ष होता है। हर देश के सर्वहारा वर्ग को, ज़ाहिर है, पहले अपने ही पूंजीपतियों से निबटना होगा।

सर्वहारा वर्ग के विकास की सबसे सामान्य अवस्थाओं का वर्णन करते हुए हमने वर्तमान समाज के अन्दर न्यूनाधिक प्रच्छन्न रूप से चलनेवाले गृहयुद्ध का उसी बिन्दु तक चित्रण किया है, जहां वह युद्ध प्रत्यक्ष क्रान्ति के रूप में भड़क उठता है और जहां पूंजीपति वर्ग का बलात् पर्युत्क्षेपण सर्वहारा वर्ग की प्रभुता के लिए आधार प्रस्तुत करता है।

अभी तक, जैसा कि हम देख चुके हैं, हर तरह का समाज उत्पीड़क और उत्पीड़ित वर्गों के विरोध पर क़ायम रहा है। लेकिन किसी भी वर्ग का उत्पीड़न करने के लिए यह ज़रूरी है कि उसे कम से कम ऐसी सुविधाएं दी जायें जिनसे और न सही तो, एक ग़ुलाम वर्ग के रूप में, वह जिन्दा रह सके। भू-दास व्यवस्था के युग में भू-दास ने उन्नति कर कम्यून की सदस्यता हासिल कर ली थी, उसी तरह जैसे सामंती निरंकुशता के जुए के नीचे निम्नपूंजीपति पूंजीपति बन गया था। लेकिन आधुनिक मज़दूर की दशा बिल्कुल उल्टी है। उद्योग की उन्नति के साथ, ऊपर उठने के बजाय, वह स्वयं अपने वर्ग के अस्तित्व के लिए आवश्यक अवस्थाओं के स्तर के नीचे गिरता जाता है। वह कंगाल हो जाता है और उसकी मुफ़लिसी आबादी और दौलत से भी ज़्यादा तेज़ी से बढ़ती है। ऐसी स्थिति में यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि पूंजीपति वर्ग अब समाज का शासक बना रहने और समाज पर अपने अस्तित्व की अवस्थाओं को, अनिवार्य नियम के रूप में, लादने के अयोग्य है। पूंजीपति वर्ग शासन करने के अयोग्य है क्योंकि वह अपने ग़ुलाम को ग़ुलामी की हालत में जिन्दा रहने की गारंटी देने में अशक्त है, क्योंकि वह उसके जीवन-स्तर में ऐसी गिरावट नहीं रोक सकता जिसके फलस्वरूप वह

उसकी कमाई खाने के बजाय उसका पेट भरने को मजबूर हो जाता है। समाज इस पूंजीपति वर्ग के मातहत अब नहीं रह सकता—दूसरे शब्दों में, पूंजीपति वर्ग का अस्तित्व अब समाज से मेल नहीं खाता।

पूंजीपति वर्ग के अस्तित्व और प्रभुत्व की लाजिमी शर्त पूंजी का निर्माण और वृद्धि है; और पूंजी की शर्त है उजरती श्रम। उजरती श्रम पूर्णतया मजदूरों की आपसी होड़ पर निर्भर है। उद्योग की उन्नति, जिसे पूंजीपति वर्ग अनिवार्यतः अग्रसर करता है, होड़ के कारण उत्पन्न मजदूरों के अलगाव की जगह पर उनका संसर्गजनिक क्रान्तिकारी एका क़ायम कर देती है। इस तरह आधुनिक उद्योग का विकास पूंजीपति वर्ग के पैरों के नीचे से उस ज़मीन को ही खिसका देता है जिसके आधार पर वह उत्पादन करता है और पैदावार को हड़प लेता है। अतः पूंजीपति वर्ग सर्वोपरि अपनी क़ब्र खोदनेवालों को पैदा करता है। उसका पतन और सर्वहारा वर्ग की विजय दोनों समान रूप से अनिवार्य हैं।

२

सर्वहारा और कम्युनिस्ट

समग्र रूप से सर्वहारा वर्ग के साथ कम्युनिस्टों का क्या सम्बन्ध है?

कम्युनिस्ट मजदूर वर्ग की दूसरी पार्टियों के मुक़ाबले में अपनी कोई अलग पार्टी नहीं बनाते।

समग्र रूप से सर्वहारा वर्ग के हितों के अलावा और उनसे पृथक् उनका कोई हित नहीं है।

वे सर्वहारा आन्दोलन को किसी ख़ास नमूने पर ढालने या उसे विशेष रूप प्रदान करने के लिए अपना कोई संकीर्णतावादी सिद्धान्त नहीं स्थापित करते।

कम्युनिस्टों और दूसरी मजदूर पार्टियों में सिर्फ़ यह अंतर है कि: १. विभिन्न देशों के सर्वहाराओं के राष्ट्रीय संघर्षों में राष्ट्रीयता के तमाम भेद-भावों को छोड़कर वे पूरे सर्वहारा वर्ग के सामान्य हितों की ओर इशारा करते हैं और उन्हें सामने लाते हैं; २. पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ सर्वहारा वर्ग का संघर्ष जिन विभिन्न मंज़िलों से गुज़रता हुआ आगे बढ़ता है उनमें हमेशा और हर जगह वे समग्र आन्दोलन के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

अतः एक ओर व्यावहारिक दृष्टि से कम्युनिस्ट हर देश की मज़दूर पार्टियों

के सबसे उन्नत और कृतसंकल्प जुज़ होते हैं, ऐसे जुज़ जो औरों को आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करते हैं; दूसरी ओर, सैद्धान्तिक दृष्टि से, सर्वहारा वर्ग के विशाल जन-समुदाय की अपेक्षा इस अर्थ में श्रेष्ठ हैं कि वे सर्वहारा आन्दोलन के आगे बढ़ने के रास्ते की, उसके हालात और साधारणतः उसके अंतिम नतीजे की सुस्पष्ट समझ रखते हैं।

कम्युनिस्टों का तात्कालिक ध्येय वही है जो दूसरी मजदूर पार्टियों का है–यानी सर्वहारा को एक वर्ग के रूप में संगठित करना, पूंजीवादी प्रभुत्व का तख़्ता उलटना और राजनीतिक सत्ता पर सर्वहारा वर्ग का अधिकार क़ायम करना।

कम्युनिस्टों के सैद्धांतिक निष्कर्ष जगत्-सुधारक होने का दम भरनेवाले इस या उस व्यक्ति द्वारा ईजाद किये गये या ढूंढ़ निकाले गये विचारों या सिद्धांतों पर क़तई आधारित नहीं हैं।

वे केवल मौजूदा वर्ग-संघर्ष से, या हमारी नज़रों के सामने हो रही ऐतिहासिक गतिविधि से उत्पन्न यथार्थ सम्बन्धों को सामान्य शब्दों में व्यक्त करते हैं। मौजूदा सम्पत्ति-सम्बन्धों को मिटा देने की बात कम्युनिज़्म की निराली विशेषता हरगिज़ नहीं है।

पहले समय में सभी संपत्ति-सम्बन्ध ऐतिहासिक अवस्थाओं में परिवर्तन होने पर ऐतिहासिक परिवर्तन के निरंतर अधीन रहे हैं।

उदाहरण के लिए, फ़्रांसीसी क्रांति ने पूंजीवादी सम्पत्ति के हक़ में सामन्तवादी सम्पत्ति को नष्ट कर दिया।

कम्युनिज़्म की लाक्षणिक विशेषता यह नहीं है कि वह सम्पत्ति को आम तौर से ख़तम कर देना चाहता है, बल्कि यह है कि वह पूंजीवादी सम्पत्ति को ख़तम कर देना चाहता है।

लेकिन आधुनिक पूंजीवादी निजी सम्पत्ति उत्पादन तथा उपज के अधिकरण की उस प्रणाली की अन्तिम तथा सबसे सर्वांगपूर्ण अभिव्यक्ति है, जो वर्ग-विरोध और मुट्ठी भर लोगों द्वारा बहुतों के शोषण पर आश्रित है।

इस अर्थ में कम्युनिस्टों के सिद्धांत को केवल एक वाक्य में यूं कहा जा सकता है: निजी सम्पत्ति का अन्त करना।

हम कम्युनिस्टों पर आरोप लगाया गया है कि हम स्वयं अपनी मेहनत से पैदा की गयी सम्पत्ति हासिल करने के मनुष्य के अधिकार का अपहरण कर लेना चाहते हैं, जिस सम्पत्ति के बारे में कहा जाता है कि वह तमाम वैयक्तिक स्वतंत्रता, क्रियाशीलता और स्वतंत्रता का मूल आधार है।

सख़्त मशक़्क़त से कमायी गयी, ख़ुद हासिल की गयी, ख़ुद पैदा की गयी सम्पत्ति! आपका मतलब क्या छोटे दस्तकार और छोटे किसान की सम्पत्ति से है, सम्पत्ति के उस रूप से है जो पूंजीवादी रूप से पहले था? उसको मिटाने की कोई जरूरत नहीं है; उद्योग के विकास ने पहले ही उसको बहुत कुछ नष्ट कर दिया है और जो कुछ रहा-सहा है, उसे भी वह दिनोंदिन नष्द कर रहा है।

क्या फिर आपका मतलब आधुनिक पूंजीवादी निजी सम्पत्ति से है?

लेकिन क्या उजरती श्रम मजदूर के लिए कोई सम्पत्ति पैदा करता है? हरगिज नहीं। वह तो पूंजी पैदा करता है, यानी ऐसी सम्पत्ति पैदा करता है जो उजरती श्रम का शोषण करती है, और जिसके बढ़ने की शर्त ही यह है कि वह नये शोषण के लिए उजरती श्रम को पैदा करती जाये। अपने वर्तमान रूप में सम्पत्ति पूंजी और उजरती श्रम के विरोध पर क़ायम है। आइए, इस विरोध के दोनों पहलुओं पर ग़ौर करें।

पूंजीपति होना उत्पादन में केवल एक व्यक्तिगत हैसियत रखना नहीं है, बल्कि एक सामाजिक हैसियत रखना है। पूंजी—एक सामूहिक उपज है, और समाज के केवल अनेक सदस्यों के संयुक्त उद्योग से ही, बल्कि अंततोगत्वा समाज के सभी सदस्यों के मिले-जुले उद्योग से ही उसे गतिशील किया जा सकता है।

इस भांति पूंजी निजी न होकर एक सामाजिक शक्ति है।

इसलिए पूंजी जब आम सम्पत्ति बना दी जाती है, जब उसे समाज के तमाम सदस्यों की सम्पत्ति का रूप दे दिया जाता है, तब वैयक्तिक सम्पत्ति सामाजिक सम्पत्ति में नहीं बदल जाती। तब सम्पत्ति का केवल सामाजिक रूप बदल जाता है। उसका वर्ग-रूप मिट जाता है।

आइये, अब उजरती श्रम के पहलू पर विचार करें।

उजरती श्रम की औसत क़ीमत न्यूनतम मजदूरी है, अर्थात् निर्वाह-साधन की वह मात्रा, जो मजदूर की हैसियत से मजदूर की ज़िन्दगी क़ायम रखने के लिए बिल्कुल जरूरी हो। इसलिए, उजरती मजदूर को उसके श्रम से जो कुछ हस्तगत होता है, वह उसके अस्तित्व को बनाये रखने और प्रजनन के लिए ही काफ़ी होता है। हम श्रम की उपज के इस व्यक्तिगत अधिकरण का अन्त नहीं करना चाहते, जो मुश्किल से मानव जीवन क़ायम रखने और प्रजनन के लिए किया जाता है और जिसमें ऐसी बचत की गुंजाइश नहीं होती जिससे दूसरों के श्रम को वशीभूत किया जा सके। हम जिस चीज़ को ख़तम कर देना चाहते हैं वह है इस अधिकरण का वह दयनीय रूप, जिसके अन्तर्गत मजदूर केवल पूंजी बढ़ाने के लिए

ज़िन्दा रहता है, और उसे उसी हद तक ज़िन्दा रहने दिया जाता है जहां तक कि शासक वर्ग के स्वार्थों को उसकी ज़रूरत होती है।

पूंजीवादी समाज में जीवित श्रम संचित श्रम को बढ़ाने का केवल एक साधन है। कम्युनिस्ट समाज में संचित श्रम मज़दूर के अस्तित्व को व्यापक, सम्पन्न और उन्नत बनाने का साधन है।

इस प्रकार, पूंजीवादी समाज में वर्तमान के ऊपर अतीत हावी होता है; कम्युनिस्ट समाज में अतीत के ऊपर वर्तमान हावी होता है। पूंजीवादी समाज में पूंजी स्वतंत्र है और उसका व्यक्तित्व होता है; किन्तु जीवित व्यक्ति परतंत्र है और उसका कोई व्यक्तित्व नहीं होता।

फिर भी पूंजीपति वर्ग कहता है कि इस परिस्थिति को ख़तम कर देने का मतलब व्यक्तित्व और स्वतंत्रता को ख़तम कर देना है! और यह ठीक ही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हम पूंजीवादी व्यक्तित्व, पूंजीवादी स्वतंत्रता और पूंजीवादी स्वाधीनता को जड़-मूल से ख़तम कर देना चाहते हैं।

मौजूदा पूंजीवादी अवस्थाओं के अन्तर्गत स्वाधीनता का अर्थ है मुक्त व्यापार, मुक्त क्रय-विक्रय।

लेकिन अगर क्रय-विक्रय मिट जाता है, तो मुक्त क्रय-विक्रय भी मिट जायेगा। हमारे पूंजीपतियों की मुक्त क्रय-विक्रय की बातों को, आम स्वाधीनता के बारे में उनकी तमाम "बड़ी-बड़ी बातों" को, अगर मध्य युग के सीमित क्रय-विक्रय के या उस समय के बंधनों में जकड़े हुए व्यापारियों के मुक़ाबले में देखा जाये, तो उनका कुछ मतलब हो सकता है; लेकिन क्रय-विक्रय तथा उत्पादन की पूंजीवादी अवस्थाओं और स्वयं पूंजीपति वर्ग के कम्युनिस्ट उन्मूलन के मुक़ाबले में वे निरर्थक हैं।

हम निजी सम्पत्ति को ख़तम कर देना चाहते हैं, इसे सुनकर आपके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। लेकिन आपके मौजूदा समाज में दस में से नौ आदमियों के लिए निजी सम्पत्ति अभी से ही ख़तम हो चुकी है; चन्द लोगों के पास यदि निजी सम्पत्ति है तो उसका एकमात्र कारण यही है कि दस में नौ आदमियों के पास वह नहीं है। इसलिए, आप हमारे ख़िलाफ़ सम्पत्ति की ऐसी व्यवस्था को ख़तम कर देने की इच्छा रखने का जुर्म लगाते हैं जिसके अस्तित्व के लिए ज़रूरी शर्त यह है कि समाज के अधिकांश भाग के पास कोई सम्पत्ति न हो।

संक्षेप में आपका आरोप यह है कि हम आपकी सम्पत्ति ख़तम कर देना चाहते हैं। तो यह बिल्कुल ठीक है। हम ठीक यही चीज़ करना चाहते हैं।

आपका कहना है कि श्रम का ज्यों ही पूंजी, मुद्रा या लगान के रूप में—एक ऐसी सामाजिक शक्ति के रूप में जिस पर इजारेदारी क़ायम की जा सकती है—रूपान्तरण बन्द हो जायेगा, यानी ज्यों ही वैयक्तिक सम्पत्ति का पूंजीवादी सम्पत्ति में, पूंजी में रूपान्तरण बन्द हो जायेगा, त्यों ही व्यक्तित्व का लोप हो जायेगा।

तो आपको यह क़बूल करना होगा कि "व्यक्ति" का आपके लिए एक ही अर्थ है—पूंजीपति या सम्पत्ति का मध्यमवर्गीय स्वामी। इस व्यक्ति को तो अवश्य ही रास्ते से हटा देना चाहिए, उसका होना अवश्य ही असम्भव बना देना चाहिए।

कम्युनिज़्म किसी आदमी को समाज की उपज को हस्तगत करने की शक्ति से वंचित नहीं करता; वह केवल इस हस्तगतकरण के ज़रिये दूसरों के श्रम को वशीभूत करने की शक्ति से उसे वंचित करता है।

यह कहा गया है कि यदि निजी सम्पत्ति को ख़तम कर दिया गया तो सारा काम-काज ठप हो जायेगा और दुनिया भर में आलस्य छा जायेगा।

अगर यह बात सही है तो पूंजीवादी समाज को, घोर आलस्य के कारण न जाने कब का रसातल पहुंच जाना चाहिए था; क्योंकि इस समाज के जो सदस्य मेहनत करते हैं वे कुछ नहीं प्राप्त करते, और जो प्राप्त करते हैं—वे काम नहीं करते। वास्तव में यह पूरा तर्क इसी द्विरुक्ति की एक अभिव्यक्ति है कि अगर पूंजी नहीं रह जायेगी तो उजरती श्रम भी नहीं रह जायेगा।

भौतिक वस्तुओं के उत्पादन और हस्तगतकरण की कम्युनिस्ट प्रणाली के सम्बन्ध में जो आरोप लगाये गये हैं, वे ही आरोप उसी तरह से बौद्धिक रचनाओं के उत्पादन और हस्तगतकरण की कम्युनिस्ट प्रणालियों के सम्बन्ध में भी लगाये जाते हैं। जिस तरह से वर्ग-सम्पत्ति का विलोपन पूंजीपति वर्ग को उत्पादन का ही विलोपन ज्ञात होता है, उसी तरह से वर्ग-संस्कृति का विलोपन उसे सारी संस्कृति का विलोपन ज्ञात होता है।

वह संस्कृति, जिसके विनाश के बारे में वह इतना रोता-धोता है, अधिकांश जनता के लिए महज़ मशीन की तरह काम करने की प्रशिक्षा मात्र है।

लेकिन हमसे उलझने से तब तक कोई लाभ नहीं है जब तक पूंजीवादी सम्पत्ति के उन्मूलन के हमारे इरादे को आप आज़ादी, संस्कृति, क़ानून आदि की अपनी पूंजीवादी धारणाओं के मापदंड से नापते हैं; क्योंकि आपके विचार स्वयं ही पूंजीवादी उत्पादन और पूंजीवादी सम्पत्ति की अवस्थाओं की उपज हैं, ठीक

उसी तरह जिस तरह कि आपका क़ानून केवल आपके वर्ग की इच्छा है जिसका मूलभूत स्वरूप और जिसकी दिशा आपके वर्ग के अस्तित्व की आर्थिक अवस्थाओं द्वारा निर्धारित होती है।

वह स्वार्थपूर्ण भ्रम, जो आपको उन सामाजिक रूपों को, जो आपकी मौजूदा उत्पादन प्रणाली और संपत्ति के रूप द्वारा उत्पन्न होते हैं—उन ऐतिहासिक सम्बन्धों को जो उत्पादन के विकास के सिलसिले में उत्पन्न और विलीन होते हैं—प्रकृति और तर्कबुद्धि के शाश्वत नियमों में रूपान्तरित करने के लिए प्रेरित करता है, एक ऐसा भ्रम है जिसके शिकार आपके पूर्ववर्ती सभी शासक वर्ग होते आये हैं। प्राचीन युग की सम्पत्ति के सम्बन्ध में जिस चीज़ को आप स्पष्टता से देखते हैं, सामन्ती सम्पत्ति के सम्बन्ध में जिस चीज़ को आप स्वीकार करते हैं, उसे ख़ुद अपनी पूंजीवादी सम्पत्ति के सम्बन्ध में मंज़ूर करना आपके लिए निश्चय ही गुनाह है।

परिवार का विनाश! कम्युनिस्टों के इस कलंकपूर्ण प्रस्ताव से कट्टर से कट्टर उग्रवादी भी भड़क उठते हैं।

मौजूदा परिवार, पूंजीवादी परिवार, किस आधार पर खड़ा है? पूंजी पर, निजी फ़ायदे पर। अपने पूर्ण विकसित रूप में इस तरह का परिवार केवल पूंजीपति वर्ग के बीच पाया जाता है। इस चीज़ का संपूरक सर्वहारा वर्ग में परिवार का वस्तुत: अभाव और बाज़ारू वेश्यावृत्ति है।

यह पूरक जब मिट जायेगा तो सामान्य क्रम में पूंजीवादी परिवार भी मिट जायेगा, और पूंजी के मिटने के साथ-साथ ये दोनों मिट जायेंगे।

क्या आप हमारे ऊपर यह आरोप लगाते हैं कि हम बच्चों का उनके माता-पिता द्वारा शोषण किया जाना बन्द कर देना चाहते हैं? इस अपराध को हम स्वीकार करते हैं।

लेकिन आप कहेंगे कि घरेलू शिक्षा की जगह पर सामाजिक शिक्षा क़ायम करके हम एक अत्यन्त पवित्र सम्बन्ध को नष्ट कर देते हैं।

और आपकी शिक्षा! क्या वह भी सामाजिक नहीं है और उन सामाजिक अवस्थाओं से निर्धारित नहीं होती है, जिनमें आप समाज के, प्रत्यक्ष या परोक्ष, हस्तक्षेप से स्कूलों आदि के ज़रिये शिक्षा देते हैं? शिक्षा में समाज का हस्तक्षेप कम्युनिस्टों की ईजाद नहीं है; कम्युनिस्ट तो केवल इस हस्तक्षेप के स्वरूप को बदल देना चाहते हैं और शासक वर्ग के प्रभाव से शिक्षा का उद्धार करना चाहते हैं।

जैसे-जैसे आधुनिक उद्योग की क्रिया द्वारा सर्वहारा वर्ग में समस्त पारिवारिक सम्बन्धों की धज्जियां उड़ती जा रही हैं और मज़दूरों के बच्चे तिजारत के मामूली

सामान और श्रम के औज़ार बनते जा रहे हैं, वैसे-वैसे परिवार और शिक्षा तथा माता-पिता और बच्चों के पुनीत अन्योन्य सम्बन्ध के बारे में पूंजीपतियों की बकवास और भी घिनौनी बन जाती है।

लेकिन पूरा का पूरा पूंजीपति वर्ग गला फाड़कर एक स्वर से चिल्ला उठता है— तुम कम्युनिस्ट तो औरतों को सर्वोपभोग्य बना दोगे!

पूंजीपति अपनी पत्नी को उत्पादन के एक औज़ार के सिवा और कुछ नहीं समझता। उसने सुन रखा है कि कम्युनिस्ट समाज में उत्पादन के औज़ारों का सामूहिक रूप में उपयोग होगा। इसलिए, स्वभावतः, वह इसके अलावा और कोई निष्कर्ष नहीं निकाल पाता कि उस समाज में सभी चीज़ों की तरह औरतें भी सर्वोपभोग्य हो जायेंगी।

वह स्वप्न में भी नहीं सोच सकता कि दरअसल मक़सद यह है कि औरतों की उत्पादन के औज़ार जैसी स्थिति को ख़तम कर दिया जाये।

बाक़ी तो बात यह है कि औरतों को सर्वोपभोग्य बना देने के ख़िलाफ़ पूंजीपतियों के सदाचारी आक्रोश से अधिक हास्यास्पद दूसरी और कोई चीज़ नहीं है; वे यह समझने का बहाना करते हैं कि कम्युनिज़्म के अन्तर्गत स्त्रियों की सर्वोपभोग्यता खुल्लमखुल्ला और सरकारी तौर पर स्थापित की जायेगी। कम्युनिस्टों को स्त्रियों की सर्वोपभोग्यता स्थापित करने की कोई ज़रूरत नहीं है, क्योंकि वह बाबा आदम के ज़माने से चली आ रही है।

हमारे पूंजीपतियों को मज़दूरों की बहू-बेटियों को अपनी मर्ज़ी के मुताबिक़ इस्तेमाल करने से संतोष नहीं होता, वेश्याओं से भी उनका मन नहीं भरता, इसलिए एक दूसरे की बीवियों पर हाथ साफ़ करने में उन्हें विशेष आनन्द प्राप्त होता है।

पूंजीवादी विवाह वास्तव में पत्नियों की साझेदारी की ही एक व्यवस्था है, इसलिए कम्युनिस्टों के ख़िलाफ़ अधिक से अधिक यही आरोप लगाया जा सकता है कि वे स्त्रियों की सर्वोपभोग्यता की मौजूदा ढोंगपूर्ण और गुप्त प्रथा को खुला, क़ानूनी रूप दे देना चाहते हैं। बाक़ी तो यह बात अपने आप साफ़ है कि उत्पादन की वर्तमान व्यवस्था जब ख़तम हो जायेगी, तब उस व्यवस्था से उत्पन्न स्त्रियों की सर्वोपभोग्यता का, अर्थात् बाज़ारू और ख़ानगी, दोनों प्रकार की वेश्यावृत्ति का, अनिवार्यतः अन्त हो जायेगा।

कम्युनिस्टों पर यह आरोप भी लगाया जाता है कि वे स्वदेश और राष्ट्र की भावना को मिटा देना चाहते हैं।

श्रमजीवियों का कोई स्वदेश नहीं है। जो उनके पास है ही नहीं उसे उनसे कौन छीन सकता है? चूंकि सर्वहारा वर्ग को सबसे पहले राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त करना है, राष्ट्र में प्रधान वर्ग का स्थान ग्रहण करना है, ख़ुद अपने को राष्ट्र के रूप में संघटित करना है, अतः इस हद तक वह स्वयं राष्ट्रीय चरित्र रखता है, गोकि इस शब्द के पूंजीवादी अर्थ में नहीं।

पूंजीपति वर्ग के विकास, वाणिज्य की स्वाधीनता, विश्व-बाज़ार और उत्पादन प्रणाली में तथा तदनुरूप जीवन की अवस्थाओं में एकरूपता के कारण जनगण के राष्ट्रीय भेदभाव और विरोध दिनोंदिन मिटते जाते हैं।

सर्वहारा वर्ग का प्रभुत्व होने पर ये और भी तेज़ी से मिटेंगे। सर्वहारा वर्ग के निस्तार की पहली शर्त यह है कि कम से कम प्रमुख सभ्य देश मिलकर एकसाथ क़दम उठायें।

जिस अनुपात में एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति का शोषण ख़तम होगा, उसी अनुपात में एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का शोषण भी ख़तम होगा।

जिस अनुपात में एक राष्ट्र के अन्दर वर्गों का विरोध ख़तम होगा, उसी अनुपात में राष्ट्रों का आपसी वैरभाव भी दूर होगा।

धार्मिक, दार्शनिक और सामान्यतः विचारधारात्मक दृष्टि से कम्युनिज़्म के ख़िलाफ़ जो आरोप लगाये जाते हैं, वे इस लायक़ नहीं हैं कि उनपर गंभीरता के साथ विचार किया जाये।

क्या यह समझने के लिए गहरी अन्तर्दृष्टि की ज़रूरत है कि मनुष्य के विचार, मत और उसकी धारणाएं—एक शब्द में उसकी चेतना—उसके भौतिक अस्तित्व की अवस्थाओं, उसके सामाजिक सम्बन्धों और सामाजिक जीवन के प्रत्येक परिवर्तन के साथ बदलती है?

विचारों का इतिहास इसके सिवा और क्या साबित करता है कि जिस अनुपात में भौतिक उत्पादन में परिवर्तन होता है, उसी अनुपात में बौद्धिक उत्पादन का स्वरूप परिवर्तित होता है? हर युग के प्रभुत्वशील विचार सदा उसके शासक वर्ग के ही विचार रहे हैं।

जब लोग समाज में क्रांति ला देनेवाले विचारों की बात करते हैं, तब वे केवल इस तथ्य को व्यक्त करते हैं कि पुराने समाज के अन्दर एक नये समाज के तत्व पदा हो गये हैं और पुराने विचारों का विघटन अस्तित्व की पुरानी अवस्थाओं के विघटन के साथ क़दम मिलाकर चलता है।

प्राचीन दुनिया जिस समय अपनी अंतिम सांसें गिन रही थी, उस समय प्राचीन

धर्मों को ईसाई धर्म ने पराभूत किया था। जब अठारहवीं शताब्दी में ईसाई मत बुद्धिवादी विचारों के सामने धराशायी हुआ, उस समय सामंती समाज ने तत्कालीन क्रांतिकारी पूंजीपति वर्ग से अपनी मौत की लड़ाई लड़ी थी। धर्म-स्वातंत्र्य और अन्तःकरण की स्वतंत्रता की बातें ज्ञान जगत् में मुक्त होड़ के प्रभुत्व को ही व्यक्त करती थीं।

कहा जायेगा कि "यह ठीक है कि इतिहास के विकासक्रम में धार्मिक, नैतिक, दार्शनिक, राजनीतिक और क़ानून सम्बन्धी विचार बदलते आये हैं; लेकिन धर्म, नैतिकता, दर्शन, राजनीति और क़ानून तो सदा इस परिवर्तन से बचे रहे हैं।

"इसके अलावा स्वाधीनता, न्याय आदि ऐसे शाश्वत सत्य भी हैं जो हर सामाजिक अवस्था में समान रूप से लागू होते हैं। लेकिन उन्हें नये आधार पर प्रतिष्ठित करने के बजाय कम्युनिज़्म सभी शाश्वत सत्यों को ख़तम कर देता है, वह समस्त धर्म और समस्त नैतिकता को मिटा देता है; इसलिए कम्युनिज़्म विगत इतिहास के समस्त अनुभव के विपरीत आचरण करता है।"

इस आरोप का सारतत्त्व क्या है? पिछले प्रत्येक समाज का इतिहास वर्ग-विरोधों के विकास का इतिहास है, उन वर्ग-विरोधों का, जिन्होंने भिन्न युगों में भिन्न रूप धारण किया था।

पर उन्होंने चाहे जो भी रूप धारण किया हो, पिछले सभी युगों में एक चीज़ हर अवस्था में मौजूद थी—समाज के एक हिस्से द्वारा दूसरे हिस्से का शोषण। अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि विगत युगों की सामाजिक चेतना, अनेकानेक विविधता और विभिन्नता प्रदर्शित करने के बावजूद, किन्हीं सामान्य रूपों या सामान्य विचारों के दायरे में गतिशील रही है, जो वर्ग-विरोधों के पूर्ण रूप से विलुप्त होने के पहले पूरी तरह नहीं मिट सकते।

कम्युनिस्ट क्रांति समाज के परम्परागत सम्पत्ति-सम्बन्धों से आमूल विच्छेद है; फिर इसमें आश्चर्य क्या कि इस क्रांति के विकास का अर्थ है समाज के परम्परागत विचारों से आमूल सम्बन्ध-विच्छेद?

लेकिन कम्युनिज़्म के खिलाफ़ पूंजीपतियों के आरोपों की कथा अब समाप्त की जाये।

ऊपर हम देख आये हैं कि मजदूर वर्ग की क्रांति का पहला क़दम सर्वहारा वर्ग को उठाकर शासक वर्ग के आसन पर बैठाना और जनवाद के लिए होनेवाली लड़ाई को जीतना है।

सर्वहारा वर्ग अपना राजनीतिक प्रभुत्व पूंजीपति वर्ग से धीरे-धीरे कर सारी पूंजी छीनने के लिए, उत्पादन के सारे औज़ारों को राज्य, अर्थात् शासक वर्ग के रूप में संगठित सर्वहारा वर्ग, के हाथों में केन्द्रीकृत करने के लिए तथा समग्र उत्पादक शक्तियों में यथाशीघ्र वृद्धि के लिए इस्तेमाल करेगा।

निस्संदेह, आरम्भ में यह काम साम्पत्तिक अधिकारों पर, और पूंजीवादी उत्पादन की अवस्थाओं पर निरंकुश हमलों के बिना नहीं हो सकता; अतः ऐसे उपायों के बिना नहीं हो सकता जो आर्थिक दृष्टि से अपर्याप्त और अव्यावहारिक प्रतीत होते हैं, पर जो विकासक्रम में अपनी सीमा को लांघ जायेंगे, पुरानी समाज व्यवस्था के और भी गहन भेदन को अनिवार्य बना देंगे और जो उत्पादन-प्रणाली में पूर्णतया क्रांति लाने के साधन के रूप में अनिवार्य होंगे।

निस्संदेह, भिन्न-भिन्न देशों में ये उपाय भिन्न-भिन्न होंगे।

फिर भी नीचे दिये हुए तरीक़े सबसे आगे बढ़े हुए देशों में आम तौर से लागू हो सकेंगे:

१. भू-सम्पत्ति का उन्मूलन और समस्त लगान का सार्वजनिक प्रयोजन के लिए उपयोग।

२. भारी वर्द्धमान या आरोही आय-कर।

३. विरासत के अधिकार का उन्मूलन।

४. उत्प्रवासियों और विद्रोहियों की सम्पत्ति की ज़ब्ती।

५. सरकारी पूंजी और पूर्ण एकाधिकार से संपन्न राष्ट्रीय बैंक द्वारा राज्य के हाथ में उधार का केन्द्रीकरण।

६. संचार और यातायात के साधनों का राज्य के हाथों में केन्द्रीकरण।

७. राजकीय कारख़ानों और उत्पादन के औज़ारों का विस्तार करना; एक आम योजना बनाकर परती ज़मीन को जोतना और खेत की मिट्टी का सामान्यतः सुधार करना।

८. हर एक के लिए काम करना समान रूप से अनिवार्य किया जाना। विशेषकर कृषि के लिए औद्योगिक सेनाएं क़ायम करना।

९. उद्योग और कृषि में संयोजन; देश में आबादी के अधिक समतुल्य वितरण द्वारा धीरे-धीरे देहातों और शहरों का अंतर मिटा देना।

१०. सार्वजनिक पाठशालाओं में तमाम बच्चों के लिए मुफ़्त शिक्षा की व्यवस्था। वर्तमान रूप में बच्चों से कारख़ानों में काम लेना ख़तम कर देना। शिक्षा और औद्योगिक उत्पादन का संयोजन आदि, आदि।

विकासक्रम में जब वर्गों के भेद मिट जायेंगे और सारा उत्पादन पूरे राष्ट्र के एक विशाल संघ के हाथ में संकेन्द्रित हो जायेगा, तब सार्वजनिक सत्ता अपना राजनीतिक स्वरूप खो देगी। राजनीतिक सत्ता, इस शब्द के असली अर्थ में, केवल एक वर्ग की दूसरे वर्ग का उत्पीड़न करने की संगठित शक्ति का नाम है। पूंजीपति वर्ग के खिलाफ़ अपने संघर्ष के दौरान, परिस्थितियों से मजबूर होकर, सर्वहाराओं को यदि अपने को एक वर्ग के रूप में संगठित करना पड़ता है, यदि क्रांति के जरिए वह स्वयं अपने को शासक वर्ग बना लेता है, और इस तरह, उत्पादन की पुरानी अवस्थाओं का बलपूर्वक अन्त कर देता है, तो उन अवस्थाओं के साथ-साथ वह वर्ग-विरोधों के अस्तित्व और, आम तौर पर, खुद वर्गों के अस्तित्व की अवस्थाओं का ख़ातमा कर देता है और इस प्रकार वह, एक वर्ग के रूप में, स्वयं अपने प्रभुत्व का भी ख़ातमा कर देता है।

तब वर्गों और वर्ग-विरोधों से बिंधे पुराने पूंजीवादी समाज के स्थान पर एक ऐसे संघ की स्थापना होगी जिसमें व्यष्टि की स्वतंत्र प्रगति समष्टि की स्वतंत्र प्रगति की शर्त होगी।

३

समाजवादी और कम्युनिस्ट साहित्य

१. प्रतिक्रियावादी समाजवाद

(क) सामन्ती समाजवाद

फ़्रांस और इंगलैंड के अभिजातों की ऐतिहासिक स्थिति ऐसी थी कि आधुनिक पूंजीवादी समाज के खिलाफ़ पैंफ़्लेट लिखना उनका पेशा बन गया। जुलाई १८३० की फ़्रांसीसी क्रांति में और इंगलैंड के सुधार आंदोलन में[57] ये अभिजात पुनः इन घृणास्पद नवप्रतिष्ठित अनभिजातों द्वारा पराभूत हुए। उसके बाद कोई महत्त्वपूर्ण राजनीतिक लड़ाई लड़ने की सम्भावना न रह गयी। केवल साहित्यिक लड़ाई ही अब सम्भव थी। लेकिन साहित्य के क्षेत्र में भी पुनःस्थापन काल* के पुराने नारों का प्रयोग

*इंगलैंड में १६६० से १६८९ का पुनःस्थापन काल नहीं, बल्कि फ़्रांस में १८१४ से १८३० का पुनःस्थापन काल।[58] (१८८८ के अंग्रेज़ी संस्करण में एंगेल्स का नोट।)

असंभव हो गया था। लोगों की सहानुभूति हासिल करने के लिए इन अभिजातों को बाह्यत: अपने हितों को आंखों से ओझल करना पड़ा और केवल शोषित मज़दूर वर्ग के हित को लेकर उन्होंने पूंजीपतियों के विरुद्ध अपना अभियोग पत्र तैयार किया। चुनांचे अभिजात वर्ग ने अपने नये प्रभु के ख़िलाफ़ व्यंग्यपूर्ण तथा विद्रुपात्मक कविताएं लिखकर और उसके कानों में उसके आनेवाले सर्वनाश की भयानक भविष्योक्तियां फुसफुसाकर उससे अपना बदला लिया।

सामन्ती समाजवाद की उत्पत्ति इसी तरह हुई: कुछ रोना-धोना, कुछ व्यंग्यात्मक तीर चलाना, कुछ अतीत को प्रतिध्वनित करना, कुछ भविष्य का भय दिखाना; कभी-कभी अपनी कटु व्यंग्यपूर्ण और पैनी आलोचना द्वारा पूंजीपतियों के मर्मस्थल को चोट पहुंचाना; किन्तु आधुनिक इतिहास की प्रगति को हृदयंगम करने में अपनी संपूर्ण असमर्थता के कारण अपने प्रभाव में सदा हास्यास्पद रह जाना।

जनता को अपनी तरफ़ करने के लिए इन अमीर-उमरा ने सर्वहारा वर्ग की भीख की झोली को अपना झंडा बनाया। लेकिन जब-जब जनता उनके साथ हुई, उसने देखा कि उनके कूल्हों पर अभिजातों के वंश-चिह्नों के ठप्पे लगे हुए हैं, और वह हंसी के ज़ोरदार ठहाकों से उनका अपमान करती हुई उन्हें छोड़कर चल दी।

फ़्रांसीसी लेजिटिमिस्टों[59] के एक हिस्से और "तरुण इंगलैंड"[60] ने यही नज़ारा पेश किया।

यह कहते समय कि उनके शोषण का तरीक़ा पूंजीपति वर्ग के शोषण के तरीक़े से भिन्न था, सामन्तवादी भूल जाते हैं कि जिन परिस्थितियों और अवस्थाओं में वे शोषण करते थे, वे बिल्कुल भिन्न थीं और अब पुरानी पड़ चुकी थीं। यह साबित करते समय कि उनके शासन में आधुनिक सर्वहारा वर्ग का कोई अस्तित्व नहीं था, वे भूल जाते हैं कि आधुनिक पूंजीपति वर्ग उन्हीं की सामाजिक अवस्था की अनिवार्य सन्तान है।

इतना ही नहीं, अपनी आलोचना के प्रतिक्रियावादी स्वरूप को वे इतना कम छिपाते हैं कि पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ उनका सबसे बड़ा इलज़ाम यह होता है कि पूंजीवादी शासन में एक ऐसा वर्ग पनप रहा है जो पुरानी समाज-व्यवस्था को समूल उखाड़कर फेंक देगा।

पूंजीपति वर्ग को उनका उलाहना यह उतना ज़्यादा नहीं है कि वह सर्वहारा वर्ग को उत्पन्न कर रहा है; बल्कि यह कि वह क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग को जन्म दे रहा है।

इसलिए, अपने राजनीतिक व्यवहार में वे मजदूर वर्ग के खिलाफ़ प्रयोग की जानेवाली तमाम दमनकारी कार्रवाइयों का समर्थन करते हैं, और रोजमर्रा के जीवन में, अपनी बड़ी-बड़ी डींगों के बावजूद, उद्योग के कल्पवृक्ष से गिरे सोने के फलों को बीनने के लिए और ऊन, चुक़न्दर की चीनी तथा आलू की बनी स्पिरिट के व्यापार के लिए वे सत्य, प्रेम और सम्मान का सौदा करने के लिए सदैव तैयार रहते हैं।*

जिस तरह पुरोहितों और ज़मींदारों का चोली-दामन का साथ रहा है, उसी तरह पुरोहिती समाजवाद और सामन्ती समाजवाद दोनों जन्म के साथी हैं।

ईसाइयों की वैराग्य भावना को समाजवाद का रंग दे देने से अधिक आसान काम दूसरा नहीं है। क्या ईसाई धर्म निजी सम्पत्ति, विवाह और राज्य के खिलाफ़ फ़तवे नहीं देता रहा है? इन चीज़ों के बदले क्या उसने दान-पुण्य और ग़रीबी, ब्रह्मचर्य और शारीरिक तप, मठ-निवास और मातारूपी चर्च की शरण लेने का उपदेश नहीं दिया है? ईसाई समाजवाद केवल वह पवित्र जल है जिसकी छींट मारकर पादरी लोग अमीर-उमरा के संतप्त हृदयों का पवित्रीकरण करता है।

(ख) निम्नपूंजीवादी समाजवाद

सामन्ती अभिजात वर्ग अकेला वर्ग नहीं है जिसे पूंजीपति वर्ग ने बरबाद किया, वही एक अकेला वर्ग नहीं है जिसके अस्तित्व की अवस्थाएं आधुनिक पूंजीवादी समाज की आबोहवा में घुटकर रह गयी हैं और मर-मिटी हैं। मध्य युग के बर्गर और छोटे किसान भू-स्वामी आधुनिक पूंजीपति वर्ग के पूर्वज थे। उन देशों में, जो उद्योग और वाणिज्य की दृष्टि से अल्पविकसित हैं, ये दोनों वर्ग अब भी उदीयमान पूंजीपति वर्ग के साथ लस्टम-पस्टम चले जा रहे हैं।

---

*यह मुख्यतया जर्मनी पर लागू होता है जहां भू-सम्पत्तिधारी रईस और युंकर[61] अपनी ज़मीन के बहुत बड़े हिस्से पर अपने प्रबन्धकर्त्ताओं के ज़रिए खेती कराते हैं, और इसके अलावा बड़े पैमाने पर चुक़न्दर से चीनी बनाने और आलू से स्पिरिट बनाने का भी रोज़गार करते हैं। ब्रिटेन के अधिक धनिक रईस अभी तक इस हद तक नहीं गिरे हैं, लेकिन वे भी समझ गये हैं कि किस तरह न्यूनाधिक संदिग्ध ज्वाइंट-स्टाक कम्पनियों के प्रवर्त्तकों में अपना नाम देकर लगान की घटती हुई आमदनी को पूरा किया जाये। **(१८८८ के अंग्रेजी संस्करण में एंगेल्स का नोट।)**

उन देशों में जहां आधुनिक सभ्यता का पूरा विकास हो चुका है, निम्नपूंजीपतियों का एक नया वर्ग बन गया है जो सर्वहारा और पूंजीपति वर्गों के बीच झूला करता है और पूंजीवादी समाज के एक पूरक अंग के रूप में सदा अपने को ताज़ा करता रहता है। लेकिन होड़ की चक्की में पिसकर इस वर्ग के अलग-अलग सदस्य टूट-टूट कर बराबर सर्वहारा वर्ग में शामिल होते जाते हैं; और आधुनिक उद्योग का विकास होने के साथ वे उस क्षण को भी नजदीक आता देखते हैं जब आधुनिक समाज के एक स्वतंत्र अंग के रूप में उनका बिल्कुल ख़ातमा हो जायेगा और कल-कारख़ानों, खेती और वाणिज्य के क्षेत्र में ओवरसीयर, नाज़िर और दूकान-कर्मचारी उनका स्थान ले लेंगे।

फ़्रांस जैसे देशों में, जहां आधी से कहीं अधिक आबादी किसानों की है, यह स्वाभाविक था कि जो लेखक पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ सर्वहारा वर्ग का साथ देते थे, वे पूंजीवादी शासन-व्यवस्था की अपनी आलोचना में छोटे किसानों और निम्नपूंजीपतियों के मानदण्ड का प्रयोग करते थे और मज़दूर वर्ग के समर्थन में इन्हीं बिचले वर्गों के दृष्टि-बिन्दु से आवाज़ उठाते थे। निम्नपूंजीवादी समाजवाद की उत्पत्ति इसी तरह हुई। न केवल फ़्रांस में, बल्कि इंगलैंड में भी इस मत के नेता सीसमंदी थे।

समाजवाद की इस शाखा के अनुयायियों ने आधुनिक उत्पादन की अवस्थाओं के अन्तर्विरोधों का बहुत ही बारीकी के साथ विश्लेषण किया। अर्थशास्त्रियों की ढोंगपूर्ण वकालतों का उन्होंने पर्दाफ़ाश किया। मशीनों के उपयोग और श्रम-विभाजन के विनाशकारी परिणाम, पूंजी और भूमि का मुट्ठी भर लोगों के हाथों में संकेन्द्रित होना, अति-उत्पादन और संकट, इन सबको उन्होंने अकाट्य रूप से प्रमाणित किया; उन्होंने निम्नपूंजीपति वर्ग और किसानों की बरबादी की अवश्यम्भाविता, सर्वहारा वर्ग की दुर्दशा, उत्पादन में अराजकता, धन के वितरण में घोर असमानता, एक दूसरे को ख़तम कर देने के लिए राष्ट्रों के बीच औद्योगिक युद्धों, पुराने नैतिक बंधनों के विच्छेदन, पुराने पारिवारिक सम्बन्धों और पुरानी जातियों के विघटन की ओर इशारा किया।

किन्तु अपने सकारात्मक उद्देश्यों में इस तरह का समाजवाद या तो यह चाहता है कि उत्पादन और विनिमय के पुराने साधनों को, और उनके साथ पुराने सम्पत्ति-सम्बन्धों को और पुराने समाज को फिर से क़ायम कर दिया जाये, या उत्पादन के और विनिमय के आधुनिक साधनों को उन्हीं पुराने सम्पत्ति-सम्बन्धों के शिकंजे में कस दिया जाये जिन्हें उन्होंने तोड़ दिया था और

जिनका इन साधनों के ज़रिये टूटना अनिवार्य था। दोनों हालतों में यह समाजवाद प्रतिक्रियावादी और कल्पनावादी दोनों है।

उसके अंतिम शब्द हैं: उद्योग को चलाने के लिए निगमित शिल्प-संघ बनाये जायें और खेती में पितृसत्तात्मक सम्बन्ध क़ायम हों।

अन्त में जब निर्मम ऐतिहासिक वास्तविकता ने आत्मवंचना का नशा उतार दिया तो समाजवाद का यह रूप ख़ुमारी के दौरे में आप से आप ख़तम हो गया।

(ग) जर्मन या "सच्चा" समाजवाद

फ़्रांस का समाजवादी और कम्युनिस्ट साहित्य, वह साहित्य जो शासनारूढ़ पूंजीपति वर्ग के दबाव में पैदा हुआ था, और जो उसके ख़िलाफ़ होनेवाले संघर्ष की अभिव्यक्ति था, जर्मनी में उस समय लाया गया जब उस देश में सामन्ती निरंकुशता के ख़िलाफ़ वहां के पूंजीपति वर्ग ने अभी-अभी अपनी लड़ाई शुरू की थी।

जर्मनी के दार्शनिकों, अधकचरे दार्शनिकों और साहित्यिक प्रवृत्ति के लोगों ने उस साहित्य को बड़ी उत्सुकता के साथ अपनाया; वे केवल यह भूल गये कि जब वह साहित्य फ़्रांस से जर्मनी आया था तो उसके साथ फ़्रांस की सामाजिक परिस्थितियां नहीं आई थीं। जर्मनी की सामाजिक अवस्थाओं के सम्पर्क में इस फ़्रांसीसी साहित्य ने अपना सारा तात्कालिक व्यावहारिक महत्त्व खो दिया और विशुद्ध साहित्यिक रूप ग्रहण कर लिया। चुनांचे अठारहवीं शताब्दी के जर्मन दार्शनिकों की निगाह में पहली फ़्रांसीसी क्रान्ति की मांगें "व्यावहारिक तर्कबुद्धि" की सामान्य मांगों के अलावा और कुछ न थीं और क्रान्तिकारी फ़्रांसीसी पूंजीपति वर्ग की इच्छा की अभिव्यक्ति उनकी दृष्टि में शुद्ध इच्छा, अपरिहार्य इच्छा, सामान्यतः सच्ची मानवीय इच्छा के नियमों की द्योतक थी।

जर्मन साहित्यकारों का एकमात्र काम यह था कि वे फ़्रांस के इन नये विचारों का अपने प्राचीन दार्शनिक विवेक के साथ सामंजस्य स्थापित करें, या यूं कहिये कि अपने दार्शनिक दृष्टिकोण को छोड़े बिना इन फ़्रांसीसी विचारों को अपना लें।

अपना लेने का यह काम उसी तरह पूरा किया गया जिस तरह कि किसी विदेशी भाषा को आत्मसात् किया जाता है, यानी अनुवाद के ज़रिए।

सुविदित है कि भिक्षुगण किस प्रकार उन पाण्डुलिपियों के ऊपर, जिनमें प्राचीन मूर्त्तिपूजकों के शास्त्रीय ग्रंथ लिखे हुए थे, कैथोलिक संतों की फ़ज़ूल

जीवनियां लिखा करते थे। जर्मन साहित्यकारों ने अपवित्र फ़्रांसीसी साहित्य के संबंध में इस क्रिया को उलट दिया। अपनी दार्शनिक बकवास को उन्होंने मूल फ़्रांसीसी कृतियों की पुश्त पर लिखा। उदाहरण के लिए, मुद्रा की आर्थिक क्रियाओं की फ़्रांसीसी आलोचना की पुश्त पर उन्होंने लिखा – "मानवता का अलगाव" और पूंजीवादी राज्य की फ़्रांसीसी आलोचना की पुश्त पर – "सामान्य के प्रवर्ग का सत्ताच्युत किया जाना" आदि, आदि।

फ़्रांसीसी ऐतिहासिक आलोचनाओं की पुश्त पर इन दार्शनिक उक्तियों की प्रस्थापनाओं को उन्होंने "कर्म-दर्शन", "सच्चा समाजवाद", "समाजवाद का जर्मन विज्ञान", "समाजवाद का दार्शनिक आधार" आदि भारी-भरकम नाम दिये।

इस तरह फ़्रांसीसी समाजवादी और कम्युनिस्ट साहित्य बिल्कुल शक्तिहीन बना दिया गया। और, चूंकि जर्मनों के हाथ में पड़कर उसने एक वर्ग के विरुद्ध दूसरे वर्ग के संघर्ष को अभिव्यक्त करना छोड़ दिया, इसलिए उन्हें ऐसा बोध हुआ कि उन्होंने "फ़्रांसीसी एकांगीपन" पर क़ाबू पा लिया है और सच्ची आवश्यकताओं का नहीं, बल्कि सत्य की आवश्यकताओं का प्रतिनिधित्व किया है; सर्वहारा वर्ग के हितों का नहीं, बल्कि मानव स्वभाव के हितों का, मनुष्य मात्र के हितों का प्रतिनिधित्व किया है जो किसी वर्ग का नहीं है, जिसका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है, जो केवल हवाई दार्शनिक कल्पना-लोक का प्राणी है।

इस जर्मन समाजवाद ने, जिसने स्कूली बच्चे के से अपने कार्यभार को इतनी संजीदगी और सत्यनिष्ठा के साथ ग्रहण किया था और अपनी फीके पकवान वाली ऊंची दूकान का ढिंढोरा पीटा था, धीरे-धीरे अपना निरीह पांडित्य त्याग दिया।

सामन्ती अमीर-उमरा और निरंकुश राजतंत्र के ख़िलाफ़ जर्मन पूंजीपति वर्ग का, और ख़ास तौर से प्रशा के पूंजीपति वर्ग का संघर्ष – दूसरे शब्दों में, उदारतावादी आंदोलन – अधिक गंभीर बन गया।

इससे "सच्चे" समाजवादियों को दीर्घकाल से वांछित यह मौक़ा मिला कि राजनीतिक आंदोलन के सामने वे अपनी समाजवादी मांगें रखें – उदारतावाद, प्रतिनिधिमूलक सरकार, पूंजीवादी होड़, पूंजीवादी प्रेस-स्वातन्त्र्य, पूंजीवादी क़ानून, पूंजीवादी स्वतंत्रता और समानता आदि को परम्परागत लानतें भेजें और जनसाधारण को बतायें कि इस पूंजीवादी आंदोलन से उन्हें कोई फ़ायदा नहीं होगा, बल्कि नुक़सान ही नुक़सान होगा। जर्मन समाजवाद ने बड़े मौक़े से इस

बात को भुला दिया कि फ़्रांसीसी मीमांसा, जिसकी वह एक बेहूदा प्रतिध्वनि मात्र था, आधुनिक पूंजीवादी समाज के अस्तित्व की – उसके अस्तित्व की आर्थिक परिस्थितियों की और उसके अनुरूप ढले राजनीतिक विधान की, अर्थात् ठीक उन्हीं चीज़ों की पूर्वकल्पना करके चलती है, जिनकी प्राप्ति जर्मनी में अभी तक अनिर्णीत संघर्ष का लक्ष्य था।

जर्मन निरंकुश सरकारों को, उनके हवाली-मवाली पादरियों, प्रोफ़ेसरों, देहाती रईसों और नौकरशाहों को ख़तरनाक पूंजीपतियों के ख़िलाफ़ इस समाजवाद के रूप में एक मनचाहा हौआ मिल गया।

हंटरों और गोलियों की कड़वी ख़ुराक के बाद, जो इन्हीं सरकारों ने उस समय जर्मनी के विद्रोही मज़दूरों को पिलायी थी, अन्त में यह एक मीठी गोली थी।

इस प्रकार जहां यह "सच्चा" समाजवाद जर्मन पूंजीपतियों के ख़िलाफ़ लड़ाई में सरकारों का अस्त्र बन गया, वहीं प्रत्यक्ष रूप से उसने एक प्रतिक्रियावादी स्वार्थ, जर्मन कूपमंडूकों के स्वार्थ का प्रतिनिधित्व किया। जर्मनी में निम्नपूंजीपति वर्ग ही, जो सोलहवीं शताब्दी का एक अवशेष है और तब से बारम्बार विभिन्न रूप धारण करके प्रगट होता रहा है, वहां की वर्तमान अवस्था का वास्तविक सामाजिक आधार है।

इस वर्ग को बरक़रार रखना जर्मनी की वर्तमान अवस्था को बरक़रार रखना है। पूंजीपति वर्ग का औद्योगिक और राजनीतिक प्रभुत्व, एक ओर तो पूंजी के संकेन्द्रण द्वारा और दूसरी ओर क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग के उदय द्वारा, उसके निश्चित विनाश का ख़तरा पैदा करता है। लगता था कि "सच्चा" समाजवाद एक ही तीर से इन दोनों चिड़ियों को ख़तम कर देगा। अतः "सच्चा" समाजवाद एक महामारी की तरह फैल गया।

जर्मन समाजवादियों ने अपने करुणाजनक "शाश्वत सत्यों" की ठठरी को जब कल्पनामय भावों के झीने आवरण में लपेटा, इस आवरण में आलंकारिक भाषा रूपी फूलदार सलमे सितारों की क़सीदाकारी की, और उसे रुग्ण भावुकता के नीहार-जल में भिगोकर बाज़ारों में ले आये, तो फिर क्या कहना था, ऐसे ख़रीदारों के बीच उनके इस माल की ख़ूब खपत हुई।

अपनी ओर से जर्मन समाजवाद ने निम्नपूंजीवादी कूपमण्डूक का आडंबरपूर्ण प्रतिनिधि होने के अपने पेशे को अधिकाधिक स्वीकार किया।

जर्मन समाजवादियों ने घोषणा की कि जर्मन राष्ट्र ही आदर्श राष्ट्र है और

जर्मनी का तुच्छ कूपमण्डूक ही आदर्श मानव है। इस आदर्श मानव की हर अपराधपूर्ण नीचता की उन्होंने एक रहस्यमय, उच्च, समाजवादी व्याख्या की— असलियत के बिल्कुल विपरीत व्याख्या। अंत में तो वे कम्युनिज्म की "पाशविक विनाशकारी" प्रवृत्ति का सीधे-सीधे विरोध करने और तमाम वर्ग-संघर्षों के प्रति अपनी घोर, पक्षपातहीन अवज्ञा घोषित करने की पराकाष्ठा तक पहुंच गये। जर्मनी में आजकल (१८४७) समाजवादी और कम्युनिस्ट साहित्य के नाम से जिन चीज़ों का प्रचार हो रहा है, उनमें से बहुत थोड़े को छोड़कर बाक़ी सब इसी गंदे और क्षयकारी साहित्य की कोटि में आती हैं।*

२. दक़ियानूसी या पूंजीवादी समाजवाद

पूंजीपति वर्ग का एक हिस्सा समाज की बुराइयों को दूर करना चाहता है जिससे कि पूंजीवादी समाज को बरक़रार रखा जा सके।

अर्थशास्त्री, दानवीर, मानवतावादी, श्रमजीवी वर्गों के जीवन-यापन की अवस्थाओं के सुधारक, ख़ैरात बंटवाने के प्रबंधकर्त्ता, पशु-रक्षा समितियों के सदस्य, शराबबन्दी के कट्टर समर्थक, प्रत्येक कल्पनीय प्रकार के छोटे-मोटे सुधारक—सभी इस श्रेणी में आते हैं। इसके अलावा, इस तरह के समाजवाद का पूरी की पूरी पद्धतियों के रूप में विशदीकरण किया गया है।

समाजवाद के इस रूप के उदाहरण के रूप में हम प्रूदों की पुस्तक 'दरिद्रता का दर्शन' को ले सकते हैं।

पूंजीवादी-समाजवादी समाज की आधुनिक अवस्थाओं का पूरा लाभ उठाना चाहते हैं, लेकिन उनके द्वारा अनिवार्यतः उत्पन्न संघर्षों और ख़तरों से दूर रहकर ही। वे मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को चाहते हैं, लेकिन बग़ैर उसके क्रांतिकारी और विघटक तत्त्वों के ही, वे चाहते हैं कि पूंजीपति वर्ग हो, लेकिन सर्वहारा न हो। पूंजीपति वर्ग जिस दुनिया में सर्वेसर्वा है स्वभावतः वह उसी को सर्वश्रेष्ठ मानता है; और पूंजीवादी समाजवाद इसी सुखद अवधारणा को

---

*सन् १८४८ की क्रांतिकारी आंधी ने इस पूरी लीचड़ प्रवृत्ति का सफ़ाया कर दिया और उसके समर्थकों की समाजवाद में टांग अड़ाने की इच्छा को दूर कर दिया। इस प्रवृत्ति का प्रमुख और प्रतिष्ठित प्रतिनिधि हेर कार्ल ग्रून था। (१८९० के जर्मन संस्करण में एंगेल्स का नोट।)

कमोबेश पूरी सामाजिक पद्धतियों का रूप दे देता है। इसलिए पूंजीवादी समाजवादी जब सर्वहारा से यह अपेक्षा करते हैं कि वह इस तरह की व्यवस्था क़ायम करेगा और ऐसा करके सीधे नये येरूशलम में पहुंच जायेगा तो दरअसल वे यह अपेक्षा करते हैं कि सर्वहारा वर्ग वर्तमान समाज की सीमाओं का उल्लंघन न करे और पूंजीपति वर्ग के बारे में अपनी तमाम घृणापूर्ण भावनाओं को तिलांजलि दे।

इस समाजवाद का एक दूसरा, अधिक व्यावहारिक परन्तु कम व्यवस्थित रूप वह है जो प्रत्येक क्रान्तिकारी आन्दोलन को मज़दूर वर्ग की दृष्टि में यह दिखाकर गिराना चाहता है कि उसे मात्र राजनीतिक सुधारों द्वारा नहीं, अपितु जीवन की भौतिक अवस्थाओं, आर्थिक सम्बन्धों में परिवर्तन द्वारा ही कोई लाभ हो सकता है। लेकिन जीवन की भौतिक अवस्थाओं में परिवर्तन से इस समाजवाद का मतलब यह कदापि नहीं है कि उत्पादन के पूंजीवादी सम्बन्धों को समाप्त कर दिया जाये, जिसे क्रान्ति के ज़रिये ही सम्पन्न किया जा सकता है; बल्कि उसका मतलब इन्हीं सम्बन्धों पर आधारित प्रशासकीय सुधारों से है, अर्थात् ऐसे सुधारों से जो किसी हालत में पूंजी और श्रम के सम्बन्धों में परिवर्तन नहीं लाते और ज्यादा से ज्यादा पूंजीवादी सरकार का प्रशासन-ख़र्च कम कर देते हैं और उसके प्रशासकीय कार्यों को कुछ सरल बना देते हैं।

पूंजीवादी समाजवाद पर्याप्त अभिव्यक्ति तभी प्राप्त करता है जब वह केवल भाषा का एक अलंकार बन जाता है, अन्यथा नहीं।

मुक्त व्यापार: मज़दूर वर्ग की भलाई के लिए! संरक्षी शुल्क: मज़दूर वर्ग के कल्याण के लिए! जेल-सुधार: मज़दूर वर्ग के ही फ़ायदे के लिए! – पूंजीवादी समाजवाद का यही हर्फ़े-आख़िर है, बस यही एक हरफ़ है जिसे वह संजीदगी से मानता है।

उसका लुब्बे लुबाब इस मुहावरे में है: पूंजीपति – पूंजीपति है तो मज़दूर वर्ग की भलाई के लिए ही है!

३. आलोचनात्मक-कल्पनावादी समाजवाद और कम्युनिज़्म

यहां पर हम बाब्योफ़ और दूसरे लेखकों की कृतियों की तरह के उस साहित्य की चर्चा नहीं कर रहे हैं जिसने प्रत्येक महान् आधुनिक क्रान्ति में सर्वहारा वर्ग की मांगों को सदा मुखरित किया है।

अपने वर्ग-लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए सर्वहारा की पहली सीधी-सीधी कोशिशें सार्वत्रिक उत्तेजना के काल में की गयी थीं, जब सामन्ती समाज का तख़्ता उल्टा जा रहा था। सर्वहारा की उस समय की अविकसित अवस्था के कारण, और साथ ही उसकी मुक्ति के लिए आवश्यक आर्थिक अवस्थाओं के अभाव के कारण – उन अवस्थाओं के, जिन्हें अभी उत्पन्न होना था और जो आसन्न पूंजीवादी युग द्वारा ही उत्पन्न हो सकती थीं – इन कोशिशों का असफल होना अनिवार्य था। सर्वहारा वर्ग के इन प्रथम आंदोलनों के साथ-साथ जो क्रांतिकारी साहित्य सृजित हुआ, वह अनिवार्यतः प्रतिक्रियावादी चरित्र रखता था। उसने सार्वभौमिक वैराग्य और भोंडे से भोंडे रूप में सामाजिक समतलन की भावनाएं पैदा कीं।

सेंत-साइमन, फ़ुरिये, ओवेन तथा दूसरे लोगों की पद्धतियों का जन्म – जिन्हें वास्तव में समाजवादी और कम्युनिस्ट पद्धतियां कहा जा सकता था – सर्वहारा और पूंजीपति वर्ग के संघर्ष के उपरोक्त आरम्भिक अविकसित काल में हुआ था ('देखिये अध्याय १: 'पूंजीपति और सर्वहारा')।

इसमें सन्देह नहीं कि इन पद्धतियों के संस्थापक तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में वर्ग-विरोधों तथा विघटनशील तत्त्वों की क्रिया को देखते थे। किन्तु उनकी दृष्टि में सर्वहारा, जो अभी अपने शैशव काल में था, ऐसा वर्ग था जिसमें न तो ऐतिहासिक पेशक़दमी थी और न ही स्वतंत्र राजनीतिक आन्दोलन की कोई क्षमता थी।

चूंकि वर्ग-विरोध का विकास उद्योग के विकास के साथ क़दम मिलाकर चलता है, इसलिए वे उस समय जैसी आर्थिक स्थिति पाते हैं, वह अभी उन्हें सर्वहारा की मुक्ति के लिए आवश्यक भौतिक अवस्थाएं प्रदान नहीं करती। इसलिए वे इन अवस्थाओं को उत्पन्न करने में समर्थ नये सामाजिक विज्ञान की, नये सामाजिक नियमों की तलाश करते हैं।

उन्होंने चाहा कि ऐतिहासिक क्रिया का स्थान उनकी व्यक्तिगत आविष्कारक क्रिया ले ले; इतिहास द्वारा पैदा होनेवाली सर्वहारा की मुक्ति की अवस्थाओं का काम उनकी कल्पित अवस्थाएं पूरा कर दें; सर्वहारा के धीरे-धीरे और स्वतः पैदा होनेवाले वर्ग संगठन का काम इन आविष्कारकों द्वारा विशेष तौर से आविष्कृत एक समाज संगठन कर दे। उनकी दृष्टि में भावी इतिहास उनकी सामाजिक योजनाओं का प्रचार और उनका व्यावहारिक क्रियान्वयन मात्र बन जाता है।

अपनी योजनाएं तैयार करते हुए, उन्हें सर्वाधिक पीड़ित वर्ग होने के नाते सबसे ज्यादा मजदूर वर्ग के हितों का ख़याल रहता है। उनकी दृष्टि में सर्वहारा के अस्तित्व का केवल एक अर्थ है—वह सर्वाधिक पीड़ित वर्ग है।

वर्ग-संघर्ष की अविकसित अवस्था और स्वयं अपने परिवेश के कारण इस तरह के समाजवादी अपने को तमाम वर्ग-विरोधों से बहुत ऊपर समझते हैं। समाज के प्रत्येक सदस्य की, सबसे अधिक सम्पन्न सदस्यों की भी, हालत को वे बेहतर बनाना चाहते हैं। इसलिए वे आदतन् वर्ग-भेद का लिहाज़ किये बिना पूरे समाज से, या, यूं कहिये ख़ास तौर से शासक वर्ग से अपील करते हैं। क्योंकि वे सोचते हैं कि भला ऐसा कैसे हो सकता है कि उनकी प्रणाली को एक बार समझ लेने के बाद लोग यह न देखें कि वह समाज की यथासंभव सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था के लिए यथासंभव सर्वश्रेष्ठ योजना है?

इसलिए, तमाम राजनीतिक, और ख़ास तौर से क्रांतिकारी कारवाइयों को वे ठुकरा देते हैं। अपने उद्देश्यों को वे शांतिमय तरीक़ों से हासिल करना चाहते हैं, और छोटे-छोटे प्रयोगों के ज़रिए, जिनकी असफलता अवश्यम्भावी है और नमूने के ज़ोर से वे अपने नवीन सामाजिक दिव्य-संदेश के लिए मार्ग प्रशस्त करने की कोशिश करते हैं।

भावी समाज के ये हवाई चित्र, जो ऐसे समय में बनाये जाते हैं जब कि सर्वहारा वर्ग अभी बहुत अविकसित दशा में होता है और उसे स्वयं अपनी स्थिति की एक अत्यंत काल्पनिक धारणा होती है, समाज के आम पुनर्निर्माण की उसकी प्रथम नैसर्गिक आकांक्षाओं के अनुरूप होते हैं।

किन्तु इन समाजवादी और कम्युनिस्ट प्रकाशनों में आलोचना का भी एक तत्त्व रहता है। वे वर्तमान समाज के प्रत्येक सिद्धान्त पर प्रहार करते हैं। इसलिए मजदूर वर्ग के प्रबोधन के लिए उनके अन्दर अत्यन्त मूल्यवान सामग्री मौजूद रहती है। उनमें भावी समाज के बारे में जो भी अमली तजवीज़ें पेश की गयी हैं—यह कि शहर और देहात का फ़र्क़ मिटा दिया जाये, परिवार की प्रथा का, अलग-अलग व्यक्तियों के निजी फ़ायदे के लिए उद्योग चलाने की पद्धति का तथा मजदूरी-व्यवस्था का अन्त कर दिया जाये, सामाजिक सामंजस्य की स्थापना की जाये, राज्य की क्रिया का केवल उत्पादन के निरीक्षण में रूपान्तरण किया जाये—वे सब उन वर्ग-विरोधों की समाप्ति की दिशा की ओर इंगित करती हैं जो उस समय उठने लगे थे और जो इन प्रकाशनों में केवल अपने सबसे

प्रारम्भिक, अस्पष्ट और अपरिभाषित रूप में माने गये हैं। इन तजवीज़ों का स्वरूप, इसलिए, विशुद्ध काल्पनिक है।

आलोचनात्मक-कल्पनावादी समाजवाद और कम्युनिज़्म के महत्त्व का इतिहास के विकासक्रम के साथ प्रतिलोम सम्बन्ध होता है। आधुनिक वर्ग-संघर्ष जैसे-जैसे बढ़ता है और निश्चित आकार ग्रहण करता है, वैसे-वैसे इस संघर्ष से दूर खड़े रहने की बेतुकी स्थिति का, इस संघर्ष का विरोध करने की बेतुकी बातों का सारा व्यावहारिक महत्त्व और सैद्धांतिक औचित्य भी ख़तम होता जाता है। फलतः यद्यपि इन पद्धतियों के संस्थापक बहुत बातों में क्रान्तिकारी थे, तथापि उनके शिष्यों ने सदैव प्रतिक्रियावादी संकीर्ण गुट ही बनाये हैं। सर्वहारा के प्रगतिशील ऐतिहासिक विकास के विपरीत वे अपने गुरुओं के मूल विचारों से चिपके हुए हैं। इसलिए वे हमेशा वर्ग-संघर्ष को चेतनाशून्य करने और विरोधी वर्गों में मेल-मिलाप कराने की कोशिश करते हैं। वे अभी भी अपनी काल्पनिक सामाजिक व्यवस्थाओं को प्रयोगात्मक रूप में चरितार्थ करने, इक्के-दुक्के फ़ालांस्तेर खड़े करने, "गृह-उपनिवेश" («Home-colonies») स्थापित करने, एक नई "छोटी इकारिया"* – नये यरूशलम का जेबी संस्करण – क़ायम करने के सपने देखते हैं, और इन सभी हवाई क़िलों को अमली शक्ल देने के लिए वे पूंजीपतियों की भावनाओं और उनकी थैलियों का आश्रय लेने को मजबूर होते हैं। धीरे-धीरे ये लोग भी प्रतिक्रियावादी दक़ियानूसी समाजवादियों की जमात में पहुंच जाते हैं, जिनका ऊपर चित्रण किया गया है। अंतर केवल इतना रहता है कि उनकी अपेक्षा इनका पाण्डित्य ज्यादा व्यवस्थापूर्ण होता है और वे अपने सामाजिक विज्ञान की चमत्कारिक शक्ति में कट्टर और मूढ़ग्राही विश्वास रखते हैं।

---

* "फ़ालांस्तेर" शार्ल फ़ुरिये की योजना पर आधारित समाजवादी बस्तियां थीं। काबे ने अपनी कल्पना-नगरी को "इकारिया" का नाम दिया था और बाद में अमरीका की अपनी कम्युनिस्ट बस्ती को भी उन्होंने इसी नाम से पुकारा। **(१८८८ के अंग्रेज़ी संस्करण में एंगेल्स का नोट।)**

ओवेन अपनी आदर्श कम्युनिस्ट सोसाइटियों को (Home-colonies) ("गृह-उपनिवेश") कहते थे। "फ़ालांस्तेर" – उन सार्वजनिक प्रासादों का नाम था जिनकी योजना फ़ुरिये ने बनायी थी। "इकारिया" – उस कल्पना-देश को कहा जाता था जिसकी कम्युनिस्ट संस्थाओं का चित्र काबे ने अंकित किया था। **(१८९० के जर्मन संस्करण में एंगेल्स का नोट।)**

इसलिए, मजदूर वर्ग की हर राजनीतिक कार्रवाई का वे प्रचंड विरोध करते हैं। उनके मुताबिक़ ऐसी कार्रवाइयां केवल नये दिव्य-संदेश में अंध अविश्वास का ही परिणाम हो सकती हैं।

इंगलैंड में ओवेनपंथी चार्टिस्टों का, और फ़्रांस में फ़ुरियेपंथी रिफ़ार्मिस्टों[62] का विरोध करते हैं।

४

वर्तमान काल की विभिन्न विरोधी पार्टियों के सम्बन्ध में कम्युनिस्टों की स्थिति

दूसरे अध्याय में मजदूर वर्ग की वर्तमान काल की पार्टियों के साथ, जैसे कि इंगलैंड में चार्टिस्टों के साथ और अमरीका में एग्रेरियन रिफ़ार्मरों के साथ, कम्युनिस्टों का सम्बन्ध स्पष्ट किया जा चुका है।

कम्युनिस्ट मजदूरों के तात्कालिक लक्ष्यों के लिए लड़ते हैं, उनके सामयिक हितों की रक्षा के लिए प्रयत्न करते हैं; किन्तु वर्तमान के आंदोलन में वे इस आंदोलन के भविष्य का भी प्रतिनिधित्व करते हैं और उसका ध्यान रखते हैं। फ़्रांस में दक़ियानूसी और उग्रवादी पूंजीपतियों के ख़िलाफ़ कम्युनिस्ट समाजवादी-जनवादियों* के साथ एका क़ायम करते हैं; लेकिन ऐसा करते हुए वे महान् क्रांति के दिनों से परम्परागत रूप में चली आती हुई लफ़्फ़ाज़ी और भ्रांतियों के प्रति आलोचना का रुख़ अपनाने के अपने अधिकार को सुरक्षित रखते हैं।

---

*उस समय इस पार्टी का प्रतिनिधित्व संसद में लेद्रू-रोलें, साहित्य में लूई ब्लां और दैनिक पत्रों में «*La Réforme*»[63] करता था। समाजवादी-जनवाद का नाम, यह नाम देनेवालों के अनुसार, जनवादी या जनतंत्रवादी पार्टी के उस हिस्से का द्योतक था जो कमोबेश समाजवाद के रंग में रंगा था। **(१८८८ के अंग्रेज़ी संस्करण में एंगेल्स का नोट।)**

फ़्रांस में उस समय जो पार्टी अपने को समाजवादी-जनवादी कहती थी उसका प्रतिनिधित्व राजनीतिक जीवन में लेद्रू-रोलें और साहित्य में लूई ब्लां करते थे; इस प्रकार वह आज के जर्मन समाजवादी-जनवाद से बिल्कुल ही भिन्न पार्टी थी। **(१८९० के जर्मन संस्करण में एंगेल्स का नोट।)**

स्विट्ज़रलैंड में वे रेडिकलों का समर्थन करते हैं; लेकिन इस बात को भुलाये बिना कि यह पार्टी परस्पर-विरोधी तत्त्वों के मेल से बनी है: कुछ तो उसमें फ़्रांसीसी क़िस्म के जनवादी समाजवादी हैं और कुछ उग्रवादी पूंजीपति।

पोलैंड में वे उस पार्टी का समर्थन करते हैं जो कृषि-क्रांति को राष्ट्रीय आज़ादी की पहली शर्त के रूप में ग्रहण करती है और जिसने १८४६ में क्रैको विद्रोह[64] की आग सुलगायी थी।

जर्मनी में जब-जब वहां का पूंजीपति वर्ग निरंकुश राजतंत्र, सामन्ती भू-स्वामियों और निम्नपूंजीपतियों के ख़िलाफ़ क्रांतिकारी कार्रवाई करता है, तब वे उसके साथ मिलकर लड़ते हैं।

लेकिन वे मज़दूर वर्ग को सर्वहारा और पूंजीपति वर्ग के शत्रुतापूर्ण विरोध का यथासंभव स्पष्ट से स्पष्ट बोध कराने का काम क्षण भर के लिए भी नहीं रोकते, ताकि जर्मन मज़दूर उन सामाजिक और राजनीतिक अवस्थाओं को, जिन्हें पूंजीपति वर्ग अपने प्रभुत्व के साथ अनिवार्यतः लागू करेगा, फ़ौरन पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध, साधन के रूप में, इस्तेमाल करना शुरू कर सकें, ताकि जर्मनी में प्रतिक्रियावादी वर्गों का तख़्ता उलटने के बाद स्वयं पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ तुरन्त ही लड़ाई की शुरुआत हो सके।

जर्मनी की ओर कम्युनिस्ट ख़ास तौर से इसलिए ध्यान देते हैं कि वह देश ऐसी पूंजीवादी क्रांति के द्वार पर खड़ा है जो अनिवार्यतः यूरोपीय सभ्यता की अधिक उन्नत अवस्थाओं में, इंगलैंड की सत्रहवीं शताब्दी और फ़्रांस की अठारहवीं शताब्दी के मुक़ाबले एक अधिक उन्नत सर्वहारा को लेकर होगी; और इसलिये कि जर्मनी की यह पूंजीवादी क्रांति उसके बाद तुरंत ही होनेवाली सर्वहारा क्रान्ति की उपक्रमणिका होगी।

संक्षेप में, कम्युनिस्ट सर्वत्र मौजूदा सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के ख़िलाफ़ हर क्रान्तिकारी आन्दोलन का समर्थन करते हैं।

इन तमाम आन्दोलनों में वे प्रमुख प्रश्न के रूप में सम्पत्ति के प्रश्न को, चाहे उस समय उसका जिस अंश में भी विकास हुआ हो, सर्वोपरि स्थान देते हैं।

अंत में, वे सर्वत्र तमाम देशों की जनवादी पार्टियों के बीच एकता और समझौता कराने की कोशिश करते हैं।

कम्युनिस्ट अपने विचारों और उद्देश्यों को छिपाना अपनी शान के ख़िलाफ़ समझते हैं। वे खुलेआम एलान करते हैं कि उनके लक्ष्य समस्त वर्तमान

सामाजिक अवस्थाओं के बलात् पर्युत्क्षेपण द्वारा ही सिद्ध किये जा सकते हैं। कम्युनिस्ट क्रान्ति के भय से शासक वर्ग कांपते हैं तो कांपें! सर्वहाराओं के पास अपनी बेड़ियों के सिवा खोने के लिए कुछ नहीं है। जीतने के लिए उनके सामने सारी दुनिया है।

दुनिया के मजदूरो, एक हो!

मार्क्स और एंगेल्स द्वारा दिसम्बर १८४७ – जनवरी १८४८ में लिखित।

अंग्रेज़ी से अनूदित।

पहले-पहल लन्दन में फ़रवरी १८४८ में जर्मन में प्रकाशित।

कार्ल मार्क्स

पूंजीपति वर्ग तथा प्रतिक्रान्ति

दूसरा लेख[65]

कोलोन, ११ दिसम्बर

जब मार्च का प्रलय[66] – प्रलय लघुरूप में – थम गया तो वह अपने पीछे पृथ्वी में बर्लिन के भूतल पर कोई दैत्य, कोई क्रान्तिकारी अतिविशाल मानव नहीं छोड़ गया, बल्कि पुराने ढंग के जीव, नाटी-मोटी पूंजीवादी आकृतियां – "संयुक्त लैंडटाग"[67] के उदारपंथी, सचेत प्रशियाई पूंजीपति वर्ग के प्रतिनिधि – छोड़ गया। राइन प्रान्त तथा सिलेशिया ने, उन प्रान्तों ने जिनके पास सबसे अधिक विकसित पूंजीपति वर्ग है, नये मंत्रिमंडलों के लिए मुख्य दस्ते मुहैया किये। उनके पीछे-पीछे था राइनिश विधिवेत्ताओं का एक पूरा क़ाफ़िला। सामन्ती प्रभुओं ने पूंजीपति वर्ग को जिस हद तक पीछे हटाकर पार्श्वभूमि में पहुंचने के लिए विवश किया, राइन प्रान्त तथा सिलेशिया ने उसी हद तक मंत्रिमंडलों में पुराने प्रशियाई प्रान्तों के लिए जगह बनायी। केवल एल्बेरफ़ेल्ड टोरी[68] अब भी ब्रांडेनबुर्ग मंत्रिमंडल और राइन प्रान्त के बीच कड़ी है। हांसेमान और वान डेर हेड्ट! ये दो नाम प्रशियाई पूंजीपति वर्ग के लिए मार्च तथा दिसम्बर १८४८ के बीच के सारे अन्तरों का साकार रूप हैं।

प्रशियाई पूंजीपति वर्ग को धकेलकर राजसत्ता के शीर्षस्थान को पहुंचा दिया गया था, उस ढंग से नहीं जिस ढंग से वह चाहता था, राजसिंहासन के साथ शांतिपूर्ण सौदेबाजी से नहीं बल्कि एक क्रान्ति से। उसे अपने हितों की नहीं वरन् राजसिंहासन के विरुद्ध अर्थात् स्वयं अपने विरुद्ध जनता के हितों की रक्षा करनी थी, क्योंकि एक जन-आन्दोलन ने पूंजीपति वर्ग के लिए रास्ता तैयार कर दिया था। परन्तु राजसिंहासन उसकी नजर में भगवान की दया से प्राप्त मात्र एक ऐसा पर्दा था जिसकी आड़ में उसके अपने सांसारिक हितों को छुपाने के लिए जगह प्राप्त हुई। उसके अपने हितों की तथा उसके हितों के साथ सामंजस्य रखनेवाले राजनीतिक रूपों की अनुल्लंघनीयता को संविधानों की भाषा में लिखे

जाने पर उसका अर्थ इस प्रकार होगा—**राजसिंहासन की अनुल्लंघनीयता। संवैधानिक राजतंत्र** के प्रति जर्मन, विशेष रूप से प्रशियाई पूंजीपति वर्ग के उल्लासमय अनुराग का यही कारण है। इसलिए फ़रवरी क्रान्ति तथा उसके जर्मन प्रतिनादों का जहां प्रशियाई पूंजीपति वर्ग द्वारा इसलिए स्वागत किया गया कि उसने राज्य की पतवार उसके हाथों सौंप दी थी, वहां उसने साथ ही साथ उसके मन्सूबों को उलट-पलट दिया क्योंकि उसके शासन के चारों ओर ऐसी शर्तों का घेरा खड़ा हो गया था जिन्हें न तो वह चाहता था और न जिन्हें वह पूरा कर सकता था।

पूंजीपति वर्ग ने ज़रा भी उंगली नहीं उठायी। उसने जनता को अपने लिए लड़ाई लड़ने दी। इसलिए उसे जो शासन स्थानान्तरित किया गया, वह अपने प्रतिद्वन्द्वी को परास्त करनेवाले जनरल का शासन नहीं था बल्कि एक ऐसी सार्वजनिक सुरक्षा समिति का शासन था जिसे विजयी जनता अपने हितों की रक्षा का कार्य सौंपती है।

काम्पहाउज़ेन इस स्थिति से उत्पन्न घोर असुविधा को अब भी अनुभव कर रहा था और उसके मंत्रिमंडल की सारी कमज़ोरी का कारण इस अनुभूति में और उसे जन्म देनेवाली परिस्थितियों में ढूंढ़ा जा सकता है। कह सकते हैं कि उसकी सरकार के सबसे ज़्यादा शर्मनाक कारनामों में शर्म की एक हल्की लालिमा है। खुली **निर्लज्जता** तथा **धृष्टता हांसेमान** का विशेषाधिकार थीं। लाल रंग का **थोड़ा-सा पुट** इन दो चित्रकारों में एकमात्र अन्तर है।

प्रशियाई मार्च क्रान्ति को १६४८ की **आंग्ल** क्रान्ति अथवा १७८९ की **फ़्रांसीसी** क्रान्ति के साथ गड्डमड्ड नहीं करना चाहिये।

१६४८ में पूंजीपति वर्ग राजतंत्र के विरुद्ध, सामन्ती अभिजात वर्ग के विरुद्ध तथा प्रतिष्ठापित चर्च के विरुद्ध आधुनिक अभिजात वर्ग के साथ संघबद्ध था।

१७८९ में पूंजीपति वर्ग राजतंत्र, अभिजात वर्ग तथा प्रतिष्ठापित चर्च के विरुद्ध जनता के साथ संघबद्ध था।

१७८९ की क्रान्ति का कम से कम यूरोप में प्रतिरूप केवल १६४८ की क्रान्ति थी तथा १६४८ की क्रान्ति का प्रतिरूप केवल वह विद्रोह था जो नीदरलैंड्स ने स्पेन के विरुद्ध किया था।[69] समय के मामले में ही नहीं वरन् अन्तर्वस्तु के मामले में भी दोनों क्रान्तियां अपने प्रतिरूपों से एक शताब्दी आगे थीं।

दोनों क्रान्तियों में पूंजीपति वर्ग ही वह वर्ग था जो **वास्तव में आन्दोलन**

का हरावल बना। **सर्वहारा** तथा **शहरी लोगों के उन तबक़ों के, जो पूंजीपति वर्ग के हिस्से नहीं थे,** या तो अभी तक पूंजीपति वर्ग से भिन्न हित नहीं थे, अथवा वे स्वतंत्र रूप से विकसित वर्ग या वर्गों की प्रशाखाएं नहीं बने थे। इसलिए वे जहां कहीं–उदाहरण के लिए फ़्रांस में १७६३ से १७६४ तक–पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध खड़े हुए, वे केवल पूंजीपति वर्ग के हितों की पूर्ति के लिए लड़े, भले ही ऐसा उन्होंने पूंजीपति वर्ग के **ढंग से** न किया हो। **पूरे का पूरा फ़्रांसीसी आतंकवाद पूंजीपति वर्ग के दुश्मनों**, निरंकुशवाद, सामन्तवाद तथा कूपमण्डूकवाद के साथ **प्लेबियन तरीक़े से** हिसाब-किताब चुकता करने के अलावा और कुछ नहीं था।

१६४८ तथा १७८६ की क्रान्तियां **आंग्ल** तथा **फ़्रांसीसी** क्रान्तियां नहीं थीं; वे तो एक **यूरोपीय** ढर्रे की क्रान्तियां थीं। वे **पुरानी राजनीतिक व्यवस्था** पर समाज के किसी **निश्चित** वर्ग की विजय नहीं थीं, वे तो **नये यूरोपीय समाज के लिए राजनीतिक व्यवस्था की उद्घोषणा थीं**। पूंजीपति वर्ग इन क्रान्तियों में विजयी रहा; परन्तु उस समय **पूंजीपति वर्ग** की विजय **समाज की एक नयी व्यवस्था की विजय** थी, सामन्ती स्वामित्व पर पूंजीवादी स्वामित्व की, प्रान्तीयतावाद पर राष्ट्रीयता की, शिल्प-संघ पर प्रतियोगिता की, ज्येष्ठाधिकार पर विभाजन की, मालिक के ऊपर भूमि के प्रभुत्व पर भूमि के मालिक की, अन्धविश्वास पर ज्ञानोदय की, पारिवारिक नाम पर परिवार की, शौर्यपूर्ण काहिली पर अध्यवसाय की, मध्ययुगीन विशेषाधिकार पर दीवानी क़ानून की विजय थी। १६४८ की विजय सोलहवीं शताब्दी पर सत्तरहवीं शताब्दी की विजय थी, १७८६ की क्रान्ति सत्तरहवीं शताब्दी पर अठारहवीं शताब्दी की विजय थी। इन क्रान्तियों ने उस ज़माने की दुनिया की आवश्यकताओं को दुनिया के उन क्षेत्रों की–इंगलैंड तथा फ़्रांस की–आवश्यकताओं से कहीं अधिक अभिव्यक्त किया जहां वे हुई थीं।

प्रशा की मार्च की क्रान्ति में इस तरह की कोई बात नहीं थी।

फ़रवरी क्रान्ति ने संवैधानिक राजतंत्र को वास्तविक रूप में तथा पूंजीपति वर्ग के शासन को कल्पना में **मिटाया**। प्रशा की मार्च क्रान्ति को संवैधानिक शासन काल्पनिक रूप में तथा पूंजीपति वर्ग का शासन वास्तविक रूप में **स्थापित करना** था। **यूरोपीय क्रान्ति** होना तो रहा बहुत दूर, वह एक पिछड़े हुए देश में एक यूरोपीय क्रान्ति की तुच्छ प्रतिध्वनि के अलावा और कुछ नहीं थी। अपने युग से आगे होने की जगह वह उससे अर्द्धशताब्दी से भी अधिक समय पीछे चल रही थी। वह शुरू से ही आनुषंगिक थी, परन्तु यह एक सुविदित तथ्य है कि

आनुषंगिक रोगों का इलाज करना अधिक कठिन होता है, वे साथ ही शरीर को मूल रोगों की तुलना में अधिक क्षतिग्रस्त करते हैं। यह नये समाज के जन्म का नहीं वरन् बर्लिन में ऐसे समाज के पुनर्जन्म का प्रश्न था जिसका पेरिस में देहावसान हो चुका था। प्रशा **में** मार्च क्रान्ति **राष्ट्रीय, जर्मन** तक भी नहीं थी; वह तो जन्म से ही **प्रान्तीय-प्रशियाई** थी। वियेना, कासेल, म्युनिख़ तथा हर क़िस्म के दूसरे प्रान्तीय विप्लव उसके साथ-साथ वेगपूर्वक अग्रसर हुए तथा उसके नेतृत्व को चुनौती देते रहे।

१६४८ तथा १७८९ की क्रान्तियों ने जहां सृजन का चरमोत्कर्ष होने का गौरव प्राप्त किया था, वहां १८४८ की बर्लिन की क्रान्ति पुरावशेष होने का घमंड करती थी। उसका प्रकाश तारों के उस प्रकाश जैसा था जो हम धरती-वासियों के पास तब पहुंचता है जब उन्हें विकीर्ण करनेवाले पिंडों को बुझे एक लाख वर्ष गुज़र चुके होते हैं। प्रशा में मार्च क्रान्ति यूरोप के लिए लघुरूप में—जैसा कि वह हर बात में लघु थी—एक ऐसा ही तारा थी। उसका प्रकाश उस समाज के शव का प्रकाश था जो बहुत पहले सड़-गल चुका था।

जर्मन पूंजीपति वर्ग इतनी काहिली से, इतने कायरतापूर्वक और इतनी धीमी गति से विकसित हुआ कि उस क्षण जब वह सामन्तवाद तथा निरंकुशवाद के सामने शत्रु के रूप में खड़ा हुआ तो उसने ख़ुद अपने सामने सर्वहारा तथा शहरी लोगों के वे सारे तबक़े शत्रुतापूर्वक खड़े पाये जिनके हित तथा विचार सर्वहारा के हितों तथा विचारों के सदृश थे। और उसने अपने **पीछे** एक वर्ग को ही नहीं वरन् अपने **सामने** पूरे यूरोप को शत्रुवत पंक्तिबद्ध पाया। १७८९ के फ़्रांसीसी पूंजीपति वर्ग के विपरीत प्रशियाई पूंजीपति वर्ग वह वर्ग नहीं था जिसने पुराने समाज, राजतंत्र तथा अभिजात वर्ग के प्रतिनिधियों के मुक़ाबले में पूरे आधुनिक समाज का प्रतिनिधित्व किया था। वह नीचे धंसकर एक तरह की सामाजिक **एस्टेट** के स्तर पर पहुंच गया था, सिंहासन के उतने ही स्पष्ट रूप से विरुद्ध था जितने स्पष्ट रूप से कि जनता के विरुद्ध, दोनों के विरुद्ध होने के लिए उत्सुक था, अपने विपक्षियों में से हर एक के प्रति अस्थिर था, क्योंकि उसने दोनों को या तो अपने सामने अथवा अपने पीछे पाया; शुरू से ही उसमें जनता के साथ ग़द्दारी करने तथा पुराने समाज के शाही प्रतिनिधि से समझौता करने की प्रवृत्ति थी क्योंकि वह ख़ुद पुराने समाज का था; वह पुराने समाज के विरुद्ध नये समाज के हितों का नहीं वरन् पुराने पड़ गये समाज के पुनर्नवीकृत हितों का प्रतिनिधित्व कर रहा था; क्रान्ति की बागडोर उसके पास थी, इसलिए

नहीं कि जनता उसके पीछे थी बल्कि इसलिए कि जनता पीछे से उसे कोंच रही थी; वह हरावल था, इसलिए नहीं कि वह किसी नूतन सामाजिक युग की पहल का प्रतिनिधित्व कर रहा था बल्कि इसलिए कि वह केवल एक पुराने सामाजिक युग के विद्वेष का प्रतिनिधित्व करता था; वह था पुराने राज्य का एक स्तर जो अंकुरित होकर सामने नहीं आया था वरन् जिसे एक भूकम्प नये राज्य की सतह पर ले आया था; जिसमें अपने ऊपर विश्वास नहीं था; जिसका जनता में विश्वास नहीं था; जो अपने से ऊपर वालों के बारे में बड़बड़ाता रहता तथा अपने से नीचे वालों के सामने कांपता रहता था; जो दोनों पक्षों के प्रति अहंवादी था, और अपने अहंवाद के प्रति सचेत था, जो अनुदारपंथियों के सम्बन्ध में क्रान्तिकारी तथा क्रान्तिकारियों के सम्बन्ध में अनुदारपंथी था; जिसका अपने ही आदर्श-वाक्यों पर विश्वास नहीं था; जो विचारों की जगह शब्दजाल का उपयोग करता था; जो विश्व-झंझा से भयभीत था और उसे अपने लाभ के लिए इस्तेमाल करता था; जिसमें किसी भी तरह की कोई शक्ति नहीं थी; जो हर मामले में भावचोर था; जो बहुत मामूली था क्योंकि उसमें मौलिकता का अभाव था; जो अपने साधारणपन में मौलिक था; जो अपनी ही इच्छाओं के साथ मोल-भाव करता था; जिसमें कोई पहलक़दमी नहीं थी; जिसका अपने में विश्वास नहीं था, जनता में विश्वास नहीं था; जिसकी कोई विश्व-ऐतिहासिक प्रतिष्ठा नहीं थी; वह एक ऐसा घृणास्पद वृद्ध था जिसकी क़िस्मत में अपने जराग्रस्त हितों की ख़ातिर एक प्राणवान जनता के प्रथम तरुणाई भरे संवेगों का पथ-प्रदर्शन करना तथा उन्हें मार्गच्युत करना लिखा हुआ है, जिसकी आंखें बंद हैं, कान बंद हैं, दांत ग़ायब हैं, एक प्राणविहीन वृद्ध—ऐसा था **प्रशियाई पूंजीपति वर्ग** जिसने मार्च क्रान्ति के बाद अपने को प्रशियाई राज्य का कर्णधार पाया।

मार्क्स द्वारा ११ दिसम्बर १८४८ को लिखित।
१५ दिसम्बर १८४८ को «*Neue Rheinische Zeitung*», अंक १६९ में प्रकाशित।

अंग्रेज़ी से अनूदित।

कार्ल मार्क्स

उजरती श्रम और पूंजी[70]

०

१८९१ के संस्करण की फ़्रे० एंगेल्स की भूमिका

यह रचना सर्वप्रथम «*Neue Rheinische Zeitung*»[71] में ४ अप्रैल १८४९ से सम्पादकीय लेखों की एक माला के रूप में प्रकाशित हुई थी। मार्क्स ने १८४७ में ब्रसेल्स के जर्मन मजदूर समाज[72] के सामने कुछ भाषण दिये थे, उन्हीं पर यह पुस्तक आधारित है। जिस रूप में यह रचना छपी, वह अपूर्ण है। अंक २६९ के अन्त में लिखा था—"क्रमशः", पर यह क्रम पूर्ण न हुआ, क्योंकि तभी से एक के बाद एक, घटनाओं का तांता बंध गया: हंगरी पर रूसियों ने हमला कर दिया[73], ड्रेस्डेन, आइज़रलोन, एल्बरफ़ेल्ड, फाल्ज़ और बाडेन में विद्रोह हुए[74], जिनके कारण ख़ुद यह पत्र भी (१९ मई १८४९ को) अधिकारियों द्वारा बन्द कर दिया गया। लेखमाला के आगे के भाग की पांडुलिपि मार्क्स की मृत्यु के बाद उनके कागज़ात में नहीं मिली।[75]

पुस्तिकाकार अलग प्रकाशन के रूप में 'उजरती श्रम और पूंजी' के कई संस्करण निकल चुके हैं। अंतिम संस्करण १८८४ में होटिंगेन-ज़ूरिच के 'स्विस कोआपरेटिव प्रेस' ने निकाला था। अभी तक जितने संस्करण प्रकाशित हुए हैं, उन सब में मूल पाठ को ज्यों का त्यों रखा गया है। लेकिन यह नया संस्करण, जिसकी १०,००० से कम प्रतियां नहीं छप रही हैं, एक प्रचार-पुस्तिका के रूप में निकल रहा है, इसलिए मेरे सामने यह सवाल उठना लाज़िमी था कि क्या ऐसी परिस्थिति में ख़ुद मार्क्स मूलपाठ में बिना कोई परिवर्तन किये उसे छापना पसन्द करते।

पांचवें दशक में मार्क्स अभी राजनीतिक अर्थशास्त्र की अपनी समालोचना को पूरा नहीं कर पाये थे। यह काम कहीं छठे दशक के अन्तिम दिनों में जाकर पूरा हुआ। इसलिए, 'राजनीतिक अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास' के प्रथम भाग (१८५९ में प्रकाशित) के पहले मार्क्स की जितनी रचनाएं निकली हैं, वे १८५९

के बाद लिखी गयी रचनाओं से कुछ बातों में भिन्न हैं, और उनमें कुछ शब्द, और कभी-कभी तो पूरे वाक्य ऐसे आ गये हैं जो बाद की रचनाओं के दृष्टिकोण से अनुपयुक्त और यहां तक कि गलत मालूम पड़ते हैं। अब यह तो स्वतःस्पष्ट है कि आम पाठक के लिए उद्दिष्ट साधारण संस्करणों में इस पहलेवाले दृष्टिकोण का लेखक के बौद्धिक विकास की एक सीढ़ी होने के नाते अपना स्थान है, और लेखक तथा पाठक दोनों का ही यह निर्विवाद अधिकार है कि ये पुरानी रचनाएं बिना किसी हेरफेर के छापी जायें। और मैं उनका एक शब्द भी बदलने की बात नहीं सोचता।

पर जब एक नया संस्करण, सच पूछिए तो केवल मजदूरों में प्रचार के लिए निकाला जा रहा है, तो बात दूसरी हो जाती है। मार्क्स होते तो वह भी ऐसी सूरत में १८४९ के पुराने प्रस्तुतीकरण को अपने नये दृष्टिकोण के अनुसार बदल देते। और सभी आवश्यक बातों में पुस्तक को इस प्रकार बदलने के उद्देश्य से इस संस्करण में कतिपय परिवर्तन करने या नये अंश जोड़ने में मेरा यह दृढ़ विश्वास रहा है कि मार्क्स होते तो वह भी ऐसा ही करते। इसलिए मैं पहले से ही पाठक को बता देना चाहता हूं कि यह वह पुस्तक नहीं है, जिसे मार्क्स ने १८४९ में लिखा था; बल्कि इसे वह पुस्तक समझना चाहिए जिसे यदि मार्क्स १८९१ में जीवित होते तो लगभग इसी तरह लिखते। इसके अलावा, पुस्तक के मूलपाठ की इतनी अधिक प्रतियां वितरित हो चुकी हैं कि वे तब तक के लिए काफ़ी होंगी जब तक कि मैं उसे फिर, बिना किसी परिवर्तन के, एक पूर्ण संस्करण के रूप में प्रकाशित नहीं करता।

मैंने जितने परिवर्तन किये हैं उन सब का आधार एक है। मूलपाठ के अनुसार मजदूर मजदूरी के बदले में पूंजीपति के हाथों अपना **श्रम** बेचता है। वर्तमान पाठ के अनुसार वह अपनी **श्रम-शक्ति** बेचता है। मैं इस परिवर्तन के लिये कुछ सफ़ाई देने के लिये कर्त्तव्यबद्ध हूं। मैं मजदूरों के सामने यह सफ़ाई देने के लिए कर्त्तव्यबद्ध हूं ताकि उन्हें मालूम हो जाये कि यह केवल शब्दों के साथ खिलवाड़ करने का मामला नहीं है, बल्कि इसका सम्बन्ध पूरे राजनीतिक अर्थशास्त्र के एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण सवाल से है। मैं पूंजीपतियों के सामने यह सफ़ाई देने के लिए कर्त्तव्यबद्ध हूं ताकि वे अच्छी तरह समझ जायें कि वे अशिक्षित मजदूर, जिनके लिए कठिन से कठिन आर्थिक विश्लेषण भी सहज ही बोधगम्य बनाया जा सकता है, उन घमंडी "पढ़े-लिखे बाबुओं" से कितने अधिक समझदार हैं, जिनके लिए ये पेचीदा सवाल सारी उम्र दुर्बोध बने रहते हैं।

क्लासिकल राजनीतिक अर्थशास्त्र[76] ने उद्योग-धंधों में व्यावहारिक रूप में प्रचलित, कारख़ानेदारों की यह धारणा अपना ली थी कि वे मज़दूरों से उनका **श्रम** ख़रीदते हैं और उनको उसका दाम देते हैं। कारख़ानेदारों के व्यवसाय की आवश्यकताओं, उनके बही-खाते और दामों के हिसाब-किताब के लिए यह धारणा सर्वथा पर्याप्त थी। लेकिन जब वह बेसोचे-समझे राजनीतिक अर्थशास्त्र में लायी गयी तब वहां उसने सचमुच अजीबोग़रीब ग़लतियां और गड़बड़ियां पैदा कर दीं।

अर्थशास्त्र इस बात को देखता है कि सभी मालों के दाम, जिनमें वह माल भी शामिल है जिसे अर्थशास्त्र "श्रम" कहता है, बराबर बदलते रहते हैं और यह कि वे अतिविविध परिस्थितियों के कारण, जिनका प्रायः स्वयं माल के उत्पादन से कोई भी सम्बन्ध नहीं होता, घटते और बढ़ते हैं। अतः देखने में ऐसा लगता है कि आम तौर पर दाम संयोगवश निश्चित होते रहते हैं। अतएव जैसे ही राजनीतिक अर्थशास्त्र एक विज्ञान के रूप में प्रकट हुआ,[77] वैसे ही यह पता लगाना उसका एक प्रथम कार्य बन गया कि वह कौनसा नियम है जो बाहरी तौर से मालों के दाम निर्धारित करनेवाले इस संयोग के पीछे छिपा हुआ है और जो वास्तव में स्वयं इस संयोग को निर्धारित करता है। मालों के लगातार बदलते और चढ़ते-उतरते दामों के अन्दर राजनीतिक अर्थशास्त्र ने उस अविचल केन्द्र-बिन्दु की खोज करनी चाही जिसके इर्द-गिर्द ये परिवर्तन और ये चढ़ाव-उतार होते हैं। संक्षेप में, मालों के **दामों** से आरम्भ करके राजनीतिक अर्थशास्त्र ने असल में दामों को नियंत्रित करनेवाले नियम के रूप में मालों के **मूल्य** का पता लगाने की कोशिश की, जिसके द्वारा ही दामों में होनेवाले ये सारे परिवर्तन समझे जा सकते हैं और जो उनका मूल कारण होता है।

क्लासिकल अर्थशास्त्र को तब पता चला कि किसी भी माल का मूल्य उसमें लगे श्रम, उसके उत्पादन के लिए अपेक्षित श्रम द्वारा निर्धारित होता है। इस स्पष्टीकरण से उसने संतोष कर लिया। और हम भी फ़िलहाल यहीं रुक सकते हैं। ग़लतफ़हमी न हो, इसलिए मैं पाठक को सिर्फ़ यह याद दिला दूं कि आजकल यह परिभाषा बिल्कुल अपर्याप्त हो गयी है। श्रम के मूल्य पैदा करनेवाले गुण की आद्यंत छान-बीन करनेवाले पहले व्यक्ति मार्क्स थे। इस छान-बीन से मार्क्स को मालूम हुआ कि किसी माल के उत्पादन के लिए प्रगटतः या यथार्थतः अपेक्षित समस्त श्रम से सभी परिस्थितियों में उसमें मूल्य की वह मात्रा नहीं जुड़ जाती जो प्रयुक्त श्रम की मात्रा के बराबर हो। इसलिए यदि हम आज चलते हुए ढंग से रिकार्डो जैसे अर्थशास्त्रियों के इस कथन को, कि किसी माल का मूल्य उसके

उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम से निश्चित होता है, दुहराते हैं, तो ऐसा हम हमेशा मार्क्स की बताई हुई सीमाओं को ध्यान में रखते हुए ही करते हैं। यहां बस इतना ही कहना काफ़ी है; और अधिक जानने के लिए मार्क्स की रचना 'राजनीतिक अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास', १८५९, और 'पूंजी' का पहला खंड देखना चाहिए।

परन्तु जब अर्थशास्त्रियों ने श्रम द्वारा मूल्य के इस निर्धारण सिद्धांत को "श्रम" नामक माल पर लागू किया, तब वे एक के बाद दूसरे अंतर्विरोध में फंसते गये। "श्रम" का मूल्य कैसे निर्धारित होता है? उसमें लगे आवश्यक श्रम से। लेकिन किसी मज़दूर के एक दिन, एक सप्ताह, एक महीने या एक साल के श्रम में कितना श्रम लगता है? ज़ाहिर है, उसमें एक दिन, एक सप्ताह, एक महीने या एक साल का ही श्रम लगता है। यदि श्रम ही सारे मूल्यों की माप है, तो निश्चय ही "श्रम का मूल्य" केवल श्रम से ही मापा जा सकता है। परन्तु यदि हम एक घंटे के श्रम के मूल्य के विषय में केवल इतना ही जानते हैं कि वह एक घंटे के श्रम के बराबर है, तब तो कहना चाहिए कि हम कुछ भी नहीं जानते। उससे तो हम अपने लक्ष्य की ओर तिल बराबर भी आगे नहीं बढ़ते और कोल्हू के बैल की तरह केवल चक्कर काटते रहते हैं।

इसलिए, क्लासिकल अर्थशास्त्र ने एक दूसरा रास्ता पकड़ा। उसने कहा: किसी भी माल का मूल्य उसके उत्पादन के ख़र्च के बराबर होता है। लेकिन श्रम के उत्पादन का ख़र्च क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देने में अर्थशास्त्रियों को थोड़ा तर्क का कुतर्क करना पड़ा। स्वयं श्रम के उत्पादन के ख़र्च की छान-बीन करने के बजाय, जिसका कि दुर्भाग्य से पता लगाना सम्भव नहीं है, उन्होंने **मज़दूर** के उत्पादन के ख़र्च की छान-बीन करनी शुरू की। और इसका पता लगाना सम्भव है। समय और परिस्थितियों के अनुसार यह ख़र्च बदलता रहा है; पर समाज विशेष में, स्थान विशेष में और उत्पादन की शाखा विशेष में वह, कम से कम एक काफ़ी संकुचित दायरे के अंदर, निश्चित रहता है। आज हम पूंजीवादी उत्पादन के आधिपत्य में रहते हैं, जिसमें आबादी का एक बड़ा, और संख्या में दिनोंदिन बढ़नेवाला वर्ग ऐसा है जो केवल उसी हालत में ज़िन्दा रह सकता है जबकि वह उत्पादन के साधनों – यानी औज़ारों, मशीनों, कच्चे माल और जीवन-निर्वाह के साधनों – के मालिकों के लिए मज़दूरी के बदले काम करे। उत्पादन की इस प्रणाली के आधार पर मज़दूर के उत्पादन का ख़र्च जीवन-निर्वाह के साधनों की उस मात्रा के बराबर – या रुपये-पैसे की शक्ल में इन

साधनों के दाम के बराबर—होता है जो मज़दूर को काम करने योग्य बनाने, उसे काम के योग्य बनाये रखने, और जब वह बुढ़ापे, बीमारी या मौत के कारण कार्यक्षेत्र से हट जाये तो उसकी ख़ाली जगह को एक नये मज़दूर से भरने के लिए, अर्थात् मज़दूर वर्ग की आवश्यक रूप में वंश-वृद्धि करने के लिए ज़रूरी है। मान लीजिए कि जीवन-निर्वाह के इन साधनों का नक़द दाम औसतन् तीन मार्क प्रतिदिन है।

इस प्रकार हमारे मज़दूर को, उस पूंजीपति से जो उसे काम पर लगाता है, तीन मार्क रोज़ाना की मज़दूरी मिलती है। उसके बदले में पूंजीपति मज़दूर से, मान लीजिए, बारह घंटे रोज़ काम लेता है और मोटे तौर पर इस तरह हिसाब लगाता है:

मान लीजिए कि हमारा मज़दूर एक मिस्त्री है। उसका काम मशीन का एक पुर्ज़ा तैयार करना है, जिसे वह एक दिन में पूरा कर सकता है। इसके लिए कच्चे माल पर—लोहे और पीतल पर, जो पहले से ज़रूरी शक्ल में तैयार कर लिये गये हैं—बीस मार्क की लागत आती है। भाप से चलनेवाले इंजन में जितना कोयला ख़र्च होता है, उसका और इस इंजन में, लेथ में और इन औज़ारों में, जिनको हमारा मज़दूर इस्तेमाल करता है, जितनी घिसाई होती है उसका एक दिन में एक मज़दूर के हिसाब में जो हिस्सा आता है, सब की लागत, मान लीजिए, एक मार्क है, उधर हमने मज़दूर की एक दिन की मज़दूरी तीन मार्क मानी है। इस तरह कुल जोड़कर हमारे उस मशीन के पुर्ज़े को तैयार करने में चौबीस मार्क लगते हैं। परन्तु पूंजीपति हिसाब लगाता है कि उसे इस पुर्ज़े के बदले में ख़रीदार से औसतन् सत्ताईस मार्क, यानी उसकी लागत से तीन मार्क ज़्यादा मिलेंगे।

ये तीन मार्क, जो पूंजीपति की जेब में चले जाते हैं, कहां से आते हैं? क्लासिकल अर्थशास्त्र का दावा है कि माल औसतन् अपने मूल्य पर, अर्थात् उस दाम पर बिकता है जो उसमें लगे श्रम के आवश्यक परिमाण के अनुरूप है। इस तरह हमारे मशीन के पुर्ज़े का औसत दाम—जो सत्ताईस मार्क है—उसके मूल्य के, यानी उसमें लगे श्रम के बराबर होना चाहिए। लेकिन सत्ताईस मार्क की इस रक़म में से इक्कीस मार्क के बराबर का मूल्य तो हमारे मिस्त्री के काम शुरू करने के पहले से ही मौजूद था। बीस मार्क कच्चे माल के रूप में था और एक मार्क उस कोयले के रूप में था जो काम के दौरान ख़र्च हुआ, या उन मशीनों और औज़ारों के रूप में था जो पुर्ज़ा तैयार करने में इस्तेमाल किये गये और

इस प्रक्रिया में जिनकी काम करने की शक्ति में इस रक़म के बराबर मूल्य की कमी आ गयी। बचते हैं छः मार्क, जो कच्चे माल के मूल्य में नये जुड़ गये हैं। परन्तु ख़ुद हमारे अर्थशास्त्री यह मानकर चल रहे हैं कि ये छः मार्क केवल उस श्रम से ही पैदा हो सकते हैं जो मज़दूर ने कच्चे माल में जोड़ दिया है। मतलब यह हुआ कि मज़दूर के बारह घंटे के श्रम से छः मार्क का नया मूल्य पैदा हो गया। लिहाज़ा उसके बारह घंटे के श्रम का मूल्य छः मार्क के बराबर ठहरता है। और इस प्रकार अंततोगत्वा हमने यह पता लगा लिया कि "श्रम का मूल्य" क्या है।

"ज़रा ठहरो!" इतने में हमारा मिस्त्री चिल्लाता है, "छः मार्क? लेकिन मुझे तो सिर्फ़ तीन मार्क मिले हैं! मेरा मालिक तो हलफ़ उठाकर कहता है कि बारह घंटे की मेरी मेहनत का मूल्य केवल तीन मार्क है और यदि मैं छः मार्क मांगता हूं, तो वह मुझपर हंसता है। यह क्या माजरा है?"

यदि हम पहले श्रम के मूल्य को लेकर कोल्हू के बैल की तरह चक्कर काट रहे थे, तो अब हम एक ऐसे अन्तर्विरोध में फंसकर रह गये हैं जिसका कोई समाधान नहीं है। हम श्रम के मूल्य की खोज में निकले थे और हमें इतना मूल्य मिल गया कि हम उसका उपयोग नहीं कर सकते। मज़दूर के लिए बारह घंटे के श्रम का मूल्य तीन मार्क है, पूंजीपति के लिए उसका मूल्य छः मार्क है, जिसमें से तीन मार्क वह मज़दूर को बतौर मज़दूरी के देता है और तीन अपनी जेब में रख लेता है। इस प्रकार श्रम का एक मूल्य नहीं हुआ, दो मूल्य हुए हैं और तुर्रा यह कि दोनों मूल्य बिल्कुल ही अलग!

और यदि मुद्रा में व्यक्त मूल्य को श्रम-काल के रूप में व्यक्त किया जाये, तो यह अंतर्विरोध और भी बेसिर-पैर का मालूम होता है। बारह घंटे के श्रम से छः मार्क का नया मूल्य पैदा होता है। अतः तीन मार्क, यानी उस रक़म के बराबर मूल्य जो मज़दूर को बारह घंटे के श्रम के एवज़ में मिलता है, छः घंटे में पैदा होता है। मतलब यह कि मज़दूर को बारह घंटे के श्रम के लिए छः घंटे के श्रम की उपज के बराबर मूल्य प्राप्त होता है। इसलिए, या तो श्रम के दो मूल्य हैं, एक दूसरे का दुगुना, या बारह बराबर है छः के! दोनों सूरतों में हम बिल्कुल औंधी खोपड़ी वाली बात पाते हैं।

आप लाख हाथ-पैर मारिए, पर जब तक आप श्रम के क्रय-विक्रय और श्रम के मूल्य की बातें करते रहेंगे, तब तक आप इस गोरख-धंधे से नहीं निकल पायेंगे। अर्थशास्त्रियों के साथ यही बात हुई है। क्लासिकल अर्थशास्त्र की अन्तिम

शाखा, रिकार्डो की शाखा का प्रधानतः इसी अन्तर्विरोध को हल न कर सकने के कारण दिवाला निकल गया। क्लासिकल अर्थशास्त्र एक अंधी गली में फंस गया था। इस अंधी गली से निकलने का रास्ता कार्ल मार्क्स ने खोज निकाला।

जिसे अर्थशास्त्री "श्रम" के उत्पादन का ख़र्च समझते थे, वह श्रम का नहीं, बल्कि ख़ुद जीते-जागते मज़दूर के उत्पादन का ख़र्च था। और यह मजदूर पूंजीपति के हाथों जो चीज़ बेचता था, वह उसका श्रम नहीं थी। मार्क्स ने कहा है: "जैसे ही मज़दूर सचमुच श्रम करना शुरू कर देता है वैसे ही श्रम उसका नहीं रह जाता; इसलिए अब वह उसे बेच भी नहीं सकता।" ज्यादा से ज्यादा, वह केवल **भविष्य** का अपना श्रम बेच सकता है, यानी वह एक निश्चित समय में काम की एक विशेष मात्रा पूरी करने का बीड़ा उठा सकता है। परन्तु ऐसा करने में वह अपना श्रम नहीं बेचता (बेचने से पहले श्रम करना जरूरी है), बल्कि एक निश्चित समय के लिए (जहां समयानुसार मजदूरी मिलती है) या एक निश्चित मात्रा में माल तैयार करने के लिए (जहां कार्यानुसार मजदूरी मिलती है) वह श्रम-शक्ति को एक निश्चित रक़म के बदले में पूंजीपति के हाथों में सौंप देता है: वह अपनी **श्रम-शक्ति** को बेचता है, या किराये पर उठाता है। परन्तु यह श्रम-शक्ति उसके शरीर में बसी हुई है और उससे अलग नहीं की जा सकती। इसलिए, श्रम-शक्ति के उत्पादन का ख़र्च वही है जो ख़ुद मज़दूर के उत्पादन का ख़र्च है। अर्थशास्त्री जिसे श्रम के उत्पादन का ख़र्च कहते थे, वह वास्तव में मजदूर के और उसके साथ-साथ उसकी श्रम-शक्ति के उत्पादन का ख़र्च है। और इसलिए श्रम-शक्ति के उत्पादन के ख़र्च से हम श्रम-शक्ति के **मूल्य** की ओर लौट सकते हैं, और यह निर्धारित कर सकते हैं कि विशेष गुणसम्पन्न श्रम-शक्ति के उत्पादन में सामाजिक दृष्टि से कितना श्रम आवश्यक होगा, जैसा कि श्रम-शक्ति के क्रय-विक्रय वाले अध्याय में मार्क्स ने किया है ('पूंजी', खण्ड १, भाग ४)।

अच्छा, जब मज़दूर अपनी श्रम-शक्ति पूंजीपति के हाथों बेच देता है, यानी जब वह उसे पहले से तै की गयी मजदूरी—समयानुसार अथवा कार्यानुसार—के एवज़ में पूंजीपति के हवाले करता है, तब क्या होता है? पूंजीपति मजदूर को अपने वर्कशाप या कारख़ाने के अन्दर ले जाता है जहां काम के लिए ज़रूरी सभी चीज़ें—कच्चा माल, सहायक सामान (कोयला, रंग आदि), औज़ार, मशीनें—पहले से मौजूद हैं। यहां मजदूर खटना शुरू करता है। उसकी दिन भर की

मज़दूरी तीन मार्क हो सकती है, जैसा कि हमने ऊपर माना था—और इस सम्बन्ध में इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि वह तीन मार्क समयानुसार मज़दूरी के रूप में कमाता है या कार्यानुसार मज़दूरी के रूप में। यहां हम फिर यह मान कर चलते हैं कि बारह घंटे में मज़दूर अपने श्रम से प्रयुक्त कच्चे माल में छः मार्क का नया मूल्य जोड़ देता है, जिस नये मूल्य को पूंजीपति तैयार माल को बेचकर वसूल करता है। उसमें से वह मज़दूर को उसके तीन मार्क दे देता है और बचे हुए तीन मार्क अपने पास रख लेता है। अब मज़दूर यदि बारह घंटे में छः मार्क का मूल्य पैदा करता है, तो वह छः घंटे में तीन मार्क का मूल्य पैदा करता है। इसलिए अपनी मज़दूरी के तीन मार्क का तुल्य मूल्य तो उसने पूंजीपति को तभी चुका दिया जब वह उसके लिए छः घंटे काम कर चुका। छः घंटे के काम के बाद दोनों का हिसाब चुकता हो गया; अब उनका एक दूसरे पर एक पैसा भी बाक़ी नहीं रहा।

"ज़रा ठहरो!" अब पूंजीपति चिल्ला उठता है, "मैंने मज़दूर को पूरे दिन, यानी बारह घंटे के लिए काम पर रखा है; और छः घंटे के माने होते हैं सिर्फ़ आधा दिन। इसलिए जब तक बाक़ी छः घंटे भी पूरे न हो जायें, तब तक काम करते जाओ! उसके बाद ही हमारा तुम्हारा हिसाब चुकता होगा!" और सचमुच मज़दूर को उस क़रार को निभाना पड़ता है जो उसने "स्वेच्छापूर्वक" किया है, और जिसके अनुसार वह वादा कर चुका है कि वह छः घंटे के श्रम की लागत की चीज़ पाने के एवज में पूरे बारह घंटे तक काम करेगा।

कार्यानुसार मज़दूरी के साथ यही बात है। मान लीजिए कि हमारा यह मज़दूर बारह घंटे में किसी माल के बारह अदद तैयार करता है। उनमें से हर अदद में लगे हुए कच्चे माल में और मशीनों आदि की घिसाई में दो मार्क ख़र्च होते हैं और हरेक अदद ढाई मार्क में बिकता है। तब, पहले की अभिधारणाओं के आधार पर, पूंजीपति मज़दूर को हर अदद के लिए पचीस फ़ेनिग* देगा। इस दर पर बारह अदद के लिए मज़दूर को तीन मार्क मिलेंगे जिनको कमाने के लिए मज़दूर को बारह घंटे काम करना पड़ता है। पूंजीपति को बारह अदद के लिए तीस मार्क मिलेंगे। उनमें से चौबीस मार्क कच्चे माल और मशीनों आदि की घिसाई की मद को निकाल दीजिए। तब बचते हैं छः मार्क, जिनमें से वह तीन मार्क मज़दूर को बतौर मज़दूरी के दे देता है और तीन मार्क अपनी जेब में

* १ मार्क=१०० फ़ेनिग।—सं०

डाल लेता है। बात बिल्कुल वही है जो ऊपर कही गयी थी। यहां भी मजदूर अपने लिए, यानी अपनी मजदूरी के बराबर मूल्य उत्पन्न करने के लिए, छः घंटे (बारह घंटों में प्रत्येक में से आधा घंटा) काम करता है और छः घंटे पूंजीपति के लिए काम करता है।

अच्छे से अच्छे अर्थशास्त्री "श्रम" के मूल्य से आरम्भ करने पर जिस कठिनाई में फंस कर रह जाते थे, वह "श्रम" के बजाय "श्रम-शक्ति" से आरम्भ करते ही तुरन्त ग़ायब हो जाती है। आजकल के हमारे पूंजीवादी समाज में अन्य किसी भी माल की तरह, श्रम-शक्ति भी एक माल है, और फिर भी वह एक अत्यंत विशिष्ट प्रकार का माल है। उसमें यह विशिष्ट गुण है कि वह मूल्योत्पादक शक्ति है; वह मूल्य का स्रोत है, सचमुच एक ऐसा स्रोत है कि अगर उसका उचित इस्तेमाल किया जाये, तो जितना मूल्य वह स्वयं रखता है उससे भी अधिक मूल्य उत्पन्न कर सकता है। उत्पादन की वर्तमान अवस्था में मानव श्रम-शक्ति दिन भर में न केवल स्वयं अपने मूल्य तथा अपनी लागत से अधिक मूल्य पैदा कर देती है; बल्कि हर नयी वैज्ञानिक खोज और हर नये प्राविधिक आविष्कार के साथ उसकी रोज़मर्रा की लागत के मुक़ाबले उसकी रोजमर्रा की पैदावार की बेशी बढ़ती जाती है, अतः श्रम के दिन का वह भाग जिसमें मज़दूर अपनी दिन भर की मज़दूरी का प्रतिमूल्य उत्पन्न करने के लिए काम करता है, घटता जाता है—फलतः दूसरी ओर श्रम के दिन का वह भाग, जिसमें मज़दूर को अपना श्रम बिना उजरत लिए पूंजीपति को नज़र कर देना पड़ता है, बढ़ता जाता है।

और आजकल के हमारे पूरे समाज का यही आर्थिक ढांचा है: सभी प्रकार का मूल्य केवल मज़दूर वर्ग ही उत्पन्न करता है। कारण, मूल्य श्रम का ही दूसरा नाम है, वह नाम जो आजकल के हमारे पूंजीवादी समाज में किसी ख़ास माल के उत्पादन में लगे, सामाजिक दृष्टि से आवश्यक, श्रम की मात्रा को दिया जाता है। लेकिन मज़दूरों द्वारा उत्पन्न इन मूल्यों पर मज़दूरों का अधिकार नहीं होता। उन पर अधिकार होता है कच्चे माल, मशीनों, औज़ारों तथा आरक्षित निधियों के मालिकों का, जो मालिकों को मज़दूर वर्ग की श्रम-शक्ति को ख़रीदने का सुयोग प्रदान करते हैं। इसलिए मज़दूर वर्ग जो राशि-राशि उपज पैदा करता है, उसमें से उसे केवल एक हिस्सा ही वापस मिलता है। और, जैसा कि हमने अभी देखा, उसका दूसरा हिस्सा, जो पूंजीपति अपने पास रख लेता है, जिसमें से उसे ज़्यादा से ज़्यादा ज़मींदार के साथ हिस्सा बंटाना पड़ता है,

हर नये आविष्कार तथा खोज के साथ बढ़ता जाता है, जबकि मजदूर वर्ग के हिस्से में आनेवाला भाग (फ़ी आदमी के हिसाब से) या तो बहुत ही धीरे-धीरे और बहुत ही कम बढ़ता है, या बिल्कुल ही नहीं बढ़ता, और बाज़ सूरतों में तो वह घट भी सकता है।

लेकिन ये आविष्कार और खोजें, जो नित्य बढ़ती हुई गति से एक दूसरे से आगे बढ़ रही हैं, मानव-श्रम की उत्पादनशीलता जो दिन-ब-दिन इतनी तेज़ी के साथ बढ़ रही है कि पहले सोचा भी नहीं जा सकता था – अन्त में जाकर एक ऐसा टकराव पैदा करती हैं जिसके कारण आज की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का विनाश निश्चित है। एक ओर अकूत धन-सम्पत्ति और मालों की इफ़रात है जिनको ख़रीदार ख़रीद नहीं पाते; दूसरी ओर समाज का अधिकांश भाग है जो सर्वहारा हो गया है, उजरती मजदूर बन गया है, और जो ठीक इसी लिए इन इफ़रात मालों को हस्तगत करने में असमर्थ है। समाज के एक छोटे-से अत्यधिक धनी वर्ग और दूसरी ओर उजरती मजदूरों के एक विशाल सम्पत्तिविहीन वर्ग में बंट जाने के परिणामस्वरूप उसका ख़ुद अपनी इफ़रात से गला घुंटने लगता है, जबकि दूसरी तरफ़, समाज के सदस्यों का विशाल बहुमत घोर अभाव से प्रायः अरक्षित है या नितांत अरक्षित तक है। यह वस्तु-स्थिति अधिकाधिक बेतुकी और अधिकाधिक अनावश्यक होती जाती है। इस स्थिति का अंत अपरिहार्य है; उसका अंत सम्भव है। एक ऐसी नयी समाज-व्यवस्था सम्भव है जिसमें वर्तमान वर्ग-भेद लुप्त हो जायेंगे और जिसमें – शायद एक छोटे-से संक्रमण-काल के बाद, जिसमें कुछ अभाव सहन करना पड़ेगा, लेकिन जो नैतिक दृष्टि से बड़ा मूल्यवान काल होगा – अभी से मौजूद अपार उत्पादन-शक्तियों का योजनाबद्ध रूप से उपयोग तथा विस्तार करके और सभी के लिए काम करना अनिवार्य बनाकर, जीवन-निर्वाह के साधनों को, जीवन के उपभोग के साधनों को तथा मनुष्य की सभी शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों के विकास और प्रयोग के साधनों को, समाज के सभी सदस्यों के लिए समान मात्रा में और अधिकाधिक पूर्ण रूप से सुलभ बना दिया जायेगा। और यह बात कि इस नयी समाज-व्यवस्था को प्राप्त करने का मजदूरों का निश्चय अधिकाधिक दृढ़ होता जा रहा है, कल, पहली मई को और रविवार, ३ मई को महासागर के दोनों ओर प्रत्यक्ष हो जायेगी।[78]

फ़्रे० एंगेल्स

लन्दन, ३० अप्रैल १८९१

«Vorwärts» समाचारपत्र, अंक १०९, ११ मई १८९१, के परिशिष्ट तथा Karl Marx, «Lohnarbeit und Kapital», Berlin, 1891, पुस्तिका में प्रकाशित।

अंग्रेज़ी से अनूदित।

७

उजरती श्रम और पूंजी

विभिन्न क्षेत्रों से हमारे पास शिकायत आयी है कि हमने उन **आर्थिक सम्बन्धों** को पेश नहीं किया है, जो मौजूदा वर्ग-संघर्षों और राष्ट्रीय संघर्षों के भौतिक आधार हैं। इन सम्बन्धों का हमने जान-बूझकर केवल तभी ज़िक्र किया है, जब वे राजनीतिक संघर्षों में प्रत्यक्ष रूप से सामने आ गये हैं।

कांटे की बात यह थी कि हम वर्तमान इतिहास में वर्ग-संघर्ष का सिलसिला देखें और, आनुभविक रूप से, उस ऐतिहासिक सामग्री द्वारा जो हमारे पास मौजूद है और जो हर रोज़ नई-नई पैदा हो रही है, सिद्ध करें कि फ़रवरी और मार्च में मज़दूर वर्ग की पराजय के साथ ही साथ उसके विरोधी भी पराजित हो गये थे – फ़्रांस में पूंजीवादी जनतंत्रवादी और यूरोपीय महाद्वीप में पूंजीवादी और किसान वर्ग जो हर जगह सामन्ती निरंकुशता के खिलाफ़ लड़ रहे थे; कि फ़्रांस में "सच्चे जनतन्त्र" की जीत उन तमाम राष्ट्रों की हार भी थी जिन्होंने फ़रवरी क्रान्ति से प्रभावित होकर वीरतापूर्ण स्वातंत्र्य संग्राम छेड़ा था; और अन्ततः यह कि क्रान्तिकारी मज़दूरों की पराजय के साथ-साथ यूरोप फिर पलटा खाकर अपनी पुरानी दोहरी ग़ुलामी, **ब्रिटिश-रूसी** ग़ुलामी की हालत में पहुंच गया। पेरिस में जून का संघर्ष, वियेना का पतन, नवम्बर १८४८ में बर्लिन में होनेवाला विचित्र दुखान्त-सुखान्त नाटक, पोलैंड, इटली और हंगरी की निराशापूर्ण सरगर्मियां, आयरलैंड को भूखा मारकर आत्मसमर्पण के लिए बाध्य करना – ये ही वे मुख्य घटनाएं हैं जो यूरोप में पूंजीपति वर्ग तथा मज़दूर वर्ग के बीच चलनेवाले वर्ग-संघर्ष की विशेषता को प्रकट करती हैं और जिनके ज़रिए हमने यह साबित किया था कि जब तक क्रान्तिकारी मज़दूर वर्ग की विजय नहीं होती, तब तक प्रत्येक क्रान्तिकारी उथल-पुथल – चाहे उसका लक्ष्य वर्ग-संघर्ष से कितना ही दूर क्यों न मालूम होता हो – सदा असफल रहेगी, और जब तक सर्वहारा क्रान्ति और सामन्ती प्रतिक्रान्ति के बीच, एक **विश्व-युद्ध** के रूप में, टक्कर नहीं होती,

तब तक प्रत्येक सामाजिक सुधार केवल एक कल्पना ही बनकर रह जायेगा। वास्तविकता और हमारी प्रस्तुति दोनों में **बेल्जियम** और **स्विट्ज़रलैंड** एक महान ऐतिहासिक झांकी में व्यंग्यचित्र के समान, दुखान्त-सुखान्त चित्र की तरह दिखाई देते थे, जिनमें से एक पूंजीवादी राजतंत्रीय आदर्श राज्य था और दूसरा पूंजीवादी आदर्श जनतंत्र; और ये दोनों राज्य अपने को वर्ग-संघर्ष से उतना ही मुक्त समझते थे जितना कि यूरोपीय क्रान्ति से।

हमारे पाठक यह देख चुके हैं कि १८४८ में वर्ग-संघर्ष किन विराट राजनीतिक रूपों में विकसित हुआ था। अब समय आ गया है कि उन आर्थिक सम्बन्धों पर भी अधिक निकट से विचार किया जाये जिन पर पूंजीपति वर्ग तथा उसके वर्गीय शासन का अस्तित्व, और साथ ही मज़दूरों की ग़ुलामी आधारित है।

हम तीन बड़े खंडों में जो पेश करेंगे वह यह है: १) **उजरती श्रम का पूंजी** से सम्बन्ध, मज़दूर की ग़ुलामी, पूंजीपतियों का प्रभुत्व; २) **मौजूदा व्यवस्था में मध्यम पूंजीपति वर्गों और तथाकथित बर्गर श्रेणी का अवश्यम्भावी विनाश;** **३) यूरोप के विभिन्न राष्ट्रों के पूंजीपति वर्गों का** विश्व-बाज़ार के तानाशाह – **इंगलैंड – द्वारा वाणिज्यिक अधीनीकरण और शोषण।**

हम अपनी विवेचना को अधिक से अधिक सरल और आमफ़हम बनाने की कोशिश करेंगे और यह मानकर चलेंगे कि हमारे पाठकों को राजनीतिक अर्थशास्त्र का अत्यंत प्रारम्भिक ज्ञान भी नहीं है। हम चाहते हैं कि मज़दूर हमारी बात को समझ सकें। इसके अलावा, वर्तमान व्यवस्था के जाने-माने वकीलों से लेकर **समाजवादी बाज़ीगरों** और **अनचीन्हे राजनीतिक महापंडितों** तक में, जिनकी संख्या खंडित जर्मनी में सार्वभौम राजाओं से कहीं अधिक है, सरल से सरल आर्थिक सम्बन्धों के बारे में भी हद दर्जे का अज्ञान और भ्रांत धारणायें पाई जाती हैं।

अच्छा अब हम पहला सवाल लें:

मज़दूरी क्या है? वह कैसे निश्चित होती है?

यदि मज़दूरों से पूछा जाये: "तुम्हें कितनी मज़दूरी मिलती है?" तो एक जवाब देगा: "मुझे मेरा मालिक एक मार्क रोज़ देता है"; दूसरा कहेगा: "मुझे दो मार्क मिलते हैं"; और बाक़ी मज़दूर भी इसी तरह से जवाब देंगे।

वे अपने अलग-अलग धंधों के अनुसार अलग-अलग रक़में बतायेंगे, जो उन्हें अपने मालिकों से किसी ख़ास तरह का काम पूरा करने के लिए, मिसाल के लिए एक गज़ कपड़ा बुनने या एक पेज मैटर कम्पोज़ करने के लिए मिलती हैं। वे भांति-भांति के उत्तर देंगे, लेकिन एक बात पर वे सब सहमत होंगे : वह यह कि मज़दूरी वह रक़म है जो पूंजीपति किसी ख़ास वक़्त तक श्रम करने या श्रम द्वारा उत्पादन की विशेष मात्रा के लिए देता है।

अतएव, ऐसा लगता है कि पूंजीपति पैसा देकर उनका श्रम **खरीदता है**। मज़दूर पैसे के एवज़ में उसके हाथ अपना श्रम **बेचते हैं**। लेकिन ऐसा सिर्फ़ ऊपर से दिखाई देता है। असल में, मज़दूर पैसे के एवज़ में पूंजीपति के हाथों जो चीज़ बेचते हैं, वह उनकी **श्रम-शक्ति** होती है। पूंजीपति इस श्रम-शक्ति को एक दिन के लिए, एक सप्ताह के लिए, एक महीने के लिए, या ऐसे ही किसी निश्चित समय के लिए ख़रीद लेता है। और ख़रीदने के बाद वह मज़दूरों से निश्चित समय तक काम कराकर उसका इस्तेमाल करता है। जिस रक़म से पूंजीपति ने मज़दूरों की श्रम-शक्ति ख़रीदी है, जैसे दो मार्क, उससे वह सेर भर चीनी या एक निश्चित मात्रा में कोई भी और चीज़ ख़रीद सकता था। जिन दो मार्कों से वह सेर भर चीनी ख़रीदता है, वे सेर भर चीनी के **दाम** हैं। जिन दो मार्कों से उसने बारह घंटे तक श्रम-शक्ति का इस्तेमाल करने का अधिकार ख़रीदा है, वे बारह घंटे के श्रम के दाम हैं। इसलिए जैसे चीनी बाज़ार में बिकनेवाला माल है, ठीक उसी तरह श्रम-शक्ति भी है। अन्तर सिर्फ़ इतना है कि चीनी तराज़ू में तौली जाती है और श्रम-शक्ति का हिसाब घड़ी से रखा जाता है।

मज़दूर अपने माल को, यानी अपनी श्रम-शक्ति को पूंजीपति के माल से, यानी पैसे से, बदल लेते हैं, और यह विनिमय एक निश्चित अनुपात में होता है—इतनी देर तक श्रम-शक्ति का उपयोग करने के लिए इतना पैसा। जैसे बारह घंटे तक बुनाई करने के लिए दो मार्क। और ये दो मार्क क्या उन तमाम मालों के द्योतक नहीं हैं, जिनको मैं दो मार्क देकर ख़रीद सकता हूं? इसलिए, असल में मज़दूर ने अपने माल का, यानी अपनी श्रम-शक्ति का, सभी प्रकार के अन्य मालों से विनिमय कर लिया है, और यह उसने एक निश्चित अनुपात में किया है। पूंजीपति ने दो मार्क देकर, वास्तव में, उसकी एक दिन की मेहनत के बदले में उसे इतना गोश्त, इतना कपड़ा, इतना ईंधन, इतनी रोशनी आदि दी है। चुनांचे, दो मार्क से वह अनुपात प्रकट होता है, जिसमें श्रम-शक्ति का

दूसरे मालों से विनिमय होता है, अर्थात् मज़दूर की श्रम-शक्ति का **विनिमय मूल्य**। जब किसी माल के विनिमय मूल्य का **मुद्रा** के रूप में हिसाब लगाया जाता है, तब वह उसका **दाम** कहलाता है। **मज़दूरी** श्रम-शक्ति के दाम का ही एक विशेष नाम है, जिसे आम तौर पर **श्रम का दाम** कहा जाता है। मज़दूरी उस अजीब माल के दाम का एक विशेष नाम है, जिसकी स्थिति मनुष्य के हाड़-मांस में है।

किसी भी मज़दूर को ले लीजिए। मान लीजिए कि वह बुनकर है। पूंजीपति उसे करघा और सूत देता है। बुनकर काम करना शुरू कर देता है और सूत कपड़े में बदल जाता है। पूंजीपति कपड़े को हस्तगत करता है और, मान लीजिए कि, उसे बीस मार्क में बेच देता है। अब क्या बुनकर को मिलनेवाली मज़दूरी उसके बनाये हुए कपड़े में, इन बीस मार्कों में, उसके श्रम की उपज में, एक हिस्से के रूप में शामिल है? क़तई नहीं। बुनकर को उसकी मज़दूरी कपड़ा बिकने के बहुत पहले, और शायद उसकी बुनाई ख़तम होने के भी बहुत पहले मिल चुकी है। इसलिए, पूंजीपति उस पैसे में से मज़दूरी नहीं देता जो उसे कपड़ा बेचकर मिलेगा, बल्कि उस पैसे में से देता है, जो पहले से उसके पास मौजूद है। जिस प्रकार बुनकर उस करघे का और उस सूत का उत्पादन नहीं करता जो उसे मालिक से हासिल होते हैं, उसी प्रकार वह उन मालों का भी उत्पादन नहीं करता जो उसके माल के बदले में, यानी उसकी श्रम-शक्ति के बदले में, उसे मिलते हैं। मुमकिन है कि उसके मालिक को अपने कपड़े के लिए एक भी ख़रीदार न मिले। मुमकिन है कि कपड़े की बिक्री से मज़दूरी की रक़म भी न निकले। यह भी मुमकिन है कि बुनकर की मज़दूरी के मुक़ाबले में मालिक उसे बड़े अच्छे मुनाफ़े पर बेच ले। इस सब से बुनकर को कुछ नहीं लेना-देना है। उसकी श्रम-शक्ति को पूंजीपति ने अपनी पहले से जमा की हुई दौलत से, अपनी पूंजी के एक भाग से ख़रीदा है, ठीक उसी तरह जैसे उसने अपनी दौलत के एक दूसरे भाग से कच्चा माल – सूत – और श्रम का औज़ार – करघा – ख़रीदा है। इन चीज़ों को ख़रीदने के बाद, और इन चीज़ों में कपड़े के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-शक्ति भी शामिल है, वह **उस कच्चे माल से तथा श्रम के उन औज़ारों** के द्वारा कपड़ा तैयार कराता है जो **उसकी अपनी सम्पत्ति हैं**। इन औज़ारों में अब हमारे भले बुनकर की भी गिनती है, और तैयार होनेवाले माल में या उसके दाम में जैसे करघे का कोई हिस्सा नहीं होता वैसे ही बुनकर का भी कोई हिस्सा नहीं है।

अतएव मजदूरी, मजदूर द्वारा उत्पादित माल में मजदूर का हिस्सा नहीं है। मजदूरी पहले से मौजूद मालों का वह भाग है जिसके द्वारा पूंजीपति अपने लिए एक निश्चित मात्रा में उत्पादक श्रम-शक्ति खरीदता है।

अतएव, श्रम-शक्ति एक ऐसा माल है जिसे उसका मालिक, यानी मजदूरी पर काम करनेवाला मजदूर पूंजी के हाथ बेच देता है। वह उसे क्यों बेच देता है? ताकि वह ज़िन्दा रह सके।

लेकिन श्रम-शक्ति का प्रयोग, मेहनत करना मजदूर की अपनी जीवन-क्रिया है; वह उसके जीवन की अभिव्यक्ति है। और अपनी इस **जीवन-क्रिया** को वह आवश्यक **जीवन-निर्वाह के साधनों** को प्राप्त करने के लिए एक दूसरे आदमी के हाथ बेच देता है। इस प्रकार उसकी जीवन-क्रिया उसके लिए ज़िन्दा रह सकने का साधन मात्र है। वह इसलिए काम करता है कि ज़िन्दा रह सके। यहां तक कि उसकी दृष्टि में श्रम जीवन का एक अंग नहीं है; बल्कि वह एक तरह से जीवन का बलिदान है। वह एक माल है जिसे उसने एक दूसरे आदमी के हवाले कर दिया है। और इसी लिए उसके क्रियाकलाप का फल उसके क्रियाकलाप का लक्ष्य नहीं है। वह अपने लिए जो चीज़ पैदा करता है, वह रेशम नहीं है जिसे उसने बुना है, वह सोना नहीं है जिसे उसने खान में से खोदकर निकाला है और न ही वह महल है जिसे उसने बनाकर खड़ा किया है। अपने लिए तो वह केवल **मजदूरी** पैदा करता है, और रेशम, सोना या महल, सब के सब, जहां तक मज़दूर का सम्बन्ध है, जीवन-निर्वाह के साधनों के एक निश्चित परिमाण में बदल जाते हैं और शायद एक सूती बंडी, कुछ तांबे के सिक्कों और रहने की एक अंधेरी कोठरी की शक्ल अख़्तियार कर लेते हैं। और वह मजदूर, जिसने बारह घंटे तक बुना है, काता है, ड्रिलिंग की है, लेथ चलायी है, मकान बनाया है, फावड़ा चलाया है, पत्थर तोड़े हैं, बोझा उठाया है आदि, आदि—क्या वह इस काम को, बारह घंटे तक इस तरह बुनने, कातने, ड्रिलिंग करने, लेथ चलाने, मकान बनाने, फावड़ा चलाने, पत्थर तोड़ने, बोझा उठाने आदि को अपने जीवन की अभिव्यक्ति, अपना जीवन, मानता है? नहीं। इसके विपरीत, उसके लिए जीवन तब शुरू होता है जब यह क्रियाकलाप बंद हो जाता है। उसके लिए जीवन खाने की मेज़ पर, शराबख़ाने में या बिस्तर पर शुरू होता है। इस प्रकार उसकी बारह घंटे की मेहनत का उसके लिए, बुनने, कातने, ड्रिलिंग करने आदि के रूप में कोई अर्थ नहीं है। उसके लिए उसकी मेहनत का अर्थ केवल **जीविका** कमाने के रूप में है, जिसकी बदौलत खाने की मेज, शराबख़ाना

या बिस्तर उसके लिए मयस्सर है। यदि रेशम के कीड़े को कीड़े के रूप में जिन्दा रहने के लिए रेशम कातना होता, तो वह एक पक्का उजरती मजदूर होता। **श्रम-शक्ति** हमेशा **माल** नहीं थी। श्रम हमेशा उजरती श्रम, अर्थात् **स्वतंत्र श्रम** नहीं था। जिस तरह बैल किसान के हाथ अपनी सेवाएं नहीं बेचता, उसी तरह **गुलाम** भी अपनी श्रम-शक्ति मालिक के हाथ नहीं बेचता था। गुलाम अपनी श्रम-शक्ति सहित एक ही बार हमेशा के लिए अपने मालिक के हाथ बिक जाता था। गुलाम एक ऐसा माल है जो एक मालिक के हाथ से निकलकर दूसरे मालिक के हाथ में जा सकता है। गुलाम **खुद** बिकाऊ माल है, लेकिन उसकी श्रम-शक्ति **उसका** माल नहीं है। **भू-दास** अपनी श्रम-शक्ति का केवल एक भाग बेचता है। उसे ज़मीन के मालिक से मज़दूरी नहीं मिलती, बल्कि ज़मीन का मालिक ही उससे खिराज पाता है।

भू-दास भूमि से बंधा है और भूमि से जो कुछ पैदा होता है, वह भूमि के मालिक को नज़र कर देता है। दूसरी ओर, **स्वतंत्र मजदूर** खुद अपने को बेचता है, बल्कि सच तो यह है कि वह अपने को थोड़ा-थोड़ा करके बेचता है। अपने जीवन के आठ, दस, बारह, पन्द्रह घंटे वह रोज़ सबसे ज्यादा दाम देनेवाले के हाथ, कच्चे मालों, श्रम के औज़ारों तथा जीवन-निर्वाह के साधनों के स्वामी, यानी पूंजीपति के हाथ नीलाम करता है। मज़दूर न तो मालिक की सम्पत्ति होता है और न ही ज़मीन से बंधा होता है। लेकिन उसके दैनिक जीवन के आठ, दस, बारह या पन्द्रह घंटे उस व्यक्ति की सम्पत्ति होते हैं जो इन्हें खरीद लेता है। मज़दूर जिस पूंजीपति के हाथ अपने को किराये पर उठा देता है, उसे वह जब चाहता है छोड़कर चल देता है; और पूंजीपति भी जब उपयुक्त समझता है, जब यह देखता है कि मज़दूर से उसे कोई मुनाफ़ा नहीं हो रहा है या उतना मुनाफ़ा नहीं हो रहा है जितने की उसने आशा की थी, तब उसे जवाब दे देता है। लेकिन मज़दूर, जिसका अपनी जीविका कमाने का एकमात्र साधन अपनी श्रम-शक्ति की बिक्री है, श्रम-शक्ति के **खरीदारों के पूरे वर्ग** को, यानी **पूंजीपति वर्ग** को तभी छोड़ सकता है जब वह अपने अस्तित्व से हाथ धो ले। मज़दूर इस या उस पूंजीपति की नहीं, बल्कि **पूंजीपति वर्ग** की सम्पत्ति होता है, और फिर यह उसका धंधा ही है कि वह अपने को बेचे, यानी इस पूंजीपति वर्ग के अन्दर अपने लिए कोई खरीदार तलाश करे।

अब, पूंजी तथा उजरती श्रम के सम्बन्ध की और गहराई से जांच करने के पहले, हम उन अत्यंत सामान्य प्रकार के सम्बन्धों को संक्षेप में प्रस्तुत करेंगे जिनका मज़दूरी निर्धारित करने में हिसाब किया जाता है।

जैसा कि हम देख चुके हैं, **मजदूरी** एक ख़ास तरह के माल का, **श्रम-शक्ति** का **दाम** है। इसलिए, मजदूरी भी उन्हीं नियमों द्वारा निर्धारित होती है, जिनके द्वारा अन्य सभी मालों के दाम निर्धारित होते हैं। अतएव, प्रश्न यह है कि **किसी माल का दाम कैसे निर्धारित होता है?**

किसी माल का दाम किस चीज़ से निर्धारित होता है?

ख़रीदारों और बेचनेवालों की होड़ से, माल के लिए मांग और उसकी सुपुर्दगी के सम्बन्ध से, मांग और पूर्त्ति के सम्बन्ध से। होड़ के, जिससे माल का दाम निर्धारित होता है, **तीन पहलू** होते हैं।

एक ही तरह का माल बहुत-से लोग बेचना चाहते हैं। यदि सब का माल गुण में एक सा है, तो जो अपना माल सबसे सस्ता बेचेगा, वह निश्चय ही बाक़ी सब को मैदान से भगा देगा और उसी का माल सबसे ज्यादा बिकेगा। इस प्रकार, बेचनेवालों में माल बेचने के लिए, बाज़ार में अपना सिक्का जमाने के लिए आपस में होड़ होती है। उनमें से हर एक बेचना चाहता है; हर एक ज्यादा से ज्यादा बेचना चाहता है; और हर एक कोशिश करता है कि यदि मुमकिन हो तो वही अकेला बेचे और दूसरा कोई न बेच पाये। इसलिए, हर आदमी एक दूसरे से सस्ता बेचने की कोशिश करता है। परिणामस्वरूप, **बेचनेवालों में होड़** होती है, जिससे उनके **मालों** के दामों में **गिरावट** आ जाती है।

लेकिन, **होड़ ख़रीदारों के बीच** भी होती है जिसका यह नतीजा होता है कि मालों के दाम **बढ़ जाते हैं।**

तीसरे, **ख़रीदारों और बेचनेवालों के बीच होड़** होती है। ख़रीदार सस्ते से सस्ता ख़रीदना चाहते हैं और बेचनेवाले महंगे से महंगा बेचना चाहते हैं। ख़रीदनेवालों और बेचनेवालों के बीच चलनेवाली इस होड़ का परिणाम इस बात पर निर्भर होगा कि होड़ के उपर्युक्त दोनों पक्षों के बीच क्या सम्बन्ध है; यानी वह इस बात पर निर्भर होगा कि ख़रीदारों की फ़ौज के अन्दर ज्यादा होड़ है या बेचनेवालों की फ़ौज के अन्दर। उद्योग दो फ़ौजों को मैदान में एक दूसरे के ख़िलाफ़ उतारता है और उनमें से हर फ़ौज की पांतों के अन्दर, उसके अपने सिपाहियों के बीच लड़ाई भी चलती रहती है। जिस फ़ौज के सिपाही आपस में सबसे कम मारपीट करते हैं, वही अपने मुक़ाबले की फ़ौज के ऊपर फ़तहयाब होती है।

मान लीजिए, बाजार में रूई की १०० गांठें आयी हैं जबकि वहां १,००० गांठों के ख़रीदार मौजूद हैं। इसलिए, यहां पूर्त्ति से मांग दस गुना ज्यादा है। फलस्वरूप ख़रीदारों में ज़बरदस्त होड़ होगी। हरेक ख़रीदार कम से कम एक गांठ, और हो सके तो सौ की सौ गांठें, हथियाना चाहता है। यह उदाहरण मनगढ़न्त कल्पना नहीं है। रूई के व्यापार के इतिहास में हमें कई ऐसे मौक़ों का अनुभव हो चुका है, जबकि कपास की फ़सल मारी गयी थी और जब चंद पूंजीपतियों ने आपस में सांठगांठ करके सौ गांठों पर ही नहीं, बल्कि दुनिया में रूई के सारे स्टॉक पर क़ब्ज़ा कर लेने की कोशिश की थी। अस्तु, उपरोक्त उदाहरण में एक ख़रीदार दूसरे को मैदान से भगा देने की कोशिश में प्रति गांठ अपेक्षाकृत अधिक दाम देने को कहेगा। रूई बेचनेवाले देखेंगे कि शत्रु की सेना के सिपाही आपस में ज़ोरों से लड़ रहे हैं और उनकी सौ की सौ गांठों का बिक जाना बिल्कुल निश्चित है। तब वे इस बात की पूरी सावधानी बरतेंगे कि कहीं उनमें आपस में ठन न जाये और ठीक ऐसे समय में जबकि उनके विरोधी रूई का दाम बढ़ाने के लिए होड़ मचाये हुए हैं, उनकी फूट रूई के दाम को नीचे न गिरा दे। इसलिए, देखते-देखते बेचनेवालों की फ़ौज में शान्ति विराजमान हो जाती है। वे **एकजुट** होकर ख़रीदारों का सामना करते हैं और दार्शनिक भाव से हाथ पर हाथ बांध निश्चिन्त बैठ रहते हैं और यदि बात ऐसी न होती कि ज्यादा से ज्यादा आग्रही और उतावले ख़रीदार भी एक निश्चित हद के अन्दर ही दाम लगा सकते हैं तो उनकी मांगों की कोई सीमा न रह जाती।

इसलिए, यदि किसी माल की पूर्त्ति उसकी मांग से कम है, तो बेचनेवालों के बीच बहुत कम होड़ होगी, या बिल्कुल न होगी। जिस अनुपात में यह होड़ कम होती है, उसी अनुपात में ख़रीदारों के बीच होड़ बढ़ जाती है। नतीजा यह होता है कि माल के दाम कमोबेश बढ़ जाते हैं।

लेकिन सभी जानते हैं कि इसका उल्टा, जिसका परिणाम भी उल्टा होता है, ज्यादा देखने में आता है। अक्सर मांग से पूर्त्ति काफ़ी ज्यादा होती है; बेचनेवालों के बीच बेतहाशा होड़ होती है; ख़रीदार मिलते नहीं; और माल बेतरह सस्ते दामों पर उठ जाता है।

लेकिन दामों के घटने और बढ़ने का क्या मतलब है? ऊंचे दामों और नीचे दामों का क्या मतलब है? ख़ुर्दबीन से देखिए तो रेत का कण भी ऊंचा दिखाई देता है, और पहाड़ से मुक़ाबला कीजिए तो मीनार भी नीची मालूम

होती है। और यदि दाम मांग और पूर्त्ति के सम्बन्ध से निर्धारित होता है, तो मांग और पूर्त्ति के इस सम्बन्ध को कौनसी चीज़ निर्धारित करती है?

राह चलते जिस पहले पूंजीपति से भेंट हो जायें उसी से पूछिए। वह दिमाग़ पर ज़रा सा ज़ोर डाले बिना सिकन्दर महान की तरह इस दार्शनिक गुत्थी को[79] बात की बात में गुणनसारणी द्वारा सुलझा देगा। वह आप से कहेगा: मैं जिस माल को बेचता हूं, यदि उसके उत्पादन में १०० मार्क ख़र्च हुए हैं, और यदि इस माल की बिक्री से मुझे ११० मार्क मिल जाते हैं—बेशक साल भर के अन्दर ऐसा होना चाहिए—तो वह एक बिल्कुल सही, न्यायोचित और ईमानदारी का मुनाफ़ा होगा। लेकिन यदि मुझे विनिमय में १२० या १३० मार्क मिल जाते हैं तो वह ऊंचा मुनाफ़ा होगा; और यदि २०० मार्क मिल जायें तो वह बहुत ही असाधारण और बहुत ही ऊंचा मुनाफ़ा समझा जायेगा। अतएव, प्रश्न यह उठता है कि पूंजीपति अपना मुनाफ़ा **किस चीज़ से नापता है?** अपने माल के **उत्पादन-व्यय** से। यदि उसे इस माल के बदले में दूसरे मालों की ऐसी मात्रा मिलती है जिसके उत्पादन में कम ख़र्च लगा है, तो उसे नुक़सान होता है। यदि अपने माल के बदले में उसे दूसरे मालों की ऐसी मात्रा मिलती है जिसके उत्पादन में ज़्यादा ख़र्च हुआ है, तो उसे मुनाफ़ा होता है। और वह अपने मुनाफ़े के घटने या बढ़ने का हिसाब इस आधार पर लगाता है कि उसके माल का **विनिमय-मूल्य** इस शून्य-बिन्दु—**उत्पादन-व्यय**—से कितना कम या ज़्यादा है।

हम यह देख चुके हैं कि पूर्त्ति और मांग के बदलते हुए सम्बन्ध के कारण किस तरह दाम कभी बढ़ जाते हैं तो कभी घट जाते हैं, कभी दाम ऊंचे हो जाते हैं, तो कभी नीचे गिर जाते हैं। यदि पूर्त्ति के अपर्याप्त होने या मांग के बेअंदाज़ ज़्यादा बढ़ जाने के कारण किसी माल का दाम बहुत बढ़ जाता है तो अनिवार्यतः किसी और माल का दाम उसी अनुपात में गिर जायेगा, क्योंकि किसी भी माल का दाम, मुद्रा के रूप में, उस अनुपात का द्योतक है जिसमें उसके विनिमय में अन्य माल मिल सकते हैं। उदाहरण के लिए, यदि एक गज़ रेशमी कपड़े का दाम पांच मार्क से बढ़कर छः मार्क हो जाता है तो इसका मतलब यह है कि रेशमी कपड़े के मुक़ाबले में चांदी का दाम गिर गया है; और इसी तरह दूसरे वे तमाम माल भी, जिनके दाम पुराने स्तर पर क़ायम हैं, रेशम के मुक़ाबले में सस्ते हो गये हैं। अब पहले जितना रेशमी कपड़ा लेने के लिए उसके बदले में इन मालों की अधिक मात्रा देनी होगी। किसी माल के दाम में तेजी आने का क्या नतीजा होगा? उद्योग की इस फूलती-फलती शाखा में बहुत

सी पूंजी चली आयेगी और इस शाखा में पूंजी की बाढ़ उस समय तक जारी रहेगी जब तक कि इस शाखा में मुनाफ़ा साधारण स्तर पर उतर न आये या, यूं कहिये, कि जब तक कि इस शाखा की पैदावार का दाम, अति-उत्पादन के कारण, उत्पादन-व्यय से भी नीचे न पहुंच जाये।

इसके विपरीत, यदि किसी माल का दाम उसके उत्पादन-व्यय से नीचे गिर जाता है, तो ऐसी दशा में उस माल के उत्पादन से पूंजी निकाल ली जायेगी और उद्योग की उन शाखाओं की बात छोड़कर जो गतव्यवहार हो चुकी हैं और फलतः जिनका अन्त अवश्यम्भावी है, ऐसे माल का उत्पादन, यानी उसकी पूर्त्ति, बराबर पूंजी निकलती रहने के कारण, तब तक घटती जायेगी जब तक कि वह मांग के अनुरूप न हो जाये, और इस प्रकार उसका दाम पुनः उसके उत्पादन-व्यय के स्तर पर न आ जाये, बल्कि, यूं कहिये, कि जब तक वह मांग से घट न जाये, अर्थात् जब तक उसका दाम उत्पादन-व्यय से पुनः बढ़ न जाये, क्योंकि **हर माल का चालू दाम हमेशा उसके उत्पादन-व्यय से या तो ज्यादा या कम होता है।**

हम देखते हैं कि पूंजी किस प्रकार चलायमान् है और किस प्रकार उद्योग की एक शाखा से दूसरी शाखा में उसका आवागमन चलता रहता है। दाम ऊंचे होने पर पूंजी की भरमार हो जाती है और दाम गिरने पर, बड़ी तादाद में पूंजी निकल भागती है।

एक दूसरे दृष्टिकोण से हम यह दिखा सकते हैं कि न केवल पूर्त्ति बल्कि मांग भी उत्पादन-व्यय द्वारा निर्धारित होती है। लेकिन इस चर्चा से हम अपने विषय से बहुत दूर जा पड़ेंगे।

हमने अभी-अभी देखा कि किस प्रकार पूर्त्ति और मांग का उतार-चढ़ाव किसी भी माल के दाम को बार-बार उत्पादन-व्यय के स्तर पर लौटा लाता है। **यह सही है कि किसी भी माल का असली दाम उत्पादन-व्यय के सदा ऊपर या नीचे रहता है; लेकिन उतार और चढ़ाव एक दूसरे का पलड़ा बराबर करते रहते हैं;** इसलिए एक निश्चित अवधि के भीतर, उद्योग में आनेवाली मन्दी और तेज़ी को देखते हुए, मालों का एक दूसरे के साथ विनिमय उनके उत्पादन-व्यय के अनुसार होता है, और इसलिए उनके दाम उनके उत्पादन-व्यय द्वारा निर्धारित होते हैं।

उत्पादन-व्यय द्वारा दाम के निर्धारण को उस अर्थ में ग्रहण नहीं करना चाहिए जिस अर्थ में अर्थशास्त्री ग्रहण करते हैं। अर्थशास्त्री कहते हैं कि मालों का

औसत दाम उनके उत्पादन-व्यय के बराबर होता है, और यह एक **नियम** है। दामों की यह उच्छृंखल गति, जिसमें तेज़ी और मंदी एक दूसरे के पूरक हैं, उनकी दृष्टि में संयोग की बात है। उतने ही अधिकारपूर्वक हम यह भी कह सकते हैं कि दाम का उतार-चढ़ाव ही नियम है और उत्पादन-व्यय द्वारा दामों का निर्धारण संयोग की बात है, जैसा कि दूसरे अर्थशास्त्रियों ने वास्तव में कहा भी है। इन उतार-चढ़ावों में ही, जो, ज्यादा गहराई से देखा जाये तो अपने साथ भयंकर विनाश लाते हैं और भूकम्प की तरह पूंजीवादी समाज की नींव तक हिला देते हैं, – इन उतार-चढ़ावों के प्रक्रम में ही मालों के दाम उत्पादन-व्यय द्वारा निर्धारित होते हैं। इस अव्यवस्था की सम्पूर्ण गति को देखिये तो वही उसकी व्यवस्था है। इस औद्योगिक अराजकता के दौरान, इस चक्कर काटती हुई गति में, होड़ एक अति के वज़न पर दूसरी अति करके उनका पलड़ा बराबर कर देती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि माल का दाम उसके उत्पादन-व्यय द्वारा इस तरीक़े से निर्धारित होता है कि जिन अवधियों में उत्पादन-व्यय के मुक़ाबले में माल के दाम बढ़ जाते हैं, उनका प्रतिसंतुलन ऐसी अवधियों द्वारा होता रहता है जिनमें माल के दाम उत्पादन-व्यय से नीचे चले जाते हैं; यही चीज़ विपरीत रूप में भी घटित होती है। ज़ाहिर है कि यह चीज़ अलग-अलग या ख़ास तरह की औद्योगिक पैदावार पर नहीं लागू होती, बल्कि वह उत्पादन की पूरी शाखा पर ही लागू होती है। फलतः वह अलग-अलग उद्योगपतियों पर नहीं, बल्कि उद्योगपतियों के पूरे वर्ग पर लागू होती है।

उत्पादन-व्यय द्वारा दाम का निर्धारण माल के उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम-काल द्वारा उसके निर्धारण के ही समान है, क्योंकि उत्पादन-व्यय में दो चीज़ें शामिल होती हैं – १) कच्चा माल तथा औज़ारों की घिसाई, यानी ऐसी औद्योगिक उपजें जिनके उत्पादन में कुछ श्रम-दिवस लगे हैं और फलतः जो श्रम-काल की एक विशेष मात्रा की द्योतक हैं, और २) प्रत्यक्ष श्रम, जिसका मापदंड भी समय ही है।

ज़ाहिर है कि वे ही सामान्य नियम, जो अमूमन् मालों के दामों का नियमन करते हैं, **मज़दूरी, श्रम के दाम** का भी नियमन करते हैं।

मज़दूरी भी, पूर्त्ति और मांग के सम्बन्ध के आधार पर, श्रम-शक्ति ख़रीदनेवाले, पूंजीपतियों, और श्रम-शक्ति बेचनेवाले, मज़दूरों के बीच चलनेवाली होड़ की करवटों के अनुसार घटे-बढ़ेगी। मज़दूरी का उतार-चढ़ाव, मोटे तौर पर,

मालों के दामों के उतार-चढ़ाव के अनुरूप होगा। लेकिन इस उतार-चढ़ाव की सीमाओं में श्रम का दाम उत्पादन-व्यय द्वारा ही, श्रम-शक्ति नामक इस माल के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल द्वारा ही निर्धारित होगा।

तब फिर श्रम-शक्ति का उत्पादन-व्यय क्या है?

यह वह व्यय है जो मजदूर को मजदूर की हैसियत से जिन्दा रखने तथा उसे मजदूर के रूप में विकसित करने में लगता है।

अतः किसी काम के लिए अपेक्षित प्रशिक्षण में जितना ही कम समय लगता है, मजदूर का उत्पादन-व्यय उतना ही कम होता है और उतना ही कम उसके श्रम का दाम, यानी उसकी मज़दूरी होती है। उद्योग की उन शाखाओं में, जिनमें प्रशिक्षार्थियों की ख़ास ज़रूरत नहीं होती और जहां मज़दूर का केवल शारीरिक रूप में मौजूद रहना ही काफ़ी होता है, मज़दूर का उत्पादन-व्यय लगभग उन मालों तक ही सीमित रहता है जो उसे ज़िन्दा रखने और काम के योग्य बनाये रखने के लिए आवश्यक होते हैं। इसलिए, मजदूर के श्रम का दाम जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधनों के दाम से निर्धारित होता है।

लेकिन यहां एक और बात विचारणीय है।

कारख़ानेदार अपने उत्पादन-व्यय तथा उसके अनुसार मालों के दाम का हिसाब लगाते समय श्रम के औज़ारों की घिसाई का भी ख़याल रखता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी मशीन की लागत १,००० मार्क है और वह दस साल में घिसकर बेकार हो जाती है, तो कारख़ानेदार अपने माल के दाम में हर साल १०० मार्क जोड़ता जायेगा, ताकि दस साल बाद वह घिसी हुई मशीन की जगह एक नयी मशीन लगा सके। इसी प्रकार, साधारण श्रम-शक्ति के उत्पादन-व्यय का हिसाब लगाते समय उसमें उस पुनरुत्पादन का ख़र्च भी शामिल करना होगा, जिसके द्वारा मज़दूरों की नस्ल चलती रहती है और जीर्ण-शीर्ण मजदूरों की जगह नये मजदूर आते रहते हैं। इस प्रकार, मशीन की घिसाई की तरह मजदूर के घिस जाने का भी ख़याल रखा जाता है।

इस प्रकार साधारण श्रम-शक्ति का उत्पादन-व्यय मजदूर के जीवन-यापन तथा पुनरुत्पादन के ख़र्च के बराबर होता है। जीवन-यापन तथा पुनरुत्पादन के इस ख़र्च के दाम का ही नाम मज़दूरी है। इस प्रकार जो मज़दूरी निर्धारित होती है उसे न्यूनतम मजदूरी कहते हैं। सामान्य रूप से उत्पादन-व्यय द्वारा मालों के दाम-निर्धारण की ही तरह, यह न्यूनतम मजदूरी अलग-अलग मजदूरों पर

नहीं, बल्कि **पूरे मजदूर समुदाय** पर लागू होती है। अलग-अलग मजदूरों को, करोड़ों मजदूरों को इतना भी नहीं मिलता कि वे ख़ुद जिन्दा रह सकें और अपनी नयी पौध तैयार कर सकें। लेकिन सारे उतार-चढ़ाव की सीमाओं में **पूरे मजदूर वर्ग की मजदूरी** का स्तर यही न्यूनतम स्तर है।

उन अत्यन्त सामान्य नियमों को समझ लेने के बाद, जो अन्य मालों के दामों की तरह मजदूरी का भी नियमन करते हैं, अब हम अपने विषय की अधिक गहराई से चर्चा कर सकते हैं।

पूंजी में वह कच्चा माल, श्रम के वे औज़ार और जीवन-निर्वाह के वे सभी प्रकार के साधन शामिल हैं जो नया कच्चा माल, श्रम के नये औज़ार तथा जीवन-निर्वाह के नये साधन पैदा करने के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं। पूंजी के ये सभी संघटक अंग श्रम की उपज हैं, श्रम की पैदावार हैं, वे स्वयं **संचित श्रम** हैं। जब संचित श्रम का नये उत्पादन के साधन के रूप में उपयोग किया जाता है, तब वह पूंजी कहलाता है।

अर्थशास्त्रियों का कहना यही है।

एक नीग्रो ग़ुलाम क्या है? काली नस्ल का एक आदमी। यह व्याख्या भी वैसी ही है जैसी पूंजी की उपरोक्त व्याख्या।

नीग्रो सिर्फ़ नीग्रो होता है। केवल कुछ ख़ास सम्बन्धों की स्थिति में ही वह ग़ुलाम बन जाता है। रूई कातने की जेनी एक मशीन है जो रूई कातने के काम आती है। केवल कुछ ख़ास सम्बन्धों की स्थिति में ही वह **पूंजी** बन जाती है। जैसे सोना अपने आप **मुद्रा** नहीं होता और चीनी ख़ुद चीनी का दाम नहीं होती, वैसे ही इन ख़ास सम्बन्धों से विच्छिन्न होकर रूई कातने की जेनी-मशीन भी पूंजी नहीं रहती।

उत्पादन के सिलसिले में हम न केवल प्रकृति के ऊपर अपना प्रभाव डालते हैं, बल्कि आपस में एक दूसरे को भी प्रभावित करते हैं। एक ख़ास ढंग से आपस में सहयोग करके और अपने क्रियाकलाप का पारस्परिक विनिमय करके ही हम उत्पादन करते हैं। उत्पादन करने के लिए हमें एक दूसरे के साथ ख़ास ढग के सम्बन्ध और रिश्ते क़ायम करने होते हैं, और केवल इन सामाजिक सम्बन्धों और रिश्तों के तहत काम करते हुए हम प्रकृति पर अपने प्रभाव का उपयोग करते हैं, यानी उत्पादन करने में सफल होते हैं।

वे सामाजिक सम्बन्ध, जो उत्पादनकर्त्ता एक दूसरे के साथ स्थापित करते हैं, वे परिस्थितियं जिनमें वे अपने क्रियाकलाप का विनिमय करते हैं और

उत्पादन के पूरे श्रम में भाग लेते हैं, उत्पादन के साधनों के स्वरूप के अनुसार स्वभावतः भिन्न-भिन्न होंगी। जब युद्ध के एक नये अस्त्र, आग्नेय अस्त्र, का आविष्कार हुआ तो सेना का पूरा भीतरी ढांचा लाज़िमी तौर से बदल गया। वे सम्बन्ध जिनके आधार पर अलग-अलग व्यक्ति एक सेना के रूप में संघटित हो सकते हैं, सेना के रूप में व्यवहार कर सकते हैं, बिल्कुल बदल गये; साथ-साथ सेनाओं के एक दूसरे के साथ सम्बन्ध भी बदल गये।

इस प्रकार उत्पादन के भौतिक साधनों, उत्पादक शक्तियों, के परिवर्तन तथा विकास के साथ-साथ वे सामाजिक सम्बन्ध भी, जिनके अन्तर्गत अलग-अलग व्यक्ति उत्पादन करते हैं, **उत्पादन के सामाजिक सम्बन्ध भी बदल जाते हैं, रूपान्तरित हो जाते हैं। उत्पादन-सम्बन्धों को यदि समग्र रूप में लिया जाये तो वे ही सामाजिक सम्बन्ध हैं, समाज हैं और विशेष रूप से वह समाज हैं, जो ऐतिहासिक विकास की एक ख़ास मंज़िल पर क़ायम है** और जिसका एक विशिष्ट पृथक् चरित्र है। **प्राचीन रोमन-यूनानी** समाज, **सामन्ती** समाज, **पूंजीवादी** समाज – ये सब उत्पादन-सम्बन्धों के इस प्रकार के समाहार हैं और साथ ही, इनमें से हर एक मानव-जाति के ऐतिहासिक विकास की एक ख़ास मंज़िल का द्योतक है।

पूंजी भी उत्पादन का एक सामाजिक सम्बन्ध है। यह **पूंजीवादी उत्पादन-संबंध है**, पूंजीवादी समाज का उत्पादन-सम्बन्ध है। जीवन-निर्वाह के साधन, श्रम के औज़ार, और कच्चा माल – यानी वे तमाम चीज़ें जो पूंजी में शामिल हैं – क्या इनका उत्पादन और संचय कुछ विशेष सामाजिक परिस्थितियों में, कुछ निश्चित प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों के अन्तर्गत नहीं होता? नये उत्पादन के लिए इन सब चीज़ों का इस्तेमाल क्या कुछ विशेष सामाजिक परिस्थितियों में, कुछ निश्चित प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों के अन्तर्गत नहीं होता? और क्या यह निश्चित प्रकार का सामाजिक स्वरूप उन मालों को, जो एक नया माल बनाने में काम आते हैं, **पूंजी के रूप में** नहीं परिवर्तित कर देता?

पूंजी में केवल जीवन-निर्वाह के साधन, श्रम के औज़ार और कच्चा माल, अर्थात् भौतिक पदार्थ ही नहीं शामिल होते; उसमें उतने ही **विनिमय-मूल्य** भी शामिल रहते हैं। पूंजी में जितनी भी चीज़ें शामिल हैं वे सब **माल** हैं। इसलिए पूंजी केवल भौतिक पदार्थों का संकलन नहीं है; वह मालों का, विनिमय-मूल्यों का, **सामाजिक परिमाणों** का भी संकलन है।

हम चाहे ऊन की जगह कपास, गेहूं की जगह चावल या रेलगाड़ी की जगह

जहाज रख दें; पर पूंजी वही रहेगी, बशर्ते कि पूंजी के नये रूप—कपास, चावल और जहाज—का विनिमय-मूल्य, अर्थात् दाम, वही रहे जो ऊन, गेहूं और रेलगाड़ी—यानी पूंजी के पुराने रूप—का था। पूंजी के रूप में लगातार तबदीली होने के बावजूद पूंजी में ज़रा भी परिवर्तन न होगा।

लेकिन जहां समस्त पूंजी मालों, अर्थात् विनिमय-मूल्यों का संकलन होती है, वहां मालों का, अर्थात् विनिमय-मूल्यों का, प्रत्येक संकलन पूंजी नहीं होता।

विनिमय-मूल्यों का प्रत्येक संकलन विनिमय-मूल्य होता है। प्रत्येक अलग-अलग विनिमय-मूल्य विनिमय-मूल्यों का संकलन होता है। उदाहरण के लिए, १,००० मार्क का एक मकान १,००० मार्क के विनिमय-मूल्य का द्योतक है। एक काग़ज़ का टुकड़ा, जिसकी क़ीमत एक फ़ेनिग है, वह एक फ़ेनिग के सौ शतांशों के विनिमय-मूल्यों का जोड़ है। जिन उत्पादित वस्तुओं का एक दूसरे से विनिमय किया जा सकता है, उन्हें **माल** कहते हैं। जिस ख़ास अनुपात में उनका विनिमय किया जा सकता है, वह उनका **विनिमय-मूल्य**, या मुद्रा रूप में उनका **दाम** कहलाता है। इन वस्तुओं का परिमाण चाहे जो भी हो, उससे उनके **माल** होने के, या एक **विनिमय-मूल्य** का द्योतक होने के, अथवा एक निश्चित **दाम** का होने के गुण में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। पेड़ चाहे बड़ा हो या छोटा, वह रहता पेड़ ही है। अन्य चीज़ों के साथ लोहे का हम आउंसों में विनिमय करते हैं, या हंड्रेडवेटों में, क्या इससे माल या विनिमय-मूल्य होने की उसकी विशेषता में कोई अन्तर पड़ेगा? हां, मात्रा जितनी होगी, उसके अनुसार इस माल का मूल्य कम होगा या ज्यादा, उसका दाम कम होगा या ज्यादा।

तब फिर मालों या विनिमय-मूल्यों की कोई निश्चित मात्रा किस प्रकार पूंजी बन जाती है?

प्रत्यक्ष, जीवित श्रम-शक्ति के साथ विनिमय द्वारा अपने को एक स्वतन्त्र सामाजिक **शक्ति**, अर्थात् **समाज के एक हिस्से** की शक्ति के रूप में क़ायम रख और अपनी वृद्धि कर। एक ऐसे वर्ग का अस्तित्व जिसके पास श्रम-शक्ति के सिवा और कुछ नहीं है पूंजी के लिए पूर्वापेक्षित है।

पूर्वसंचित, फलीभूत श्रम का प्रत्यक्ष, जीवित श्रम के ऊपर आधिपत्य ही संचित श्रम को पूंजी के रूप में बदल देता है।

पूंजी का अर्थ यह नहीं है कि पूर्वसंचित श्रम नये उत्पादन के साधन के रूप में जीवित श्रम के काम आये। पूंजी का अर्थ है जीवित श्रम पूर्वसंचित श्रम के विनिमय-मूल्य को क़ायम रखने और बढ़ाने के साधन के रूप में उसके काम आये।

पूंजीपति और उजरती मज़दूर के बीच विनिमय होने पर क्या होता है? मज़दूर को उसकी श्रम-शक्ति के बदले में जीवन-निर्वाह के साधन मिलते हैं, लेकिन पूंजीपति को इस जीवन-निर्वाह के साधन के बदले में श्रम, अर्थात् मज़दूर की उत्पादक क्रिया प्राप्त होती है, वह सृजनात्मक शक्ति प्राप्त होती है जिससे मज़दूर केवल उतना ही नहीं पैदा करता जितना वह उपभोग करता है, **बल्कि वह पूर्वसंचित श्रम में नया मूल्य जोड़ देता है जो उसमें पहले नहीं था।** पूंजीपति से मज़दूर को जीवन-निर्वाह के सुलभ साधनों का एक भाग मिल जाता है। जीवन-निर्वाह के ये साधन मज़दूर के किस काम आते हैं? तात्कालिक उपभोग के काम आते हैं। लेकिन जैसे ही मैं जीवन-निर्वाह के इन साधनों का उपभोग कर लेता हूं, वैसे ही मेरे लिए वे नष्ट हो जाते हैं, बशर्ते कि मैं उनके उपभोग पर जिन्दा रहने का समय नये जीवन-निर्वाह के साधन पैदा करने में–उपभोग में नष्ट हुए मूल्यों के स्थान पर, अपने श्रम द्वारा नये मूल्य पैदा करने में–न लगाऊं। परंतु मज़दूर ठीक अपनी इसी महान् पुनरुत्पादक शक्ति को, जीवन-निर्वाह के साधनों के बदले पूंजीपति के हवाले कर देता है; अतः वह अपने लिये उससे हाथ धो बैठता है।

एक मिसाल लीजिये। एक पट्टेदार किसान, मान लीजिये, अपने खेत-मज़दूर को चांदी के ५ सिक्के प्रतिदिन देता है। इन ५ सिक्कों के बदले खेत-मज़दूर दिन भर भूमिधर किसान के खेत पर काम करता है और भूमिधर किसान के लिए १० सिक्कों का मूल्य पैदा कर देता है। भूमिधर किसान को न केवल वह मूल्य वापस मिल जाता है जो उसने खेत-मज़दूर को दिया था, बल्कि वह दुगुना हो जाता है। फलतः भूमिधर किसान ने उन पांच सिक्कों का, जो उसने खेत-मज़दूर को दिये थे लाभदायक तथा उत्पादक ढंग से इस्तेमाल किया। चांदी के ५ सिक्के देकर उसने खेत-मज़दूर की इतनी मेहनत और शक्ति ख़रीद ली है जो दुगुने मूल्य की खेती की पैदावार पैदा कर देती है और चांदी के पांच सिक्कों को दस बना देती है। दूसरी ओर, खेत-मज़दूर को अपनी उत्पादक-शक्ति के बदले में, जिसका फल उसने भूमिधर किसान के हाथ बेच डाला है, चांदी के पांच सिक्के मिलते हैं जिनका वह जीवन-निर्वाह के साधनों से विनिमय कर लेता है, और इन साधनों को वह कमोबेश तेज़ी के साथ ख़र्च कर डालता है। अतएव, चांदी के पांच सिक्के यहां दो तरह से इस्तेमाल होते हैं–पूंजी के लिए **पुनरुत्पादक ढंग**

से, इसलिए कि उनका विनिमय ऐसी श्रम-शक्ति* के साथ हुआ है जिसने १० सिक्के पैदा कर दिये; और मजदूर के लिये **अनुत्पादक ढंग से**, इसलिये कि उनका विनिमय जीवन-निर्वाह के साधनों के साथ हुआ है जो सदा के लिये विलीन हो गये हैं और जिनका मूल्य भूमिधर किसान के साथ बराबर उसी प्रकार के विनिमय द्वारा ही प्रतिलब्ध हो सकता है। **इस प्रकार पूंजी के लिए उजरती श्रम पूर्वापेक्षित है और उजरती श्रम के लिए – पूंजी; दोनों एक दूसरे के अस्तित्व को निश्चित करते हैं; दोनों एक दूसरे को उत्पन्न करते हैं।**

सूती मिल में काम करनेवाला एक मजदूर क्या सिर्फ़ सूती कपड़ा तैयार करता है? नहीं, वह पूंजी तैयार करता है। वह इस प्रकार के मूल्य उत्पन्न करता है जिनके द्वारा उसकी मेहनत फिर से इस्तेमाल में लाई जाती है जिसके फलस्वरूप वह और भी नये मूल्य पैदा करता है।

पूंजी श्रम-शक्ति के साथ अपना विनिमय करके, अर्थात् उजरती श्रम को गतिशील करके ही, बढ़ सकती है। उजरती मजदूर की श्रम-शक्ति का पूंजी के साथ विनिमय पूंजी को बढ़ाकर ही हो सकता है, उस शक्ति को मजबूत बनाकर ही हो सकता है जिसका वह ग़ुलाम है। **अतएव पूंजी के बढ़ने का मतलब है सर्वहारा का बढ़ना – यानी मजदूर वर्ग का बढ़ना।**

पूंजीपति और उनके अर्थशास्त्री चीख़-चीख़ कर कहते हैं – इसी लिए तो पूंजीपति और मजदूर दोनों के हित **बिल्कुल एक हैं**। बेशक! यदि पूंजीपति मजदूर को काम पर न लगाये तो मजदूर ज़िन्दा नहीं रह सकता और यदि पूंजी श्रम-शक्ति का शोषण न करे तो वह ज़िन्दा नहीं रह सकती। अतः श्रम-शक्ति का शोषण करने के लिए आवश्यक है कि पूंजी उसे ख़रीदे। उत्पादन के लिए उद्दिष्ट पूंजी, अर्थात् उत्पादक पूंजी, जितनी तेज़ी से बढ़ती है, उतनी ही तेज़ी से उद्योग फूलता-फलता है; पूंजीपति जितना ही मालामाल होता है और रोज़गार जितना ही चमकता है, पूंजीपति को उतने ही अधिक मजदूरों की आवश्यकता होती है और मजदूर अपने को उतने ही महंगे दामों में बेचता है।

इसलिए मजदूर की संतोषजनक स्थिति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि **उत्पादक पूंजी की अधिक से अधिक तेज़ी के साथ बढ़ती हो।**

---

* "श्रम-शक्ति" शब्द यहां एंगेल्स ने नहीं जोड़ा है, बल्कि वह उस पाठ में ही था जो मार्क्स ने «*Neue Rheinische Zeitung*» में प्रकाशित किया था। – सं०

लेकिन उत्पादक पूंजी की बढ़ती का क्या अर्थ है? जीवित श्रम पर पूर्वसंचित श्रम के प्रभुत्व का बढ़ना। मज़दूर वर्ग पर पूंजीपति वर्ग के प्रभुत्व का बढ़ना। जब उजरती श्रम दूसरों की उस दौलत को पैदा करता है, जो स्वयं उसपर शासन करती है – पूंजी को, अर्थात् उस शक्ति को पैदा करता है जो उसकी शत्रु है, तभी यह शत्रु-शक्ति उसे श्रम के साधन, जीवन-निर्वाह के साधन पुनः देती है, इस शर्त पर देती है कि वह अपने को फिर पूंजी का एक भाग बना ले, वह उत्तोलक बना ले जो पूंजी को पुनः त्वरित विकास की वेगवती धारा में डाल सके।

यह कहने का अर्थ कि पूंजी और मज़दूरों के हित बिल्कुल एक हैं वास्तव में यही है कि पूंजी और उजरती श्रम एक ही सम्बन्ध के दो पहलू हैं। एक पर दूसरा उसी प्रकार अवस्थित रहता है जिस प्रकार सूदख़ोर और फ़ज़ूलख़र्च एक दूसरे पर रहते हैं।

जब तक उजरती मज़दूर उजरती मज़दूर है तब तक उसका भाग्य पूंजी पर निर्भर करता है। यही मज़दूर और पूंजीपति के हितों की वह एकता है जिसका इतना ढोल पीटा जाता है। यदि पूंजी में वृद्धि होती है तो उजरती श्रम का परिमाण भी बढ़ता है और उजरती मज़दूरों की संख्या में भी बढ़ती होती है – संक्षेप में, पूंजी का प्रभुत्व पहले से अधिक संख्या में लोगों में फैल जाता है। आइये, हम इस परिस्थिति के सबसे अनुकूल पहलू की कल्पना करें: जब उत्पादक पूंजी बढ़ती है तो श्रम की मांग भी बढ़ती है और फलस्वरूप श्रम का दाम यानी मज़दूरी भी बढ़ जाती है।

घर चाहे छोटा हो चाहे बड़ा, जब तक उसके आसपास के घर भी उतने ही छोटे होते हैं, तब तक घर के लिए समस्त सामाजिक मांग उससे पूरी हो जाती है। लेकिन इस छोटे-से घर की बगल में एक महल खड़ा हो जाने दीजिए, तब वह छोटा-सा घर न रहकर झोंपड़ा बन जायेगा। अब यह छोटा-सा घर यह ज़ाहिर करेगा कि उसके मालिक की मांग बहुत कम है, या नहीं के बराबर है। और फिर, सभ्यता के विकास के साथ-साथ, यह छोटा घर चाहे जितना ऊंचा उठ जाये, यदि वह पड़ोस का महल भी उतना ही, या उससे भी अधिक ऊपर उठता जाता है, तो इस अपेक्षाकृत छोटे घर में रहनेवाला व्यक्ति उसकी चारदीवारी के भीतर अपने को अधिकाधिक बेचैन, असंतुष्ट और जकड़ा हुआ महसूस करेगा।

मज़दूरी में किसी प्रकार की दृष्टव्य बढ़ती होने के पहले यह आवश्यक है

कि उत्पादक पूंजी में तेजी से बढ़ती हो। उत्पादक पूंजी की तेजी से बढ़ती होने पर धन-दौलत, ऐश-आराम के सामान, सामाजिक आवश्यकताओं तथा सामाजिक आमोद-प्रमोद के साधनों की भी उसी गति से बढ़ती होती है। इस प्रकार, यद्यपि मजदूरों के उपभोग के साधनों में वृद्धि हो जाती है, लेकिन उनसे जो सामाजिक सन्तोष होता है वह—पूंजीपतियों के पहले से बढ़े हुए उपभोग की तुलना में, जो मजदूर की पहुंच के बाहर रहता है, और समाज के सामान्य विकास-स्तर की तुलना में, पहले से कम हो जाता है। हमारी अभिलाषायें और हमारे आनन्द की कल्पनायें समाज से उत्पन्न होती हैं, इसलिए हम उनकी माप समाज से करते हैं न कि उन साधनों से जिनके द्वारा उनकी पूर्त्ति होती है। चूंकि उनका स्वरूप सामाजिक है इसी लिए सापेक्षिक भी है। आम तौर पर मजदूरी केवल मालों के उन परिमाणों द्वारा निश्चित नहीं होती, जिनसे हम मजदूरी का विनिमय कर सकते हैं। मजदूरी में अनेक प्रकार के सम्बन्ध निहित होते हैं।

मजदूरों को अपनी श्रम-शक्ति के बदले में जो मिलता है, वह सबसे पहले मुद्रा की एक निश्चित रक़म होती है। क्या मजदूरी केवल इस मुद्रारूपी दाम से निश्चित होती है?

सोलहवीं सदी में अमरीका में सोने-चांदी की अधिक उर्वर और आसानी से प्रयोग में लाई जानेवाली खानों के निकल आने के कारण यूरोप में सोने-चांदी के परिचलन की मात्रा बढ़ गयी। अस्तु, दूसरे मालों के सम्बन्ध में सोने और चांदी का मूल्य घट गया। मजदूरों को अपनी श्रम-शक्ति के बदले में पहले जितने ही चांदी के सिक्के मिलते रहे। मुद्रारूप में उनके श्रम का दाम वही था, मगर वास्तव में उनकी मजदूरी कम हो गयी थी, क्योंकि उतनी ही चांदी के बदले में अब मजदूरों को पहले से कम मात्रा में दूसरे माल मिलने लगे। सोलहवीं सदी में पूंजी के अधिक बढ़ने और पूंजीपति वर्ग के उदय का यह भी एक कारण था।

एक दूसरी मिसाल लीजिए। १८४७ के जाड़ों में फ़सल मारी जाने के कारण अनाज, मांस, मक्खन, पनीर आदि जीवन-निर्वाह के अत्यन्त आवश्यक साधनों के दाम बहुत काफ़ी बढ़ गये। अब मान लीजिए कि मजदूरों को उनकी श्रम-शक्ति के बदले में पहले की ही रक़म मिलती रही, तब क्या उनकी मजदूरी में कमी नहीं आयी? जाहिर है, आ गयी। अब उन्हें उतनी ही रक़म के बदले में पहले से कम रोटी, मांस आदि मिलता है। अवश्य ही उनकी मजदूरी में कमी हो गयी; वह इसलिए नहीं कि चांदी का मूल्य घट गया, बल्कि इसलिए कि जीवन-निर्वाह के साधनों का मूल्य बढ़ गया।

अन्त में, मान लीजिए कि श्रम का मुद्रारूपी दाम वही रहता है, लेकिन नई मशीनों का प्रयोग होने नया मौसम के अनुकूल होने आदि के कारण खेती तथा उद्योग-धन्धों की हर प्रकार की उपज के दाम गिर जाते हैं। ऐसी हालत में मजदूर उतनी ही मुद्रा से सभी तरह के माल पहले से ज्यादा मात्रा में ख़रीद सकेंगे। अस्तु, मज़दूरों की मज़दूरी में बढ़ती हो जायेगी, ठीक इसलिए कि उनकी मज़दूरी के मुद्रारूपी मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

इस प्रकार, श्रम का मुद्रारूपी दाम, अभिहित मज़दूरी असल मज़दूरी से, अर्थात् मज़दूरी के बदले में वास्तव में प्राप्य तमाम मालों से, मेल नहीं खाती। इसलिए यदि हम मज़दूरी के घटने-बढ़ने की चर्चा करें, तो यह ज़रूरी है कि हम केवल श्रम के मुद्रारूपी दाम का, सिर्फ़ अभिहित मज़दूरी का ही ध्यान न रखें।

लेकिन मज़दूरी में निहित संबंधों की इति न तो अभिहित मज़दूरी, अर्थात् उस रक़म से होती है जिसके लिए मज़दूर अपने को पूंजीपति के हाथ बेच देता है, और न असल मज़दूरी, अर्थात् मालों के उस परिमाण से होती है जो इस रक़म से वह ख़रीद सकता है।

मज़दूरी – तुलनात्मक, सापेक्ष मज़दूरी – सर्वप्रथम लाभ के साथ यानी पूंजीपति के मुनाफ़े के साथ उसके सम्बन्ध द्वारा भी निर्धारित होती है।

असल मज़दूरी अन्य मालों के दामों के सम्बन्ध में श्रम का दाम ज़ाहिर करती है; दूसरी ओर सापेक्ष मज़दूरी, नये मूल्य में, जिसे प्रत्यक्ष श्रम ने पैदा किया है, उस श्रम के भाग को उस दूसरे भाग के सम्बन्ध में ज़ाहिर करती है जो संचित श्रम – अर्थात् पूंजी – के हिस्से में आता है।

पहले पृ० १४ पर* हमने कहा था – "मज़दूरी, मज़दूर द्वारा उत्पादित माल में मज़दूर का हिस्सा नहीं है। मज़दूरी पहले से मौजूद मालों का वह भाग है जिसके द्वारा पूंजीपति अपने लिए एक निश्चित मात्रा में उत्पादक श्रम-शक्ति ख़रीदता है।" लेकिन पूंजीपति के लिए यह लाज़िमी है कि वह मज़दूर द्वारा पैदा किये हुए माल को बेचकर उसके दाम से मज़दूरी की पुनःपूर्त्ति कर ले, और मज़दूरी की पूर्त्ति वह इस प्रकार करे कि, आम तौर पर, उसके लिए उसके द्वारा लगाये हुए उत्पादन-व्यय से ऊपर, कुछ अतिरिक्त मूल्य – मुनाफ़ा – बच जाये। पूंजीपति के लिए मज़दूर द्वारा तैयार किये हुए मालों के दाम तीन भागों

*प्रस्तुत खण्ड, पृष्ठ १८८ ।– सं०

में बंटे होते हैं: **पहला**, पूंजीपति द्वारा लगाये हुए कच्चे माल और साथ-साथ औज़ारों, मशीनों तथा श्रम के अन्य साधनों के मूल्य ह्रास की पूर्त्ति; **दूसरा**, पूंजीपति द्वारा दी गयी मजदूरी की पूर्त्ति और **तीसरा**, बाक़ी बचा अतिरिक्त मूल्य, अर्थात् पूंजीपति का मुनाफ़ा। जहां पहला भाग केवल **पहले से मौजूद मूल्यों** की पूर्त्ति करता है, वहां यह स्पष्ट है कि मजदूरी की पूर्त्ति और पूंजीपति का मुनाफ़ा दोनों ही, मोटे तौर पर, उस **नये मूल्य** से आते हैं **जिसे मजदूर के श्रम ने उत्पन्न किया है** और कच्चे माल में जोड़ दिया है। और **इस अर्थ में** मजदूरी और मुनाफ़े की एक दूसरे के साथ तुलना करने के लिए हम मजदूरी और मुनाफ़ा दोनों को मजदूर की मेहनत की उपज के हिस्से मान सकते हैं।

यह संभव है कि असल मज़दूरी उतनी ही रहे या बढ़ भी जाये और फिर भी सापेक्ष मजदूरी घट जाये। उदाहरण के लिए, मान लीजिये कि जीवन-निर्वाह के सभी साधनों के दाम दो-तिहाई घट गये हैं जबकि रोज़ाना मजदूरी केवल एक-तिहाई कम हुई है। यानी अगर किसी मजदूर को रोज़ाना मज़दूरी पहले ३ मार्क थी तो अब वह २ मार्क रह गयी है। ऐसी दशा में मज़दूर पहले ३ मार्क में माल की जितनी माला प्राप्त कर सकता था अब वह २ मार्क में ही उससे ज़्यादा हासिल कर सकता है; मगर फिर भी, पूंजीपति के मुनाफ़े के मुक़ाबले में मज़दूर की मज़दूरी कम हो गयी। पूंजीपति (उदाहरणार्थ, कारख़ानेदार) के मुनाफ़े में एक मार्क की बढ़ती हुई, अर्थात् विनिमय-मूल्यों की घटी हुई रक़म जो अब वह मजदूर को देगा उसके एवज़ में मज़दूर को पहले की अपेक्षा अधिक विनिमय-मूल्य पैदा करना होगा। श्रम के हिस्से की तुलना में पूंजी का हिस्सा बढ़ जायेगा और पूंजी और श्रम के बीच सामाजिक सम्पदा का बंटवारा पहले से भी अधिक असमान हो जायेगा। उतनी ही पूंजी द्वारा अब पूंजीपति पहले से ज़्यादा श्रम को अपने अधीन कर सकेगा। अतः मज़दूर वर्ग पर पूंजीपति वर्ग का प्रभुत्व बढ़ जायेगा, मज़दूर की सामाजिक स्थिति और ख़राब हो जायेगी और पूंजीपति के मुक़ाबले में एक दर्जा और नीचे गिर जायेगी।

तब फिर वह सामान्य नियम क्या है जो मजदूरी और मुनाफ़े के पारस्परिक सम्बन्ध के अन्तर्गत उनका उतार-चढ़ाव निर्धारित करता है?

मजदूरी और मुनाफ़ा एक दूसरे के उल्टे अनुपात में घटते-बढ़ते हैं। पूंजी का हिस्सा, यानी मुनाफ़ा, उसी अनुपात में बढ़ जाता है जिस अनुपात में श्रम का हिस्सा, यानी मजदूरी, कम हो जाती है और इसी प्रकार पूंजी का हिस्सा घटने पर उसी अनुपात में श्रम का हिस्सा बढ़ता है। जिस हद तक मजदूरी घट जाती है,

उस हद तक मुनाफ़ा बढ़ जाता है और जिस हद तक मजदूरी बढ़ जाती है, उस हद तक मुनाफ़ा घट जाता है।

इसपर शायद आपत्ति हो सकती है कि पूंजीपति दूसरे पूंजीपतियों के साथ अधिक अनुकूल विनिमय करके, नये बाज़ारों के खुल जाने या पुराने बाज़ारों में तात्कालिक मांग बढ़ जाने, इत्यादि से फ़ायदा उठा सकता है; और फलतः यह कि मज़दूरी में घटती-बढ़ती, अर्थात् श्रम-शक्ति के विनिमय-मूल्य में घटती-बढ़ती से सर्वथा स्वतन्त्र रूप से, अन्य पूंजीपतियों से बाज़ी मार ले जाकर मुनाफ़ा बढ़ा सकता है। या पूंजीपति का मुनाफ़ा श्रम के औज़ारों में सुधार होने के कारण या प्राकृतिक शक्तियों के नये ढंग के प्रयोग आदि के कारण भी बढ़ सकता है।

पहले तो हमें मानना होगा कि इस हालत में भी परिणाम वही हुआ, हालांकि वह उल्टी तरह से हुआ। यह सच है, मुनाफ़ा इसलिए नहीं बढ़ा कि मज़दूरी कम हो गयी, मगर मज़दूरी इसलिए घटी है कि मुनाफ़ा बढ़ गया है। दूसरे लोगों के उतने ही श्रम द्वारा पूंजीपति ने, मज़दूर को उसके लिए अधिक भुगतान किये बग़ैर, अधिक मात्रा में विनिमय-मूल्य हासिल किया है; अतः मज़दूर के श्रम द्वारा प्राप्त पूंजीपति के शुद्ध मुनाफ़े के अनुपात में मजदूर को कम मज़दूरी मिली है।

इसके अलावा, हमें यह भी याद है कि मालों के दामों में उतार-चढ़ाव होने के बावजूद हर माल का औसत दाम, यानी वह अनुपात जिसमें दूसरे मालों के साथ उसका विनिमय होता है, सदा **उत्पादन-व्यय से** निर्धारित होता है। इसलिए, पूंजीपति वर्ग के अन्दर की पारस्परिक धोखाधड़ी अनिवार्य रूप से पलड़ा बराबर कर देती है। मशीनों में सुधार, उत्पादन में प्राकृतिक शक्तियों के नवीन उपयोग द्वारा उतने ही समय में और उतने ही श्रम और पूंजी से अधिक उत्पादन होने लगता है, लेकिन पहले से अधिक विनिमय-मूल्य उससे हरगिज़ नहीं पैदा होते। यदि कातने की जेनी-मशीन का इस्तेमाल करके मैं एक घंटे के अन्दर पहले के मुक़ाबले में दुगुना सूत – मान लीजिए पचास पौंड की जगह सौ पौंड – तैयार करने लगता हूं, तो अन्त में चलकर मुझे इस सौ पौंड के बदले में उससे अधिक मात्रा में अन्य माल नहीं मिलेंगे जितनी मात्रा में पहले पचास पौंड सूत के बदले मिलते थे; इस कारण कि अब उत्पादन-व्यय पहले से आधा हो गया है, अर्थात् मैं उसी लागत पर पहले से दूना उत्पादन करने लगा हूं।

अन्तिम बात यह है कि एक देश का पूंजीपति वर्ग या पूरे विश्व-बाज़ार का पूंजीपति वर्ग उत्पादन से होनेवाले शुद्ध मुनाफ़ को अपने बीच चाहे किसी भी

अनुपात में बांटे, लेकिन इस शुद्ध मुनाफ़े का कुल परिमाण केवल उतना ही होगा जितना कुल मिलाकर प्रत्यक्ष श्रम ने संचित श्रम में जोड़ दिया है। इसलिए, यह कुल परिमाण उसी अनुपात में बढ़ता है जिस अनुपात में श्रम पूंजी की बढ़ती करता है, अर्थात् जिस अनुपात में मज़दूरी की तुलना में मुनाफ़ा बढ़ता है।

इस भांति हम देखते हैं कि अगर हम **पूंजी और उजरती श्रम के सम्बन्ध के भीतर रहते हैं तो भी पूंजी के और उजरती श्रम के हित एक दूसरे के बिल्कुल विरोधी होते हैं।**

पूंजी के तेज़ी से बढ़ने का मतलब मुनाफ़े का तेज़ी से बढ़ना है। मुनाफ़ा तेज़ी से तभी बढ़ सकता है जब श्रम का दाम, सापेक्ष मज़दूरी, उसी तेज़ी से घटे। अभिहित मज़दूरी के साथ-साथ, श्रम के मुद्रारूपी मूल्य के साथ-साथ असल मज़दूरी के बढ़ने पर भी अगर उसकी वृद्धि उसी अनुपात में नहीं होती जिसमें मुनाफ़े की होती है, तो सापेक्ष मज़दूरी में गिरावट आ सकती है। उदाहरणार्थ, जब रोज़गार चमका हो, उस समय यदि मज़दूरी में ५ प्रतिशत की बढ़ती होती है और, दूसरी ओर, मुनाफ़े में ३० प्रतिशत की, तब तुलनात्मक, सापेक्ष मज़दूरी में **बढ़ती नहीं** बल्कि **घटती हुई।**

इस प्रकार, यद्यपि पूंजी के तेज़ी से बढ़ने के साथ ही मज़दूर की आमदनी बढ़ती है, तथापि उसके साथ-साथ वह सामाजिक खाई और भी गहरी हो जाती है जो मज़दूर को पूंजीपति से अलग करती है। इसी प्रकार श्रम पर पूंजी का प्रभुत्व और बढ़ जाता है और श्रम, पहले से भी अधिक, पूंजी पर निर्भर हो जाता है।

यह कहना कि पूंजी के तेज़ी से बढ़ने में मज़दूर का भी हित है सिर्फ़ यही कहने के बराबर है कि मज़दूर जितनी शीघ्रता के साथ दूसरों की दौलत बढ़ायेगा, उतने ही ज़्यादा दूसरों के खाने से बचे रोटी के टुकड़े उसके सामने फेंके जायेंगे, उतनी ही अधिक तादाद में मज़दूरों को नौकर रखा जा सकेगा, मज़दूरों की संख्या में उतनी ही वृद्धि होगी,—यानी पूंजी पर निर्भर रहनेवाले ग़ुलामों की तादाद उतनी ही बढ़ जायेगी।

इस प्रकार हमने देखा कि :

मज़दूर वर्ग के लिए **सबसे अधिक अनुकूल परिस्थिति** होने पर भी, यानी **पूंजी के ज़्यादा से ज़्यादा तेज़ी से बढ़ने** की हालत में भी, मज़दूर की आर्थिक दशा में चाहे जितना ही सुधार हो जाये, उसके हितों तथा पूंजीपति के हितों का विरोध नहीं मिटता। **मुनाफ़ा और मज़दूरी** तब भी **एक दूसरे के उल्टे अनुपात में ही** घटते-बढ़ते हैं।

यदि पूंजी तेज़ी से बढ़ रही है तो मजदूरी भी बढ़ सकती है; लेकिन पूंजी का मुनाफ़ा इतनी तेजी से बढ़ता है कि दोनों की तुलना नहीं हो सकती। मजदूर की आर्थिक स्थिति कुछ सुधर जाती है, मगर उसकी सामाजिक स्थिति और बिगड़ जाती है। उसे पूंजीपति से अलग करनेवाली सामाजिक खाई और भी चौड़ी हो जाती है।

अन्त में :

यह कहना कि उजरती श्रम के लिए सबसे अनुकूल स्थिति उत्पादक पूंजी की शीघ्रतम वृद्धि है यही कहने के बराबर है कि मज़दूर वर्ग जितनी शीघ्रता के साथ और विस्तृत रूप में उस शक्ति को बढ़ाता है जो उसकी शत्रु है, उस दौलत को बढ़ाता है जो उसकी नहीं है और जो उसपर शासन करती है, उतना ही अधिक मजदूर को पूंजीपतियों की दौलत बढ़ाने के लिए, पूंजी की शक्ति का विस्तार करने के लिए अधिक अनुकूल सुविधाओं के साथ पुनः काम करने का अवसर मिलेगा; और वह उन सुनहरी ज़ंजीरों को गढ़कर संतोष करेगा जिनसे बांधकर पूंजीपति उसे अपने पीछे घसीटता है।

क्या उत्पादक पूंजी की बढ़ती और **मजदूरी** के **बढ़ने** में सचमुच वैसा ही अटूट सम्बन्ध है जैसा पूंजीवादी अर्थशास्त्री बताते हैं? उनके कथन पर ही हमें विश्वास नहीं कर लेना चाहिए। हमें उनकी इस बात पर भी विश्वास नहीं करना चाहिए कि पूंजी का मोटापा जितना बढ़ेगा, उतना ही अधिक उसके ग़ुलामों को भी खाना मिलेगा। पूंजीपति वर्ग इस क़द्र होशियार है, इस क़द्र हिसाब करना जानता है कि वह सामन्ती राजा-नवाबों की तरह झूठी शान में आकर अपने नौकर-चाकरों को ठाटबाट के साथ रखनेवाला नहीं है। पूंजीपति वर्ग के जीवन की परिस्थितियां ही ऐसी हैं जो उसे हिसाब जोड़कर चलने पर मजबूर करती हैं।

इसलिए हमें इसकी अधिक छानबीन करनी होगी :

उत्पादक पूंजी की बढ़ती का मजदूरी पर क्या प्रभाव पड़ता है?

यदि पूंजीवादी समाज की उत्पादक पूंजी की, आम तौर पर, बढ़ती हो रही है तो श्रम का **अधिक बहुविध** संचय होगा। पूंजी की संख्या और आकार, दोनों ही दृष्टियों से वृद्धि होती है। पूंजियों की **संख्या में बढ़ती** होने से **पूंजीपतियों के बीच होड़** बढ़ जाती है। पूंजियों के **विस्तार में बढ़ती** होते **रहने** से वे साधन तैयार हो जाते हैं जिनसे **मजदूरों की पहले से अधिक शक्तिशाली सेनाओं को और भी विराट अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित करके औद्योगिक युद्ध-क्षेत्र में उतारा जा सकता है।**

यदि एक पूंजीपति दूसरे पूंजीपति को मैदान से भगाकर उसकी पूंजी पर

क़ब्ज़ा कर लेना चाहता है, तो इसका केवल एक यही उपाय है कि वह उससे सस्ता माल बेचे। यदि बिना अपने को बर्बाद किये वह माल सस्ता बेचना चाहता है, तो उसके लिए ज़रूरी है कि वह अपना माल भी अधिक सस्ते में तैयार करे, यानी श्रम की उत्पादक शक्ति को अधिक से अधिक बढ़ाये। लेकिन श्रम की उत्पादक शक्ति को बढ़ाने का प्रधान उपाय यह है कि **श्रम का पहले से अधिक विभाजन** किया जाये, **मशीनों** का और सार्वत्रिक प्रयोग किया जाये और उनमें लगातार सुधार किये जायें। मज़दूरों की वह सेना जितनी ही बड़ी होगी, जिसमें श्रम का विभाजन किया जायेगा, जितने ही विशाल पैमाने पर मशीनों का प्रयोग किया जायेगा, उतना ही और उसी अनुपात में उत्पादन-व्यय कम हो जायेगा और श्रम उतना ही अधिक फलप्रद होगा। इसलिए, पूंजीपतियों के बीच, श्रम का विभाजन करने तथा मशीनों का इस्तेमाल करने, और दोनों तरीक़ों का बड़े से बड़े पैमाने पर उपयोग करने की आम होड़ आरम्भ हो जाती है।

अब यदि कोई पूंजीपति श्रम का अधिक विभाजन करके, नई-नई मशीनें इस्तेमाल करके तथा उनमें सुधार करके, और प्राकृतिक शक्तियों का अधिक लाभदायक एवं व्यापक ढंग से उपयोग करके, उतने ही श्रम से या उतने ही संचित श्रम से अपने प्रतिद्वंद्वियों के मुक़ाबले में ज़्यादा माल तैयार करने में कामयाब होता है, उदाहरणार्थ, यदि उतने ही श्रम-काल में जितने में उसके प्रतिद्वंद्वी आधा गज़ कपड़ा तैयार करते हैं, वह एक गज़ तैयार करने लगता है, तो वह किस प्रकार व्यवहार करेगा?

वह अब भी पुराने बाज़ार-भाव पर आधा गज़ कपड़ा बेच सकता है; लेकिन इस तरह वह अपने प्रतिद्वंद्वियों को मैदान से नहीं भगा पायेगा और न अपनी बिक्री ही बढ़ा सकेगा। किन्तु जिस हद तक उसका उत्पादन बढ़ा है, उसी हद तक उसकी अपना माल बेचने की आवश्यकता भी बढ़ गयी है। उसने उत्पादन के जिन अधिक शक्तिशाली और महंगे साधनों को गतिशील किया है, **उनकी बदौलत** वह निश्चय ही अपना माल पहले से अधिक सस्ते दामों में बेचने में **समर्थ हो जाता है;** लेकिन साथ ही ये साधन उसे पहले से कहीं **ज़्यादा माल बेचने पर मजबूर करते हैं।** वे उसे अपने माल के लिए पहले से कहीं ज़्यादा बड़े बाज़ार पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए बाध्य करते हैं। फलतः हमारा यह पूंजीपति अपना आधा गज़ कपड़ा अपने प्रतिद्वंद्वियों से अधिक सस्ते दामों में बेचने लगता है।

परन्तु, जिस दाम पर उसके प्रतिद्वंद्वी आधा गज़ कपड़ा बेचते हैं, उस दाम

पर वह पूरा एक गज़ कपड़ा नहीं बेचेगा, हालांकि उसके पूरे गज़ के उत्पादन में उससे अधिक लागत नहीं बैठी है जितनी दूसरों के आधे गज़ के उत्पादन में बैठी है। क्योंकि यदि वह ऐसा करेगा तो उसे कोई अतिरिक्त मुनाफ़ा नहीं मिलेगा, बस, केवल विनिमय द्वारा उत्पादन-व्यय वापस मिल जायेगा। उसकी आमदनी, सम्भव है, बढ़ जायेगी, लेकिन वह इस कारण बढ़ेगी कि उसने औरों से अधिक पूंजी गतिशील की है, इस कारण नहीं कि उसने अपनी पूंजी से औरों के मुक़ाबले में ज्यादा लाभ उठाया है। इसके अलावा अपने माल का दाम अपने प्रतिद्वंद्वियों के माल की अपेक्षा कुछ प्रतिशत कम कर देने से ही उसका उद्देश्य पूरा हो जाता है। अपना माल उनसे **सस्ता बेचकर** वह उनको मैदान से भगा देता है, या, कम से कम, उनसे उनकी बिक्री का एक भाग अवश्य छीन लेता है। और अन्त में हमें याद रखना होगा कि किसी भी माल का बाज़ार-भाव उसके **उत्पादन-व्यय से** हमेशा कुछ **कम या ज्यादा** रहता है, जो इस पर निर्भर करता है कि आया उस माल की बिक्री उद्योग की अनुकूल अवस्था में हो रही है या प्रतिकूल अवस्था में। उत्पादन के नये तथा अधिक लाभकर साधनों का प्रयोग करनेवाला पूंजीपति अपने माल को असली उत्पादन-व्यय से कितने प्रतिशत अधिक में बेचेगा, यह इस पर निर्भर करेगा कि एक गज़ कपड़े का बाज़ार-भाव, अभी तक आम तौर पर जो उसका उत्पादन-व्यय हुआ करता था, उससे कम है या ज्यादा।

परन्तु हमारे पूंजीपति की यह **विशेष सुविधापूर्ण स्थिति** बहुत दिनों तक क़ायम नहीं रहती। दूसरे प्रतिद्वंद्वी पूंजीपति भी उन्हीं मशीनों का, उसी तरह के श्रम-विभाजन का, उसी या उससे भी बड़े पैमाने पर प्रयोग करने लगते हैं और ये तरीक़े इतने सामान्य हो जाते हैं कि कपड़े का दाम उसके **पुराने ही नहीं**, बल्कि उसके **नये उत्पादन-व्यय से भी नीचे** गिर जाता है।

इसलिए पूंजीपति की एक दूसरे की निस्बत फिर वही हालत हो जाती है जो उत्पादन के नये साधनों के प्रयोग में आने **के पहले** थी। इन साधनों से यदि वे उतने ही दामों में पहले से दूना उत्पादन कर सकते थे तो **अब** उन्हें इस दूनी पैदावार को पहले के दाम से **कम पर** बेचना होता है। इस नये उत्पादन-व्यय के आधार पर फिर वही पुराना खेल शुरू हो जाता है। श्रम का और अधिक विभाजन होता है, और नई मशीनें आती हैं, पहले से भी बड़े पैमाने पर मशीनों का तथा श्रम-विभाजन का इस्तेमाल किया जाता है। और होड़, फलस्वरूप, इस परिणाम के विरुद्ध, फिर उसी प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्पादन की प्रणाली और उत्पादन के साधन कैसे लगातार बदलते रहते हैं, क्रान्तिकारी ढंग से रूपान्तरित होते रहते हैं; और **कैसे लाज़िमी तौर पर, श्रम-विभाजन के बाद और भी ज़्यादा श्रम-विभाजन होता है; मशीनों के प्रयोगों के बाद और भी ज़्यादा मशीनों का प्रयोग होता है, और बड़े पैमाने पर उत्पादन होने के बाद और भी बड़े पैमाने पर उत्पादन होता है।**

यही वह नियम है जो बार-बार पूंजीवादी उत्पादन को अपनी पुरानी लीक से हटा देता है और पूंजी को इसके लिए बाध्य करता है कि चूंकि उसने श्रम की उत्पादक शक्तियों को तीव्र किया है, इसलिए वह उनको और भी तीव्र करे। यही वह नियम है जो पूंजी को तनिक भी विश्राम नहीं लेने देता और उसके कानों में सदा गुनगुनाया करता है: "और बढ़ो! और बढ़ो!"

यह वही नियम है जो व्यापार के उतार-चढ़ाव की अवस्थाओं में हर माल के दाम को अनिवार्यतः उसके **उत्पादन-व्यय के स्तर पर** ला पटकता है।

कोई पूंजीपति उत्पादन के कितने ही शक्तिशाली साधनों को मैदान में क्यों न लाये, होड़ इन साधनों को सार्वत्रिक बना देगी, और जिस क्षण ये साधन सार्वत्रिक हो जायेंगे उसी क्षण से उस पूंजीपति की पूजी के अधिक फलदायक होने का केवल यही परिणाम होगा कि अब उसे **उतने ही दामों में** पहले से दस गुना, बीस गुना या सौ गुना माल प्रस्तुत करना होगा। लेकिन अधिक बिक्री द्वारा बिक्री के घटे हुए दामों को बराबर करने के लिए अब चूंकि पहले के मुक़ाबले में उसे शायद एक हज़ार गुना अधिक माल बेचने की आवश्यकता होगी, अब चूंकि अधिक मुनाफ़ा कमाने के लिए ही नहीं बल्कि उत्पादन-व्यय को पूरा करने के लिए भी (जैसा कि आपने देखा है, उत्पादन के औज़ार अधिकाधिक महंगे होते जाते हैं) उसे बिक्री और भी बढ़ानी होगी, और चूंकि बिक्री का यह विस्तार न केवल उसके लिए बल्कि उसके प्रतिद्वन्द्वियों के लिए भी जीवन-मरण का प्रश्न बन जाता है, इसलिए **उत्पादन के आविष्कृत साधन जितने ही फलदायी सिद्ध होंगे,** पूंजीपतियों का पुराना संघर्ष **उतने ही भीषण रूप में फिर छिड़ जायेगा। इस प्रकार श्रम का विभाजन और मशीनों का उपयोग एक बेअंदाज़ बड़े पैमाने पर होने लगेगा।**

उत्पादन के प्रयुक्त साधनों की शक्ति चाहे जितनी हो, होड़ मालों के दामों को फिर उत्पादन-व्यय के स्तर पर खींचकर और इस प्रकार, जिस हद तक उत्पादन सस्ता बनाया जा सकता है, अर्थात् जिस हद तक उतने ही श्रम से पहले से अधिक उत्पादन किया जा सकता है, उस हद तक उत्पादन को सस्ता

करने—यानी उतने ही कुल दाम में अधिकाधिक मात्रा में माल प्रस्तुत करने—को एक अनिवार्य नियम बनाकर पूंजी को इस शक्ति के सुनहरे फल से वंचित कर देती है। इस प्रकार पूंजीपति को अपनी सारी कोशिशों का केवल यह फल मिलता है कि उसे उतने ही श्रम-काल में पहले से अधिक माल प्रस्तुत करना होता है, यानी संक्षेप में कहा जाये तो **अपनी पूंजी का मूल्य बढ़ाने का काम अब उसे और कठिन परिस्थितियों में करना होता है।** इसलिए जहां एक तरफ़ होड़, अपना उत्पादन-व्यय का नियम लेकर, सदा पूंजीपति के पीछे पड़ी रहती है और अपने प्रतिद्वन्द्वियों पर प्रहार के लिए जो अस्त्र भी वह गढ़ता है वह पलट कर उसी पर चोट करता है, वहीं दूसरी ओर बराबर और नई मशीनें लगाकर—गोकि वे ज्यादा महंगी होती हैं, पर वे उत्पादन सस्ता कर देती हैं—तथा श्रम का पुराने की जगह नया विभाजन करके, बिना इस बात का इन्तज़ार किये हुए कि होड़ उसकी नई मशीनों को गतप्रयोग बना दे, पूंजीपति होड़ के ऊपर क़ाबू पाने की सतत चेष्टा करता है।

अब यदि हम एकसाथ **विश्व-बाज़ार** में होनेवाली इस ज़बरदस्त हलचल की कल्पना करें, तो हम समझ सकेंगे कि पूंजी के विकास, संचय और केन्द्रीकरण के परिणामस्वरूप किस प्रकार श्रम का निरंतर विभाजन होता रहता है और किस प्रकार नई मशीनों का प्रयोग और पुरानी मशीनों का नवीकरण नित्य बढ़ते हुए पैमाने पर होता रहता है।

लेकिन इन परिस्थितियों का, जिनका उत्पादक पूंजी की बढ़ती के साथ अटूट सम्बन्ध है, मजदूरी के निर्धारण पर क्या प्रभाव पड़ता है?

श्रम-विभाजन की वृद्धि की बदौलत एक मज़दूर पांच, दस या बीस मज़दूरों का काम करने लगता है। इसलिए, उसकी वजह से मज़दूरों के बीच चलनेवाली होड़ पहले से पांच गुनी, दस गुनी या बीस गुनी बढ़ जाती है। मज़दूर इस तरह ही आपस में होड़ नहीं करते कि प्रत्येक अपने को दूसरे से अधिक सस्ते दामों में बेचने की कोशिश करने लगे, बल्कि वे इस तरह भी आपस में होड़ करते हैं कि सिर्फ़ एक मज़दूर पांच, दस या बीस मज़दूरों का काम करने लगता है। पूंजी द्वारा लागू किया हुआ और निरंतर बढ़ता हुआ **श्रम-विभाजन** मज़दूरों को इस प्रकार की होड़ के लिए मजबूर करता है।

इसके अलावा, जैसे-जैसे **श्रम-विभाजन** बढ़ता जाता है, **वैसे-वैसे श्रम अधिकाधिक सरल होता जाता है।** मज़दूर की विशेष निपुणता बेकार हो जाती है। वह एक ऐसी सरल, नीरस और यंत्रवत् उत्पादक शक्ति बन जाता है जिसे

तीव्र शारीरिक अथवा बौद्धिक क्षमताओं का उपयोग करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। उसका श्रम ऐसा श्रम बन जाता है जिसे कोई भी कर सकता है। इसलिए, उसे चारों ओर से प्रतिद्वंद्वी आकर घेर लेते हैं। और इसके अलावा, हम पाठकों को यह भी याद दिला दें कि श्रम जितना सहज-साध्य है, उसे सीखना जितना सरल है, उसमें निपुणता प्राप्त करने के लिए जितना कम उत्पादन-व्यय आवश्यक है, उतनी ही मज़दूरी में भी कमी होती है, क्योंकि अन्य माल के दाम की तरह मजदूरी भी उसके उत्पादन-व्यय द्वारा ही निर्धारित होती है।

इसलिए, जैसे-जैसे श्रम अधिकाधिक असंतोषप्रद और अरुचिकर बनता जाता है, वैसे-वैसे होड़ बढ़ती जाती है और मजदूरी कम होती जाती है। मज़दूर पहले से ज्यादा काम करके अपनी मज़दूरी बरक़रार रखने की कोशिश करता है; इसके लिए चाहे वह ज्यादा घंटे काम करे या एक घंटे में अधिक माल तैयार करे। अभाव द्वारा प्रेरित होकर वह श्रम-विभाजन के बुरे परिणामों को और भी बढ़ा देता है। नतीजा यह होता है कि **वह जितना ज्यादा काम करता है, उतनी ही कम मजदूरी पाता है।** और यह सिर्फ़ इसलिए कि वह जितना ज्यादा काम करता है, उतना ही अधिक अपने साथी मजदूरों के साथ होड़ करता है और इसलिए वह उन सब को प्रतिद्वंद्वी बना लेता है जो उतनी ही बुरी शर्तों पर काम करने के लिए तैयार हो जाते हैं, जितनी बुरी शर्तों पर वह ख़ुद काम करने के लिए तैयार हो गया है। और इसलिए, अन्ततोगत्वा मज़दूर **ख़ुद अपना, मज़दूर वर्ग के एक सदस्य के रूप में ख़ुद अपना प्रतिद्वंद्वी बन जाता है।**

मशीन कुशल की जगह अकुशल मज़दूरों को, मर्दों की जगह औरतों को, और वयस्कों की जगह बच्चों को लाकर और भी बड़े पैमाने पर इसी तरह के परिणाम उत्पन्न करती है। जहां कहीं मशीनों का प्रयोग शुरू होता है, वहां वे हाथ से काम करनेवाले मज़दूरों के पूरे के पूरे समुदायों को बेकार कर, और जहां मशीनों में विकास या सुधार होता है और पुरानी की जगह नई, अधिक उत्पादक मशीनें लगायी जाती हैं, वहां वे मज़दूरों की अपेक्षाकृत छोटी टोलियों को बेकार कर इसी तरह के परिणाम उत्पन्न करती हैं। ऊपर हमने पूंजीपतियों के बीच आपस में चलनेवाले औद्योगिक युद्ध का जल्दी-जल्दी में एक चित्र उपस्थित किया है। **इस युद्ध की विशेषता यह है कि इसकी लड़ाइयां उतनी मज़दूरों की फ़ौज भर्ती करके नहीं, जितनी उन्हें बर्ख़ास्त करके जीती जाती हैं। इन फ़ौजों के सेनापति, अर्थात् पूंजीपति, इस बात में एक दूसरे से होड़ करते हैं कि उद्योग के सबसे ज्यादा सैनिकों को कौन बर्ख़ास्त कर सकता है।**

यह सच है कि अर्थशास्त्री हमें यह बताते हैं कि जो मज़दूर मशीनों की वजह से फ़ालतू हो जाते हैं उन्हें उद्योग-धंधों की नई शाखाओं में काम मिल जाता है।

वे सीधे-सीधे यह कहने की हिम्मत नहीं करते कि जो मज़दूर निकाले जाते हैं उन्हीं को श्रम की नई शाखाओं में काम मिलता है। वास्तविकता इस झूठ का प्रबल रूप से खंडन करती है। असल में वे केवल यह कहते हैं कि **मज़दूर वर्ग के दूसरे संघटक भागों** के लिए नौकरी के नये रास्ते खुल जायेंगे – मसलन् मज़दूरों की नौजवान पीढ़ी के एक हिस्से के लिए जो उद्योग की उस शाखा में प्रवेश करने के लिए तैयार खड़ा था जो अब चौपट हो गयी है। अभागे मज़दूरों के लिए निःसंदेह यह एक बहुत बड़ी दिलासा है। धर्मपरायण पूंजीपतियों को दोहन के लिए रक्त और मांस की कमी कभी न होगी और जो बीत गयी है वे उसे भूल जायेंगे। यह वह दिलासा है जो पूंजीपति अपने को देता है, न कि मज़दूरों को। यदि मशीनों की वजह से उजरती मज़दूरों का पूरा वर्ग ही मिट जाये, तो पूंजी के लिए यह कितनी भयानक बात होगी – उजरती श्रम न हो तो पूंजी पूंजी न रहेगी!

परन्तु मान लीजिये कि जिन लोगों की रोज़ी मशीनों ने सीधे-सीधे छीन ली है उन्हें, और नई पीढ़ी के मज़दूरों के उस हिस्से को जो इन नौकरियों पर पहले से आंख लगाये था, **नया धंधा मिल जाता है**, तो क्या कोई यह विश्वास कर सकता है कि इस नये काम के लिए भी मज़दूरों को उतनी ही ऊंची मज़दूरी मिलेगी जितनी उनको पुराने काम के लिए मिलती थी, जो उनके हाथ से अब जाता रहा है? यदि ऐसा होने लगे तो **अर्थशास्त्र के सारे नियम झूठे पड़ जायें।** हम देख चुके हैं कि किस प्रकार आधुनिक उद्योग सदा अधिक संश्लिष्ट तथा उच्चतर कार्य को निम्नतर तथा अधिक सहज-साध्य कार्य से बदल देता है।

तब फिर मशीनों के कारण उद्योग की एक शाखा से निकाला हुआ मज़दूरों का एक बड़ा दल उद्योग की दूसरी शाखा में कैसे खप सकता है, जब तक कि वह दूसरी शाखा **निम्नतर न हो और उसमें मज़दूरी कम न हो?**

कहा जाता है कि ख़ुद मशीन बनाने के उद्योग में जो मज़दूर काम करते हैं, वे इस नियम के अपवाद हैं। कहा जाता है कि उद्योग में जब मशीनों की मांग और उनका इस्तेमाल बढ़ता है तब लाज़िमी तौर पर मशीनों की संख्या में और फलतः मशीनों के उत्पादन में बढ़ती होती है, और फलतः मशीन बनाने के उद्योग में अधिक मज़दूरों को नौकर रखा जाता है। और यह भी दावा किया

जाता है कि उद्योग की इस शाखा में काम करनेवाले मजदूर निपुण और यहां तक कि पढ़े-लिखे होते हैं।

वैसे तो पहले भी यह दावा केवल आधा सच था, लेकिन १८४० के बाद से तो इसमें सचाई का लेश भी नहीं रह गया है, क्योंकि तब से मशीन बनाने के उद्योग में ठीक उसी प्रकार अधिकाधिक नयी और विभिन्न प्रकार का काम करनेवाली मशीनों का प्रयोग होने लगा है, जिस प्रकार सूत तैयार करने के उद्योग में होता है। और मशीन बनाने के कारखानों में काम करनेवाले मजदूर, अत्यन्त पेचीदा मशीनों के सामने, स्वयं ग़ैर-पेचीदा मशीनों का ही पार्ट अदा कर सकते हैं।

लेकिन मशीन के कारण जो आदमी नौकरी से निकाल दिया गया है, उसकी जगह पर कारख़ाना सम्भवत: तीन लड़कों और एक औरत को नौकर रख लेता है! क्या उस मजदूर की मजदूरी का इतना होना ज़रूरी नहीं था कि उससे तीन बच्चों और एक औरत का भरण-पोषण हो सके? क्या न्यूनतम मजदूरी का इतना होना ज़रूरी नहीं था कि उससे वंश की रक्षा और वृद्धि हो सके? तब फिर पूंजीपतियों के प्रिय फ़िक़रे से क्या सिद्ध होता है? इससे अधिक और कुछ नहीं कि एक मजदूर परिवार के जीवन-निर्वाह के लिए अब पहले से चौगुने मजदूरों को अपना जीवन खपाना होगा।

पूरी बात को एक बार फिर संक्षेप में कह दें: **उत्पादक पूंजी जितनी ज्यादा बढ़ती है, उतना ही श्रम-विभाजन और मशीनों का प्रयोग बढ़ता जाता है। श्रम-विभाजन और मशीनों का प्रयोग जितना अधिक बढ़ता है, उतनी ही मजदूरों के बीच चलनेवाली होड़ बढ़ती और उनकी मजदूरी घटती है।**

इसके अलावा, मजदूर वर्ग में समाज के अधिक ऊंचे स्तरों से भी बहुत-से रंगरूट भर्ती हो जाते हैं। छोटे-छोटे उद्योगपतियों और छोटे लगानभोगियों की एक बड़ी संख्या को मजदूरों की पांतों में ढकेल दिया जाता है और उनके सामने इसके सिवा और कोई चारा नहीं रहता है कि मजदूरों के साथ वे भी आग्रह के साथ अपना हाथ फैलायें। इस प्रकार काम की याचना करनेवाले इन बढ़े हुए हाथों का जमघट दिन-ब-दिन घना होता जाता है, जबकि ये हाथ स्वत: निरंतर दुबले होते जाते हैं।

यह बात स्वत: सिद्ध है कि जिस होड़ में कामयाब होने की पहली शर्त यह है कि अधिकाधिक बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जाये, अर्थात् उद्योगपति छोटा न हो बल्कि बड़ा हो, उस होड़ में छोटा उद्योगपति मैदान में नहीं ठहर सकता।

पूंजियों की संख्या और आकार में जितनी वढ़ती होती है उतनी ही सूद की दर कम होती जाती है; अत: अब छोटा लगानभोगी अपने सूद पर ज़िन्दा नहीं रह सकता और उसे उद्योग के क्षेत्र में कूदना होता है, और इस प्रकार वह छोटे उद्योगपतियों और अंततोगत्वा सर्वहारा वर्ग के उम्मीदवारों की संख्या बढ़ाता है – निश्चय ही इन सब बातों को और समझाने की आवश्यकता नहीं है।

अन्तिम बात यह है कि चूंकि पूंजीपतियों को, ऊपर बताई हुई क्रिया के कारण, पहले से विद्यमान् उत्पादन के विराट साधनों का अधिकाधिक बड़े पैमाने पर प्रयोग करने के लिए और इसके लिए ऋण के सभी मुख्य साधनों को गतिशील करने के लिए बाध्य होना पड़ता है, इसलिए उन औद्योगिक भूचालों की संख्या भी तदनुरूप बढ़ती जाती है, जिनमें वाणिज्य-जगत् के लिए अपने को क़ायम रखने के लिए इसके सिवा और कोई रास्ता नहीं रह जाता कि सम्पदा के एक भाग की, उत्पादन के एक भाग की, और यहां तक कि उत्पादक शक्तियों के भी एक भाग की वह पाताल लोक के देवताओं को संतुष्ट करने के वास्ते आहुति दे दे। सारांश यह कि संकट बढ़ते जाते हैं। वे पहले से अधिक जल्दी-जल्दी आने लगते हैं और उनकी भयंकरता और भी बढ़ जाती है, और किसी कारण नहीं तो इस कारण कि जैसे-जैसे उत्पादन का परिमाण और फलत: नये और अधिकाधिक बड़े बाज़ारों की आवश्यकता बढ़ती है, वैसे-वैसे विश्व-बाज़ार अधिकाधिक सिकुड़ता जाता है और शोषण करने के लिए उपलब्ध बाज़ारों की संख्या अधिकाधिक घटती जाती है; क्योंकि पहले जितने भी संकट आ चुके हैं उनमें से प्रत्येक एक न एक ऐसे बाज़ार को विश्व-व्यापार के अधीन बना चुका है जो उस वक़्त तक अछूता था या जिसका शोषण केवल सतही ढंग से हुआ था। परन्तु पूंजी श्रम पर केवल जीती ही नहीं है। वह मरती है तो बर्बर और अभिजातीय महाप्रभु की तरह अपने ग़ुलामों की लाशों को, संकटों में मर-मिटनेवाले मज़दूरों की लाशों के अम्बार को, अपने साथ क़ब्र में लेती जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं: यदि पूंजी तेजी से बढ़ती है तो मज़दूरों के बीच चलनेवाली होड़ उससे कहीं अधिक तेज़ी से बढ़ती है, अर्थात् मज़दूर वर्ग की रोज़ी के साधन, उसके जीवन-निर्वाह के साधन उतने ही अधिक कम हो

जाते हैं; मगर फिर भी यह बात सच है कि उजरती श्रम के लिए सबसे अनुकूल अवस्था यही है कि पूंजी की तेजी से बढ़ती हो।

मार्क्स द्वारा १४ से ३० दिसम्बर १८४७ तक दिये गये भाषण।

अंग्रेजी से अनूदित।

सबसे पहले १८४९ में «*Neue Rheinische Zeitung*» के ५ से ८ अप्रैल तक और ११ अप्रैल के अंकों में प्रकाशित। अलग पुस्तिका के रूप में १८९१ में बर्लिन से प्रकाशित, जिसका संपादन एंगेल्स ने किया और उसकी भूमिका लिखी।

कार्ल मार्क्स और फ़्रेडरिक एंगेल्स

कम्युनिस्ट लीग के नाम केन्द्रीय समिति का संदेश[80]

लीग के नाम केन्द्रीय समिति की ओर से

भाइयो, १८४८-४९ के दो क्रान्तिकारी वर्षों में लीग ने परीक्षा में दुगुनी सफलता प्राप्त की है – पहले तो इस रूप में कि उसके सदस्यों ने तमाम स्थानों में आन्दोलन में भाग लिया, अख़बारों, बैरीकेडों तथा लड़ाई के मोर्चों पर वे एकमात्र असंदिग्ध क्रान्तिकारी वर्ग की, सर्वहारा वर्ग की अगली क़तारों में रहे। दूसरे, लीग इस अर्थ में परीक्षा में सफल रही है कि आन्दोलन के विषय में उसका दृष्टिकोण – जिस रूप में उसे कांग्रेसों तथा केन्द्रीय समिति के १८४७ की गश्ती चिट्ठियों में और साथ ही 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' में निर्धारित किया गया है – एकमात्र सही दृष्टिकोण सिद्ध हुआ है, कि इन दस्तावेज़ों में व्यक्त प्रत्याशाएं पूरी तरह पूर्ण हुई हैं तथा वर्तमान सामाजिक अवस्थाओं की अवधारणाएं – जिनका पहले लीग केवल गुप्त रूप से प्रचार करती थी – अब हर एक की ज़बान पर हैं तथा उनका खुलेआम प्रचार किया जाता है। परन्तु इसके साथ ही लीग का पहले का मज़बूत संगठन काफ़ी ढीला पड़ गया। सदस्यों का काफ़ी बड़ा हिस्सा, जिसने क्रान्तिकारी आन्दोलन में प्रत्यक्ष रूप से भाग लिया था, यह विश्वास करने लगा कि गुप्त रूप से काम करनेवाली सोसायटियों का समय गुज़र चुका है तथा सार्वजनिक गतिविधियां ही काफ़ी हैं। पृथक-पृथक मंडलों तथा क्षेत्रों ने केन्द्रीय समिति के साथ अपने सम्बन्धों को ढीला पड़ने दिया और उन्हें धीरे-धीरे ख़त्म कर दिया। फलस्वरूप जहां जनवादी पार्टी ने, निम्नपूंजीपति वर्ग की पार्टी ने जर्मनी में अपने को अधिकाधिक संगठित किया, वहां मज़दूरों की पार्टी अपना एकमात्र आधार-स्थल खो बैठी, वह हद से हद पृथक बस्तियों में स्थानीय उद्देश्यों के लिए संगठित रही और इस तरह आम आन्दोलन में वह पूरी तरह निम्नपूंजीवादी जनवादियों के प्रभुत्व तथा नेतृत्व के अन्तर्गत आ गयी। इस स्थिति का अन्त करना होगा, मज़दूरों की आत्मनिर्भरता फिर से प्रतिष्ठापित

करनी होगी। केन्द्रीय समिति ने यह आवश्यकता अनुभव की तथा इस कारण उसने १८४८-४९ के जाड़ों में मोल नामक अपने एक दूत को लीग के संगठन के लिए जर्मनी भेजा। परन्तु मोल के मिशन का कोई स्थिर प्रभाव नहीं हुआ, इसका अंशतः कारण यह था कि उस समय जर्मन मजदूरों ने पर्याप्त अनुभव प्राप्त नहीं किया था, और अंशतः कारण यह था कि पिछली मई के विद्रोह ने[74] उसका काम रोक दिया था। मोल ने स्वयं बन्दूक सम्भाली, बाडेन-फाल्ज फ़ौज में भर्ती हुए तथा मुर्ग में हुई एक लड़ाई में १९ जुलाई* को खेत रहे। उनकी मृत्यु के कारण लीग अपने एक सबसे पुराने, सबसे अधिक सक्रिय तथा सबसे विश्वसनीय सदस्य को खो बैठी, एक ऐसे सदस्य को खो बैठी जो तमाम कांग्रेसों तथा केन्द्रीय समितियों में सक्रिय रहा और जिसने उससे भी पहले कई मिशन बहुत सफलतापूर्वक पूरे किये थे। जुलाई १८४९ में जर्मनी तथा फ्रांस में क्रान्तिकारी पार्टियों की पराजय के बाद केन्द्रीय समिति के लगभग तमाम सदस्य फिर लन्दन में एकत्र हुए, उन्होंने नयी क्रान्तिकारी शक्तियों को लेकर अपनी संख्या बढ़ायी तथा वे नये जोश के साथ लीग के पुनर्गठन के काम में जुट गये।

पुनर्गठन का कार्य केवल एक दूत ही कर सकता है तथा केन्द्रीय समिति इस बात को अतीव महत्वपूर्ण मानती है कि दूत ठीक ऐसे समय रवाना हो जब एक नयी क्रान्ति सामने है, जब इस कारण मजदूरों की पार्टी को – अगर वह यह नहीं चाहती कि १८४८ की तरह पूंजीपति फिर से उसका दुरुपयोग करें तथा उसकी नकेल पकड़कर उसे घसीटें – सर्वाधिक संगठित ढंग से, सर्वाधिक मतैक्य के साथ तथा स्वतंत्र ढंग से काम करना चाहिए।

भाइयो, हमने आपसे १८४८ में ही कह दिया था कि जर्मन उदारपंथी पूंजीपति वर्ग बहुत जल्द सत्तारूढ़ होगा और अपनी नवप्राप्त सत्ता को मजदूरों के विरुद्ध लक्षित करेगा। आपने देख लिया है कि यह किस तरह पूरा हुआ है। वस्तुतः यह पूंजीपति वर्ग ही था जिसने १८४८ के मार्च आन्दोलन के फ़ौरन बाद राजकीय सत्ता अपने हाथों में ली थी तथा उसे मजदूरों को, संघर्ष में अपने पुराने साथियों को, उनकी पहले की उत्पीड़ित स्थिति में पहुंचाने के लिए इस्तेमाल किया था। यद्यपि पूंजीपति वर्ग सामन्ती पार्टी के साथ, जिसे मार्च में अपदस्थ कर दिया गया था, ऐक्यबद्ध हुए बिना, यही नहीं इस सामन्ती

---

*यहां एक गलती है। यह "२९ जून" पढ़ा जाना चाहिए। – सं०

राजतंत्रवादी पार्टी को अन्ततः फिर से सत्ता सौंपे बिना यह काम सम्पन्न नहीं कर सकता था, फिर भी उसने ऐसी अवस्थाएं हासिल कर ली हैं जो सरकार के वित्तीय संकट के कारण अन्ततोगत्वा सत्ता को उसके हाथों में सौंप देंगी तथा उसके हितों की रक्षा करेंगी, बशर्ते क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए इसी समय तथाकथित शान्तिपूर्ण विकास का रूप ग्रहण करना सम्भव हो। पूंजीपति वर्ग को अपने शासन की रक्षा कर सकने के लिए जनता के विरुद्ध उग्र पग उठाने की, जो उसे घृणित बनायेंगे, जरूरत तक नहीं पड़ेगी क्योंकि सामन्ती प्रतिक्रान्ति में ऐसी तमाम उग्र पग उठाये जा चुके हैं। परन्तु घटनाएं यह शान्तिपूर्ण रास्ता नहीं अपनायेंगी। उसके विपरीत क्रान्ति तो – उसे चाहे फ्रांसीसी सर्वहारा वर्ग का स्वतंत्र विप्लव प्रस्तुत करे अथवा क्रान्तिकारी बाबेल[81] के विरुद्ध पुनीत संघ[82] का धावा – सामने उपस्थित है जो इन घटनाओं की रफ़्तार को तेज करेगी।

और इस भूमिका को, सरासर गद्दारीभरी इस भूमिका को, जो १८४८ में जर्मन उदारपंथी पूंजीपति वर्ग ने जनता के विरुद्ध अदा की थी, आसन्न क्रान्ति में जनवादी निम्नपूंजीपति वर्ग अपनायेगा जिसने इस समय विपक्ष में वही स्थिति ग्रहण की है जो १८४८ से पहले उदारपंथी पूंजीपति वर्ग की थी। इस पार्टी, जनवादी पार्टी में, जो मज़दूरों के लिए पूर्ववर्ती उदारपंथी पार्टी से अधिक ख़तरनाक है, तीन तत्व हैं –

१. बड़े पूंजीपति वर्ग के सबसे अग्रणी हिस्से, जो सामन्तवाद तथा निरंकुशवाद का तख़्ता तुरन्त पूरी तरह उलटने की लक्ष्य-सिद्धि में जुटे रहते हैं। इस धड़े का प्रतिनिधित्व करते हैं एक ज़माने के बर्लिन-समझौतापरस्त, करों का प्रतिरोध करनेवाले लोग।

२. जनवादी संवैधानिक निम्नपूंजीपति, जिनका पिछले आन्दोलन के दौरान मुख्य ध्येय कमोबेश जनवादी संघात्मक राज्य की उस रूप में स्थापना करना था, जिस रूप में उनके प्रतिनिधियों, फ्रैंकफ़ुर्ट विधान सभा के वामपंथियों, और बाद में स्टुटगर्ट संसद तथा राइख़ संविधान के लिए आन्दोलन के दौरान स्वयं उन्होंने उसे हासिल करने के लिए प्रयास किया था।[83]

३. जनतंत्रीय निम्नपूंजीपति जिनका आदर्श स्विट्ज़रलैंड की तरह का एक जर्मन संघात्मक जनतंत्र है और जो अब अपने को "लाल" तथा "सामाजिक-जनवादी" इसलिए कहते हैं कि वे छोटी पूंजी पर बड़ी पूंजी का, छोटे पूंजीपति वर्ग पर बड़े पूंजीपति वर्ग का दबाव ख़त्म करने की सदिच्छा को मन में संजोये

रहते हैं। इस धड़े के लोग जनवादी कांग्रेसों तथा समितियों के सदस्य, जनवादी संस्थाओं के नेता तथा जनवादी अख़बारों के सम्पादक थे।

अब ये तमाम धड़े अपनी पराजय के बाद अपने को "जनतंत्रवादी" या "लाल" कहते हैं, ठीक उसी तरह जिस तरह फ़्रांस में जनतंत्रवादी निम्नपूंजीपति अब अपने को समाजवादी कहते हैं। व्युर्टेम्बर्ग, बवारिया आदि की तरह उन्हें जहां अपने लक्ष्यों की संवैधानिक ढंग से पूर्ति करने का अब भी मौक़ा मिलता है, वहां वे इस मौक़े का उपयोग अपने पुराने शब्दजालों को बरक़रार रखने तथा अपने कामों से यह सिद्ध करने के लिए करते हैं कि वे लेशमात्र नहीं बदले हैं। वैसे तो यह भी स्पष्ट है कि इस पार्टी का बदला हुआ नाम मजदूरों के प्रति उसके रुख़ में ज़रा भी अन्तर नहीं लाता, यह तो केवल यही सिद्ध करता है कि वह अब पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध, जो राजतंत्रवाद से ऐक्यबद्ध है, खड़े होने तथा सर्वहारा का समर्थन हासिल करने के लिए विवश है।

जर्मनी में निम्नपूंजीवादी जनवादी पार्टी बहुत सशक्त है; उसमें केवल नगरों के पूंजीवादी निवासियों की बहुसंख्या, उद्योग तथा व्यापार के छोटे लोग तथा शिल्प-संघों के मालिक ही नहीं हैं; उसके अनुयायियों में तो किसान तथा देहाती सर्वहारा भी उस हद तक शामिल हैं जिस हद तक देहाती सर्वहारा को अभी स्वतंत्र शहरी सर्वहारा का समर्थन प्राप्त नहीं हुआ है।

निम्नपूंजीवादी जनवादियों के साथ क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी का सम्बन्ध इस प्रकार है—वह उनके साथ उस धड़े के ख़िलाफ़ मिलकर चलती है जिसे उलटना उसका लक्ष्य है, वह हर उस चीज़ के मामले में उनका विरोध करती है जिसकी मदद से वे अपने हितार्थ अपनी स्थिति मज़बूत बनाने का प्रयास करते हैं।

क्रान्तिकारी सर्वहाराओं के हित में पूरे समाज में क्रान्ति करने की इच्छा रखना तो रहा बहुत दूर, जनवादी निम्नपूंजीपति लोग इसके विपरीत सामाजिक परिस्थितियों में ऐसे परिवर्तन लाने का प्रयास करते हैं जिनकी मदद से मौजूदा समाज को उनके लिए यथासम्भव सहनीय तथा सुविधाजनक बनाया जा सके। इस कारण वे नौकरशाही में कटौती कर तथा मुख्य करों के भार को बड़े ज़मींदारों तथा पूंजीपति वर्ग के कंधों पर स्थानांतरित कर सर्वोपरि राजकीय व्यय में कमी करने की मांग करते हैं। इसके अलावा वे राजकीय ऋण संस्थानों के ज़रिए तथा सूदख़ोरों के ख़िलाफ़ क़ानूनों के ज़रिए छोटी पूंजी पर बड़ी पूंजी का दबाव ख़त्म करने की मांग करते हैं, जिससे उनके तथा किसानों के लिए

पूंजीपतियों की जगह राज्य से अनुकूल शर्तों पर उधार प्राप्त करना सम्भव होगा, वे यह मांग भी करते हैं कि सामन्तवाद को पूरी तरह मिटाकर देहात में पूंजीवादी स्वामित्व-सम्बन्ध स्थापित किये जायें। यह सब हासिल करने के लिए उन्हें एक ऐसी जनवादी व्यवस्था की – संवैधानिक अथवा जनतंत्रीय – आवश्यकता पड़ती है जो उन्हें तथा उनके साथियों को – किसानों को – बहुमत दिलाये; साथ ही उन्हें एक जनवादी सामुदायिक ढांचे की भी जरूरत पड़ती है जो उन्हें सामुदायिक सम्पत्ति पर तथा नौकरशाहों द्वारा इस समय किये जा रहे अनेक कार्यों पर प्रत्यक्ष नियंत्रण दिलाये।

इसके अलावा वे मानते हैं कि अंशत: उत्तराधिकार को सीमित कर तथा अंशत: यथासम्भव अधिकाधिक काम राज्य के हवाले कर पूंजी के प्रभुत्व तथा उसकी द्रुत बढ़ोतरी की रोकथाम की जानी चाहिये। जहां तक मजदूरों का ताल्लुक है, यही तो सर्वोपरि निश्चित रहता है कि उन्हें पहले की तरह उजरत पर काम करनेवाले मजदूर बना रहना है; जनवादी निम्नपूंजीपति मजदूरों के लिए केवल बेहतर मजूरी तथा अधिक सुरक्षित जीवन-निर्वाह की कामना करते हैं और राज्य द्वारा आंशिक रोजगार दिये जाने तथा ख़ैरात के माध्यम से इसे हासिल करने की उम्मीद बांधते हैं; संक्षेप में वे यह उम्मीद करते हैं कि वे न्यूनाधिक रूप से प्रच्छन्न दान देकर मजदूरों का मुंह बन्द कर सकते हैं तथा फ़िलहाल उनकी स्थिति को सहनीय बनाकर उनकी क्रान्तिकारी क्षमता को भंग कर सकते हैं। निम्नपूंजीवादी जनवाद की जिन मांगों का यहां सारांश दिया गया है, उन्हें उसके सारे धड़े एक साथ पेश नहीं करते, और उनमें से केवल चन्द सदस्य ही यह मानते हैं कि ये मांगें समग्र रूप में निश्चित लक्ष्य हैं। उनमें से पृथक-पृथक सदस्य या धड़े जितना आगे बढ़ते हैं, इनमें से उतनी ही ज्यादा मांगों को वे अपनी मांगें बनाते हैं, और वे चन्द लोग, जो उस चीज़ में, जिसकी रूपरेखा ऊपर दी गयी है, अपना कार्यक्रम देखते हैं, यह मान सकते हैं कि क्रान्ति से जो अधिकतम अपेक्षा की जा सकती है, उसे उन्होंने प्रस्तुत कर दिया है। परन्तु ये मांगें सर्वहारा की पार्टी के लिए पर्याप्त नहीं हो सकतीं। जनवादी निम्नपूंजीपति वर्ग जहां यथाशीघ्र तथा हद से हद उपरिलिखित मांगों की पूर्ति के साथ क्रान्ति का समापन करना चाहते हैं, वहां हमारे हित तथा हमारे कार्यभार इस बात में निहित हैं कि जब तक कमोबेश तमाम सम्पत्तिधारी वर्गों को उनकी आधिपत्यकारी स्थिति से बाहर नहीं धकेल दिया जाता, जब तक सर्वहारा वर्ग राजकीय सत्ता हासिल नहीं कर लेता, एक ही देश में नहीं वरन्

दुनिया के समस्त प्रभुत्वशाली देशों में सर्वहाराओं का साहचर्य जब तक इतना आगे नहीं बढ़ जाता कि इन देशों के सर्वहाराओं के बीच प्रतियोगिता बन्द हो जाये तथा कम से कम निर्णायक उत्पादक शक्तियां सर्वहाराओं के हाथों में केन्द्रित हो जायें, तब तक हम क्रान्ति को स्थायी बनायें। हमारे लिए मसला यह नहीं हो सकता कि निजी स्वामित्व में रद्दोबदल हो बल्कि केवल यह है कि उसका ख़ात्मा हो, मसला वर्ग वैरभावों को नरम बनाने का नहीं वरन् वर्गों को मिटाने का है, मौजूदा समाज के सुधार का नहीं वरन् एक नये समाज की स्थापना का है। इसमें सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं है कि क्रान्ति के और विकास के दौरान निम्नपूंजीवादी जनवाद जर्मनी में कुछ देर के लिए प्रभुत्वपूर्ण स्थिति ग्रहण करेगा। इसलिए प्रश्न यह है कि सर्वहारा वर्ग तथा विशेष रूप से लीग का इसके सम्बन्ध में क्या रुख़ होगा :

१. वर्तमान अवस्थाओं के जारी रहने के दौरान जब निम्नपूंजीवादी जनवादी भी उसी तरह उत्पीड़ित हैं;

२. आगामी क्रान्तिकारी संघर्ष के दौरान जब उनका पलड़ा भारी होगा;

३. इस संघर्ष के बाद, उलट दिये जानेवाले वर्गों तथा सर्वहारा वर्ग पर प्रभुत्व की अवधि के दौरान।

१. इस समय जबकि जनवादी निम्नपूंजीपति सब जगह पीड़ित हैं, वे सर्वहारा वर्ग के सामने आम तौर पर एकता तथा मेल-मिलाप का प्रतिपादन करते हैं, वे उसकी ओर अपना हाथ बढ़ाते हैं और एक ऐसी बड़ी विपक्षीय पार्टी की स्थापना करने के लिए प्रयत्न करते हैं जो सब क़िस्म की रायों को जनवादी पार्टी की परिधि में ले आयेगी, अर्थात् वे मज़दूरों को एक ऐसे दलीय संगठन में फंसाना चाहते हैं जिसमें आम सामाजिक-जनवादी शब्दजाल का बोलबाला है, जिसके पीछे उनके विशेष हित छुपे हुए हैं और जिसमें प्रिय शान्ति की ख़ातिर सर्वहाराओं की विशेष मांगें सामने नहीं रखी जानी चाहिये। इस तरह की ऐक्यबद्धता मात्र उनके लिए लाभदायक और सर्वहारा के लिए पूरी तरह अलाभदायक सिद्ध होगी। सर्वहारा अपनी पूरी स्वतंत्रता, परिश्रमपूर्वक हासिल की गयी स्थिति खो बैठेगा तथा एक बार फिर आधिकारिक पूंजीवादी जनवाद का पुच्छल्ला बनकर रह जायेगा। इसलिए इस ऐक्यबद्धता को बिल्कुल निर्णायक ढंग से ठुकरा दिया जाना चाहिये। पूंजीवादी जनवादियों का गुणगान करनेवाली मंडली की स्थिति में फिर से धंसने के बजाय सर्वहारा वर्ग को, सर्वोपरि लीग को अधिकृत जनवादियों के साथ-साथ मज़दूर पार्टी के स्वतंत्र, गुप्त तथा खुले

संगठन की स्थापना करने के लिए ज़ोर लगाना चाहिए और उसके हर हिस्से को मज़दूरों की सोसायटियों का केन्द्र-बिन्दु, नाभिक बना देना चाहिये जिनमें सर्वहारा वर्ग के रुख़ तथा उसके हितों पर पूंजीवादी प्रभावों से स्वतंत्र रहकर विचार किया जायेगा। पूंजीवादी जनवादी लोग ऐसी ऐक्यबद्धता की, जिसमें सर्वहारा वर्ग समान शक्ति तथा समान अधिकार लेकर उनके साथ खड़ा हो, बात संजीदगी के साथ सोचने से कितनी दूर हैं, इसे उदाहरण के लिए ब्रेस्लाउ के जनवादी प्रदर्शित कर देते हैं, वे अपने अख़बार *«Neue Oder-Zeitung»*[84] में स्वतंत्र रूप से संगठित मज़दूरों पर, जिन्हें वे समाजवादियों का नाम देते हैं, प्रचण्ड प्रहार करते हैं। यदि मामला समान विरोधी के ख़िलाफ़ संघर्ष का हो तो किसी विशेष ऐक्यबद्धता की आवश्यकता नहीं पड़ती। ज्योंही इस प्रकार के विरोधी से सीधे टक्कर लेनी होती है, दोनों पार्टियों के हित कुछ समय के लिए एक-दूसरे से मेल खाते हैं, और पहले की तरह भविष्य में भी ऐसा सम्बन्ध कुछ समय के लिए ही अपने-आप उत्पन्न हो जाता है। यह स्वतःस्पष्ट है कि तमाम पूर्ववर्ती संघर्षों की तरह आसन्न रक्तपातपूर्ण संघर्षों में भी मज़दूर ही वे लोग हैं जिन्हें मुख्यतया अपने साहस, संकल्प तथा आत्म-बलिदान से लड़ाई जीतनी होगी। पहले की ही तरह इस संघर्ष में भी निम्नपूंजीवादी जनसमुदाय जब तक सम्भव होगा, हिचकिचाता रहेगा, अस्थिरचित्त तथा निष्क्रिय रहेगा, और फिर मसला तय होने के फ़ौरन बाद विजय का उपयोग अपने लिए करेगा, मज़दूरों से कहेगा कि वे अमन-चैन क़ायम रखें और काम पर लौट जायें, वह चौकस रहेगा कि तथाकथित ज़्यादतियां न होने पायें। वह सर्वहारा वर्ग के रास्ते में खड़ा होकर उसे विजय के फलों का रसास्वादन नहीं करने देगा। निम्नपूंजीवादी जनवादियों को इससे रोकना मज़दूरों की ताक़त के बाहर की चीज़ है, लेकिन मज़दूर उनके लिए सशस्त्र सर्वहारा वर्ग के ख़िलाफ़ अपना पलड़ा भारी बनाना यक़ीनन कठिन बना सकते हैं, और उन पर ऐसी शर्तें लाद सकते हैं कि पूंजीवादी जनवादियों के शासन में शुरू से ही उनके पतन के बीज मौजूद रहें, और सर्वहारा वर्ग के शासन द्वारा कालान्तर में उन्हें बाहर खदेड़ना काफ़ी हद तक सुगम हो सके। मज़दूरों को सर्वोपरि संघर्ष के दौरान तथा संघर्ष के फ़ौरन बाद तूफ़ान को शान्त करने के पूंजीवादी प्रयासों को, जितना भी सम्भव हो सके, विफल बनाना चाहिये तथा जनवादियों को अपने मौजूदा आतंकवादी शब्दजाल को अमल में लाने के लिए मजबूर करना चाहिए। उनकी कार्रवाइयां इस पर लक्षित होनी चाहिए कि विजय के तुरन्त बाद प्रत्यक्ष क्रान्तिकारी उत्साह को फिर से न दबाया

जा सके। इसके विपरीत उन्हें इसे, जब तक सम्भव हो, जीवित रखना चाहिए। तथाकथित ज्यादतियों का विरोध करना तो रहा दूर, घृणित व्यक्तियों अथवा सार्वजनिक इमारतों से, जो केवल घृणोत्पादक स्मृतियों से जुड़ी हुई होती हैं, जन-प्रतिशोध की मिसालों को केवल सहन ही नहीं किया जाना चाहिए वरन् उनके नेतृत्व की बागडोर भी अपने हाथों में ले ली जानी चाहिए। संघर्ष के दौरान तथा संघर्ष के बाद मजदूरों को हर मौक़े पर पूंजीवादी जनवादियों की मांगों के साथ अपनी मांगें भी प्रस्तुत करनी चाहिए। पूंजीवादी जनवादी लोग ज्योंही सरकार सम्भालने के काम में जुट जाते हैं, उनसे मजदूरों के लिए गारंटियां मांगनी चाहिए। यदि आवश्यक हो तो उन्हें बल-प्रयोग से ये गारंटियां हासिल करनी चाहिए और आम तौर पर उन्हें निश्चित रूप से यह देखना चाहिए कि नये शासक सब सम्भव रियायतें तथा वचन देने के लिए संकल्पबद्ध हों। उन्हें बांधने का यह सबसे सुनिश्चित तरीक़ा है। आम तौर पर उन्हें स्थिर भाव तथा आवेगशून्य होकर स्थिति का लेखा लेते हुए, और नयी सरकार में अप्रच्छन्न अविश्वास रखते हुए विजय के उन्माद पर तथा नये हालात के प्रति उत्साह पर, जो सड़क पर होनेवाली हर विजयपूर्ण लड़ाई के बाद हमेशा प्रकट होते हैं, हर तरीक़े से जहां तक सम्भव हो सके, अंकुश लगाना चाहिए। नयी आधिकारिक सरकारों के साथ-साथ उन्हें भी अपनी ही क्रान्तिकारी मजदूर सरकारों की स्थापना करनी चाहिए – वे चाहे म्युनिसिपल समितियों और म्युनिसिपल परिषदों के रूप में हों अथवा मज़दूर क्लबों या मजदूर समितियों के रूप में – ताकि पूंजीवादी-जनवादी सरकारें तत्काल मज़दूरों का समर्थन ही न खोयें बल्कि आरम्भ से ही देखें कि उनकी ऐसे अधिकारी निगरानी कर रहे हैं और उनके लिए ख़तरा बने हुए हैं जिनका मज़दूरों का पूरा समुदाय समर्थन कर रहा है। संक्षेप में विजय के प्रथम क्षण से ही अविश्वास विजित प्रतिक्रियावादी पक्ष के विरुद्ध नहीं अपितु मज़दूरों के पूर्ववर्ती साथियों के विरुद्ध, उस पार्टी के विरुद्ध लक्षित होना चाहिए जो समान विजय का केवल अपने लाभार्थ उपयोग करना चाहता है।

२. परन्तु इस पार्टी का, जिसकी मज़दूरों से ग़द्दारी विजय की पहली घड़ी से ही आरम्भ हो जायेगी, उत्साहपूर्वक तथा भयोत्पादक ढंग से विरोध कर सकने के लिए मज़दूरों को हथियारबन्द तथा संगठित होना चाहिए। पूरे सर्वहारा वर्ग को राइफ़लों, बन्दूक़ों, तोपों और बारूद से लैस करने का काम फ़ौरन शुरू होना चाहिए, मज़दूरों के विरुद्ध पुराने नागरिक गार्डों का फिर से गठन का विरोध किया जाना चाहिए। लेकिन जहां यह सम्भव न हो, वहां मज़दूरों को

सर्वहारा गार्ड के रूप में अपने को संगठित करना चाहिए, उन्हें अपने पास ऐसे कमांडर रखने चाहिए जो स्वयं उन द्वारा चुने हुए हों तथा उनके पास ऐसा जनरल स्टाफ़ होना चाहिए जो उनकी पसंद से छांटा गया हो, और उन्हें अपने को राजकीय सत्ता के नहीं वरन् क्रान्तिकारी सामुदायिक परिषदों के, जिन्हें मज़दूर गठित करा लेंगे, सुपुर्द कर देना चाहिए। जहां मज़दूर राज्य के ख़र्च पर काम पर लगे हों, वहां उन्हें यह देखना होगा कि वे हथियारबंद रहें तथा वे अपनी पसंद के कमांडरों से युक्त एक पृथक सैन्य-निकाय में अथवा सर्वहारा गार्ड के अंग के रूप में संगठित हों। हथियारों तथा बारूद को किसी भी बहाने की आड़ में नहीं त्यागा जाना चाहिए; निरस्त्र करने की हर कोशिश को नाकाम बनाया जाना चाहिए, ज़रूरत पड़े तो हथियारों के बल से। मज़दूरों पर पूंजीवादी जनवादियों के प्रभाव को नष्ट करना, तत्काल मज़दूरों का स्वतंत्र तथा सशस्त्र संगठन बनाना तथा पूंजीवादी जनवाद के अनिवार्य अस्थायी शासन के लिए यथासम्भव कठिनाई तथा संकट उत्पन्न करनेवाली परिस्थितियां लागू करना—ये हैं वे ख़ास मुद्दे जिन्हें सर्वहारा तथा इस कारण लीग को आसन्न विप्लव के दौरान तथा उसके बाद ध्यान में रखना होगा।

३. नयी सरकारें ज्योंही अपनी स्थिति कुछ हद तक मज़बूत बना लेंगी, मज़दूरों के ख़िलाफ़ उनका संघर्ष शुरू हो जायेगा। इसलिए जनवादी निम्नपूंजीपति वर्ग का प्रबल विरोध कर सकने के लिए सर्वोपरि यह आवश्यक है कि मज़दूर क्लबों में स्वतंत्र रूप से संगठित हों तथा केन्द्रीकृत हों। मौजूदा सरकारों को उलट चुकने के बाद केन्द्रीय समिति शीघ्रातिशीघ्र जर्मनी पहुंचेगी, तुरन्त कांग्रेस बुलायेगी और आन्दोलन के मुख्य केन्द्र में स्थापित एक निकाय के नेतृत्व के अन्तर्गत मज़दूरों के केन्द्रीकरण के लिए उसके सामने आवश्यक प्रस्ताव प्रस्तुत करेगी। मज़दूरों के क्लबों की कम से कम एक प्रान्तीय शृंखला को तेज़ी से संगठित करने का कार्य मज़दूरों की पार्टी के दृढ़ीकरण तथा विकास के सबसे महत्वपूर्ण मुद्दों में से एक है। मौजूदा सरकारों को उलटने का तात्कालिक परिणाम होगा प्रतिनिधिमूलक राष्ट्रीय परिषद का चुनाव। सर्वहारा वर्ग को देखना होगा कि—

१. स्थानीय अधिकारियों या सरकारी आयुक्तों की ओर से किसी भी बहाने या तिकड़मबाज़ी के कारण मज़दूरों के कोई समूह बाहर न रहें;

२. हर जगह पूंजीवादी-जनवादी उम्मीदवारों के साथ मज़दूरों के उम्मीदवार खड़े हों, जहां तक सम्भव हो उनमें अधिक से अधिक लीग के सदस्य हों, उनके चुनाव को हर सम्भव साधन से बढ़ावा मिले। जिन जगहों में मज़दूरों के चुने

जाने की कोई भी सम्भावना न हो, वहां भी मजदूरों को अपने उम्मीदवार खड़े करने चाहिए ताकि अपनी आज़ादी बरक़रार रखी जा सके, अपनी शक्तियों की गणना की जा सके तथा अपनी क्रान्तिकारी स्थिति और पार्टी का दृष्टिकोण जनता के सामने प्रस्तुत किया जा सके। इस सिलसिले में उन्हें जनवादियों के तर्कों के, उदाहरणस्वरूप ऐसे तर्कों के बहकावे में नहीं आना चाहिये कि इस तरह के काम से वे जनवादी पार्टी को विभाजित कर रहे हैं, और इस तरह प्रतिक्रियावादियों के लिए विजय प्राप्त करना सम्भव बना रहे हैं। ऐसे सारे शब्दजालों का वास्तविक इरादा सर्वहारा की आंखों में धूल झोंकना होता है। इस तरह की स्वतंत्र कार्रवाई से सर्वहारा पार्टी निश्चित रूप से जो अग्रगति हासिल करती है, वह उस हानि से असीम रूप से अधिक महत्वपूर्ण है जो प्रतिनिधिमूलक निकाय में चन्द प्रतिक्रियावादियों की मौजूदगी से हो सकती है। यदि जनवाद आरम्भ से ही प्रतिक्रियावाद के विरुद्ध दृढ़तापूर्वक तथा आतंकपूर्ण ढंग से मैदान में उतरे तो प्रतिक्रियावाद का प्रभाव पहले ही नष्ट हो जायेगा।

पूंजीवादी जनवादियों की मज़दूरों से सबसे पहले टक्कर सामन्तवाद के उन्मूलन को लेकर होगी। प्रथम फ़्रांसीसी क्रान्ति की भांति निम्नपूंजीपति वर्ग किसानों को सामन्ती भूमि स्वतंत्र सम्पत्ति के रूप में दे देगा, कहने का मतलब यह है कि वह देहाती सर्वहारा का अस्तित्व बने रहने देगा तथा निम्नपूंजीवादी कृषक वर्ग का गठन करेगा जो दरिद्रता तथा ऋणग्रस्तता के उसी दौर के बीच से गुजरेगा जिसके बीच से फ़्रांसीसी किसान आज भी गुज़र रहा है।

मज़दूरों को देहाती सर्वहारा के हितार्थ तथा स्वयं अपने हितार्थ इस योजना का विरोध करना होगा। उन्हें मांग करनी चाहिये कि छीनी गयी सामन्ती भूमि राजकीय भूमि बनी रहे तथा उसे मज़दूरों की ऐसी बस्तियों में परिणत कर दिया जाये जहां संयुक्त देहाती सर्वहारा बड़े पैमाने की कृषि के सारे लाभों के साथ खेती कर सके, जिसके माध्यम से सार्वजनिक सम्पत्ति का सिद्धान्त लड़खड़ाते पूंजीवादी सम्पत्ति-सम्बन्धों के बीच तत्काल सुदृढ़ आधार प्राप्त कर सके। जिस तरह जनवादी लोग किसानों के साथ मिलते हैं, ठीक उसी तरह मज़दूरों को देहाती सर्वहारा के साथ मिलना चाहिए।[85] इसके साथ ही जनवादी या तो सीधे संघात्मक जनतंत्र के लिए काम करेंगे अथवा वे एकल तथा अविभाज्य जनतंत्र से न बच सकने की दशा में कम से कम समुदायों* तथा प्रान्तों के लिए अधिक

* समुदाय (Gemeinde) – इस शब्द का उपयोग यहां व्यापक अर्थ में किया गया है, उसकी परिधि में शहरी म्युनिसिपलिटियां तथा देहाती समुदाय दोनों आते हैं। – सं०

से अधिक सम्भव स्वायत्तता के तथा स्वतंत्रता के माध्यम से केन्द्रीय सरकार को अपंग बनाने की कोशिश जरूर करेंगे। इस योजना के विरोध में मज़दूरों को एकल तथा अविभाज्य जर्मनी के लिए ही नहीं बल्कि इस जनतंत्र में राजकीय शासन के हाथों में सत्ता के सर्वाधिक निश्चित केन्द्रीकरण के लिए भी काम करना चाहिए। उन्हें समुदायों के लिए आज़ादी, स्वशासन आदि के बारे में जनवादियों की बातों के बहकावे से बचना चाहिए। जर्मनी जैसे देश में, जहां मध्य युग के इतने सारे अवशेष मिटाने के लिए बाक़ी हैं, जहां इतनी सारी स्थानीय तथा प्रान्तीय हठधर्मिता को ख़त्म किया जाना है, इस बात के लिए किसी भी सूरत में इजाज़त नहीं दी जानी चाहिए कि हर गांव, हर शहर तथा हर प्रान्त क्रान्तिकारी कार्यकलाप की, जो केवल केन्द्र से ही पूर्ण वेग के साथ अग्रसर हो सकता है, राह में एक नयी बाधा खड़ी कर दे। मौजूदा हालात पुनर्जन्म लें, जर्मन लोग हर शहर तथा हर प्रान्त में एक ही तरह की अग्रगति के लिए पृथक-पृथक रूप से संघर्ष करें, इसे सहन नहीं किया जाना चाहिए। सम्पत्ति के ऐसे रूप को, अर्थात् सामुदायिक सम्पत्ति को, जो आधुनिक निजी सम्पत्ति से भी पिछड़ी हुई है और जो सर्वत्र आधुनिक निजी सम्पत्ति में आवश्यक रूप से जा मिल रही हो, ग़रीब तथा अमीर समुदायों के बीच उसके फलस्वरूप पैदा होनेवाले झगड़ों समेत, मज़दूरों के साथ दगा-फ़रेब करनेवाले सामुदायिक दीवानी क़ानून समेत, जो राजकीय दीवानी क़ानून के साथ-साथ विद्यमान रहता है बरकरार रखा जाना क़तई सहन नहीं किया जाना चाहिए। १७९३ में फ़्रांस की ही तरह जर्मनी में भी आज सही अर्थों में क्रान्तिकारी पार्टी का यह काम है कि वह सबसे कड़ा केन्द्रीकरण सम्पन्न करे।*

---

*आज यह स्मरण करना होगा कि यह लेखांश ग़लतफ़हमी पर आधारित है। उस समय – इतिहास को झुठलानेवाले बोनापार्तपंथियों तथा उदारपंथियों की बदौलत – इस बात को प्रमाणित तथ्य माना जाता था कि फ़्रांसीसी केन्द्रीकृत प्रशासनतंत्र महान क्रान्ति द्वारा प्रचलित किया गया था, और विशेष रूप से यह माना जाता था कि इसे कन्वेंशन ने[86] राजतंत्रवादी तथा संघवादी प्रतिक्रियावाद को परास्त करने के लिए एक अपरिहार्य तथा निर्णायक अस्त्र के रूप में इस्तेमाल किया था। परन्तु अब यह एक सुविदित तथ्य है कि अठारहवीं ब्रूमेर[87] तक पूरी क्रान्ति के दौरान प्रांतों, ज़िलों तथा समुदायों के पूरे प्रशासन में ऐसे लोग थे जिन्हें सम्बन्धित निर्वाचकों ने स्वयं चुना था तथा ये अधिकारी आम राजकीय क़ानूनों के अन्तर्गत पूरी आज़ादी के साथ काम करते थे; कि यही प्रान्तीय तथा

हम देख चुके हैं कि जनवादी अगले आन्दोलन में कैसे सत्तारूढ़ होंगे, कैसे वे कमोवेश समाजवादी पग प्रस्तावित करने के लिए विवश होंगे। यह पूछा जा सकता है कि मज़दूरों को जवाब में क्या प्रस्ताव करना चाहिए। निस्सन्देह आन्दोलन के आरम्भ में मज़दूर अभी प्रत्यक्ष रूप से कम्युनिस्ट ढंग के पगों का प्रस्ताव नहीं कर सकते। परन्तु वे ये काम कर सकते हैं–

१. जनवादियों को मौजूदा सामाजिक व्यवस्था के यथासम्भव अधिक से अधिक क्षेत्रों में हस्तक्षेप करने, उसके नियमित प्रवाह को भंग करने, अपने को संकट में डालने, साथ ही अधिकतम उत्पादक शक्तियों, परिवहन के साधनों, फ़ैक्टरियों, रेलों आदि को राज्य के हाथों में संकेन्द्रित करने के लिए विवश करना;

२. उन्हें जनवादियों के प्रस्तावों को, जो निश्चय ही क्रान्तिकारी ढंग से नहीं वरन् केवल सुधारवादी ढंग के होंगे, चरम बिन्दु पर पहुंचाना चाहिए तथा उन्हें निजी स्वामित्व पर प्रत्यक्ष प्रहारों में बदलना चाहिए; इस तरह, उदाहरण के लिए, निम्नपूंजीपति यदि रेलों तथा फ़ैक्टरियों को ख़रीदने का प्रस्ताव करते हैं तो मज़दूरों को मांग करनी चाहिये कि ये रेलें तथा फ़ैक्टरियां चूंकि प्रतिक्रियावादियों की सम्पत्ति हैं, अतः उन्हें राज्य बिना मुआविज़ा दिये केवल छीन डाले। यदि जनवादी आनुपातिक कर लगाने का प्रस्ताव करते हैं तो मज़दूरों को वर्धमान करों की मांग करनी चाहिए; यदि जनवादी स्वयं साधारण वर्धमान कर लागू करते हैं तो मज़दूरों को ऐसे कर की मांग करनी चाहिए जिसकी दरें इतनी ज्यादा हों कि बड़ी पूंजी उससे बरबाद हो जाये; यदि जनवादी राजकीय ऋणों के नियमन की मांग करते हैं तो मज़दूरों को राजकीय दिवालियेपन की

स्थानीय स्वशासन, जो अमरीकी स्वशासन जैसा था, क्रान्ति का सबसे शक्तिशाली उत्तोलक बन गया था और वह वस्तुतः इस हद तक शक्तिशाली उत्तोलक बन गया था कि नेपोलियन अठारहवीं ब्रूमेर के coup d'état के फ़ौरन बाद जल्दी-जल्दी उसकी जगह पर प्रीफ़ेक्टों का शासन ले आया जो अब भी मौजूद है तथा इस कारण जो शुरू से ही प्रतिक्रियावाद का विशुद्ध हथियार रहा है। परन्तु स्थानीय तथा प्रान्तीय स्वशासन का राजनीतिक, राष्ट्रीय केन्द्रीकरण से जितना कम अन्तर्विरोध होता है, उतनी ही कम मात्रा में वह आवश्यक रूप से उस संकीर्ण मनोवृत्ति, प्रादेशिकता अथवा सामुदायिक स्वार्थपरायणता से जुड़ा हुआ होता है जो हमें स्विट्ज़रलैंड में इतने वीभत्स रूप में दिखायी देता है और जिसे दक्षिण जर्मनी के सारे संघात्मक जनतंत्रवादी १८४६ में जर्मनी में एक आम चीज़ बनाना चाहते थे। (**१८८५ के संस्करण के लिए एंगेल्स की टिप्पणी।**)

घोषणा की मांग करनी चाहिए। इस तरह मज़दूरों की मांगें सर्वत्र जनवादियों की रियायतों तथा पगों के हिसाब से निर्धारित होनी चाहिए।

यदि जर्मन मज़दूर पूरी तरह एक लम्बे क्रान्तिकारी विकास के बीच से गुज़रे बिना सत्ता हासिल नहीं कर सकते तथा अपने वर्ग हितों की पूर्ति नहीं कर सकते तो उन्हें इस बार कम से कम इतना तो पक्के तौर पर मालूम होना चाहिए कि पास आ रहे इस क्रान्तिकारी नाटक का पहला अंक फ़्रांस में उनके अपने ही वर्ग की विजय के साथ मेल खायेगा तथा उसकी रफ़्तार उससे बहुत अधिक तेज़ हो जायेगी।

परन्तु अपनी अन्तिम विजय के लिए उन्हें स्वयं अधिकतम काम करना होगा, इसके लिए उन्हें अपने दिमाग़ में यह चीज़ साफ़ कर लेनी होगी कि उनके वर्ग हित क्या हैं, इसके लिए उन्हें शीघ्रातिशीघ्र एक स्वतंत्र पार्टी के रूप में अपनी स्थिति ग्रहण करनी होगी, इसके लिए उन्हें एक क्षण के लिए भी जनवादी निम्नपूंजीपतियों के ऐसे पाखण्डपूर्ण शब्दजाल के बहकावे में नहीं आना चाहिए जो उन्हें सर्वहारा का स्वतंत्र संगठन बनाने से रोके। उनका युद्धनाद हो, "क्रान्ति स्थायी हो!"

लन्दन, मार्च १८५०

१८५० में पुस्तिका के रूप में वितरित।

मार्क्स की कृति «*Enthüllungen über den Kommunisten-Prozeß zu Köln*», 1855 के परिशिष्टों में एंगेल्स द्वारा प्रकाशित।

अंग्रेज़ी से अनूदित।

कार्ल मार्क्स

फ़्रांस में वर्ग-संघर्ष १८४८ – १८५०[88]

१८९५ के संस्करण की फ़्रे० एंगेल्स की भूमिका[89]

यहां जो कृति पुन:प्रकाशित की जा रही है, वह समकालीन इतिहास के एक खंड की, अपनी भौतिकवादी अवधारणा के द्वारा, विद्यमान आर्थिक परिस्थिति के आधार पर, व्याख्या करने का मार्क्स का प्रथम प्रयास है। 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' में यह सिद्धांत मोटे तौर पर पूरे आधुनिक इतिहास पर लागू किया गया; *«Neue Rheinische Zeitung»* में मार्क्स के और मेरे लेखों में तत्कालीन राजनीतिक घटनाओं की व्याख्या करने में उसका बराबर इस्तेमाल किया गया। दूसरी ओर, यहां, प्रश्न कतिपय वर्षों के बीच के विकासक्रम में – समूचे यूरोप के लिये यह विकास जितना क्रांतिक था उतना ही उपलक्षक – कार्य-कारण के आंतरिक संबंध को प्रत्यक्ष करने का था; फलत: लेखक की अवधारणा के अनुसार प्रश्न राजनीतिक घटनाओं के मूल में पैठकर यह दिखाना था कि वे जिन कारणों के परिणाम हैं, वे अंतत: आर्थिक ही हैं।

यदि घटनाओं का और घटनाओं के सिलसिले का मूल्यांकन समकालीन इतिहास के आधार पर किया जाये, तो **अंतिम** आर्थिक कारणों तक पहुंचना कभी भी संभव नहीं हो सकता। आज भी जब संबंधित विशेषीकृत समाचारपत्र इतनी प्रचुर सामग्री देते हैं, ब्रिटेन तक में उद्योग की और विश्व-बाज़ार में व्यापार की दैनंदिन गतिविधि पर दृष्टि रखना और उत्पादन के तरीक़ों में होनेवाले परिवर्तनों पर इस प्रकार दृष्टि रखना असंभव है कि इन वैविध्यपूर्ण, जटिल और सतत् परिवर्तनशील कारक-तत्त्वों से, और फिर ऐसे कारक-तत्त्वों से, जिनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सहसा विस्फोटित होने से पहले सामान्यत: दीर्घ काल तक गुप्त रूप से कार्य करते रहते हैं, किसी भी क्षण के लिए कोई सामान्य निष्कर्ष निकाले जा सकें। किसी काल के आर्थिक इतिहास का स्पष्ट पर्यावलोकन उसी काल में हरगिज़ नहीं किया जा सकता, वह बाद में ही, जब सामग्री का

संग्रह हो चुका हो और उसकी छानबीन की जा चुकी हो, संभव है। इस क्षेत्र में आंकड़े एक अपरिहार्य सहायक साधन हैं, और वे हमेशा कुछ न कुछ पिछड़े होते हैं। इस कारण समकालीन इतिहास में बहुत अकसर इस सर्वाधिक निर्णायक कारक-तत्त्व को स्थिर और काल विशेष के आरंभ में विद्यमान आर्थिक परिस्थिति को पूरे काल के लिए प्रदत्त और अपरिवर्तनीय मान लेना या इस परिस्थिति में उन्हीं परिवर्तनों पर ध्यान देना ज़रूरी हो जाता है, जो स्वयं सर्वथा प्रत्यक्ष घटनाओं से ही उत्पन्न हुए हैं और इसलिए जो स्वयं उसी तरह सर्वथा प्रत्यक्ष हैं। अतः इस प्रसंग में भौतिकवादी पद्धति को बहुत अक्सर अपने को इस तक ही सीमित रखना पड़ता है कि वह राजनीतिक टकरावों के पीछे आर्थिक विकास से उत्पन्न वर्तमान सामाजिक वर्गों अथवा वर्गांशकों के हितों के संघर्ष को प्रत्यक्ष करे और यह प्रमाणित करे कि विशेष राजनीतिक पार्टियां इन्हीं वर्गों अथवा वर्गांशकों की न्यूनाधिक पर्याप्त अभिव्यक्ति हैं।

यह स्वतःस्पष्ट है कि समस्त परीक्ष्य प्रक्रियाओं के आधार, आर्थिक परिस्थिति के समकालीन परिवर्तनों की यह अनिवार्य उपेक्षा भूलचूक का मूल स्रोत होगी। परन्तु समकालीन इतिहास के विशद प्रस्तुतीकरण की तमाम अवस्थाओं में भूलचूक के मूल स्रोत भी शामिल हैं – लेकिन इस कारण समकालीन इतिहास के बारे में लिखने से कोई विरत नहीं होता।

जिस समय मार्क्स ने यह काम हाथ में लिया, उपरोक्त भूलचूक का स्रोत और भी अधिक अनिवार्य था। १८४८–१८४९ की क्रान्ति के काल में एकसाथ ही हो रहे आर्थिक रूपांतरणों का पूरा पता रखना या उन पर नजर भी रखना एकदम असंभव था। लंदन में निर्वासन के पहले महीनों में, १८४९–१८५० की पतझड़ और जाड़े में यही बात थी। लेकिन मार्क्स ने ठीक उसी काल में इस कृति को आरंभ किया। और इन प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद, फ़ांस में फ़रवरी क्रांति से पहले की आर्थिक परिस्थिति के और बाद के राजनीतिक इतिहास के अपने यथातथ्य ज्ञान की बदौलत उनके लिए घटनाओं का चित्र प्रस्तुत करना संभव हुआ, जिसमें उनके आंतरिक संबंधों का ऐसा प्रत्यक्षीकरण किया गया है, जैसा फिर कभी नहीं किया जा सका, और जो बाद में स्वयं मार्क्स द्वारा लागू की गयी दोहरी कसौटी पर अद्भुत रूप से खरा उतरा है।

पहली कसौटी इस बात का परिणाम थी कि १८५० के वसंत के बाद मार्क्स को एक बार फिर आर्थिक अध्ययन के लिए फ़ुर्सत मिली, और उन्होंने सबसे पहले पिछले दस वर्षों के आर्थिक इतिहास को लिया। इस अध्ययन के फलस्वरूप

उन्होंने अधकचरी सामग्री से अंशतः निगम्य तर्क द्वारा जो निष्कर्ष निकाला था, वह स्वयं तथ्यों के प्रकाश में उनके लिए बिल्कुल स्पष्ट हो गया, अर्थात् यह स्पष्ट हो गया कि १८४७ का विश्व व्यापार संकट ही फ़रवरी और मार्च क्रांतियों का असली जन्मदाता था, और यह कि १८४८ के मध्य से जो औद्योगिक समृद्धि धीरे-धीरे लौट रही थी और जो १८४९ और १८५० में अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गयी, वही हाल में जोर पकड़नेवाली यूरोपीय प्रतिक्रिया की प्राणदायी शक्ति थी। और यह बात निर्णायक थी। जहां पहले तीन लेखों में* (जो «*Neue Rheinische Zeitung. Politisch-ökonomische Revue*»,[90] हैम्बर्ग, १८५० के जनवरी, फ़रवरी और मार्च के अंकों में निकले थे) अभी भी यह आशा व्यक्त की गयी थी कि शीघ्र ही क्रांतिकारी स्फूर्ति का नया उन्मेष होगा, वहीं १८५० की पतझड़ में प्रकाशित अंतिम और दोहरे अंक (मई–अक्तूबर के अंक) के लिए मार्क्स और मेरे द्वारा लिखित ऐतिहासिक समीक्षा में इन भ्रमों के साथ सदा के लिए नाता तोड़ लिया गया: "नयी क्रांति नये संकट के परिणाम के रूप में ही संभव है; पर वह उसी प्रकार अवश्यंभावी है, जिस प्रकार यह संकट।"** परन्तु एकमात्र यही महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करना आवश्यक हुआ। पहले के अध्यायों में दी गयी घटनाओं की व्याख्या में या उनमें स्थापित कार्य-कारण के संबंध-सूत्रों में रंच मात्र भी परिवर्तन करने की आवश्यकता न थी, जैसा कि उपरोक्त समीक्षा में १० मार्च से १८५० की पतझड़ तक घटनाक्रम के वर्णन की क्रमिकता से सिद्ध हो जाता है। अतएव मौजूदा नये संस्करण में मैंने इस क्रमिकता को भी चौथे लेख के रूप में शामिल कर लिया है।

दूसरी कसौटी और भी कड़ी थी। लूई बोनापार्त द्वारा २ दिसंबर १८५१ के सत्ता-अपहरण के बाद, मार्क्स ने फ़रवरी १८४८ से इस घटना तक, जहां क्रांतिकारी काल की तात्कालिक रूप से समाप्ति होती है,—फ़्रांस के इतिहास की नये सिरे से रचना की। ('लूई बोनापार्त की अठारहवीं ब्रूमेर', तीसरा संस्करण, हैम्बर्ग, माइस्सनर, १८८५***।) प्रस्तुत प्रकाशन में वर्णित काल की इस पैंफ़्लेट में पुनः चर्चा की जाती है, हालांकि अधिक संक्षेप से की जाती है। साल भर से ज्यादा बाद हुई निर्णायक घटना के प्रकाश में लिखित इस दूसरे प्रस्तुतीकरण

* देखें, प्रस्तुत खण्ड, पृष्ठ २५३–३५५।

** देखें, प्रस्तुत खण्ड, पृष्ठ ३५६।

*** देखें, प्रस्तुत खण्ड, भाग २।

की तुलना हमारे प्रस्तुतीकरण से कीजिये और आप पायेंगे कि लेखक को शायद ही कुछ बदलने की ज़रूरत पड़ी हो।

इसके अलावा जो चीज़ हमारी कृति को विशेष महत्त्व प्रदान करती है, वह यह कि उसमें पहली बार वह सूत्र व्यक्त किया गया, जिसके द्वारा संसार के सभी देशों की मज़दूर पार्टियां एकमत होकर आर्थिक रूपांतरण की अपनी मांग को सार रूप में उपस्थित करती हैं। यह सूत्र है: समाज द्वारा उत्पादन के साधनों का हस्तगतकरण। दूसरे अध्याय में, "काम करने के अधिकार" के संबंध में, जिसे "सर्वहारा की क्रांतिकारी मांगों को सारांश रूप में प्रस्तुत करनेवाला पहला भोंडा फ़ारमूला" बताया गया है, यह कहा गया है: "परन्तु काम करने के अधिकार के पीछे पूंजी के ऊपर प्रभुत्व है; पूंजी के ऊपर प्रभुत्व के पीछे **उत्पादन के साधनों का हस्तगतकरण**, उनका सम्मिलित मज़दूर वर्ग के अधीन किया जाना और फलत: उजरती श्रम, पूंजी और उनके पारस्परिक संबंधों का उन्मूलन है।"* इस प्रकार पहली बार वह प्रस्थापना सूत्रबद्ध की जाती है, जिसके द्वारा आधुनिक सर्वहारा समाजवाद भिन्न-भिन्न रंगों के सामंती, पूंजीवादी, निम्नपूंजीवादी आदि समाजवाद से और कल्पनावादी तथा स्वत:स्फूर्त सर्वहारा कम्युनिज़्म की "वस्तुओं की साझेदारी" की भ्रांत धारणा से भी – दोनों से उतने ही स्पष्ट रूप में पृथक् किया जाता है। यदि बाद में मार्क्स ने इस सूत्र को अधिक विस्तृत रूप दिया और उसमें विनिमय के साधनों के हस्तगतकरण को भी समाविष्ट किया, तो यह विस्तरण, जो 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' के प्रकाशन के बाद बहरसूरत स्वत:स्पष्ट था, मुख्य प्रस्थापनां के स्वाभाविक परिणाम को ही व्यक्त करता था। हाल में ब्रिटेन के कुछ सुकरातों ने इतना और जोड़ दिया है कि "वितरण के साधनों" को भी समाज के हवाले करना चाहिये। इन महानुभावों के लिए यह बताना कठिन होगा कि उत्पादन तथा विनिमय के साधनों से भिन्न रूप में वितरण के आर्थिक साधन क्या हो सकते हैं; हां, यदि अभिप्राय वितरण के **राजनीतिक** साधनों से – टैक्सों और सैक्सनवाल्द[91] तथा अन्य अनुदानों समेत ग़रीबों की सहायता से – है, तो और बात है। परन्तु, पहले तो यह कि वितरण के ये साधन पहले ही सम्मिलित रूप में समाज के, या तो राज्य के या समुदाय के हाथों में आ चुके हैं, और दूसरे हम ठीक इन्हीं का उन्मूलन चाहते हैं।

* * *

*देखें, प्रस्तुत खण्ड, पृष्ठ २६० – २६१।

जब फ़रवरी क्रांति भड़की, तब जहां तक क्रांतिकारी आंदोलनों की अवस्थाओं और प्रक्रम के बारे में हमारी धारणाओं का प्रश्न था, हम सब के मन पर पहले का ऐतिहासिक अनुभव, विशेषतः फ्रांस का अनुभव छाया हुआ था। वास्तव में १७८९ से पूरा यूरोपीय इतिहास फ्रांस के अनुभव से आच्छन्न रहा था, और अब फिर इसी देश ने आम क्रांतिकारी रद्दोबदल के लिए बिगुल बजाया था। इसलिए यह स्वाभाविक तथा अनिवार्य था कि पेरिस में फ़रवरी १८४८ में घोषित "सामाजिक" क्रांति के, सर्वहारा की क्रांति के स्वरूप तथा प्रक्रम के बारे में हमारी धारणायें १७८९ तथा १८३० के प्राक्-रूपों की स्मृतियों से प्रबल रूप से प्रभावित हों। इसके अलावा जब पेरिस का विद्रोह वियेना, मिलान और बर्लिन के विजयी विद्रोहों में प्रतिध्वनित हुआ; जब ऐन रूस की सरहद तक पूरा यूरोप आंदोलन की लपेट में आ गया; जब इसके बाद जून में पेरिस में सत्ता के लिए सर्वहारा और पूंजीपति वर्ग की पहली लड़ाई लड़ी गयी; जब सभी देशों का पूंजीपति वर्ग स्वयं अपने वर्ग की विजय से इतना दहल गया कि उसने भाग कर राजतंत्रवादी-सामंती प्रतिक्रियावाद का दामन पकड़ा, जिसका तख़्ता अभी हाल में उलटा गया था – तब उस वक़्त की परिस्थितियों में हम इस बात में संदेह न कर सकते थे कि महान् निर्णायक लड़ाई शुरू हो गयी है, कि यह लड़ाई क्रांति के एक ही लंबे, उतार-चढ़ाव वाले काल में लड़नी होगी, पर अंत में उसकी परिणति सर्वहारा की अंतिम विजय में ही हो सकती है।

१८४९ की हारों के बाद, in partibus[92] भावी अस्थायी सरकारों के चतुर्दिक् समूहबद्ध बाज़ारू जनवाद की भ्रांतियों से हम बिल्कुल ही बरी थे। इस कुत्सित जनवाद ने "अत्याचारियों" पर "जनता" की तेज़ और अंततः निर्णायक विजय का भरोसा किया था; हम आशा करते थे कि "अत्याचारियों" के हटाये जाने के बाद स्वयं इस "जनता" के बीच छिपे परस्पर विरोधी तत्त्वों के बीच लंबा संघर्ष होगा। बाज़ारू जनवाद को आशा थी कि क्रांति फिर किसी भी दिन भड़क सकती है; हमने १८५० की पतझड़ में ही ऐलान किया था कि क्रांतिकारी काल का कम से कम **पहला** अध्याय समाप्त हो चुका है और जब तक एक नया विश्व आर्थिक संकट उत्पन्न न हो, तब तक कुछ भी आशा नहीं की जा सकती। यह कहने के लिए हमें क्रांति के प्रति विश्वासघाती घोषित करके बहिष्कृत किया गया और उन्हीं लोगों द्वारा, जिन्होंने बाद में प्रायः निरपवाद रूप से बिस्मार्क के साथ समझौता कर लिया, यानी जहां तक कि बिस्मार्क ने उन्हें इस लायक़ समझा कि उनके साथ समझौता करने की तकलीफ़ गवारा करे।

लेकिन इतिहास ने हमें भी ग़लत साबित किया, उसने यह ज़ाहिर कर दिया कि उस काल का हमारा दृष्टिकोण भी एक भ्रम था। उसने इतना ही नहीं, कुछ और भी किया। उसने उस समय की हमारी ग़लत धारणाओं को ही नहीं मिटाया, उसने उन परिस्थितियों को भी बिल्कुल बदल डाला, जिनमें सर्वहारा को अपना संघर्ष चलाना है। १८४८ के संघर्ष का तरीक़ा आज हर माने में पुराना पड़ गया है और यह बात इस योग्य है कि उसकी इस अवसर पर गहनतर परीक्षा की जाये।

अभी तक जितनी क्रांतियां हुई हैं, उन सब का परिणाम यह हुआ है कि किसी एक ख़ास वर्ग के शासन की जगह दूसरे वर्ग का शासन स्थापित हुआ है; लेकिन अभी तक सभी शासक वर्ग शासित जन-समुदाय की तुलना में अल्पसंख्यक ही रहे हैं। इस प्रकार एक शासक अल्पमत का तख़्ता उलट दिया जाता, उसकी जगह दूसरा अल्पमत राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले लेता और राज्य-संस्थाओं की अपने हितों के अनुरूप पुनर्रचना करता। प्रत्येक अवसर पर यह वही अल्पसंख्यक समूह था, जो आर्थिक विकास की विद्यमान मात्रा की दृष्टि से शासन करने के योग्य था और शासन करने के लिए आहूत था; और ठीक इसी कारण से–तथा केवल इसी कारण से–हुआ यह कि शासित बहुमत ने या तो अल्पमत के हित में क्रांति में भाग लिया या चुपचाप उसे स्वीकार कर लिया। परन्तु यदि हम प्रत्येक मामले में ठोस अंतर्वस्तु पर ध्यान न दें, हम देखते हैं कि इन सभी क्रांतियों का सामान्य रूप यह था कि ये सब अल्पमत की क्रांतियां थीं। बहुमत ने जब उनमें भाग लिया भी, तो उसने जाने या अनजाने अल्पमत के हित में ही लिया; परन्तु इस कारण से या सिर्फ़ बहुमत के निष्क्रिय, प्रतिरोधशून्य दृष्टिकोण के कारण ही, इस अल्पमत ने समस्त जनता के प्रतिनिधि की शक्ल अख़्तियार कर ली।

सामान्यतः पहली महान् सफलता के बाद विजयी अल्पमत दो हिस्सों में बंट जाता–एक हिस्सा उपलब्ध सफलताओं से संतुष्ट होता और दूसरा और आगे जाना चाहता और नयी मांगें पेश करना चाहता, जो कम से कम कुछ हद तक विशाल जन-समुदाय के भी वास्तविक अथवा प्रतीयमान हितों से मेल खाती थीं। विशेष स्थितियों में ये उग्रतर मांगें वास्तव में पूरी करवा ली जातीं, लेकिन ज़्यादातर ऐसा वक़्ती तौर पर ही होता; अधिक नरम पार्टी का पलड़ा फिर भारी हो जाता और पिछली बार की सफलता पूर्णतः या अंशतः गंवा दी जाती और तब पराजित दल या तो चिल्ला चिल्लाकर ग़द्दारी का इलज़ाम लगाता

या अपनी हार को संयोग की बात बताता। लेकिन दरअसल इस मामले में सचाई अधिकांशतः यह होती : पहली विजय की उपलब्धियां अधिक उग्र पार्टी की दूसरी विजय द्वारा ही सुरक्षित होतीं ; यह हो जाने के बाद, और इसके साथ फ़िलहाल जो जरूरी था, वह हो जाने के बाद, उग्रवादी और उनकी उपलब्धियां रंगमंच से फिर ग़ायब हो जाते।

इंगलैंड की सत्रहवीं शताब्दी की महान् क्रांति से लेकर आज तक आधुनिक काल की सभी क्रांतियों में ये विशेषतायें प्रत्यक्ष हुई हैं, और ये प्रत्येक क्रांतिकारी संघर्ष से अभिन्न रूप से संबद्ध दिखायी पड़ी हैं। अपनी मुक्ति के लिए सर्वहारा के संघर्ष पर भी ये लागू मालूम होती थीं, इसलिए और भी कि ठीक १८४८ में उन लोगों की संख्या नगण्य थी, जिन्हें इस बात का कोई अंदाज़ था कि किस दिशा में चलकर यह मुक्ति पायी जा सकती है। कौनसा रास्ता अख़्तियार करना चाहिये, इसके बारे में पेरिस तक में विजय के पश्चात् सर्वहारा जन-समुदाय घोर अंधकार में थे। और फिर भी आंदोलन चल रहा था – सहज प्रेरणात्मक, स्वतःस्फूर्त और अदमनीय। क्या ठीक यही वह परिस्थिति न थी, जिसमें क्रांति को सफल होना था, जिसका नेतृत्व बेशक अल्पमत ही कर रहा था, परंतु इस बार अल्पमत के हित में नहीं, बल्कि सचमुच बहुमत के हित में कर रहा था? यदि सभी दीर्घतर क्रांतिकारी कालों में अग्रधर्षी अल्पमत के झूठे पर ऊपर से युक्तिसंगत दिखायी देनेवाले दावों द्वारा विशाल जन-समुदायों का समर्थन प्राप्त करना इतना सहज था, तो ये समुदाय उन विचारों के प्रति कम ग्रहणशील क्यों हों, जो उनकी आर्थिक अवस्था के सच्चे प्रतिबिंब हैं, जो और कुछ नहीं, उनकी आवश्यकताओं की, उन आवश्यकताओं की स्पष्ट, युक्तिसंगत अभिव्यक्ति हैं, जिन्हें उन्होंने अभी तक समझा नहीं है, बल्कि जिनका धुंधला-धुंधला एहसास ही किया है? इसमें संदेह नहीं कि जनसाधारण की यह क्रांतिकारी भावदशा प्रायः सदा ही और बड़ी तेज़ी से, भ्रम के दूर होते और निराशा के घिर आते ही, भाव-शैथिल्य में या जुगुप्सा तक में बदल जाती थी। परन्तु यहां सवाल झूठे दावों का न था, बल्कि स्वयं इस विशाल बहुमत के उच्चतम विशिष्ट हितों को कार्यरूप देने का था; यह सच है कि उस समय ये हित इस विशाल बहुमत के लिए कदापि स्पष्ट न थे, परन्तु शीघ्र ही व्यावहारिक रूप देने के सिलसिले में उन्हें स्पष्ट तो हो ही जाना था, क्योंकि वे इतने उजागर थे कि उनपर सहज ही विश्वास हो जाता। और जब, जैसा कि मार्क्स ने १८५० के बसंत में अपने तीसरे लेख में दिखाया, १८४८ की "सामाजिक" क्रांति से उत्पन्न हुए पूंजीवादी

जनतंत्र के विकास के फलस्वरूप वास्तविक सत्ता बड़े पूंजीपति वर्ग के हाथों में – और वह भी राजतंत्र की ओर रुझान रखनेवाले बड़े पूंजीपति वर्ग के हाथों में केन्द्रीभूत हो गयी, और दूसरी ओर समाज के अन्य सभी वर्ग – किसान और निम्नपूंजीवादी भी – सर्वहारा के इर्दगिर्द जमा हो गये, जिससे कि सम्मिलित विजय के दौरान और उसके बाद ये वर्ग नहीं, अपितु अपने अनुभव से सीखा और संभला हुआ सर्वहारा ही निर्णायक तत्त्व बन सकता था, – तब क्या अल्पमत की क्रांति को बहुमत की क्रांति में बदल देने की प्रत्येक संभावना उपस्थित नहीं हो गयी ?

इतिहास ने हमें और हमारी तरह सोचनेवाले हर आदमी को ग़लत साबित कर दिया है। उसने यह स्पष्ट कर दिया है कि उस समय यूरोपीय महाद्वीप में आर्थिक विकास की जो अवस्था थी, वह पूंजीवादी उत्पादन के निराकरण के लिए बहुत परिपक्व न थी ; उसने यह उस आर्थिक क्रांति के द्वारा प्रमाणित किया है, जिसने १८४८ से पूरे यूरोपीय महाद्वीप को अपनी लपेट में ले लिया है और जिसके फलस्वरूप बड़े पैमाने के उद्योग ने फ़्रांस, आस्ट्रिया, हंगरी, पोलैंड और हाल में रूस में सचमुच जड़ पकड़ ली है, जबकि उसकी बदौलत जर्मनी निश्चय ही प्रथम कोटि का औद्योगिक देश बन गया है – और यह सब हुआ है पूंजीवादी आधार पर, जिसमें फलतः १८४८ में अभी भी विस्तरण की प्रचुर क्षमता मौजूद थी। लेकिन ठीक यही औद्योगिक क्रांति है जिसने वर्ग संबंधों को सर्वत्र स्पष्ट किया है, मैनुफ़ैक्चर के युग से चले आते हुए और पूर्वी यूरोप में तो शिल्प-संघ के युग से चले आते हुए कई अंतर्वर्त्ती रूपों को मिटा दिया है, असली पूंजीपति वर्ग को और असली, बड़े पैमाने के उद्योग-धंधों में काम करनेवाले सर्वहारा को जन्म दिया है और उन्हें खींचकर सामाजिक विकास के मंच पर पहुंचा दिया है। परंतु इसी कारण इन दो महान् वर्गों का संघर्ष, जो १८४८ में इंगलैंड को छोड़कर केवल पेरिस में और अधिक से अधिक कतिपय बड़े औद्योगिक केन्द्रों में चलता था, पूरे यूरोप में फैल गया है और उसमें ऐसी तेज़ी आ गयी है जो १८४८ में अकल्पनीय थी। उस ज़माने में अलग-अलग संप्रदायों के कितने ही ज्ञात-अज्ञात उपदेशक थे, अपने-अपने रामबाणी नुसख़े लिये हुए ; आज मार्क्स का **एक** ही सामान्यतः स्वीकृत स्फटिक की तरह उज्ज्वल सिद्धांत है, जिसमें संघर्ष के चरम लक्ष्यों को तीखे रूप में सूत्रबद्ध किया गया है। उस समय विच्छिन्न और स्थान तथा जाति भेद के अनुसार बंटे हुए जनसाधारण थे, केवल इस सूत्र से बंधे हुए कि वे सब एक ही मुसीबत में पड़े हुए थे, अविकसित,

अपरिपक्व जनसाधारण, आशा और निराशा के बीच निःसहाय भाव से डांवांडोल ; आज समाजवादियों की एक महान् अंतर्राष्ट्रीय सेना है, अप्रतिहत भाव से आगे बढ़ती हुई, और दिन प्रति दिन संख्या, संगठन तथा अनुशासन में वृद्धि करती हुई तथा गहन से गहनतर अंतर्दृष्टि तथा विजय की निश्चितता में विश्वास प्राप्त करती हुई सेना। यदि सर्वहारा की यह शक्तिशाली सेना भी अभी तक अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकी है, यदि एक ही प्रबल प्रहार द्वारा विजय प्राप्त करना तो दूर, वह दृढ़ कठोर संघर्ष में पूरा ज़ोर लगाकर धीरे-धीरे पग पग आगे बढ़ने के लिए विवश है, तो इससे यह अंतिम रूप से प्रमाणित हो जाता है कि १८४८ में बस सहसा आक्रमण द्वारा सामाजिक रद्दोबदल हासिल करना कितना असंभव था।

दो राजवंशीय-राजतंत्रीय दलों में बंटा हुआ पूंजीपति वर्ग,[93] जो अपनी माली कारंवाइयों के लिए सबसे ज्यादा शांति और सुरक्षा की मांग करता था, और जिसके मुक़ाबले में सर्वहारा खड़ा था, अवश्य ही पराजित सर्वहारा, पर फिर भी जो हमेशा के लिए एक ख़तरा था और जिसके चारों ओर निम्नपूंजीपति और किसान अधिकाधिक जमा होते जा रहे थे – हिंसा के भड़क उठने का ख़तरा बराबर बना हुआ था, पर वह समस्या के अंतिम समाधान की बिल्कुल ही कोई संभावना प्रस्तुत नहीं करता था, – यह थी वह परिस्थिति जो मानो तीसरे, नक़ली जनवादी दावेदार, लूई बोनापार्त के सत्ता-अपहरण के लिए विशेष रूप से संयोजित की गयी थी। २ दिसंबर १८५१ को सेना का इस्तेमाल कर उसने इस तनावपूर्ण परिस्थिति का अंत किया और यूरोप को घरेलू शांति प्रदान की, ताकि वह उसे युद्धों के एक नये युग की नेमत बख़्श सके[94]। फ़िलहाल नीचे से शुरू होनेवाली क्रांतियों का काल समाप्त हुआ ; और ऊपर से शुरू होनेवाली क्रांतियों के काल का श्रीगणेश हुआ।

१८५१ में साम्राज्य की पुनःस्थापना ने इस बात का नया सबूत पेश किया कि उस समय सर्वहारा की आकांक्षायें कितनी अपरिपक्व थीं। परन्तु वही उन अवस्थाओं की भी सृष्टि करनेवाली थी जिनमें उनका परिपक्व होना अनिवार्य था। आंतरिक शांति ने नये औद्योगिक उन्मेष के पूर्ण विकास को सुनिश्चित बना दिया ; सेना को ख़ाली न बैठने देने की तथा क्रांतिकारी लहर का रुख़ बाहर की ओर मोड़ देने की ज़रूरत से जो लड़ाइयां बरपा हुईं, उनमें बोनापार्त ने "राष्ट्रीयता के सिद्धांत"[95] को स्थापित करने के बहाने फ़्रांस में नये प्रदेशों को संयोजित कर देना चाहा। उसकी नक़ल करनेवाले बिस्मार्क ने प्रशा के लिए वही

नीति अपनायी; १८६६ में उसने जर्मन महासंघ[96] तथा आस्ट्रिया के ख़िलाफ़ और उतना ही प्रशियाई Konfliktskammer* के ख़िलाफ़ अपना सत्ता-अपहरण, अपनी ऊपर से क्रांति संपन्न की। परन्तु यूरोप इतना बड़ा न था कि उसमें दो बोनापार्त रह सकें, और इतिहास का कुछ ऐसा व्यंग्य हुआ कि बिस्मार्क ने बोनापार्त का तख़्ता उलट दिया और प्रशा के सम्राट विल्हेल्म ने लघु जर्मन साम्राज्य[97] को ही नहीं, फ़्रांसीसी जनतंत्र को भी स्थापित किया। सामान्यतः परिणाम यह हुआ कि यूरोप में, पोलैंड को छोड़कर, महान् राष्ट्रों की स्वाधीनता तथा आंतरिक एकता वास्तविक बन गयीं। बेशक यह अपेक्षाकृत संकुचित सीमाओं के भीतर ही हुआ, लेकिन फिर भी यह जिस पैमाने पर हुआ वह इतना बड़ा ज़रूर था कि मज़दूर वर्ग के विकास के रास्ते में राष्ट्रीय पेचीदगियां भारी अड़चन न रह गयी थीं। १८४८ की क्रांति के उन्मूलक उसकी आज्ञा के निष्पादक बन गये थे। और उनके समकक्ष, **इंटरनेशनल** की शक्ल में, १८४८ का उत्तराधिकारी सर्वहारा अभी से हुंकारता हुआ उठ खड़ा हुआ था।

१८७०–१८७१ के युद्ध के बाद बोनापार्त रंगमंच से ग़ायब हो जाता है, और चूंकि बिस्मार्क का मिशन पूरा हो गया है, इसलिए वह फिर नीचे गिरकर मामूली युंकर की अपनी अवस्था में वापस पहुंच सकता है। लेकिन इस काल का अवसान पेरिस कम्यून के साथ होता है। पेरिस के राष्ट्रीय गार्ड[98] के तोपख़ाने को चुरा लेने की थियेर की पोशीदा कोशिश के जवाब में विजयी विद्रोह होता है। एक बार फिर यह साबित हो गया कि पेरिस में अब सर्वहारा क्रांति को छोड़कर और कोई क्रांति नहीं हो सकती। विजय के पश्चात् सत्ता स्वतः, अनायास तथा सर्वथा असंदिग्ध रूप से मज़दूर वर्ग के हाथ में आ गयी। और एक बार फिर यह साबित हो गया कि उस समय, हमारी कृति में वर्णित काल के बीस साल बाद भी, मज़दूर वर्ग का यह शासन कितना असंभव था। एक ओर तो फ़्रांस ने पेरिस को बीच मझधार में बेसहारा छोड़ दिया, और जब पेरिस मैक-मैहन की गोलियां खाकर ख़ून से बुरी तरह लथपथ हो रहा था, वह खड़ा देखता भर रहा; दूसरी ओर कम्यून, जिन दो पार्टियों में वह बंट गया था, ब्लांकीपंथी (बहुमत) और प्रूदोंपंथी (अल्पमत) जिनमें से किसी को नहीं मालूम था कि करना क्या चाहिए, उनके व्यर्थ के झगड़े-तकरार में तबाह हो रहा

* Konfliktskammer – अर्थात् सरकार के साथ संघर्षरत प्रशियाई सदन।–सं०

था। १८७१ में जो विजय वरदान के रूप में मिली, वह उतनी ही व्यर्थ रही, जितना १८४८ का सहसा आक्रमण रहा था।

ऐसा ख़याल किया जाता था कि पेरिस कम्यून के अंत के साथ जुझारू सर्वहारा का भी जनाज़ा उठ गया है और अब वह दोबारा सिर नहीं उठा सकता। लेकिन बात बिल्कुल ही उलटी हुई: सर्वहारा का सबसे शक्तिशाली पुनरुत्थान कम्यून तथा फ़्रांस-प्रशा युद्ध के काल से ही शुरू होता है। शस्त्र धारण करने में समर्थ पूरी की पूरी आबादी की सेनाओं में भर्ती ने, जिनकी संख्या अब लाखों में ही गिनी जा सकती थी, तथा बेहद, जितना पहले कभी सोचा नहीं जा सकता था उतने कारगर आग्नेयास्त्रों, प्रक्षेप्यास्त्रों तथा विस्फोटकों के प्रयोग ने युद्ध के पूरे स्वरूप में आमूल क्रांति उपस्थित कर दी थी। एक ओर तो इस क्रांति ने एक विश्वयुद्ध को छोड़, जो अभूतपूर्व रूप से बर्बर होगा और जिसका परिणाम नितांत अनिश्चित होगा, बाक़ी हर युद्ध को असंभव बनाकर बोनापार्ती युद्ध-काल को सहसा समाप्त कर दिया और शांतिपूर्ण औद्योगिक विकास सुनिश्चित बना दिया। दूसरी ओर, उसने सैनिक व्यय को गुणोत्तर श्रेणी में बढ़ा दिया और इस प्रकार टैक्सों को बेअंदाज बढ़ा दिया और समाज के अपेक्षाकृत ग़रीब तबकों को समाजवाद की ओर ढकेल दिया। अल्सास-लारेन के संयोजन ने, जो शस्त्रास्त्रों की उन्मत्त होड़ का तात्कालिक कारण था, फ़्रांसीसी और जर्मन पूंजीपतियों को वतनपरस्ती के अंधे जोश में आकर एक दूसरे की गर्दन पर झपटने के लिए प्रवृत्त किया; पर इन दोनों देशों के मज़दूरों के लिए वह एकता का एक नया बंधन हो गया। और पेरिस कम्यून की वर्षगांठ समूचे सर्वहारा का पहला सार्वजनीन पर्व बन गया।

१८७०–१८७१ के युद्ध तथा कम्यून की पराजय ने यूरोपीय मजदूर आंदोलन के गुरुत्व केन्द्र को अस्थायी रूप से फ़्रांस से जर्मनी में स्थानान्तरित कर दिया, जैसा कि मार्क्स ने पूर्वानुमान कर लिया था। मई १८७१ के रक्तस्राव के बाद फ़्रांस को पुन:स्वस्थ होने में स्वभावत: कई साल लग गये। दूसरी ओर जर्मनी में, जहां उद्योग – जिसका स्वाभाविक विकास के अतिरिक्त, फ़्रांसीसी धनराशि[99] के वरदान रूप में मिल जाने से निश्चय ही कृत्रिम रूप से पोषण हुआ – अधिकाधिक तेज़ी से बढ़ता गया, समाजवादी-जनवाद ने और भी तेज़ी से और स्थायी रूप से वृद्धि प्राप्त की। १८६६ में स्थापित सार्विक मताधिकार का जर्मन मज़दूरों ने इतनी बुद्धिमानी के साथ उपयोग किया कि उसकी बदौलत पार्टी की आश्चर्यजनक वृद्धि असंदिग्ध आंकड़ों द्वारा सारे संसार के सामने प्रत्यक्ष हो जाती है: १८७१ में १,०२,००० समाजवादी-जनवादी वोट; १८७४ में ३,५२,०००;

१८७७ में ४,९३,०००। और तब उच्च सत्ताधारियों ने समाजवादियों के विरुद्ध क़ानून[100] की शक्ल में इस प्रगति को मान्यता दी; पार्टी अस्थायी रूप से छिन्न-भिन्न हो गयी, और १८८१ में उसके वोटों की संख्या गिरकर ३,१२,००० रह गयी। पर इस स्थिति पर शीघ्र ही क़ाबू पा लिया गया, और तब "असाधारण क़ानून" के दबाव के होते हुए भी, बग़ैर अख़बारों के, बग़ैर क़ानूनी संगठन के और बग़ैर संघ तथा सभा स्वातंत्र्यों के, पार्टी का सचमुच तेज़ बढ़ाव शुरू हुआ: १८८४ में ५,५०,००० वोट; १८८७ में ७,६३,०००; १८९० में १४,२७,०००। इसके बाद राज्य की भुजा संज्ञाशून्य, शक्तिशून्य हो गयी। समाजवादियों के विरुद्ध क़ानून का कहीं पता न रह गया; समाजवादी वोट बढ़कर १७,८७,००० हो गये, यानी जितने वोट पड़े थे, उनका एक चौथाई हो गये। सरकार और शासक वर्गों ने सारे उपाय किये, लेकिन सब बेकार, बेसूद और बेअसर। उनके निर्वीर्य होने के ठोस सबूत, – जिन्हें रात के चौकीदार से लेकर शाही चांसलर तक सारे के सारे अधिकारी मानने के लिए विवश थे और वह भी ऐसी सूरत में, जब उन्हें तुच्छ मज़दूरों ने पेश किया हो, – ये सबूत लाखों में गिने जा सकते थे। राज्य अपनी शक्ति ख़र्च कर चुका था और मज़दूरों ने अपनी ताक़त को आज़माना अभी शुरू ही किया था।

लेकिन इसके अलावा, पहली सेवा के अलावा जर्मन मज़दूरों ने अपने ध्येय की एक दूसरी बड़ी सेवा की, और सबसे मज़बूत, सबसे अधिक अनुशासनबद्ध, और सबसे ज़्यादा तेज़ी से बढ़ती हुई पार्टी के रूप में उनका अस्तित्व ही इस सेवा को संपन्न करता था। उन्होंने यह दिखाकर कि सार्विक मताधिकार का उपयोग कैसे करना चाहिये सभी देशों में अपने साथियों को एक नया अस्त्र, और एक अत्यंत तीक्ष्ण अस्त्र, प्रदान किया।

फ़्रांस में सार्विक मताधिकार ज़माने से चला आ रहा था, परन्तु बोनापार्ती सरकार द्वारा दुरुपयोग के कारण उसकी प्रतिष्ठा समाप्त हो गयी थी। कम्यून के बाद उसका इस्तेमाल करने के लिए मज़दूरों की पार्टी ही नहीं रह गयी थी। जनतंत्र के काल से वह स्पेन में भी मौजूद था, लेकिन स्पेन में विरोध पक्ष की सभी गंभीर पार्टियों ने चुनावों के बहिष्कार को हमेशा से अपना नियम बना रखा था। सार्विक मताधिकार का स्विट्ज़रलैंडवालों का अनुभव मज़दूरों की पार्टी के लिए और कुछ भी हो, उत्साहवर्द्धक न था। लैटिन देशों के क्रांतिकारी मज़दूर मताधिकार को एक हथकंडा, सरकार की चालबाज़ी का एक साधन मानने के अभ्यस्त थे। लेकिन जर्मनी में बात और थी। 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' में पहले

ही घोषणा की जा चुकी थी कि सार्विक मताधिकार को, जनवाद को प्राप्त करना जुझारू सर्वहारा का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्यभार है, और लासाल ने फिर इस सूत्र को ग्रहण किया था। और जब बिस्मार्क जनसाधारण के अंदर अपनी योजनाओं में दिलचस्पी पैदा करने के एकमात्र साधन के रूप में सार्विक मताधिकार स्थापित करने को विवश हुआ[101] हमारे मज़दूरों ने उसकी ओर गंभीर दृष्टिकोण अपनाया और पहले संविधानी राइख़स्टाग में अगस्त बेबेल को भेजा। और उस दिन से उन्होंने मताधिकार का इस प्रकार उपयोग किया है कि उन्होंने एक लगाया और हज़ार पाया है और सभी देशों के मज़दूरों के सामने एक आदर्श उपस्थित किया है। फ़्रांसीसी मार्क्सवादी कार्यक्रम के शब्दों में, उन्होंने मताधिकार को transformé de moyen de duperie qu'il a été jusqu' ici en instrument d'émancipation – प्रवंचना के एक साधन से, जो वह पहले था, मुक्ति के एक साधन में बदल डाला है[102]। और अगर सार्विक मताधिकार से इसके सिवा और कोई लाभ न भी होता कि उसने हमें हर तीसरे साल अपनी संख्या गिनने की सुविधा प्रदान की; कि हमारे वोटों की संख्या में बाक़ायदा निश्चित तथा अप्रत्याशित रूप से द्रुत वृद्धि के द्वारा उसने मज़दूरों का अपनी विजय की निश्चितता में विश्वास तथा उनके विरोधियों की घबराहट, दोनों को समान मात्रा में बढ़ा दिया और इस प्रकार वह हमारे प्रचार का सर्वश्रेष्ठ साधन बन गया; कि उसने हमें स्वयं अपनी शक्ति के बारे में और सभी विरोधी पार्टियों की शक्ति के बारे में सही सूचना दी, और इस प्रकार हमारी कार्रवाइयों में संतुलन के लिए एक अद्वितीय मानदंड प्रस्तुत किया और जैसे बेमौक़े की बुज़दिली से, वैसे ही बेमौक़े की दुःसाहसिकता से हमारी रक्षा की – अगर मताधिकार से हमें एक यही लाभ हुआ होता, तो भी वह सर्वथा पर्याप्त होता। परन्तु उसने हमें इससे कहीं अधिक लाभ दिया है। चुनाव प्रचार में उसने हमें जनसाधारण से, जहां वे अब भी हम से दूर थे, संपर्क स्थापित करने का अद्वितीय साधन प्रदान किया; सभी पार्टियों को समस्त जनता के सामने हमारे हमलों से अपने विचारों और कार्यों की पैरवी करने को विवश करने का साधन प्रदान किया; इतना ही नहीं, उसने राइख़स्टाग में हमारे प्रतिनिधियों को एक ऐसा मंच प्रदान किया, जिससे वे संसद में अपने विरोधियों से और संसद से बाहर जनसाधारण से उस अधिकार और आज़ादी के साथ अपनी बात कह सकते थे, जो अख़बारों और सभाओं में प्राप्य न थी। सरकार और पूंजीपति वर्ग के लिए उनका समाजवादियों

के विरुद्ध क़ानून किस काम का रह गया, जब चुनाव आंदोलन और राइख़स्टाग में समाजवादी भाषण उसे निरंतर विदीर्ण कर रहे थे?

सार्विक मताधिकार के इस सफल उपयोग के साथ सर्वहारा संघर्ष में एक बिल्कुल ही नया तरीक़ा चालू हुआ, और यह तरीक़ा बड़ी तेजी से और भी विकसित हुआ। यह देखा गया कि जिन राज्य-संस्थाओं में पूंजीपति वर्ग का शासन संगठित है, वे मज़दूर वर्ग को इन्हीं संस्थाओं से संघर्ष करने की और भी अधिक सुविधायें प्रदान करती हैं। मज़दूरों ने अलग-अलग विधान-सभाओं के, नगरपालिकाओं के और औद्योगिक अदालतों के चुनावों में भाग लिया; उन्होंने पूंजीपति वर्ग के साथ हर उस पद के लिए टक्कर ली जिस पर अधिकार करने में सर्वहारा का एक काफ़ी बड़ा हिस्सा दख़ल दे सकता था। और इस प्रकार हुआ यह कि पूंजीपति वर्ग और सरकार मज़दूरों की पार्टी की ग़ैरक़ानूनी कार्रवाइयों की अपेक्षा कहीं ज्यादा क़ानूनी कार्रवाइयों से, विद्रोह की अपेक्षा कहीं ज्यादा चुनाव के परिणामों से भय खाने लगे।

कारण, इस प्रसंग में भी संघर्ष की अवस्थायें बुनियादी तौर पर बदल गयी थीं। पुराने ढंग की बग़ावत, सड़कों पर बैरीकेडों की लड़ाई, जो १८४८ तक सर्वत्र फ़ैसलाकुन रही थी, अब बहुत काफ़ी हद तक पुरानी पड़ गयी थी।

हमें इसके बारे में कोई भ्रम नहीं होना चाहिए: सड़कों की लड़ाई में विद्रोहियों की वास्तविक विजय, जैसी विजय दो सेनाओं के बीच लड़ाई में हासिल की जाती है, विरलतम अपवाद है। और विद्रोहियों ने विरले ही कभी ऐसी विजय का भरोसा किया है। उनके लिए प्रश्न केवल यह रहा है कि सैनिकों पर नैतिक प्रभाव डालकर उन्हें झुकायें, जैसे प्रभाव दो युद्धरत देशों के बीच लड़ाई में नहीं पड़ते या बहुत कम हद तक पड़ते हैं। अगर इसमें वे सफल होते हैं, तो सैनिक आज्ञापालन नहीं करते या वे अफ़सर, जिनके हाथ में कमान है, अपना संतुलन खो बैठते हैं, और विद्रोह विजयी होता है। यदि वे सफल नहीं होते, तो जहां सेना अल्पसंख्या में होती है, वहां भी बेहतर साज-सामान और प्रशिक्षण की, एकीभूत नेतृत्व की, सेना के सुयोजित उपयोग तथा अनुशासन की श्रेष्ठता प्रभावशाली सिद्ध होती है। वास्तविक सामरिक संक्रिया के मामले में कोई विद्रोह अधिक से अधिक यही सफलता प्राप्त कर सकता है कि उसमें किसी बैरीकेड को उचित रूप से खड़ा किया जाये और बचाया जाये। पारस्परिक सहायता, रिज़र्व दस्तों का व्यवस्थापन और उपयोग, संक्षेप में अलग-अलग दस्तों की सम्मिलित, समन्वित क्रिया, जो एक पूरे बड़े शहर की तो बात ही क्या, शहर के एक हिस्से

की भी रक्षा के लिए अपरिहार्य है, अत्यंत सीमित रूप से ही संपन्न की जा सकती है, और अधिकांशत: की ही नहीं जा सकती। कहने की जरूरत नहीं कि एक निर्णायक बिंदु पर सैनिक शक्ति के संकेंद्रण का यहां प्रश्न ही नहीं उठता। फलत: यहां निष्क्रिय प्रतिरक्षा ही युद्ध का प्रभावी रूप है; जहां-तहां आक्रमण में इतनी तेजी आ सकती है कि कभी-कभी जोर का वार किया जाये या बग़ली मार की जाये, लेकिन ऐसा सदा अपवादस्वरूप होगा; सामान्यत: यह बढ़ाव पीछे हटती हुई सेना द्वारा छोड़े गये मोर्चों पर क़ब्ज़ा करने तक ही सीमित होगा। इसके अतिरिक्त सेना के पास तोपख़ाना होता है और प्रशिक्षित इंजीनियरों का साज-सामान से पूरी तरह लैस कोर होता है—युद्ध के ये ऐसे साधन हैं, जो विद्रोहियों के पास तक़रीबन हर स्थिति में बिल्कुल ही नहीं होते। तब फिर ताज्जुब ही क्या कि आक्रमणकारियों के नेताओं ने जहां, राजनीतिक चिंताओं से बाधित हुए बिना, केवल सैनिक दृष्टिकोण से काम किया और उनके सिपाही वफ़ादार बने रहे, वहां अधिक से अधिक वीरता के साथ लड़ी गयी बैरीकेडों की लड़ाई की भी—जून १८४८ में पेरिस में, अक्तूबर १८४८ में वियेना में, मई १८४९ में ड्रेस्डेन में—परिणति विद्रोह की पराजय में हुई।

१८४८ तक विद्रोहियों की बहुतेरी सफलताओं के विविध कारण थे। जुलाई १८३० में और फ़रवरी १८४८ में पेरिस में, और इसी प्रकार स्पेन में अधिकांश सड़कों की लड़ाइयों में विद्रोहियों और सेना के बीच एक राष्ट्रीय गार्ड मौजूद था। यह गार्ड या तो सीधे-सीधे विद्रोह का पक्ष लेता था या फिर अपने निरुत्साह ढुलमुल रवैये से सैनिकों को भी डांवांडोल कर देता था, और इतना ही नहीं, वह विद्रोहियों को हरवा-हथियार भी प्रदान करता था। जहां इस गार्ड ने शुरू से ही विद्रोह का विरोध किया, जैसा कि जून १८४८ में पेरिस में हुआ, वहां विद्रोह की पराजय हुई। बर्लिन में १८४८ में जनता की जो विजय हुई, उसका कारण अंशत: यह था कि (मार्च की) १९ तारीख़ की रात और सुबह विद्रोहियों की पांतों में काफ़ी नये लोग शरीक हो गये थे, और अंशत: यह कि सिपाहियों के लिए रसद का माक़ूल इंतजाम नहीं किया गया था और वे बेतरह क्लांत थे और अंत में अंशत: यह भी कि सैनिक कमान किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रहा था। और जहां भी लड़ाई जीती गयी, निरपवाद रूप से इसलिए जीती गयी कि सिपाहियों ने हुक्म की तामील नहीं की, इसलिए कि फ़ौजी अफ़सर, जिनके हाथ में कमान थी, दृढ़संकल्प निर्णय करने की क्षमता खो बैठे थे या उनके हाथ बंधे हुए थे।

लिहाजा सड़कों की लड़ाई के क्लासिकीय युग में भी बैरीकेड का असर उतना

भौतिक नहीं, जितना नैतिक होता था। वह सेना के संकल्प को हिला देने का एक साधन होता था। अगर ऐसा होने तक बैरीकेड का मोर्चा जमा रहा, तो जीत होती थी; नहीं तो हार। यही मुख्य बात है, जिसे जब भविष्य की संभाव्य सड़कों की लड़ाई की सफलता की संभावना की परीक्षा की जाये, तब भी ध्यान में रखना आवश्यक है।

१८४६ में ही यह संभावना बहुत कम हो गयी थी। पूंजीपति वर्ग सर्वत्र सरकार का साथ दे रहा था, विद्रोह के ख़िलाफ़ क्रियाशील सेना का "संस्कृति और संपत्ति" ने स्वागत-सम्मान किया था। बैरीकेडों के जादू का असर ख़त्म हो गया था, अब सैनिक की दृष्टि में बैरीकेडों के पीछे "जनता" न थी, बल्कि बाग़ी, फ़सादी, लुटेरे, हर चीज़ को ढहाकर बराबर कर देनेवाले लोग, समाज के कूड़ा-करकट थे; वक़्त बीतने के साथ सैनिक अफ़सर ने सड़कों की लड़ाई के सामरिक रूपों का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था, अब वह जल्दी में बनाये गये, कामचलाऊ धुस्स की ओर सीधे बिना आड़ के मार्च नहीं करता था, बल्कि घूमकर बाग़ों, अहातों और मकानों के बीच से होकर घुसता था। और थोड़ा कौशल होने पर वह दस में से नौ मामलों से सफल भी हो जाता था।

लेकिन तब से और बहुत-सी तबदीलियां हुई हैं, और सभी सेना के हक़ में हुई हैं। अगर बड़े शहर पहले से ज़्यादा बड़े हो गये हैं, तो सेनायें और भी बड़ी हो गयी हैं। १८४८ से आज तक के समय में पेरिस और बर्लिन चौगुने से कम बढ़े हैं, पर उनकी गैरीसनें और भी ज्यादा बढ़ गयी हैं। रेलों की बदौलत गैरीसनें चौबीस घंटों में दुगुनी की जा सकती हैं और ४८ घंटों में विशाल सेनाओं का आकार ग्रहण कर सकती हैं। सैनिकों की इस बेहद बढ़ी हुई संख्या की शस्त्र-सज्जा पहले से कहीं ज्यादा प्रभावशाली हो गयी है। १८४८ की चिकने नाल की मुंह-भरनी, दग़ाऊ बंदूक़, और आज लघु व्यास की ब्रीच से भरी जानेवाली मैगज़ीनी बंदूक, जो चौगुनी अधिक दूरगामी, दसगुनी अधिक लक्ष्यवेधी और क्षिप्र है। उस ज़माने में तोपख़ाने के अपेक्षाकृत प्रभावहीन गोले और छर्रे; और आज विस्फोटक गोले, जिनमें एक गोला ही अच्छे से अच्छे बैरीकेड को धूल में मिला देने के लिए काफ़ी है। उस ज़माने में रक्षा-भीतों को तोड़ने के लिए सैपर की कुदाली; और आज डाइनामाइट की कारतूस।

दूसरी ओर, विद्रोहियों के पक्ष में सभी अवस्थायें पहले से ख़राब हो गयी हैं। ऐसा विद्रोह शायद ही हो जिसे जनता की सभी श्रेणियों की सहानुभूति प्राप्त होगी; वर्ग-संघर्ष में बीच की श्रेणियां सर्वहारा के चारों ओर अब शायद कभी

भी इतने एकांतिक रूप से न जुटें कि उनकी तुलना में पूंजीपति वर्ग के गिर्द एकजुट प्रतिक्रिया की पार्टी प्राय: शून्य जान पड़े। अतएव "जनता" सदैव विभाजित जान पड़ेगी, और इस प्रकार एक अत्यंत शक्तिशाली लीवर, जो १८४८ में इतने असाधारण रूप से प्रभावशाली रहा था, हाथ से निकल जाता है। अगर सैनिक सेवा का अनुभव रखनेवाले सिपाही अधिक संख्या में विद्रोहियों की ओर आते हैं, तो उन्हें हथियारों से लैस करना और भी ज्यादा मुश्किल होगा। गोलाबारूद की दूकानों की शिकारी या सजावटी बंदूकें, – अगर उन्हें पहले ही पुलिस के हुक्म से घोड़े का एक हिस्सा निकालकर निरुपयोगी नहीं कर दिया गया है और वे काम लायक़ हैं, तो भी – सैनिक की मैगज़ीनी बंदूक़ का, नजदीकी लड़ाई में भी, मुक़ाबला नहीं कर सकतीं। १८४८ तक बारूद और सीसे से अपेक्षित गोलाबारूद ख़ुद बनाया जा सकता था; आज हर बंदूक़ का कारतूस अलग है, और सब जगह इन कारतूसों में केवल एक समानता है: वे सभी बड़े पैमाने के उद्योग की जटिल पैदावार हैं, और इसलिए यूं ही बिना तैयारी के नहीं बनाये जा सकते। फलत: ज्यादातर बंदूक़ें जब तक कि विशेष रूप से उनके लिए उपयुक्त गोलियां न हों, बेकार हैं और अंत में १८४८ के बाद से बड़े-बड़े शहरों के नये बने हिस्सों में लम्बी-चौड़ी, सीधी सड़कें बिछायी गयी हैं, मानो इसलिए कि नयी तोप और बंदूकें पूरे असर के साथ काम कर सकें। कोई पागल ही क्रांतिकारी होगा जो बर्लिन के उत्तरी या पूर्वी हिस्से में बनी नयी मजदूर बस्तियों को बैरीकेड की लड़ाई के लिए चुनेगा।

क्या इसका मतलब यह है कि भविष्य में सड़कों की लड़ाई की कोई भूमिका नहीं रह जायेगी? नहीं, निश्चय ही नहीं। इसका मतलब केवल यह है कि १८४८ के बाद से परिस्थितियां लड़ाकू नागरिक के लिए कहीं अधिक प्रतिकूल और सेना के लिए कहीं अधिक अनुकूल हो गयी हैं। इसलिए भविष्य में सड़कों की लड़ाई तभी जीती जा सकती है जब अन्य तत्त्वों से इस अहितकर परिस्थिति की क्षतिपूर्ति हो सके। अतएव ऐसी लड़ाई किसी महान् क्रांति के आरंभ में कम और उसकी प्रगति के दौरान अधिक होगी, और उसे शुरू करने के लिए लाज़िमी तौर पर ज्यादा आदमियों की जरूरत होगी। लेकिन तब, जैसा कि समूची महान् फ़्रांसीसी क्रांति में हुआ या पेरिस में ४ सितम्बर और ३१ अक्तूबर १८७० को हुआ,[103] ये लोग बैरीकेड की निष्क्रिय सामरिक नीति के मुक़ाबले खुले हमले को तरजीह दे सकते हैं।

पाठक समझ गया है कि क्यों सत्ताधारी लोग निश्चय ही यह चाहते हैं कि हम वहां जायें जहां बंदूकें छूटती हैं और नेज़े चलते हैं? कि वे क्यों हमें इसलिए बुज़दिल कहते हैं कि हम सीधे सड़कों पर निकल नहीं पड़ते जहां हमारी पराजय पहले से ही निश्चित है? कि वे क्यों हमसे अनुनय-विनय करते हैं कि एक बार हम उनकी तोपों के ग्रास बनने को तैयार हो जायें?

इन महानुभावों का सारा गिड़गिड़ाना और ललकारना व्यर्थ है, बिल्कुल ही व्यर्थ है। हम इतने अहमक़ नहीं हैं। अगर वे हमसे यह मांग कर सकते हैं, तो अगले युद्ध में वे शत्रु से भी बख़ूबी यह मांग कर सकते हैं कि वह बूढ़े फ़्रिज़* की व्यूह रचना में या वाग्राम और वाटरलू[104] की लड़ाइयों के तर्ज़ पर पूरी की पूरी डिवीज़नों के कालमों में युद्ध करना स्वीकार करे, और वह भी हाथ में पत्थरकला बंदूक़ लेकर। यदि राष्ट्रों के बीच युद्ध की परिस्थितियां बदल गयी हैं, तो वर्गों के बीच संघर्ष की परिस्थितियां भी उतनी ही बदल गयी हैं। सहसा आक्रमणों का, उन क्रांतियों का युग बीत चुका है, जिन्हें चेतनाशून्य जनसाधारण का नेतृत्व करनेवाला छोटा-सा सचेतन अल्पमत संपन्न करता था। जहां प्रश्न सामाजिक संगठन के पूर्ण रूपांतरण का है, वहां यह ज़रूरी है कि जनसाधारण स्वयं भी इस रूपांतरण में भाग लें, वे पहले ही यह समझ चुके हों कि दांव पर कौनसी चीज़ लगी है, कि वे किस ध्येय की तनमन से आकांक्षा करते हैं। पिछले ५० वर्षों के इतिहास ने हमें यह चीज़ सिखाई है। परन्तु जनसाधारण यह समझ लें कि क्या करना है, इसके लिए दीर्घकाल तक धैर्यपूर्वक कार्य करना आवश्यक है, और आज हम इसी कार्य का संपादन कर रहे हैं, और इतनी सफलता के साथ कर रहे हैं कि उससे हमारे शत्रु को निराशा ही होती है।

लैटिन देशों में भी यह बात अधिकाधिक हृदयंगम की जा रही है कि पुरानी कार्यनीति का संशोधन आवश्यक है। मताधिकार का उपयोग करने तथा हमारी पहुंच के अंदर जितने भी पद हों उन सब पर अधिकार करने के जर्मन उदाहरण का सर्वत्र अनुकरण किया गया है; सर्वत्र बिना तैयारी के धावा बोल देने की कार्यनीति पृष्ठभूमि में ठेल दी गई है। फ़ांस में, जहां एक शताब्दी से भी अधिक समय में, क्रांति के बाद क्रांति ने सामाजिक आधार को खंडित किया है, जहां एक भी पार्टी ऐसी नहीं है जिसने षड्यंत्रों, विद्रोहों और सभी प्रकार के क्रांतिकारी कामों में भाग न लिया हो; फ़ांस में, जहां इसके फलस्वरूप सरकार को सेना

* फ़्रेडरिक द्वितीय। – सं०

पर कदापि भरोसा नहीं रह गया है और जहां सामान्यतः विद्रोहियों के सहसा आक्रमण के लिए परिस्थितियां जर्मनी की तुलना में कहीं अधिक अनुकूल हैं– फ़्रांस में भी समाजवादी अधिकाधिक समझते जा रहे हैं कि वे तब तक स्थायी विजय प्राप्त नहीं कर सकते जब तक कि वे पहले ही विशाल जनसमुदाय का, अर्थात् इस प्रसंग में किसानों का समर्थन प्राप्त न कर लें। यहां भी यह स्वीकार किया गया है कि धीरे-धीरे प्रचार का काम और संसदीय काम चलाना पार्टी का तात्कालिक कार्यभार है। इस काम में सफलतायें भी पायी गई हैं। एक के बाद एक, कितनी ही नगरपालिकायें हाथ में आयी हैं; इतना ही नहीं, संसद के सदनों में ५० समाजवादी सदस्य हैं और वे तीन मंत्रिमंडलों तथा एक राष्ट्रपति का तख़्ता उलट भी चुके हैं। बेल्जियम में पिछले वर्ष मज़दूरों के दबाव से सार्विक मताधिकार की स्थापना करनी पड़ी और वे एक चौथाई निर्वाचन-क्षेत्रों में विजयी हुए हैं। स्विट्ज़रलैंड में, इटली में, डेनमार्क में, यहां तक कि बुल्गारिया और रूमानिया में भी, जी हां इनमें भी, समाजवादियों को संसद में प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ। आस्ट्रिया में सभी पार्टियां इस बात को मानती हैं कि संसद में हमारा प्रवेश रोका नहीं जा सकता। हम प्रवेश करेंगे, यह निश्चित है; विवादास्पद प्रश्न केवल यह है कि किस द्वार से करेंगे? और रूस में भी जहां मशहूर "ज़ेम्स्की सोबोर"–अर्थात् राष्ट्रीय सभा, जिसका नौजवान निकोलाई ऐसा निष्फल प्रतिरोध कर रहा है–बुलाई जा रही है, वहां भी हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि हम उसमें प्रतिनिधित्व प्राप्त करेंगे।

कहने की ज़रूरत नहीं कि ऐसा करके विदेश में हमारे साथी क्रांति के अपने अधिकार का रंचमात्र भी परित्याग नहीं करते। आख़िरकार क्रांति का अधिकार ही वास्तव में एकमात्र "ऐतिहासिक अधिकार" है, जिस अधिकार पर ही निरपवाद रूप से सभी आधुनिक राज्य आधारित हैं; इनमें मैक्लेनबुर्ग का भी शुमार है जिसकी अभिजातीय क्रांति १७५५ में "पुश्तैनी बंदोबस्त" [«Erbvergleich»] के साथ समाप्त हुई, जहां सामंतवाद का यह शानदार चार्टर आज भी क़ायम है।[105] सामान्य चेतना में क्रांति का अधिकार इतने निर्विवाद रूप में मान्य है कि जनरल फ़ॉन बोगुस्लाव्स्की तक,–जब वह अपने कैसर के लिए सत्ता-अपहरण के अधिकार को जायज़ ठहराते हैं,–उसका एकमात्र मूलाधार क्रांति का यह जन-अधिकार ही बताते हैं।

लेकिन दूसरे देशों में कुछ भी हो, जर्मन सामाजिक-जनवाद की एक विशेष स्थिति है और इसके साथ ही कम से कम आगत भविष्य में उसके सम्मुख एक

विशेष कार्यभार है। जिन बीस लाख वोटरों को मतदान देने के लिए वह भेजता है वे ही उन गैरवोटर तरुण स्त्री-पुरुषों के साथ जो उनके पीछे हैं, सबसे बहुसंख्यक, सबसे संहत जनसमुदाय हैं, वे ही अंतर्राष्ट्रीय सर्वहारा सेना के निर्णायक "हरावल दस्ता" हैं। जितने वोट पड़े हैं उनमें एक चौथाई से ज्यादा वोट यह समुदाय अभी से जुटाता है; और जैसा कि राइख़स्टाग के लिए हुए उपचुनावों से, अलग-अलग राज्यों में विधान-सभाओं के चुनावों से, नगरपालिकाओं तथा औद्योगिक अदालतों के चुनावों से प्रत्यक्ष है, यह समुदाय निरंतर बढ़ता जा रहा है। उसका विकास वैसे ही स्वतःस्फूर्त रूप से, वैसे सतत् तथा अप्रतिहत रूप से तथा वैसे ही शांतिपूर्ण रूप से चल रहा है जैसे किसी नैसर्गिक प्रक्रिया का चलता है। उसके ख़िलाफ़ सरकार की सारी दस्तंदाज़ी बेअसर साबित हुई है। आज भी हम साढ़े बाईस लाख मतदाताओं का भरोसा कर सकते हैं। अगर यह प्रक्रिया ऐसे ही चलती रही, तो इस शताब्दी के अंत तक हम समाज की मध्यम श्रेणियों के अधिकांश भाग का, निम्नपूंजीवादियों तथा छोटे किसानों का समर्थन प्राप्त कर लेंगे और देश की निर्णायक शक्ति बन जायेंगे, जिसके सामने और सभी शक्तियों को झुकना पड़ेगा, चाहे वे इसे चाहें या न चाहें। इस विकास को अनवरत रूप से चलते देना, इस हद तक कि वह आप से आप प्रभुताशाली शासन-व्यवस्था के नियंत्रण की सीमा से बाहर हो जाये, इस निरंतर बढ़ते हुए हरावल दस्ते को अगली सफ़ों की मुठभेड़ों में बारहबाट न हो जाने देना, बल्कि उसे निर्णायक दिन के लिए अक्षुण्ण रखना–यही हमारा मुख्य कार्यभार है। और जर्मनी में समाजवादी जुझारू शक्तियों के अनवरत प्रसार को अस्थायी रूप से रोकने और कुछ समय के लिए उन्हें पीछे ठेल देने का एक ही उपाय है–बड़े पैमाने पर सेना के साथ टक्कर, वैसी खूंरेज़ी जैसी कि १८७१ में पेरिस में हुई थी। अंततोगत्वा यह अवरोध भी दूर कर लिया जायेगा। लाखों की एक पार्टी को गोलियों से भून कर मिटा देना–यह काम यूरोप और अमरीका की सारी मैगजीनी बंदूक़ों के भी बूते के बाहर होगा। फिर भी इससे सामान्य विकास में रुकावट आयेगी, शायद संगीन घड़ी में हरावल दस्ता मौक़े पर मौजूद न होगा, निर्णायक लड़ाई शुरू होने में देर होगी, और वह देर तक चलेगी और उसमें ज़्यादा बड़ी क़ुर्बानियां देनी पड़ेंगी।

विश्व-इतिहास का व्यंग्य ऐसा है कि सब कुछ उलट-पुलट जाता है। हम लोग, "क्रांतिकारी" लोग, "पर्युत्क्षेपणकारी" लोग–ग़ैरक़ानूनी तरीक़ों, पर्युत्क्षेपक तरीक़ों के मुक़ाबले क़ानूनी तरीक़ों से कहीं ज्यादा मज़बूत हो रहे

हैं। अमन की पार्टियां, जैसा कि वे अपने को कहती हैं, अपने ही द्वारा स्थापित क़ानूनी परिस्थितियों में घुट-मर रही हैं। ओदिलों बारो की आवाज में वे निराशा से चीत्कार करती हैं: «la légalité nous tue» – क़ानूनियत हमारी मौत है; जबकि इसी क़ानूनियत के तहत हमारे पुट्ठे मजबूत होते हैं, हमारे गाल सुर्ख़ होते हैं और हम अजर, अमर जीवन के मूर्तिमान प्रतीक दिखायी देते हैं। और अगर **हम** इतने पागल नहीं हैं कि उन्हें ख़ुश करने के लिए सड़कों पर लड़ने के लिए प्रवृत्त किये जा सकें, तो फिर उनके लिए अंत में एक यही चारा रह जाता है कि ख़ुद ही इस सांघातिक क़ानूनियत के बंधन को तोड़ अपने को मुक्त करें।

इस बीच वे सत्ता-पर्युत्क्षेपण के ख़िलाफ़ नये-नये क़ानून बना रहे हैं। फिर हर चीज उलट-पुलट जाती है। आज के ये कट्टर पर्युत्क्षेपण-विरोधी लोग क्या स्वयं कल के पर्युत्क्षेपणकारी नहीं हैं? १८६६ के गृहयुद्ध को क्या **हमने** भड़काया? हैनोवर के राजा, हेसन के राजा और नस्साऊ के ड्यूक को क्या **हमने** उनकी पुश्तैनी, क़ानूनी मिल्कीयत, उनकी रियासतों से निकालकर इन रियासतों को बलात् संयोजित कर लिया? जर्मन महासंघ तथा तीन तीन शाही सल्तनतों के ये पर्युत्क्षेपक अब पर्युत्क्षेपण की शिकायत करते हैं! Quis tulerit Gracchos de seditione querentes?* बिस्मार्क की पूजा करनेवाले पर्युत्क्षेपण की निंदा करें, यह कौन सहन कर सकता है?

फिर भी उन्हें अपने पर्युत्क्षेपण-विरोधी विधेयक पेश करने दीजिये, उन्हें और भी सख़्त बनाने दीजिये, पूरे फ़ौजदारी क़ानून को रबड़ की तरह खींचने-मरोड़ने दीजिये, इससे उन्हें सिवा अपनी बेबसी के सबूत के और कुछ नहीं हासिल हो सकता। अगर वे सामाजिक-जनवाद पर करारी चोट करना चाहते हैं, तो उन्हें इनके अलावा दूसरी ही तरह की कार्रवाइयां करनी होंगी। इस समय जो सामाजिक-जनवादी पर्युत्क्षेपण, क़ानून का पालन करते हुए, बख़ूबी चल रहा है उससे वे अमन की पार्टियों के पर्युत्क्षेपण द्वारा, जो क़ानून को तोड़े बिना नहीं चल सकता, ही निबट सकते हैं। प्रशियाई नौकरशाह श्री रोस्सलर और प्रशियाई जनरल श्री फ़ॉन बोगुस्लाव्स्की ने उन्हें जो तरीक़ा सुझाया है, वही एक तरीक़ा है जिससे मजदूरों को, जो सड़कों पर निकलकर लड़ने से साफ़ इनकार

---

*ग्राक्ख राजद्रोह की शिकायत करें, यह कौन बर्दाश्त करेगा? (**जुवेनाल, व्यंग्य** २)। – सं०

करते हैं, क़ाबू में लाना शायद अब भी संभव हो सकता है। यह तरीक़ा है: संविधान का उल्लंघन, अधिनायकत्व, निरंकुश शासन की पुन:स्थापना, regis voluntas suprema lex!* इसलिए, महानुभावो, हिम्मत से काम लीजिए; यहां अधकचरेपन से काम नहीं चलेगा; यहां जो करना है वह मुकम्मल ढंग से करना पड़ेगा!

लेकिन यह न भूलियेगा कि सभी लघु राज्यों की तरह और सामान्यत: सभी आधुनिक राज्यों की तरह जर्मन साम्राज्य भी एक **संविदा का फल** है: पहले तो राजाओं की एक दूसरे के साथ संविदा का और दूसरे राजाओं की जनता के साथ संविदा का फल। यदि इस संविदा को एक पक्ष तोड़ता है, तो पूरी संविदा छिन्न-भिन्न हो जाती है; तब जैसा कि बिस्मार्क ने १८६६ में इतने ख़ूबसूरत ढंग से हमें दिखाया, दूसरा पक्ष भी उससे बंधा नहीं रह सकता। इसलिए यदि आप जर्मन राज्य के संविधान को तोड़ते हैं, तो सामाजिक-जनवाद आपकी निस्बत जो भी चाहे करने को आज़ाद होगा और करेगा। लेकिन तब वह क्या करेगा इसके बारे में वह आज आपके सामने बोल पड़नेवाला नहीं है।

आज से ठीक सोलह शताब्दी पहले रोमन साम्राज्य में भी इसी प्रकार एक पर्युत्क्षेपण-पक्षी ख़तरनाक पार्टी सक्रिय थी। उसने धर्म को और राज्य के सभी आधारों को खंडित किया; उसने इस बात को मानने से साफ़ इनकार किया कि सम्राट् की मर्ज़ी ही सबसे बड़ा क़ानून है; इस पार्टी की अपनी मातृभूमि न थी, वह एक अंतर्राष्ट्रीय पार्टी थी; गाल से लेकर एशिया तक साम्राज्य के सभी प्रदेशों में और साम्राज्य की सीमाओं से बाहर भी यह पार्टी फैली। बहुत दिनों तक उसने चुपके-चुपके गुप्त रूप से अपने विद्रोहात्मक क्रियाकलाप चलाये थे; पर अब काफ़ी दिनों से उसने अपने को पर्याप्त शक्तिशाली समझ खुल्लमखुल्ला काम करना शुरू कर दिया था। सेना में भी इस पर्युत्क्षेपक पार्टी के, जिसे ईसाई कहते थे, बहुत-से आदमी थे; पूरे के पूरे सैनिक दस्ते ईसाई थे। जब उन्हें आज्ञा दी गयी कि वे मूर्त्तिपूजकों के सुस्थापित धर्म के बलिअनुष्ठान में उपस्थित रहकर धर्म के प्रति अपना सम्मान प्रकट करें, तब विद्रोही सैनिकों ने प्रतिवादस्वरूप अपने टोपों पर एक विशेष चिह्न—क्रास के चिह्न—को लगाने की धृष्टता की। बारिकों में उनके ऊपर के अफ़सरों की पुरानी डांटफटकार भी बेकार साबित हुई। सम्राट् डायोक्लेशियन के लिए अब यह संभव न रहा कि जब सेना

*बादशाह की मर्ज़ी ही सबसे बड़ा क़ानून है।—सं०

में व्यवस्था, आज्ञानुवर्तिता तथा अनुशासन की जड़ काटी जा रही हो, वह चुपचाप देखते रहें। उन्होंने समय रहते प्रबल हस्तक्षेप किया। उन्होंने एक समाजवाद-विरोधी – माफ़ कीजिए, मेरा मतलब है ईसाई-विरोधी क़ानून जारी किया। पर्युत्क्षेपकों की सभाओं पर रोक लगा दी गयी, सभा-मंडपों को बंद कर दिया गया या गिरा तक दिया गया, ईसाई धर्म के प्रतीक – क्रास आदि – की भी मनाही कर दी गयी – जैसे सैक्सनी में लाल रूमालों के इस्तेमाल की मनाही की गयी। ईसाइयों को सरकारी नौकरियों के अयोग्य घोषित किया गया, कार्पोरल तक का पद उनके लिए निषिद्ध था। चूंकि उस काल में "व्यक्ति-सम्मान" में इतनी अच्छी तरह प्रशिक्षित न्यायाधीश न थे, जैसे न्यायाधीशों की श्री फ़ॉन कोलेर के पर्युत्क्षेपण-विरोधी विधेयक[106] में कल्पना की गयी है, इसलिए ईसाइयों के लिए अदालत में जाकर इंसाफ़ की मांग करने की मनाही कर दी गयी। इस असाधारण क़ानून का भी कोई असर नहीं हुआ। ईसाइयों ने दीवारों पर चिपकाये गये इस क़ानून को नफ़रत से फाड़ डाला; यहां तक कहा जाता है कि उन्होंने निकोमेडिया में सम्राट् के प्रासाद में, सम्राट् के वहां रहते हुए, आग लगा दी। सम्राट् ने इसका बदला सन् ३०३ ईसवी में ईसाइयों पर घोर दमनचक्र चला कर लिया। यह इस प्रकार का अंतिम दमनचक्र था। और वह इतना प्रभावपूर्ण सिद्ध हुआ कि सत्रह साल बाद सेना में ईसाई ही ईसाई दिखायी देने लगे और समस्त रोमन साम्राज्य के अगले एकाधिपति कान्सटैंटाइन ने, जिसे पुरोहितों ने कान्सटैंटाइन महान् कहा, ईसाई धर्म को राजकीय धर्म घोषित कर दिया।

लंदन, ६ मार्च १८९५

फ़्रेडरिक एंगेल्स

«Die Neue Zeit» पत्रिका, खंड २, अंक २७ तथा २८, १८९४–१८९५ में संक्षिप्त रूप में प्रकाशित तथा Karl Marx. *«Die Klassenkämpfe in Frankreich 1848 bis 1850»*. Berlin, 1895, में प्रकाशित।

अंग्रेज़ी से अनूदित।

फ्रांस में वर्ग-संघर्ष

१८४८ – १८५०

केवल चन्द अध्यायों को छोड़कर १८४८ से लेकर १८४९ तक क्रांति के वृत्तान्त के हर कमोबेश महत्वपूर्ण भाग का शीर्षक रहा है : **क्रान्ति की पराजय !**

परन्तु इन पराजयों में जो चीज धराशायी हुई वह क्रांति नहीं थी। पराजित हुए क्रान्ति-पूर्व के परम्परागत अवशेष, इन सामाजिक सम्बन्धों के परिणाम जो अभी तक तीक्ष्ण वर्ग विरोधों के बिन्दु तक नहीं पहुंचे थे – व्यक्ति, भ्रम, संप्रत्ययन, योजनाएं, जिनसे क्रान्तिकारी पार्टी फ़रवरी क्रान्ति से पहले मुक्त नही थी, जिनसे वह **फ़रवरी क्रान्ति की विजय** से नहीं अपितु **पराजयों** के सिलसिले से ही मुक्त हो सकती थी।

संक्षेप में क्रान्ति ने प्रगति की, वह आगे बढ़ी, अपनी तात्कालिक कारुणिक-प्रहसनात्मक उपलब्धियों के द्वारा नहीं वरन् इसके विपरीत एक सशक्त, संयुक्त प्रतिक्रान्ति को जन्म देकर, एक ऐसे शत्रु को जन्म देकर, जिससे टक्कर में ही शासन का तख़्ता उलटनेवाली पार्टी सही अर्थों में एक क्रान्तिकारी पार्टी में परिपक्व हुई।

अगले पृष्ठों का काम यही साबित करना है।

१
जून १८४८ की पराजय

जुलाई क्रान्ति[107] के बाद जब उदारपंथी बैंकपति लाफ़ीत अपने साथी आर्लियां के ड्यूक[108] को विजयपूर्वक नगरपालिका-भवन में ले गया तो उसके मुंह से ये शब्द निकले, "**अबसे बैंकपति शासन किया करेंगे।**" लाफ़ीत ने क्रान्ति का रहस्य प्रकट कर दिया।

यह फ़ांसीसी पूंजीपति वर्ग नहीं था जो लूई फ़िलिप के मातहत शासन कर रहा था, यह था केवल **उसका एक धड़ा**: बैंकपति, स्टाक एक्सचेंज के अधिपति, रेलों के अधिपति, कोयले तथा लोहे की खानों और जंगलों के स्वामी, उनसे संलग्न भूस्वामियों का एक भाग – तथाकथित **वित्तीय अभिजात वर्ग**। वह सिंहासन पर बैठा, उसने संसद-सदनों से अपनी इच्छानुसार क़ानून मंजूर कराये, उसने राजकीय ओहदों का – मंत्रिमण्डल के विभागों से लेकर तम्बाकू की दूकानों तक – वितरण किया।

औद्योगिक पूंजीपति वर्ग विशेष अधिकृत विपक्ष का एक हिस्सा बन गया अर्थात् उसे संसद-सदनों में केवल अल्पसंख्या के रूप में प्रतिनिधित्व प्राप्त था। वित्तीय अभिजात वर्ग की निरंकुशता जितनी विशुद्ध होती चली गयी, और वह स्वयं अपने बारे में जितनी अधिक यह कल्पना करने लगा कि १८३२, १८३४ तथा १८३९[109] के विद्रोहों के बाद, जिनमें ख़ून की नदियां बहीं, मज़दूर वर्ग पर उसका प्रभुत्व सुनिश्चित हो गया है, उसका विरोध उतना ही दृढ़तापूर्वक अभिव्यक्त होता गया। रुआं का उद्योगपति तथा संविधान और साथ ही राष्ट्रीय विधान सभाओं में पूंजीवादी प्रतिक्रियावाद का सबसे मतान्ध माध्यम **ग्रांदें** निचले सदन में गीज़ो का सबसे उग्र विरोधी था। **लियों फ़ोशे** ने, जिसे इसलिए जाना जाता है कि उसने आगे चलकर फ़ांसीसी प्रतिक्रान्ति के गीज़ो के रूप में ख्याति प्राप्त करने की बेबस कोशिश की, लूई फ़िलिप के आख़िरी दिनों में

सट्टेबाज़ी तथा उसके चाकर – सरकार – के ख़िलाफ़ उद्योग के पक्ष में क़लम उठायी थी। **बास्तिश्रा** ने बोर्दो तथा पूरे शराब-उत्पादक फ़ांस के नाम पर शासकीय प्रणाली के विरुद्ध आन्दोलन किया।

हर श्रेणी के **निम्नपूंजीपतियों** तथा **कृषक समुदाय** को भी राजनीतिक सत्ता से बाहर रखा गया। अन्ततः अधिकृत विपक्ष में अथवा pays légal* के सर्वथा बाहर उपरोक्त वर्गों के **विचारधारात्मक** प्रतिनिधि तथा प्रवक्ता थे, उनके विद्वान, वकील, डाक्टर आदि, संक्षेप में उनके तथाकथित "**प्रतिभावान व्यक्ति**"।

जुलाई राजतंत्र[110] अपने वित्तीय संकट के कारण शुरू से ही बड़े पूंजीपति वर्ग पर निर्भर करता था तथा बड़े पूंजीपति वर्ग पर उसकी निर्भरता बढ़ते हुए वित्तीय संकट का अक्षय स्रोत थी। बजट को सन्तुलित किये बिना, राजकीय व्यय तथा राजस्व के बीच सन्तुलन स्थापित किये बिना राज्य के प्रशासन को राष्ट्रीय उत्पादन के हितों के मातहत करना असम्भव था। राजकीय व्ययों को सीमित किये बिना अर्थात् शासकीय प्रणाली की हस्तियों के हितों का अतिक्रमण किये बिना तथा कर-प्रणाली बदले बिना अर्थात् कराधान के बोझ के अच्छे-ख़ासे हिस्से को स्थानान्तरित कर उसे स्वयं बड़े पूंजीपतियों के कंधों पर डाले बिना यह सन्तुलन कैसे हासिल किया जाता?

इसके विपरीत पूंजीपति वर्ग के उस धड़े का, जो संसद-सदनों के ज़रिए शासन कर रहा था तथा क़ानून बना रहा था, **राज्य के ऋणग्रस्त होने में प्रत्यक्ष हित** था। उसकी सट्टेबाज़ी का तथा उसकी समृद्धि का मुख्य स्रोत था **राज्य का घाटे का बजट**। हर साल के अन्त में नया घाटा सामने आता था। और चार या पांच साल के बीतने पर फिर नया ऋण। हर नया ऋण राज्य के साथ धोखाधड़ी करने के लिए वित्तीय अभिजात वर्ग को नये सुयोग प्रदान करता था। राज्य को कृत्रिम रूप से दिवालियेपन के कगार पर रखा जाता था – उसे बैंकपतियों से अतीव प्रतिकूल शर्तों पर उधार लेने के लिए विवश होना पड़ता था। हर नया ऋण जनता को, जो राजकीय बांडों में अपनी पूंजी लगाती थी, स्टाक-एक्सचेंज की उन तिकड़मों के माध्यम से लूटने का एक नया सुयोग प्रदान करता था जिनके रहस्यों का सरकार तथा संसदीय बहुमत को ज्ञान रहता था। सामान्यतः राजकीय ऋण की अस्थिरता तथा राजकीय रहस्यों के ज्ञान ने बैंकपतियों और संसद-सदनों के अन्दर तथा सिंहासन पर आसीन उनके सहयोगियों को सरकारी सिक्यूरिटियों

---

*मतदान के अधिकार का उपभोग करनेवाले लोगों के हल्के। – सं०

के भावों में सहसा, असाधारण उतार-चढ़ाव लाने की सम्भावना प्रदान की, उसका निश्चित रूप से सदैव यही फल निकलता रहा कि अपेक्षाकृत छोटे पूंजीपतियों का समुदाय बरबाद होता रहता था और बड़े जूआरी बहुत तेजी से मालामाल हो जाते थे। राजकीय बजट का घाटा चूंकि पूंजीपति वर्ग के सत्ताधारी धड़े के प्रत्यक्ष हित में होता था, इसलिए यह बात साफ़ हो जाती है कि लूई फ़िलिप के शासन के अन्तिम वर्षों में **असाधारण** राजकीय व्यय नेपोलियन के शासन-काल में असाधारण राजकीय व्यय से क्यों दुगुने से कहीं अधिक था। वह वस्तुतः ४० करोड़ फ़्रांक की वार्षिक राशि तक पहुंच गया था जबकि फ़्रांस का कुल औसत वार्षिक निर्यात कभी-कभार ही ७५ करोड़ फ़्रांक तक पहुंच पाता था। इसके अलावा इस तरह राज्य के हाथों से जो विपुल धनराशियां गुजरती थीं, उन्होंने फ़रेब-धोखाधड़ी से ठेके हथियाने का, घूसख़ोरी, ख़यानत तथा हर तरह की ठगी का पथ सुगम बना दिया। ऋणों के मामले में राज्य को ख़सोटने का जो काम थोक भावों में होता था, उसे सरकारी कार्यों में ख़ुदरे भावों में दुहराया जाता था। संसद-सदन तथा सरकार के सम्बन्धों में जो कुछ होता था, उसकी अलग-अलग विभागों तथा अलग-अलग उद्योगपतियों के बीच सम्बन्धों में कई गुना पुनरावृत्ति होती।

सत्ताधारी वर्ग ने **रेलों के निर्माण** से उसी तरह लाभ उठाया जिस तरह उसने साधारणतया राजकीय व्ययों तथा राजकीय ऋणों से उठाया था। संसद-सदन मुख्य भार राज्य के कंधों पर थोपते गये और सट्टेबाज़ वित्तीय अभिजात वर्ग को सुनहरे फल दिलाते गये। प्रतिनिधि-सदन में उन घोटालों की याद हो आती है जब संयोगवश यह भेद खुला कि बहुमत के तमाम सदस्यों की, जिनमें अनेक मंत्री भी शामिल थे, शेयरहोल्डरों के रूप में केवल उन रेलवे निर्माण-कार्यों में ही दिलचस्पी थी जिन्हें उन्होंने बाद में क़ानून-निर्माताओं के रूप में राज्य के ख़र्च से पूरा कराया।

दूसरी ओर छोटे से छोटे वित्तीय सुधार को बैंकपतियों के प्रभाव के कारण चौपट कर दिया जाता था। उदाहरण के लिए **डाक सुधार** को लें। इस पर राथशिल्ड ने विरोध किया। क्या राज्य को इस बात की इजाजत दी जा सकती थी कि वह राजस्व के उन स्रोतों में कटौती करे जिनमें से उसके निरन्तर बढ़ते हुए कर्ज़ पर ब्याज की अदायगी की जानी थी?

जुलाई राजतंत्र फ़्रांस की राष्ट्रीय सम्पदा का दोहन करने के लिए ज्वायंट स्टाक कम्पनी के अलावा और कुछ नहीं था, जिसके लाभांशों को मंत्रियों, संसद-

सदनों, २,४०,००० मतदाताओं और उनके पक्षपोषकों के बीच बांटा जाता था। इस कम्पनी के डायरेक्टर के पद पर विराजमान थे लूई फ़िलिप – राज-सिंहासन पर एक तरह का रोबेर माकेर। इस प्रणाली के अन्तर्गत व्यापार, उद्योग, कृषि, जहाज़रानी, औद्योगिक पूंजीपति वर्ग के हितों का निरन्तर ख़तरे में पड़ते रहना, उन्हें हानि पहुंचना अवश्यम्भावी था। सस्ती सरकार – gouvernement à bon marché – ये थे वे शब्द जो उसने जुलाई के दिनों में अपने झंडे पर अंकित किये थे।

चूंकि वित्तीय अभिजात वर्ग क़ानून बनाता था, राज्य के प्रशासन के शीर्ष स्थान पर था, सारी संगठित सार्वजनिक सत्ता उसके मातहत थी, वह वास्तविक स्थिति के माध्यम से तथा अख़बारों के माध्यम से जनमत पर छाया था, इसलिए हर क्षेत्र में राजदरबार से लेकर café borgne* तक, उसी वेश्यावृत्ति, उसी निर्लज्जतापूर्ण ठगी, उत्पादन करके नहीं वरन् दूसरों के पास पहले ही उपलब्ध दौलत को अपनी जेबों में ठूंसकर अमीर बनने के उसी उतावलेपन को दुहराया जा रहा था। विकृति एवं कामुकता की प्रवृत्तियां विशेष रूप से पूंजीवादी समाज के शीर्ष भाग में स्वयं पूंजीवादी क़ानूनों से हर क्षण टक्कर खाते हुए ऐसे उच्छृंखल रूप में प्रकट हुईं, जिसमें सट्टेबाज़ी से प्राप्त की गयी दौलत अपने स्वभावानुकूल अपनी इच्छातृप्ति का प्रयास करती है, जिसमें सुख विषयोपभोग बन जाता है और दौलत, गन्दगी तथा ख़ून एक दूसरे से घुलमिल जाते हैं। वित्तीय अभिजाततंत्र दौलत बटोरने की अपनी विधि के मामले में और साथ ही अपने आमोद-प्रमोद के मामले में **पूंजीवादी समाज के शिखरों पर लम्पट सर्वहारा के पुनर्जन्म** के अलावा और कुछ नहीं है।

फ़्रांसीसी पूंजीपति वर्ग के ग़ैरसत्ताधारी धड़े चिल्ला उठे – **भ्रष्टाचार**! जनता उस समय चिल्लायी – à bas les grands voleurs! à bas les assassins!** जब १८४७ में पूंजीवादी समाज के सबसे प्रमुख मंचों पर वही दृश्य सार्वजनिक रूप से दुहराये गये जो लम्पट सर्वहाराओं को नियमित रूप से वेश्याघरों, मोहताजख़ानों और पागलख़ानों में, अदालतों के सामने, फांसी के तख़्ते पर पहुंचाते हैं। औद्योगिक पूंजीपति वर्ग ने देखा कि उसके हित ख़तरे में पड़ रहे हैं, निम्नपूंजीपति वर्ग में नैतिक रोष भरा हुआ था, जनता की कल्पनाशक्ति

* सन्देहास्पद चरित्र वाले कॉफ़े। – सं०

** बड़े चोर मुर्दाबाद! हत्यारे मुर्दाबाद! – सं०

आहत हुई थी, पेरिस की सड़कों पर पैम्फ़लेटों की बाढ़ आ गयी थी, इनके शीर्षक थे–«La dynastie Rothschild» *, «Les juifs rois de l'époque» ** आदि, इनमें वित्तीय अभिजाततंत्र की न्यूनाधिक तीक्ष्णता के साथ भर्त्सना की गयी तथा उसे लांछित किया गया।

Rien pour la gloire! *** यश कोई मुनाफ़ा नहीं दिलाता! La paix partout et toujours! **** युद्ध तीन और चार प्रतिशतवाले शेयरों के भाव घटाता है!–ये शब्द स्टाक-एक्सचेंज के सट्टेबाजों के फ़्रांस ने अपने झंडे पर अंकित कर दिये थे। इसलिये उसकी विदेश नीति फ़्रांसीसियों की राष्ट्रीय भावना का अपमान ही थी, जो उस समय और ज्यादा उग्र रूप में प्रभावित हुई जब आस्ट्रिया द्वारा क्रैको को अपनी भूमि में शामिल किये जाने के बाद पोलैंड के साथ बलात्कार पूर्ण हो गया और जब स्विस ज़ोंडरबुंड (Sonderbund) युद्ध [111] में गीज़ो सक्रिय रूप से पुनीत-संघ के पक्ष में हो गया। इस मामूली युद्ध में स्विस उदारपंथियों की विजय ने फ़्रांस में पूंजीवादी विपक्ष का आत्मसम्मान बढ़ा दिया; पोलेर्मो में जनता के ख़ूनी विप्लव ने संज्ञाहीन जनसाधारण के शरीर के लिए बिजली के झटके का काम किया और उसने उनकी महान क्रान्तिकारी स्मृतियों तथा संवेगों को जगा दिया। *****

अन्ततः **विश्वव्यापी महत्व की दो आर्थिक घटनाओं** ने आम असन्तोष को तेज़ कर दिया तथा विप्लव करने की मनःस्थिति को परिपक्व बना दिया।

१८४५ तथा १८४६ में आलुओं की फ़सल को कीड़ा लग जाने तथा अनाज की फ़सलें न होने के कारण जनता में आम उफान बढ़ गया। १८४७ के अभाव ने फ़्रांस और साथ ही शेष महाद्वीप में रक्तपातपूर्ण संघर्षों को जन्म दे दिया।

---

* राथशिल्ड का वंश।–सं०

** सूदख़ोर–हमारे काल के राजा।–सं०

*** यश के लिये कुछ नहीं!–सं०

**** सर्वत्र तथा सर्वदा शान्ति!–सं०

***** ११ नवम्बर १८४६ को रूस तथा प्रशा की सहमति से आस्ट्रिया द्वारा क्रैको को अपनी भूमि में मिलाया जाना।–स्विस में ज़ोंडरबुंड का युद्ध: ४ से २८ नवम्बर १८४७ तक।–पालेरमो में १२ जनवरी १८४८ को विद्रोह; जनवरी के अन्त में नियापोलिटनों द्वारा नगर की बमबारी। **(१८९५ के संस्करण में एंगेल्स की टिप्पणी।)**

वित्तीय अभिजाततंत्र के निर्लज्ज व्यभिचारों के मुक़ाबले में थी जीवन की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जनता की लड़ाई! ब्यूज़ान्स में भूखे बलवाइयों को मौत के घाट उतारा गया;[113] पेरिस में शाही परिवार ने अतितृप्त ठगों को अदालतों के हाथों से छीन लिया।

दूसरी बड़ी आर्थिक घटना, जो क्रान्ति की शुरूआत को और समीप ले आयी, इंगलैंड में **आम वाणिज्यिक तथा औद्योगिक संकट** थी। १८४५ की पतझड़ में ही रेलों के शेयरों के सटोरियों की बहुत बड़ी संख्या के दिवालिया होने से जिस संकट की उद्घोषणा हो गयी थी और जिसे अनाज शुल्कों के आसन्न उन्मूलन जैसी कई घटनाओं ने १८४६ तक टाल दिया था, १८४७ की पतझड़ में वह अन्ततः लन्दन के थोक किरानियों के दिवालिया होने के साथ उभरकर सामने आया, उसके फ़ौरन बाद भूमि बैंक दिवालिया हो गये तथा इंगलैंड के औद्योगिक ज़िलों की फैक्टरियां बन्द हो गयीं। महाद्वीप पर इस संकट के परिणाम अभी ख़त्म भी न हुए थे कि फ़रवरी क्रान्ति आरम्भ हो गयी।

आर्थिक महामारी ने व्यापार तथा उद्योग पर जो बरबादी ढायी, उसने वित्तीय अभिजाततंत्र की निरंकुशता को और अधिक असहनीय बना दिया। पूरे फ़्रांस में पूंजीवादी विपक्ष **निर्वाचन-प्रणाली में** ऐसे **सुधार** के लिए, जो उसे संसद-सदनों में बहुमत दिलाये तथा स्टाक-एक्सचेंज के मंत्रिमण्डल को उलट दे, **दावतों के दौरान आन्दोलन** करने लगा। यही नहीं, पेरिस में औद्योगिक संकट ने बहुत बड़ी तादाद में उद्योगपतियों तथा बड़े व्यापारियों को, जो विद्यमान परिस्थितियों में विदेशी मंडी में आगे व्यापार नहीं कर सके, घरेलू मंडी में ला पटका। उन्होंने बहुत बड़ी फ़र्में क़ायम कीं जिनकी प्रतियोगिता ने छोटे दूकानदारों को सामूहिक रूप से बरबाद कर दिया। इसी कारण पेरिस के पूंजीपति वर्ग के इस हिस्से के लोग इतनी बड़ी तादाद में दिवालिये हुए तथा यही कारण है कि फ़रवरी में उन्होंने क्रान्तिकारी कार्रवाई की। यह सुविदित है कि गीज़ो तथा संसद-सदनों ने सुस्पष्ट चुनौती देकर सुधार सम्बन्धी प्रस्तावों का उत्तर दिया, कि लूई फ़िलिप ने बारो के नेतृत्व में मंत्रिमण्डल बनवाने में बहुत विलम्ब किया, कि हालत यहां तक पहुंची कि जनता और सेना के बीच आमने-सामने लड़ाई हुई, कि राष्ट्रीय गार्ड के निष्क्रिय आचरण ने सेना को निरस्त्र कर दिया, और जुलाई राजतंत्र को अस्थायी सरकार के लिए जगह खाली करनी पड़ी।

फ़रवरी के बैरीकेडों के फलस्वरूप जन्मी **अस्थायी सरकार** अपनी संरचना में अनिवार्यतः उन विभिन्न पार्टियों को प्रतिबिम्बित करती थी जो विजय में

भागीदार थीं। यह उन **विभिन्न वर्गों के बीच एक समझौते** के अलावा और कुछ हो ही नहीं सकती थी जिन्होंने जुलाई सिंहासन को उलट दिया था परन्तु जिनके हित परस्पर विरोधी थे। उसके सदस्यों का **बहुत बड़ा बहुमत** पूंजीपति वर्ग के प्रतिनिधियों का था। जनतंत्रवादी निम्नपूंजीपति वर्ग का प्रतिनिधित्व लेद्रू-रोलें और फ़्लोकोन ने, जनतंत्रवादी पूंजीपति वर्ग का प्रतिनिधित्व *«National»*[113] के लोगों ने, राजवंशीय विपक्ष का क्रेम्यो, दुपों द ल'एर आदि ने किया। मजदूर वर्ग के केवल दो प्रतिनिधि थे – लूई ब्लां तथा अल्बेर। अन्ततः अस्थायी सरकार में लामार्तीन शुरू-शुरू में किसी वास्तविक हित, किसी निश्चित वर्ग का प्रवक्ता नहीं था; यह तो स्वयं फ़रवरी क्रान्ति का, अपने भ्रमों, अपने काव्य, अपनी कल्पनात्मक अन्तर्वस्तु तथा अपने शब्दजाल युक्त आम विप्लव का मूर्त रूप था। बाक़ी के लिए फ़रवरी क्रान्ति का यह प्रवक्ता अपनी स्थिति तथा अपने विचारों के अनुसार **पूंजीपति वर्ग** का आदमी था।

यदि पेरिस राजनीतिक केन्द्रीकरण के परिणामस्वरूप फ़्रांस पर राज करता है तो मजदूर क्रान्तिकारी भूकम्पों के क्षणों में पेरिस पर राज करते हैं। अस्थायी सरकार के जीवन में पहला कार्य था विजयोन्मत्त पेरिस से संजीदे फ़्रांस के नाम अपील द्वारा इस भारी प्रभाव से बचने की कोशिश। लामार्तीन ने जनतंत्र घोषित करने के बैरीकेडी योद्धाओं के अधिकार को इस आधार पर चुनौती दी कि केवल फ़्रांसीसियों की बहुसंख्या को ही यह अधिकार प्राप्त है; उसके वोटों के लिए प्रतीक्षा करनी होगी, पेरिस के सर्वहारा वर्ग को बलाद्ग्रहण द्वारा अपनी विजय को मलिन नहीं बनाना चाहिए। पूंजीपति वर्ग सर्वहारा वर्ग को केवल **एक ही** बलाद्ग्रहण की – संघर्ष के बलाद्ग्रहण की – इजाज़त देता है।

२५ फ़रवरी को दोपहर तक जनतंत्र की घोषणा नहीं हुई थी, दूसरी ओर सारे मंत्रालय अस्थायी सरकार के पूंजीवादी तत्वों के बीच, जनरलों, बैंकपतियों तथा *«National»* के चारों ओर जमा मंडली के बीच बंट चुके थे। परन्तु मजदूर इस बार जुलाई १८३० की तरह के किसी भी झांसे में न आने के लिए कृतसंकल्प थे। वे नये सिरे से लड़ने तथा हथियारों के बल पर जनतंत्र हासिल करने के लिए कटिबद्ध थे। **रास्पायल** इस सन्देश को लेकर नगरपालिका-भवन के लिए रवाना हुआ। पेरिस के सर्वहारा वर्ग के नाम पर उसने अस्थायी सरकार को जनतंत्र की उद्घोषणा करने का **आदेश दिया**; यदि जनता का यह आदेश दो घंटे के अन्दर पूरा नहीं किया जाता तो वह दो लाख लोगों का नेतृत्व करते हुए यहां वापस आयेगा। मृतकों के शव अभी ठंडे भी नहीं हुए थे, बैरीकेड अभी

गारफ़ भी नहीं हुए थे, मजदूर अभी निरस्त्र नहीं हुए थे तथा उनके विरुद्ध खड़ी की जा सकनेवाली एकमात्र शक्ति थी राष्ट्रीय गार्ड। इन परिस्थितियों में राजकीय नीति की बुद्धिमत्ता के तर्क तथा अस्थायी सरकार की क़ानूनी औचित्य-अनौचित्य सम्बन्धी शंकाएं एकाएक ग़ायब हो गयीं। दो घंटे की अवधि की सीमा अभी ख़त्म नहीं हुई थी कि पेरिस की तमाम दीवालें इन विराट ऐतिहासिक शब्दों से भर गयीं :

République française!
Liberté, Égalité, Fraternité! *

सार्वजनिक मताधिकार के आधार पर जनतंत्र की स्थापना की उद्घोषणा ने सीमित लक्ष्यों तथा ध्येयों की, जिन्होंने पूंजीपति वर्ग को फ़रवरी क्रान्ति की ओर ठेला था, स्मृति तक को मिटा दिया। पूंजीपति वर्ग के केवल चन्द धड़ों के बजाय फ़्रांसीसी समाज के तमाम वर्ग एकाएक राजनीतिक सत्ता में भाग लेने के लिए आकृष्ट किये गये, उन्हें विवश किया गया कि वे रंगशाला के अन्दर बाक्सों, स्टालों तथा गैलरी से बाहर निकलें तथा क्रान्तिकारी मंच पर स्वयं अभिनय करें। संवैधानिक राजतंत्र के लोप के साथ-साथ अपने को पूंजीवादी समाज से भिन्न बतानेवाले राज्य की प्रतीयमान स्वतंत्रता भी लुप्त हो गयी तथा इसके साथ ही इस मिथ्या भ्रम द्वारा उत्पन्न अन्य सभी गौण संघर्ष भी लुप्त हो गये।

अस्थायी सरकार तथा अस्थायी सरकार के माध्यम से पूरे फ़्रांस को जनतंत्र स्वीकार करने के लिए बाध्य करके सर्वहारा वर्ग तुरन्त एक स्वतंत्र पार्टी के रूप में मैदान में उतर आया परन्तु उसने साथ ही पूरे पूंजीवादी फ़्रांस को अपने विरुद्ध संघर्ष के लिए मैदान में उतरने की चुनौती दे दी। उसने अपनी क्रान्तिकारी मुक्ति के लिए केवल जमीन जीती परन्तु यह स्वयं क्रान्तिकारी मुक्ति क़तई नहीं थी।

इसके विपरीत, फ़रवरी जनतंत्र को सबसे पहले वित्तीय अभिजाततंत्र के साथ **सारे सम्पत्तिधारी वर्गों** को राजनीतिक सत्ता की परिधि में प्रवेश करने की इजाज़त देकर **पूंजीपति वर्ग के शासन को पूर्ण बनाना पड़ा।** बड़े भूस्वामियों की, लेजिटिमिस्टों की बहुसंख्या को उस नगण्य राजनीतिक स्थिति से छुटकारा मिल गया जहां उन्हें जुलाई राजतंत्र ने पहुंचा दिया था। यह अकारण नहीं था कि «*Gazette de France*» [114] ने विपक्षी पत्रों के साथ मिलकर आन्दोलन किया,

* फ़्रांसीसी जनतन्त्र! स्वतंत्रता, समानता, भाईचारा! —सं०

यह अकारण नहीं था कि लारोशजाकलिन ने २४ फ़रवरी को प्रतिनिधि-सदन में क्रान्ति का पक्ष लिया। नाममात्र के मालिकों को, **किसानों** को, जो फ़्रांसीसी जनता की भारी बहुसंख्या हैं, सार्वजनिक मतदान प्रणाली ने फ़्रांस की क़िस्मत का फ़ैसला करनेवालों की स्थिति में पहुंचा दिया। फ़रवरी जनतंत्र अन्ततः पूंजीपति वर्ग के शासन को स्पष्ट रूप से प्रकाश में ले आया, क्योंकि उसने उस ताज को नीचे पटक दिया था जिसकी आड़ में पूंजी अपने को छुपाकर रखती थी।

जिस तरह मज़दूरों ने जुलाई के दिनों में **पूंजीवादी राजतंत्र** के लिए लड़ाई की तथा उसे जीता, ठीक उसी तरह उन्होंने फ़रवरी के दिनों में **पूंजीवादी जनतंत्र** के लिए लड़ाई की तथा उसे जीता। जिस तरह जुलाई राजतंत्र को ऐलान करना पड़ा कि वह **जनतांत्रिक संस्थानों से घिरा हुआ राजतंत्र** है, उसी तरह फ़रवरी जनतंत्र को यह ऐलान करने के लिए मजबूर होना पड़ा कि वह **सामाजिक संस्थानों से घिरा हुआ जनतंत्र** है। पेरिस सर्वहारा वर्ग ने यह रियायत भी **जीती।**

मार्श नामक मज़दूर ने वह आज्ञप्ति लिखवायी जिसके द्वारा नवगठित अस्थायी सरकार ने मज़दूरों को यह गारंटी देने के लिए अपने को वचनबद्ध किया कि वह उनके लिए श्रम के माध्यम से आजीविका की व्यवस्था करेगी, तमाम नागरिकों के लिए काम की व्यवस्था करेगी आदि। और चन्द दिनों के बाद जब वह अपने वचनों को भूल गयी तथा ऐसे प्रतीत हुआ कि सर्वहारा वर्ग उसकी दृष्टि-परिधि में नहीं रह गया है तो २०,००० मज़दूरों ने नगरपालिका-भवन की ओर यह नारा बुलन्द करते हुए कूच किया — **श्रम का संगठन करो! विशेष श्रम मंत्रालय स्थापित करो!** अस्थायी सरकार ने अनिच्छापूर्वक और बहुत लम्बे वाद-विवाद के बाद एक विशेष स्थायी आयोग की स्थापना की जिसे मज़दूर वर्गों की हालत सुधारने के तरीक़े ढूंढ़ने का काम सौंपा गया। इस आयोग में पेरिस के कारीगरों के निगमों के प्रतिनिधि थे तथा उसकी अध्यक्षता लूई ब्लां तथा अल्बेर ने की। उसे लुक्ज़म्बर्ग महल बैठकों के लिए सौंपा गया। इस तरह मज़दूर वर्ग के प्रतिनिधियों को अस्थायी सरकार के केन्द्र से हटा दिया गया, उसके पूंजीवादी भाग ने वास्तविक राजकीय सत्ता अपने पास रखी और प्रशासन की बागडोर पूरी तरह अपने हाथों में रखी; वित्त, व्यापार तथा सार्वजनिक कार्य मंत्रालयों की **बग़ल में**, बैंक तथा स्टाक-एक्सचेंज की **बग़ल में** एक **समाजवादी सिनागाग*** प्रकट हुआ, उसके महापुरोहितों का, लूई ब्लां तथा अल्बेर का काम था स्वर्ग खोजना, नये इंजील का प्रचार करना और पेरिस के

*यहूदी आराधनागृह। — सं०

सर्वहारा वर्ग के लिए काम की व्यवस्था करना। किसी भी अन्य सांसारिक सत्ता के विपरीत उनके पास न तो कोई बजट था और न कोई कार्यकारी सत्ता थी। यह माना गया कि वे पूंजीवादी समाज के स्तम्भों से अपना सिर टकराकर उन्हें तोड़ देंगे। लुक्ज़म्बर्ग जहां पारस ढूंढ़ रहा था, वहां नगरपालिका-भवन में चालू मुद्रा ढाली जाती थी।

वैसे तो पेरिस सर्वहारा वर्ग के दावे, जहां तक वे पूंजीवादी जनतंत्र की परिधि के परे थे, लुक्ज़म्बर्ग के धुंधले रूप के अलावा और कोई अस्तित्व प्राप्त ही नहीं कर सकते थे।

मज़दूरों ने पूंजीपति वर्ग के साथ मिलकर फ़रवरी क्रान्ति का सृजन किया था और पूंजीपति वर्ग की **बग़ल में** रहकर उन्होंने अपने हितों की पूर्ति करनी चाही थी, ठीक उसी तरह जिस तरह उन्होंने स्वयं अस्थायी सरकार में पूंजीवादी बहुमत की बग़ल में एक मज़दूर बिठा दिया था। **श्रम का संगठन करो!** परन्तु उजरती श्रम तो श्रम का विद्यमान पूंजीवादी संगठन ही है। उसके बिना कोई पूंजी नहीं, कोई पूंजीपति वर्ग नहीं, कोई पूंजीवादी समाज नहीं है। **एक विशेष श्रम मंत्रालय!** परन्तु वित्त, व्यापार, सार्वजनिक कार्य के मंत्रालय—क्या ये **पूंजीवादी** श्रम मंत्रालय नहीं हैं? और इनकी **बग़ल में** एक **सर्वहारा** श्रम मंत्रालय केवल पुंसत्वहीन मंत्रालय, नेक कामनाओं का मंत्रालय, लुक्ज़म्बर्ग आयोग ही होता। जिस तरह मज़दूरों ने सोचा कि वे पूंजीपति वर्ग के साथ-साथ अपने को भी मुक्त कर सकेंगे, उसी तरह उन्होंने यह भी सोचा कि वे बाक़ी बचे पूंजीवादी राष्ट्रों के साथ-साथ फ़्रांस की राष्ट्रीय दीवालों के अन्दर अपने लिए सर्वहारा क्रान्ति को पूर्ण कर सकेंगे। परन्तु फ़्रांसीसी उत्पादन-सम्बन्ध तो फ़्रांस के विदेश व्यापार पर, विश्व-मंडी में उसकी स्थिति पर, तथा इस मंडी के क़ानूनों पर निर्भर करते हैं; फ़्रांस बिना यूरोपीय क्रान्तिकारी युद्ध के, जो इंगलैंड पर, विश्व-बाज़ार के इस तानाशाह पर, जवाबी चोट करता, उन्हें कैसे तोड़ता?

ज्योंही वह वर्ग जिसमें समाज के क्रान्तिकारी हित संकेन्द्रित होते हैं, उठ खड़ा होता है, वह सीधे अपनी ही स्थिति में अपने क्रान्तिकारी कार्यकलाप के लिए विषय-वस्तु तथा सामग्री प्राप्त कर लेता है—वह दुश्मनों को नष्ट करता है, अपनाये जानेवाले संघर्ष की आवश्यकताओं द्वारा अधिप्रेरित पग उठाता है; उसके अपने कारनामों के परिणाम उसे आगे बढ़ाते हैं। वह अपने कार्यभार की कोई सैद्धान्तिक जांच नहीं करता। फ़्रांसीसी मज़दूर वर्ग ने यह स्तर हासिल नहीं किया था; वह अभी अपनी क्रान्ति सम्पन्न करने में अक्षम था।

औद्योगिक सर्वहारा वर्ग का विकास साधारणतया औद्योगिक पूंजीपति वर्ग के विकास पर निर्भर करता है। केवल उसके शासन के अन्तर्गत ही सर्वहारा वर्ग वह व्यापक राष्ट्रीय अस्तित्व प्राप्त कर सकता है जो उसकी क्रान्ति को राष्ट्रीय स्तर पर पहुंचा सकता है और वह स्वयं उत्पादन के उन आधुनिक साधनों का निर्माण कर सकता है जो उसकी क्रान्तिकारी मुक्ति के साधन बन जाते हैं। उसका शासन ही सामन्ती समाज की भौतिक जड़ों को उखाड़ फेंकता है और उस ज़मीन को समतल बना देता है, जो एकमात्र ऐसी ज़मीन है जिस पर सर्वहारा क्रान्ति सम्भव होती है। शेष महाद्वीप की तुलना में फ़्रांसीसी उद्योग अधिक विकसित तथा फ़्रांसीसी पूंजीपति वर्ग अधिक क्रान्तिकारी है। परन्तु क्या फ़रवरी क्रान्ति वस्तुत: सीधे-सीधे वित्तीय अभिजाततंत्र के विरुद्ध लक्षित नहीं की गयी थी? इस तथ्य ने सिद्ध किया कि औद्योगिक पूंजीपति वर्ग फ़्रांस पर राज नहीं कर रहा था। औद्योगिक पूंजीपति वर्ग केवल वहीं राज कर सकता है जहां आधुनिक उद्योग सारे सम्पत्ति-सम्बन्धों को अपने अनुकूल ढालता है, और उद्योग यह शक्ति केवल तब हासिल करता है जब वह विश्व-मंडी को जीत लेता है, क्योंकि राष्ट्रीय सीमाएं उसके विकास के लिए अपर्याप्त होती हैं। परन्तु फ़्रांसीसी उद्योग कुछ हद तक राष्ट्रीय मंडी पर भी केवल निरोधात्मक शुल्कों की कमोबेश संशोधित प्रणाली के ही माध्यम से अपना प्रभुत्व क़ायम रखता है। इसलिए क्रान्ति के समय फ़्रांसीसी सर्वहारा वर्ग के पास जहां पेरिस में वह वास्तविक शक्ति तथा प्रभाव है जो उसे अपने साधनों के भी परे पहुंचने के लिए स्फूर्ति देते हैं, वहां वह शेष फ़्रांस में अलग-अलग, बिखरे हुए औद्योगिक केन्द्रों में भरा पड़ा है, किसानों तथा निम्नपूंजीपतियों की अधिक संख्या के बीच उसका अस्तित्व विलुप्त हो गया है। पूंजी के विरुद्ध संघर्ष—उसके विकसित आधुनिक रूप में, उसकी निर्णायक मंज़िल पर—औद्योगिक पूंजीपति के विरुद्ध औद्योगिक उजरती मज़दूर का संघर्ष फ़्रांस में एक आंशिक घटना-दृश्य था। फ़रवरी के दिनों के बाद यह संघर्ष क्रान्ति की राष्ट्रीय अन्तर्वस्तु और भी कम हो सकता था क्योंकि पूंजीवादी शोषण की आनुषंगिक पद्धतियों के विरुद्ध—किसान द्वारा सूदख़ोरी और बन्धकों के विरुद्ध, अथवा निम्नपूंजीपति द्वारा थोक व्यापारी, बैंकर और उद्योगपति के विरुद्ध, संक्षेप में दिवालियेपन के विरुद्ध संघर्ष अब भी वित्तीय अभिजाततंत्र के विरुद्ध आम विद्रोह के अन्दर छुपा हुआ था। इसमें आश्चर्य की बात नहीं है कि पेरिस के सर्वहारा ने अपने हितों को स्वयं समाज

के क्रान्तिकारी हितों के रूप में लागू करने के बजाय पूंजीपति वर्ग के **पास-पास** रहकर अपने हितों को आगे बढ़ाने का प्रयास किया; इसमें आश्चर्य की बात नहीं है कि उसने **लाल** झंडे को **तिरंगे** के सामने झुकने दिया।[115] जब तक क्रान्ति की धारा ने सर्वहारा वर्ग तथा पूंजीपति वर्ग के बीच खड़े राष्ट्र के जनसमूह, किसानों तथा निम्नपूंजीपति वर्ग को इस व्यवस्था के विरुद्ध, पूंजी के शासन के विरुद्ध उठ खड़े होने के लिए उत्तेजित नहीं किया तथा उन्हें सर्वहाराओं के पक्षधर के रूप में उनसे संलग्न होने के लिए बाधित नहीं किया, तब तक फ़्रांसीसी मज़दूर एक भी पग आगे नहीं बढ़ा सके, पूंजीवादी व्यवस्था का बाल बांका नहीं कर सके। मज़दूर जून में भारी पराजय के माध्यम से ही यह विजय हासिल कर पाये।

लुक्ज़म्बर्ग आयोग को, पेरिस के मज़दूरों के इस सृजन-कार्य को, इस बात का श्रेय दिया ही जाना चाहिए कि वह एक यूरोपीय मंच से १९ वीं शताब्दी की क्रान्ति के रहस्य को, **सर्वहारा वर्ग की मुक्ति** के रहस्य को प्रकाश में लाया। «*Moniteur*»[116] का चेहरा उस समय तमतमा गया जब उसे अधिकृत रूप से उस "उच्छृंखल उन्माद" का प्रचार करना पड़ा, जो उस समय तक समाजवादियों के अप्रामाणिक लेखनों में दबा हुआ था और आधी भयोत्पादक तथा आधी हास्यास्पद दन्तकथाओं के रूप में ही कहीं दूर से कभी-कभी पूंजीपति वर्ग के कानों में पहुंचा करता था। चकित यूरोप पूंजीवादी ऊंघ से जाग उठा। अतः सर्वहाराओं के दिमाग़ में, जो वित्तीय अभिजाततंत्र को आम पूंजीपति वर्ग से मिला बैठे; मूढ़मति जनतंत्रवादियों की कल्पना में, जो वर्गों के अस्तित्व से ही इन्कार करते थे, या उन्हें हद से हद संवैधानिक राजतंत्र का परिणाम ही मानते थे; पूंजीपति वर्ग के इन धड़ों के पाखण्डपूर्ण शब्दजाल में, जो अब तक सत्ता से बाहर रखे गये थे, जनतंत्र के प्रचलित होने पर **पूंजीपति वर्ग का शासन** मिट गया था। उस समय सारे राजतंत्रवादी जनतंत्रवादियों में तथा पेरिस के सारे करोड़पति मज़दूरों में बदल दिये गये थे। जो शब्द वर्ग-सम्बन्धों के इस काल्पनिक उन्मूलन से मेल खाता था, वह था fraternité – सार्वजनिक भाईचारा और बन्धुत्व। वर्ग वैरभावों से यह सुखदायी विमुखता, विरोधी वर्ग हितों का यह भावुकतामय मेल, वर्ग-संघर्ष के ऊपर उठने की यह दिवास्वप्नमय कामना, यह fraternité – फ़रवरी क्रान्ति का यह वास्तविक आदर्श-वाक्य था। वर्ग तो मात्र एक **ग़लतफ़हमी** से विभक्त किये गये थे तथा लामार्तीन ने २४ फ़रवरी को अस्थायी सरकार को यह बपतिस्मा दिया: "un gouvernement qui

suspende ce *malentendu terrible qui existe entre les différentes classes*"*। पेरिस के सर्वहारा बन्धुत्व की इस उदार मादकता के वशीभूत होकर झूमने लगे।

अस्थायी सरकार ने जनतंत्र उद्घोषित करने के लिए एक बार विवश हो चुकने के बाद फिर उसे पूंजीपति वर्ग तथा प्रान्तों के लिए स्वीकार्य बनाने के वास्ते सब कुछ किया। राजनीतिक अपराधों के लिए मृत्यु-दण्ड ख़त्म कर प्रथम फ़्रांसीसी जनतंत्र[117] के रक्तपातपूर्ण आतंक को अनंगीकार कर दिया गया; अख़बारों के पन्ने सब तरह के विचारों के लिए मुक्त कर दिये गये; सेना, अदालतें तथा प्रशासन कुछ अपवादों को छोड़कर उनके पुराने पदाधिकारियों के हाथों में बने रहे; जुलाई राजतंत्र के किसी भी बड़े अपराधी को कटघरे में खड़ा नहीं किया गया। «*National*» के पूंजीवादी जनतंत्रवादी पुराने जनतंत्रवादी नामों और परिधानों की राजतंत्रवादी नामों और परिधानों के साथ अदला-बदली कर मनोविनोद कर रहे थे। उनके लिए जनतंत्र पुराने पूंजीवादी समाज का नया नृत्य-परिधान मात्र था। नवजात जनतंत्र भयभीत करना नहीं, बल्कि यों कहिये, स्वयं निरन्तर भयभीत होना, अप्रतिरोध, मधुर विनम्रता के जरिए अपना अस्तित्व बनाये रखना और अपने शत्रुओं को निरस्त्र करना अपना मुख्य गुण समझता था। देश में विशेष सुविधाप्राप्त वर्गों के लिए तथा विदेशों में निरंकुश शक्तियों के लिए ज़ोरों से उद्घोषणा की गयी कि जनतंत्र शान्तिपूर्ण स्वरूप का है। उसका घोषित आदर्श-वाक्य था – जिंदा रहो और दूसरों को जिंदा रहने दो। इसके अतिरिक्त फ़रवरी क्रान्ति के कुछ ही समय बाद जर्मनों, पोलों, आस्ट्रियाइयों, हंगेरियाइयों तथा इतालवियों ने, इनमें से हर राष्ट्र ने अपनी तात्कालिक स्थिति के अनुसार विद्रोह किया। रूस तथा इंगलैंड – इंगलैंड ने ख़ुद आन्दोलन किया, रूस दुबककर बैठ गया – तैयार नहीं थे। अतः जनतंत्र के लिए ऐसा कोई राष्ट्रीय शत्रु नहीं था जिसका उसे सामना करना पड़ता। फलस्वरूप कोई ऐसी बड़ी उलझनें नहीं थीं जो क्रियाशीलता को उद्दीप्त कर पातीं, क्रान्तिकारी प्रक्रिया को तेज कर पातीं, अस्थायी सरकार को आगे धकेल सकतीं या नीचे गिरा सकतीं। पेरिस के सर्वहारा वर्ग ने, जो जनतंत्र को अपनी ही रची हुई वस्तु मानता था, अस्थायी सरकार के हर काम की स्वभावतया प्रशस्ति की जिसने पूंजीवादी समाज में अपने को मज़बूती से जमाने का काम सुगम बनाया। उसने अपने को

* "ऐसी सरकार जो विभिन्न वर्गों के बीच विद्यमान इस भयंकर ग़लतफ़हमी को दूर करती है।" – सं०

कोसीदियेर द्वारा पुलिस-सेवा के लिए सहर्ष इस्तेमाल होने दिया ताकि पेरिस की सम्पत्ति की रक्षा की जा सके, ठीक उसी तरह जिस तरह उसने लूई ब्लां को मज़दूरों तथा मालिकों के बीच मजूरी के झगड़ों में पंच बनने दिया। उसने यूरोप की आंखों में जनतंत्र के अकलंकित पूंजीवादी सम्मान को point d'honneur * बना दिया।

जनतंत्र को विदेशों में या देश में किसी तरह के प्रतिरोध का सामना नहीं करना पड़ा। इस तथ्य ने उसे निरस्त्र बना डाला। उसका काम अब विश्व का क्रान्तिकारी रूपान्तरण करना नहीं, अपितु अपने को पूंजीवादी समाज के सम्बन्धों के अनुकूल ढालना ही रह गया था। अस्थायी सरकार ने जिस उन्माद के साथ इस काम का बीड़ा उठाया, उसका सबसे ज्वलन्त प्रमाण उसकी **वित्तीय कार्रवाइयां** हैं।

राजकीय साख तथा **निजी साख** की जड़ें स्वभावतया हिल गयी थीं। राजकीय साख इस विश्वास पर आधारित होती है कि राज्य वित्तीय जगत् के भेड़ियों को अपना उपयोग करने की इजाज़त देगा। परन्तु पुराना राज्य तो लुप्त हो गया था और क्रान्ति सर्वोपरि वित्तीय अभिजाततंत्र के विरुद्ध लक्षित थी। पिछले यूरोपीय वाणिज्यिक संकट के झटके अभी ख़त्म नहीं हुए थे। दिवाला पिटने का सिलसिला बराबर जारी था।

इस तरह, फ़रवरी क्रान्ति की लहर आने से पहले **निजी साख** अशक्त पड़ी थी, माल-परिचलन संकुचित था, उत्पादन गतिहीन था। क्रान्तिकारी संकट ने वाणिज्यिक संकट बढ़ा दिया। और यदि निजी साख इस विश्वास पर आधारित रहे कि पूंजीवादी उत्पादन को उसके सम्बन्धों की पूरी परिधि समेत, पूंजीवादी व्यवस्था को हाथ नहीं लगाया जायेगा, उसका अतिक्रमण नहीं किया जायेगा तो सवाल उठता है कि ऐसी क्रान्ति का उस पर क्या प्रभाव पड़ सका होगा जिसने पूंजीवादी उत्पादन के आधार को, सर्वहारा वर्ग की दासता को चुनौती दी, जिसने स्टाक एक्सचेंज के ख़िलाफ़ लुक्ज़म्बर्ग स्फ़िन्क्स ** खड़ा कर दिया था? सर्वहारा वर्ग का विप्लव पूंजीवादी साख का उन्मूलन होता है, क्योंकि यह पूंजीवादी उत्पादन तथा पूंजीवादी व्यवस्था का उन्मूलन है; राजकीय साख तथा निजी साख वह आर्थिक थर्मामीटर है जिससे क्रान्ति की तीव्रता मापी जा सकती है।

---

* सम्मान का प्रश्न। – सं०

** नरसिंह। – सं०

साख में जितनी गिरावट आती है, क्रान्ति का उफान तथा उसकी सृजन-शक्ति उतनी ही बढ़ती है।

अस्थाई सरकार जनतंत्र को उसकी पूंजीवादविरोधी शक्ल से वंचित करना चाहती थी। इसके लिए उसे सर्वोपरि राज्य के इस नये रूप के विनिमय-मूल्य को, स्टाक एक्सचेंज में उसकी दर को स्थिर रखना पड़ा। निजी साख स्टाक एक्सचेंज में जनतंत्र की दर के साथ आवश्यक रूप से पुनः ऊपर उठ गयी।

राजतंत्र से ग्रहण किये गये दायित्वों को अस्थायी सरकार पूरा नहीं करेगी या नहीं कर सकेगी, ठीक यह **सन्देह** मिटाया जा सके, जनतंत्र की पूंजीवादी नैतिकता में तथा भुगतान करने की उसकी क्षमता में विश्वास बढ़े, ऐसा कर सकने के लिए अस्थायी सरकार ने शेख़ीबाज़ी का आश्रय लिया जो जितनी अशोभनीय थी, उतनी ही बचकानी थी। भुगतान की जो क़ानूनी तिथि नियत की गयी थी, उससे **पहले** ही उसने ५ प्रतिशत, ४.५ प्रतिशत और ४ प्रतिशत ऋण-पत्रों पर राज्य के ऋणदाताओं को ब्याज की अदायगी कर दी। पूंजीवादी शान्तचित्तता तथा पूंजीपतियों का आत्मविश्वास उस समय फ़ौरन जाग उठे जब उन्होंने देखा कि अस्थायी सरकार उनके विश्वास को कितनी आतुरता के साथ हासिल करना चाहती है।

अस्थायी सरकार के इस नाटकीय प्रपंच ने, जिसने उसे अपने हाथ में मौजूद नक़दी से वंचित कर दिया, स्वभावतया उसकी वित्तीय परेशानी कम नहीं की। वित्तीय कठिनाई और अधिक छुपायी नहीं जा सकी और **निम्नपूंजीपति वर्ग, घरेलू नौकरों तथा मजदूरों को** उस सुखद आश्चर्य की क़ीमत चुकानी पड़ी जो राज्य के ऋणदाताओं के हेतु रचा गया था।

यह घोषणा की गयी कि **बचत-बैंक खातों** से सौ फ़्रांक से अधिक की धनराशि नहीं निकाली जा सकती। बचत-बैंकों में जमा की गयी धनराशियां ज़ब्त कर ली गयीं और एक आज्ञप्ति के माध्यम से उन्हें ग़ैरमियादी राजकीय ऋण में बदल दिया गया। इस चीज़ ने **निम्नपूंजीपतियों** को, जो पहले से ही तंगी में थे, जनतंत्र के प्रति और कटु बना दिया। उन्हें चूंकि अपने बचत-बैंक खातों की जगह राज्य ऋण सर्टिफ़िकेट मिले, इसलिए उन्हें बेचने के लिए इन लोगों को स्टाक एक्सचेंज में जाना पड़ा और इस तरह उन्हें अपने को सीधे स्टाक एक्सचेंज के दलालों के हवाले करना पड़ा जिनके ख़िलाफ़ उन्होंने फ़रवरी क्रान्ति सम्पन्न की थी।

बैंक उस वित्तीय अभिजात वर्ग का मंदिर था जो जुलाई राजतंत्र के अधीन

राज कर रहा था। जिस तरह स्टाक एक्सचेंज राजकीय साख का संचालन करता है, उसी तरह बैंक **वाणिज्यिक साख** का संचालन करता है।

फ़रवरी क्रान्ति द्वारा बैंक के शासन के लिए ही नहीं वरन् उसके अस्तित्व के लिए भी सीधे ख़तरा पैदा किये जाने के कारण बैंक ने शुरू से ही ऋणाभाव को आम चीज़ बनाकर जनतंत्र को बदनाम करने की कोशिश की। उसने बैंकरों, उद्योगपतियों तथा व्यापारियों को कर्ज़ देना एकाएक रोक दिया। चूंकि इस युक्ति के कारण तत्काल कोई प्रतिक्रान्ति नहीं हुई, इसलिए इसकी स्वयं बैंक पर लाज़िमी तौर पर प्रतिक्रिया हुई। पूंजीपतियों ने वह धन निकाल लिया जिसे उन्होंने बैंक की तिजोरियों में जमा कर रखा था। जिनके पास बैंक-नोट थे, वे उनकी सोने तथा चांदी के साथ अदला-बदली करने के लिए फ़ौरन अदायगी-दफ़्तर की ओर लपके।

अस्थायी सरकार जबरन हस्तक्षेप के बिना, क़ानूनी तौर पर, बैंक को **दिवालिया** होने पर मजबूर कर सकती थी; उसे तो बस निष्क्रिय रहना था तथा बैंक को अपनी क़िस्मत पर छोड़ देना था। **बैंक का दिवाला** पिट जाना ऐसा प्रलय होता जो पल भर में वित्तीय अभिजाततंत्र का, जनतंत्र के सबसे शक्तिशाली तथा ख़तरनाक दुश्मन का, जुलाई राजतंत्र के सुनहरे आधार-स्तम्भ का फ़्रांसीसी धरती से सफ़ाया कर देता। बैंक के दिवालिया होते ही पूंजीपति वर्ग सरकार द्वारा राष्ट्रीय बैंक का गठन किये जाने तथा राष्ट्रीय साख को राष्ट्र के नियंत्रण में लाये जाने की कार्रवाई को बचाव की अन्तिम हताश चेष्टा मानने के लिए विवश होता।

इसके विपरीत अस्थायी सरकार ने बैंक के नोटों के लिए एक **अनिवार्य दर** नियत कर दी। यही नहीं, उसने इससे भी कुछ अधिक किया। उसने तमाम प्रान्तीय बैंकों को बैंक द फ़्रांस की शाखाओं में बदल डाला और उसे पूरे फ़्रांस के ऊपर अपना जाल फैलाने दिया। आगे चलकर उसने **राजकीय वनों** को बैंक के पास उस ऋण की गारंटी के रूप में बन्धक रख दिया जो उसने उससे हासिल किया था। इस तरह फ़रवरी क्रान्ति ने बैंकीय आधिपत्यतंत्र को जिसे उसे उलट देना चाहिए था, सीधे मज़बूत बनाया तथा उसका विस्तार किया।

इस बीच अस्थायी सरकार बढ़ते जा रहे घाटे के बोझ के नीचे दबती जा रही थी। उसने देशभक्तिपूर्ण बलिदानों की याचना की, पर सब बेकार। सिर्फ़ मज़दूरों ने उसके आगे भीख के रूप में टुकड़े फेंके। कोई बहादुरी भरा पग उठाना, **नया कर** लगाने का सहारा लेना नितान्त आवश्यक था। परन्तु सवाल तो

यह था कि किस पर कर लगाया जाये? स्टाक एक्सचेंज के भेड़ियों पर, बैंक प्रभुओं पर, राज्य-ऋणदाताओं पर, किरायाजीवियों पर, उद्योगपतियों पर? यह तो वह तरीक़ा नहीं था जिससे जनतंत्र पूंजीपति वर्ग का कृपापात्र बन पाता। इसका एक ओर मतलब होता राजकीय साख तथा वाणिज्यिक साख को ख़तरे में डालना जबकि दूसरी ओर उन्हें इतनी बड़ी कुर्बानियां देकर तथा अपमान झेलकर पाने की कोशिशें की गयीं। परन्तु किसी न किसी को तो नक़द अदा करना था। पूंजीवादी साख की वेदी पर किसकी बलि दी गयी? Jacques le bonhomme*, **किसान** की।

अस्थायी सरकार ने चार प्रत्यक्ष करों पर फ़्रांक में ४५ संतीम का अतिरिक्त कर लगाया। सरकारी अख़बारों ने पेरिस के सर्वहारा वर्ग को फ़ुसला कर उसे विश्वास दिलाया कि इस कर का भार मुख्यतया बड़े भूस्वामियों पर, उन लोगों पर पड़ेगा जिनके पास पुन:स्थापित शाही सत्ता द्वारा भेंट की गई एक अरब फ़्रांक की राशि पड़ी हुई है।[118] पर असलीयत यह थी कि उसने सर्वोपरि **कृषक वर्ग** पर यानी फ़्रांसीसी जनता की बहुसंख्या पर चोट की। **किसानों को फ़रवरी क्रान्ति का ख़र्चा पूरा करना पड़ा**; उनके रूप में प्रतिक्रांति को अपनी मुख्य सामग्री मिल गयी थी। ४५ संतीम का कर फ़्रांसीसी किसान के लिए जिंदगी और मौत का सवाल था; उसने इसे जनतंत्र के लिए ज़िंदगी और मौत का सवाल बना दिया। फ़्रांसीसी किसान के लिए उस समय से **जनतंत्र** का मतलब **४५ संतीम का कर** हो गया; और वह पेरिस के सर्वहारा को फ़िज़ूलख़र्च मानने लगा, जो उसकी क़ीमत पर मज़े लूट रहा है।

१७८९ की क्रान्ति जहां किसानों को सामन्ती बोझ से मुक्त कर शुरू हुई थी वहां १८४८ की क्रान्ति ने ग्रामीण जनता पर नया कर थोप कर अपने आगमन की घोषणा की ताकि पूंजी ख़तरे में न पड़े और उसका राजकीय यंत्र चलता रहे।

सिर्फ़ एक ही उपाय था जिसकी मदद से अस्थायी सरकार इन तमाम असुविधाओं को दूर कर सकती थी और राज्य को उसके पुराने ढर्रे से बाहर निकाल सकती थी। वह उपाय था—**राज्य के दिवालिया होने की घोषणा**। सबको याद है कि लेद्रू-रोलें ने आगे चलकर राष्ट्रीय सभा में कैसे उस सौजन्यतापूर्ण आक्रोश

---

* किसानों को फ़्रांसीसी ज़मींदारों द्वारा दिया गया एक तिरस्कारसूचक उपनाम।—सं०

का पाठ किया जिसकी मदद से उसने स्टाक एक्सचेंज के भेड़िये फ़ूल्द के, आज फ़ांस के वित्त मंत्री के इस धृष्टतापूर्ण प्रस्ताव का प्रतिवाद किया। फ़ूल्द ने ज्ञान के वृक्ष का सेब उसे चखाया।

पुराने पूंजीवादी समाज ने राज्य के नाम जो हुंडियां जारी की थीं, उनका भुगतान कर अस्थायी सरकार ने उसकी ताक़त के आगे सिर झुका दिया। वह पूंजीवादी समाज का तंगहाल कर्ज़दार बन गया जबकि उसे एक ऐसे कड़े लेनदार के रूप में पेश आना चाहिए था जिसे कई वर्षों के क्रान्तिकारी कर्ज़ वसूल करने थे। उसे डगमगाते पूंजीवादी सम्बन्धों को मज़बूत बनाना चाहिये था ताकि उन दायित्वों की पूर्त्ति की जा सकती जिन्हें केवल इन सम्बन्धों के अन्तर्गत ही पूरा किया जा सकता है। उसके लिए कर्ज़ा जीवन की एक शर्त बन गया, तथा सर्वहारा वर्ग के लिए रियायतें, उसे दिये गये वचन इतनी सारी **बेड़ियां बन गये** जिन्हें तोड़ना **ही** था। मज़दूरों की मुक्ति – भले ही **शाब्दिक** रूप में ही – नये जनतंत्र के लिए असहनीय ख़तरा बन गयी क्योंकि वह तो उस साख के पुनरुद्धार का स्थायी विरोध थी जो मौजूदा आर्थिक वर्ग-सम्बन्धों की अविचलित तथा स्थिर मान्यता पर आधारित होती है। इसलिए **मज़दूरों से नाता तोड़ना** ज़रूरी था।

फ़रवरी क्रान्ति ने सेना को पेरिस से बाहर कर दिया था। राष्ट्रीय गार्ड अर्थात् अपनी विभिन्न श्रेणियों समेत पूंजीपति वर्ग, एकमात्र शक्ति बन गया था। पर उसने अनुभव किया कि अकेले वह सर्वहारा वर्ग की टक्कर का नहीं है। यही नहीं, वह धीरे-धीरे और थोड़ा-थोड़ा कर अपनी क़तारों के द्वार खोलने तथा उनमें सशस्त्र सर्वहाराओं को प्रवेश करने देने के लिए मजबूर हुआ हालांकि ऐसा उसने कसकर प्रतिरोध करने के बाद और सैकड़ों, भिन्न-भिन्न प्रकार की बाधाएं खड़ी करने के बाद ही किया। फलस्वरूप केवल एक ही उपाय बाक़ी रहा, वह था **सर्वहारा के एक हिस्से को दूसरे हिस्से से भिड़ाना।**

इस उद्देश्य के लिए अस्थायी सरकार ने **गश्ती गार्डों** की २४ बटालियनें स्थापित कीं जिनमें से हर एक में एक हज़ार गार्ड थे। इनकी उम्र १५ और २० वर्ष के बीच थी। ये लोग अधिकतर **लम्पट सर्वहारा वर्ग** के अंग थे। यह वर्ग तमाम बड़े शहरों में एक ऐसा समूह होता है जो औद्योगिक सर्वहारा वर्ग से अत्यधिक भिन्न होता है, वह तरह-तरह के चोरों तथा अपराधियों का भर्ती-केन्द्र होता है जो समाज द्वारा फेंके जानेवाले टुकड़ों पर पलते हैं, इनका कोई निश्चित व्यवसाय नहीं होता, ये आवारा होते हैं, gens sans feu et

sans aveu* हैं, वे अपने राष्ट्र की सभ्यता की मात्रा के हिसाब से एक दूसरे से भिन्न होते हैं परन्तु वे अपना lazzaroni[119] स्वरूप कभी नहीं खोते; जिस तरुणावस्था में उन्हें अस्थायी सरकार ने भर्ती किया, वह सर्वथा नमनीय होती है, वह ऐसी उम्र होती है जिसमें वे उतने ही बड़े से बड़े वीरतापूर्ण करिश्मे दिखा सकते तथा बड़े से बड़े बलिदान कर सकते हैं जितनी बड़ी घृणित बटमारी कर सकते हैं तथा जितने बड़े नीचताभरे भ्रष्टाचारपूर्ण काम कर सकते हैं। अस्थायी सरकार उन्हें १ फ़्रांक ५० संतीम प्रतिदिन दिया करती थी यानी उसने उन्हें ख़रीद लिया था। उसने उन्हें विशेष वर्दी दी यानी उसने उन्हें ऐसा रूप दे दिया कि वे बाहर से ब्लाउज़ पहननेवाले मज़दूरों से अलग लगें। अंशतः उसने उन्हें स्थायी सेना के अफ़सर नेता के रूप में दिये, अंशतः उन्होंने स्वयं पूंजीपति वर्ग के नौजवान साहबज़ादों को अपना नेता चुना। मातृभूमि के लिए मर-मिटने तथा जनतंत्र के प्रति निष्ठा के बारे में इन साहबज़ादों की गर्वोक्तियों ने उन्हें मंत्रमुग्ध कर दिया था।

तो इस तरह पेरिस के सर्वहारा वर्ग के सामने इन लोगों की फ़ौज खड़ी हो गयी जो स्वयं उसके बीच से लिए गये थे, ये थे २४,००० नौजवान, हट्टे-कट्टे, दु:साहसी लोग। गश्ती गार्ड जब पेरिस के बीच मार्च करता था तो वह हर्षध्वनि करता। उसने उसे बैरीकेडों में अपने सबसे अग्रणी योद्धाओं के रूप में मान्यता दी। उसने उसे पूंजीवादी राष्ट्रीय गार्ड के मुक़ाबले में **सर्वहारा** गार्ड माना। उसकी ग़लती क्षम्य थी।

सरकार ने फ़ैसला किया कि गश्ती गार्ड के अलावा औद्योगिक मज़दूरों की फ़ौज को अपने इर्दगिर्द एकजुट किया जाये। संकट तथा क्रान्ति ने जिन एक लाख मज़दूरों को बेरोज़गार कर दिया था, उन्हें मंत्री मारी ने राष्ट्रीय वर्कशापों में भर्ती कर दिया। इस चमकीले-भड़कीले नाम के पीछे जो चीज़ छुपी हुई थी, वह २३ सूं की मजूरी पर थका देनेवाले, उबा देनेवाले, अनुत्पादक रोज़गार के, **मिट्टी की खुदाई और भराई** के काम के अलावा और कुछ नहीं थी। **खुले आकाश के नीचे अंग्रेज़ी वर्कहाउस**[120] – ये राष्ट्रीय वर्कशाप इसी तरह के थे। अस्थायी सरकार का विश्वास था कि उसने **स्वयं मज़दूरों के विरुद्ध एक दूसरी सर्वहारा फ़ौज** तैयार कर दी है। इस बार राष्ट्रीय वर्कशापों के मामले में पूंजीपति वर्ग ने उसी तरह की ग़लती की जिस तरह मज़दूरों ने गश्ती गार्ड के मामले में की थी। उसने **विद्रोह करनेवाली फ़ौज** तैयार कर दी।

---

* बिना घर-परिवार वाले लोग। – सं०

लेकिन एक उद्देश्य की पूर्ति हुई।

राष्ट्रीय वर्कशाप जन-वर्कशापों का नाम था जिसकी वकालत लूई ब्लां ने लुक्ज़म्बर्ग महल में की थी। लुक्ज़म्बर्ग योजना के प्रत्यक्ष **विरोध** में तैयार किये गये मारी के वर्कशापों ने एक जैसे ठप्पे की बदौलत भूलों का एक ऐसा कथानक प्रस्तुत किया जो स्पेनी हास-प्रहसनों के उपयुक्त है। अस्थायी सरकार ने स्वयं चोरी-छुपे ढंग से यह ख़बर फैलायी थी कि ये राष्ट्रीय वर्कशाप लूई ब्लां की खोज हैं, और यह बात इसलिए ठीक जंचती थी कि राष्ट्रीय वर्कशापों का पैगम्बर लूई ब्लां अस्थायी सरकार का सदस्य था। पेरिस के पूंजीपति वर्ग की आधी भोलेपन से भरी तथा आधी जान-बूझकर पैदा की गयी भ्रान्ति में, फ़्रांस की, यूरोप की कृत्रिम ढंग से ढाली गयी सम्मति में ये वर्कहाउस समाजवाद का प्रथम साकार रूप थे, जिसे उनके साथ ही कठघरे में खड़ा किया गया था।

राष्ट्रीय वर्कशाप – अपने नाम की दृष्टि से हालांकि अपनी अन्तर्वस्तु की दृष्टि से नहीं – पूंजीवादी उद्योग, पूंजीवादी साख और पूंजीवादी जनतंत्र का सर्वहारा वर्ग का साकार विरोध थे। इसलिए पूंजीपति वर्ग की सारी घृणा उनके ख़िलाफ़ लक्षित हो गयी। उसने उनमें वह बिन्दु पाया जिसके विरुद्ध वह फ़रवरी की भ्रान्तियों से खुलेआम नाता तोड़ने में सक्षम होते ही प्रहार लक्षित कर सकता था। **निम्नपूंजीपतियों** का भी सारा असन्तोष, सारी खीझ इन राष्ट्रीय वर्कशापों के विरुद्ध, समान लक्ष्य के विरुद्ध लक्षित थी। उन्होंने वास्तविक आक्रोश के साथ इन सारी धनराशियों का हिसाब लगाया जिन्हें आवारा सर्वहारा हड़प गये थे, जबकि स्वयं उनकी स्थिति नित्यप्रति अधिकाधिक असहनीय होती जा रही थी। दिखावटी श्रम के लिए राजकीय पेंशन, अच्छा तो यही है समाजवाद! – वे बड़बड़ाये। उन्होंने अपनी तंगहाली का कारण राष्ट्रीय वर्कशापों, लुक्ज़म्बर्ग समिति में दिये जानेवाले वक्तव्यों, पेरिस की सड़कों पर मज़दूरों के जलूसों में ढूंढ़ा। और तथाकथित कम्युनिस्ट साज़िशों के बारे में निम्नपूंजीपति वर्ग जितना मतान्ध और कोई नहीं था जो दिवालियेपन की कगार पर हताश ढंग से चक्कर काटता रहा।

इस तरह पूंजीपति वर्ग तथा सर्वहारा वर्ग के बीच समीपतर होती जानेवाली लड़ाई में तमाम लाभ, तमाम निर्णायक स्थितियां, समाज के तमाम मध्यवर्गीय तबक़े पूंजीपति वर्ग के हाथों में थे; उसी समय फ़रवरी क्रान्ति की लहरें पूरे महाद्वीप में बहुत ऊपर तक पहुंच चुकी थीं, और हर नयी डाक क्रान्ति की नयी सूचना – अभी इटली से तो अभी जर्मनी से और अभी दक्षिण-पूर्वी यूरोप के दूर-दराज हिस्सों से – ला रही थी, और जनता को ऐसी विजय का, जिसे वह पहले,

ही खो बैठी थी, अविरल प्रमाण देते हुए उसके आम हर्षातिरेक को बरकरार रख रही थी।

१७ **मार्च** और १६ **अप्रैल** को उस बड़े वर्ग-संघर्ष में पहली झड़पें हुई जिसे पूंजीवादी जनतंत्र अपने पंखों के नीचे छुपाये हुए था।

१७ **मार्च** ने सर्वहारा वर्ग की द्विविधाजनक स्थिति उजागर की जिसने कोई निर्णायक कार्रवाई नहीं होने दी। उसके प्रदर्शन ने आरम्भ में अस्थायी सरकार को क्रान्ति के पथ पर वापस लाने, परिस्थितियों के अनुसार उसके पूंजीवादी सदस्यों को बाहर करने और राष्ट्रीय सभा तथा राष्ट्रीय गार्ड के लिए होनेवाले चुनावों को स्थगित करने के लिए विवश करने के ध्येय का अनुसरण किया। लेकिन १६ मार्च को राष्ट्रीय गार्ड में प्रतिनिधित्वप्राप्त पूंजीपति वर्ग ने अस्थायी सरकार के विरुद्ध प्रदर्शन किया। वह à bas Ledru Rollin!* नारे लगाते हुए नगरपालिका-भवन की ओर बढ़ा। और १७ मार्च को जनता "लेद्रू-रोलें ज़िंदाबाद! अस्थायी सरकार ज़िंदाबाद!" नारा लगाने के लिए बाधित हुई। उसे पूंजीपति वर्ग का **विरोध** करने के लिए पूंजीवादी जनतंत्र का समर्थन करना पड़ा। उसे लगा कि वह ख़तरे में है। उसने अस्थायी सरकार को अपने मातहत करने के बजाय उसे दृढ़ बनाया। १७ मार्च का दिन अतिनाटकीय दृश्य के साथ गुज़रा और पेरिस के सर्वहारा वर्ग ने इस दिन अपना विराट स्वरूप एक बार फिर प्रदर्शित कर दिया; पूंजीपति वर्ग अस्थायी सरकार के अन्दर तथा बाहर दोनों जगह उसे चकनाचूर करने के लिए और भी अधिक कृतसंकल्प हो गया था।

१६ **अप्रैल** का दिन **ग़लतफ़हमी** का दिन था जो अस्थायी सरकार ने पूंजीपति वर्ग के साथ मिलकर पैदा की थी। मज़दूर मार्स मैदान और हिप्पोड्रोम में राष्ट्रीय गार्ड के जनरल स्टाफ़ के चुनावों की तैयारी के लिए जमा हुए थे। सहसा पूरे पेरिस में यह अफ़वाह विद्युत गति से फैल गयी कि मजदूर मार्स मैदान में लूई ब्लां, ब्लांकी, काबे और रास्पायल के नेतृत्व में हथियारबन्द होकर जमा हो गये हैं ताकि वे वहां से आगे बढ़ते हुए नगरपालिका-भवन की ओर बढ़ सकें, अस्थायी सरकार को उलट सकें तथा कम्युनिस्ट सरकार की उद्घोषणा कर सकें। आम ख़तरे की घंटी बज उठती है—आगे चलकर लेद्रू-रोलें, मारास्त तथा लामार्तीन के बीच इसे शुरू करने का श्रेय प्राप्त करने के लिए होड़ हुई—और एक घंटे के अन्दर-अन्दर १,००,००० व्यक्ति हथियारबन्द हो जाते हैं;

* "लेद्रू-रोलें मुर्दाबाद!"—सं०

नगरपालिका-भवन के चप्पे-चप्पे पर राष्ट्रीय गार्ड तैनात हो जाते हैं, पूरा पेरिस "कम्युनिस्ट मुर्दाबाद!", "लूई ब्लां, ब्लांकी, रास्पायल, काबे मुर्दाबाद!" के नारों से गुंजायमान हो उठता है। अनगिनत शिष्टमण्डल अस्थायी सरकार के प्रति सम्मान प्रकट करते हैं, सब के सब पितृभूमि तथा सरकार की रक्षा के लिए तैयार हैं। जब मज़दूर अन्ततः अस्थायी सरकार को वह देशभक्तिपूर्ण धनराशि, जो उन्होंने मार्स मैदान में जमा की थी, सौंपने के लिए नगरपालिका-भवन के सामने पहुंचते हैं तो वे यह सुनकर हैरान हो जाते हैं कि पूंजीवादी पेरिस बहुत ही एहतियात से तैयार की गयी एक काल्पनिक लड़ाई में उनकी छाया को पराजित कर चुका है। १६ अप्रैल की भयंकर चेष्टा ने **फ़ौज को पेरिस वापस बुलाने** का – जो भोंडे ढंग से अभिनीत इस कामेदी का वास्तविक उद्देश्य था – तथा प्रान्तों में प्रतिक्रियावादी संघीय प्रदर्शनों का बहाना पेश कर दिया।

४ मई को **राष्ट्रीय सभा,* जो प्रत्यक्ष आम चुनावों का फल थी,** बुलायी गयी। सार्वजनिक मताधिकार में वह जादू नहीं था जो पुराने पंथ के जनतंत्रवादियों ने उसमें बताया था। उन्होंने पूरे फ़्रांस में, कम से कम फ़्रांसीसियों की बहुसंख्या में एक जैसे हित, एक जैसा दृष्टिकोण आदि रखनेवाले citoyens** पाये। यह थी उनकी **जनता की उपासना।** चुनाव उनकी **काल्पनिक** जनता के बजाय **वास्तविक** जनता को सामने ले आये अर्थात् उन विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधियों को प्रकाश में ले आये जिनमें वह विभक्त है। हम देख चुके हैं कि किसानों तथा निम्नपूंजीपतियों को लड़ने के लिए उतारू पूंजीपति वर्ग तथा राजतंत्र की पुनःस्थापना के लिए उतावले बड़े ज़मींदारों के नेतृत्व में क्यों मतदान करना पड़ा। सार्वजनिक मताधिकार भले ही चमत्कार करनेवाला वह जादुई डंडा नहीं रहा हो, जो भोले जनतंत्रवादी मान बैठे थे, उसमें अतुलनीय रूप से श्रेष्ठतर एक गुण अवश्य था – उसने वर्ग-संघर्ष को बेड़ीमुक्त किया, पूंजीवादी समाज के विभिन्न मध्यवर्ती तबक़ों को तेज़ी से अपनी भ्रान्तियों तथा निराशाओं से छुटकारा दिलाया, एक ही झटके में शोषक वर्गों के तमाम भागों को राज्य के शीर्षस्थान पर पहुंचाया और उनके चेहरों पर से छद्म मुखौटे हटा दिये जबकि सम्पत्ति

---

* यहां से लेकर पृष्ठ ३११ तक राष्ट्रीय सभा से तात्पर्य ४ मई १८४८ और मई १८४९ तक काम करनेवाली राष्ट्रीय संविधान सभा (कंस्तितुआंता) से है। – सं०

** नागरिक। – सं०

सम्बन्धी सीमाओं के साथ राजतंत्र ने पूंजीपति वर्ग के कतिपय धड़ों को ही अपना असली रूप प्रकाश में लाने दिया और दूसरों को रंगमंच के पीछे छुपा रहने दिया तथा उन्हें समान विपक्ष की आभा से मंडित किया।

राष्ट्रीय संविधान सभा में जिसकी बैठक ४ मई को आरम्भ हुई, **पूंजीवादी जनतंत्रवादियों,** *«National»* के जनतंत्रवादियों का पलड़ा भारी था। लेजिटिमिस्ट और आर्लियानिस्ट तक शुरू-शुरू में पूंजीवादी जनतंत्रवाद का नक़ाब पहनकर ही अपने को सामने लाने की हिम्मत कर सके। सर्वहारा वर्ग के ख़िलाफ़ संघर्ष सिर्फ़ जनतंत्र के ही नाम पर किया जा सकता था।

जनतंत्र २५ फ़रवरी से नहीं, ४ मई से शुरू होता है, यानी वह जनतंत्र जिसे फ़्रांसीसी जनता से मान्यता मिली ; यह वह जनतंत्र नहीं है जिसे पेरिस के सर्वहारा वर्ग ने अस्थायी सरकार पर थोपा था, यह सामाजिक संस्थानों वाला जनतंत्र नहीं था, यह तो वह कल्पना नहीं थी जो बैरीकेडों के योद्धाओं के सामने मंडरा रही थी। राष्ट्रीय सभा द्वारा घोषित जनतंत्र, एकमात्र वैध जनतंत्र, वह जनतंत्र है जो पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध क्रान्तिकारी हथियार नहीं है बल्कि एक तरह उसका राजनीतिक पुनर्गठन, पूंजीवादी समाज का राजनीतिक पुन:सुदृढ़ीकरण, संक्षेप में **पूंजीवादी जनतंत्र** है। यह तर्क राष्ट्रीय सभा के मंच से गुंजायमान हुआ तथा पूरे जनतंत्रीय तथा जनतंत्रविरोधी अख़बारों में वह प्रतिध्वनित हुआ।

और हम देख चुके हैं कि फ़रवरी जनतंत्र यथार्थ रूप में **पूंजीवादी** जनतंत्र के अलावा न तो कुछ और था और न हो ही सकता था ; कि इसके बावजूद सर्वहारा वर्ग के तात्कालिक दबाव ने अस्थायी सरकार को उसे **सामाजिक संस्थानों वाला जनतंत्र** घोषित करने के लिए विवश किया ; कि पेरिस सर्वहारा वर्ग अब भी अपने **विचारों** की उड़ान करने, **कल्पना** करने के अलावा पूंजीवादी जनतंत्र से परे पहुंचने में असमर्थ था ; कि जब वस्तुत: कार्रवाई के लिए समय आता तो वह सर्वत्र उसके हित में काम करता ; कि उसे दिये गये वचन नये जनतंत्र के लिए असह्य ख़तरा बन गये ; कि अस्थायी सरकार की पूरी जीवन-प्रक्रिया सर्वहारा की मांगों के ख़िलाफ़ अविराम संघर्ष बन गयी।

राष्ट्रीय सभा में पूरा फ़्रांस पेरिस सर्वहारा वर्ग के लिए न्यायाधीश बन गया था। राष्ट्रीय सभा ने फ़रवरी क्रान्ति की सामाजिक भ्रान्तियों के साथ तुरन्त नाता तोड़ डाला ; उसने पूंजीवादी जनतंत्र के बारे में साफ़-साफ़ घोषित किया कि वह और कुछ नहीं केवल **पूंजीवादी जनतंत्र** है। उसने जो कार्यकारी आयोग

नियुक्त किया था, उससे उसने सर्वहारा वर्ग के प्रतिनिधि लूई ब्लां और अल्बेर को तुरन्त अलग कर दिया; उसने एक विशेष श्रम मंत्रालय सम्बन्धी प्रस्ताव को ठुकरा दिया तथा मंत्री त्रेला के इस बयान पर हर्षध्वनि की—"अब सवाल सिर्फ़ **श्रम को उसकी पुरानी अवस्थाओं में वापस लाने** का है।"

लेकिन यह सब काफ़ी नहीं था। मज़दूरों ने फ़रवरी जनतंत्र पूंजीपति वर्ग के निष्क्रिय समर्थन से हासिल किया था। सर्वहाराओं ने अपने को फ़रवरी क्रान्ति का विजेता ठीक ही माना था; और उन्होंने विजेताओं के अहंकार भरे दावे किये थे। उन्हें सड़कों की धूल चटाना ज़रूरी था; उन्हें यह दिखाना ज़रूरी था कि यदि वे पूंजीपति वर्ग **के साथ रहकर** नहीं लड़ेंगे बल्कि पूंजीपति वर्ग के **विरुद्ध** लड़ेंगे तो उन्हें तुरन्त पराजय का मुंह देखना होगा। ठीक जिस तरह अपनी समाजवादी रियायतों समेत फ़रवरी क्रान्ति को राजतंत्र के विरुद्ध लड़ने के लिए पूंजीपति वर्ग के साथ ऐक्यबद्ध सर्वहारा वर्ग के संघर्ष की ज़रूरत थी, ठीक उसी तरह एक और संघर्ष की भी ज़रूरत पड़ गयी थी ताकि जनतंत्र का समाजवादी रियायतों से सम्बन्ध-विच्छेद किया जा सके, ताकि **पूंजीवादी जनतंत्र** को अधिकृत रूप से आधिपत्यपूर्ण बनाया जा सके। पूंजीपति वर्ग को हथियार उठाकर सर्वहारा वर्ग की मांगें ठुकरानी पड़ीं। पूंजीवादी जनतंत्र की वास्तविक जन्मस्थली **फ़रवरी की विजय** नहीं है, वरन् **जून की पराजय** है।

सर्वहारा वर्ग इस निर्णय के दिन को समीप ले आया जब उसने १५ मई को राष्ट्रीय सभा के अन्दर वेगपूर्वक पहुंचकर अपना रास्ता बनाया, अपना क्रान्तिकारी प्रभाव फिर से हासिल करने का निरर्थक प्रयास किया तथा इस तरह वह अपने उत्साही नेताओं को पूंजीपति वर्ग के जेलरों के हवाले कर बैठा।[121] Il faut en finir! यह स्थिति ख़त्म होनी चाहिए! राष्ट्रीय सभा ने इस नारे के साथ सर्वहारा वर्ग को निर्णायक संघर्ष करने के लिए विवश करने के वास्ते अपना संकल्प प्रकट किया। कार्यकारी आयोग ने अनेक उत्तेजनाकारी आज्ञप्तियां जारी कीं—जैसे लोगों के जमा होने पर पाबन्दी आदि। राष्ट्रीय संविधान सभा के मंच से मज़दूरों को सीधे उकसाया गया, अपमानित किया गया, उनका मखौल उड़ाया गया। परन्तु प्रहार का मुख्य बिन्दु—जैसा कि हम देख चुके हैं—राष्ट्रीय वर्कशाप थे। संविधान सभा ने बहुत ही धृष्टतापूर्वक इनकी ओर कार्यकारी आयोग का ध्यान आकृष्ट किया जो केवल यह सुनने की प्रतीक्षा कर रहा था कि राष्ट्रीय सभा उसकी योजना को आदेश के रूप में उद्घोषित करे।

कार्यकारी आयोग ने राष्ट्रीय वर्कशापों में प्रवेश को अधिक कठिन बना

दिया, दिन के हिसाब से दी जानेवाली मजूरी को काम की मिक़दार के हिसाब से दी जानेवाली मजूरी में बदल डाला, और उन मज़दूरों को, जिनका पेरिस में जन्म नहीं हुआ था, खुदाई के काम के बहाने पेरिस से सोलोन भेजा। यह खुदाई का काम तो केवल एक शब्दाडम्बरपूर्ण फ़ार्मूला था ताकि उनके निर्वासन को सजे-संवारे ढंग से प्रस्तुत किया जा सके, जैसा कि मायूस होकर वापस आनेवाले मज़दूरों ने अपने साथियों को बताया। अन्ततः २१ जून को *«Moniteur»* में एक आज्ञप्ति प्रकाशित हुई जिसने तमाम अविवाहित मज़दूरों को बलपूर्वक राष्ट्रीय वर्कशापों से बाहर करने या उन्हें सेना में जबर्दस्ती भर्ती करने का आदेश दिया।

मज़दूरों के सामने कोई और चारा नहीं रह गया था, या तो वे भूख से मरें या संघर्ष करें। उन्होंने २२ जून को ज़बर्दस्त विप्लव कर अपना उत्तर दिया, यह विप्लव उन दो वर्गों के बीच पहला संघर्ष था जिनमें आधुनिक समाज विभक्त है। यह **पूंजीवादी** व्यवस्था की अक्षुण्णता अथवा संहार की लड़ाई थी। जनतंत्र को जो परदा घेरे हुए था, उसकी धज्जियां उड़ गयीं।

यह सुविदित है कि मज़दूर कैसे अनुपम वीरता तथा विलक्षणता के साथ, नेताओं के बिना, किसी समान योजना के बिना, साधनों के बिना और प्रायः हथियारों के अभाव में फौज, गश्ती गार्ड, पेरिस के राष्ट्रीय गार्ड और राष्ट्रीय गार्डों को, जो प्रान्तों से बाढ़ की तरह पेरिस में प्रवेश करते रहे, पांच दिन तक रोके रहे। यह सुविदित है कि पूंजीपति वर्ग ने अभूतपूर्व पाशविकता के साथ ३,००० से अधिक बन्दियों का कत्लेआम कर कैसे अपनी अतिकष्टकर वेदना का बदला लिया।

फ्रांसीसी लोकतंत्र के सरकारी प्रतिनिधि जनतंत्रीय विचारधारा से इस तरह ओतप्रोत थे कि चन्द सप्ताह बीतने के बाद ही उन्हें जून-संघर्ष के महत्व की झलक दिखायी दी। वे बारूद के उस धुएं में, जिसमें उनका काल्पनिक जनतंत्र लुप्त हो गया था, मूर्च्छित थे।

जून की पराजय की ख़बर का हम पर तत्काल क्या प्रभाव पड़ा, उसका हम *«Neue Rheinische Zeitung»* के शब्दों में वर्णन करने की पाठकों से इजाज़त चाहते हैं:

"फ़रवरी क्रान्ति का अन्तिम अवशेष – कार्यकारी आयोग – घटनाओं की गम्भीरता के सामने एक छाया की तरह विलीन हो गया है। लामार्तीन की आतिशबाज़ी कैवेन्याक के युद्ध-राकेटों में बदल गयी है। Fraternité,

परस्परविरोधी वर्गों का बन्धुत्व, जिनसे एक वर्ग दूसरे वर्ग का लाभ उठाता है, फ़रवरी द्वारा उद्घोषित यह fraternité, जो पेरिस के भवनों पर, हर जेल की दीवाल पर, हर बैरक पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा हुआ है–इसकी सच्ची, बिना किसी मिलावट वाली, इसकी शुष्क अभिव्यक्ति है **गृहयुद्ध**, गृहयुद्ध अपने सबसे भयावह रूप में, श्रम तथा पूंजी का युद्ध। इस बन्धुत्व की आग पेरिस की तमाम खिड़कियों के सामने २५ जून को धू-धू करने लगी जब पूंजीपति वर्ग का पेरिस जगमगा उठा था, इस बीच सर्वहारा वर्ग का पेरिस झुलस रहा था, उसके शरीर से ख़ून बह रहा था, वह दम तोड़ रहा था। बन्धुत्व उसी समय तक टिका रहा जब तक पूंजीपति वर्ग के हितों का सर्वहारा के हितों से बन्धुत्व था।

"१७९३ की पुरानी क्रान्तिकारी परम्पराओं के पंडित; समाजवादी सिद्धान्तकार, जो जनता की ओर से पूंजीपति वर्ग के दरवाज़ों के सामने याचना कर रहे थे, जिन्हें अपने को इस बात के लिए बदनाम करने की छूट दे गयी थी कि जब तक सर्वहारा सिंह को थपकियां देकर सुला नहीं दिया जाता, तब तक वे लम्बे-लम्बे प्रवचन करते रहें तथा स्थिति के आगे झुकते रहें; जनतंत्रवादी, जो राजमुकुटधारी शीश को छोड़कर बाक़ी पूरी की पूरी पुरानी पूंजीवादी व्यवस्था की मांग कर रहे थे; विपक्ष के अन्दर राजवंश के समर्थक, जिन पर परिस्थितियों ने मंत्रियों को बदलने के बजाय राजवंश को उलटने का काम थोपा; लेजिटिमिस्ट, जो वर्दी को फेंकना नहीं चाहते थे, सिर्फ़ उसकी कटाई का ढंग बदलना चाहते थे–ये वे संगी-साथी थे जिनके साथ जनता ने सम्पन्न की थी अपनी फ़रवरी...

"फ़रवरी क्रान्ति **ख़ूबसूरत** क्रान्ति थी, सार्वत्रिक सहानुभूति की क्रान्ति थी क्योंकि उसके अन्दर राजतंत्र के ख़िलाफ़ भड़क उठनेवाले वैरभाव अगल-बगल में, सामंजस्यपूर्ण रूप से, **अविकसित रूप में** निद्राग्रस्त हो गये थे, क्योंकि उस सामाजिक संघर्ष ने, जो उनकी पृष्ठभूमि बन गया था, केवल भ्रान्तिपूर्ण अस्तित्व ही, वाक्यावलियों, शब्दों का अस्तित्व ही प्राप्त किया था। **जून क्रान्ति बदसूरत** क्रान्ति, घिनौनी क्रान्ति है, क्योंकि करनी ने कथनी का स्थान ग्रहण कर लिया है, क्योंकि जनतंत्र ने दैत्य का सिर बचाने और छुपानेवाले मुकुट को खंडित कर स्वयं उस दैत्य का सिर नंगा कर दिया। **व्यवस्था**! गीज़ो का युद्ध-नारा था। **व्यवस्था**! गीज़ो का अनुयायी सेबस्तियानी उस समय चिल्लाया जब वारसा रूसी हो गया। **व्यवस्था**!–कैवेन्याक चिल्लाया जो फ़्रांसीसी राष्ट्रीय सभा तथा जनतंत्रवादी पूंजीपति वर्ग की निर्मम प्रतिध्वनि है। **व्यवस्था**!–उसकी गोली

सर्वहारा के शरीर को छलनी करती हुई चिल्लायी। १७८९ से पूंजीपति वर्ग ने जो नाना क्रान्तियां कीं, उनमें से एक भी **व्यवस्था** पर प्रहार नहीं थी, क्योंकि उन्होंने वर्ग के शासन को बना रहने दिया, उन्होंने मजदूरों की दासता बनी रहने दी, उन्होंने **पूंजीवादी** व्यवस्था को टिका रहने दिया, भले ही इस शासन तथा इस दासता का राजनीतिक रूप कितनी ही बार क्यों न बदला हो। जून ने इस व्यवस्था का अतिक्रमण किया है। बदक़िस्मत जून!" («*Neue Rheinische Zeitung*», २९ जून १८४८)*

बदक़िस्मत जून! ये शब्द यूरोप में प्रतिध्वनित होते हैं।

पेरिस के सर्वहारा वर्ग को पूंजीपति वर्ग ने जून की बग़ावत करने के लिए **विवश** किया था। यही एक परिस्थिति उसकी मौत के लिए काफ़ी थी। उसकी तात्कालिक, प्रकट आवश्यकताओं ने उसे पूंजीपति वर्ग का बलपूर्वक तख़्ता उलटने के लिए संघर्ष में जुटने की ओर नहीं बढ़ाया और न उसमें यह काम पूरा करने की शक्ति थी। «*Moniteur*» को उसे अधिकृत रूप से सूचित करना पड़ा कि वह समय लद चुका है जब जनतंत्र को उसके भ्रमों के आगे झुकना पड़ता था; केवल अपनी पराजय से ही उसे इस सचाई का पक्का यक़ीन हुआ कि उसकी स्थिति में लेशमात्र सुधार की बात पूंजीवादी जनतंत्र **के अन्दर** एक **कल्पनाविलास** बनी हुई है, ऐसा कल्पनाविलास है जो उस समय तुरन्त एक अपराध बन जाता है जब वह यथार्थ बनना चाहता है। उसकी मांगों की जगह, जो रूप की दृष्टि से ओजपूर्ण अवश्य थीं परन्तु जो सारतत्व की दृष्टि से तुच्छ और यहां तक कि पूंजीवादी भी थीं, उस रियायत की जगह, जो वह फ़रवरी जनतंत्र से हासिल करना चाहता था, क्रान्तिकारी संघर्ष का एक साहसपूर्ण नारा प्रकट हुआ: **पूंजीपति वर्ग को उलट दो! मजदूर वर्ग का अधिनायकत्व हो!**

पूंजीवादी जनतंत्र की जन्मस्थली को अपनी क़ब्र बनाकर सर्वहारा वर्ग ने पूंजीवादी जनतंत्र को तुरन्त ऐसे राज्य के रूप में अपने विशुद्ध स्वरूप के साथ सामने आने के लिए विवश किया जिसका असंदिग्ध ध्येय पूंजी के राज को, मजदूरों की दासता को बरक़रार रखना है। घावों के निशान लिये हुए, अनम्य, अजेय शत्रु—अजेय इसलिए कि उसके अस्तित्व पर ही स्वयं पूंजीपति वर्ग का जीवन निर्भर करता है—निरन्तर अपने सामने होने के कारण तमाम बेड़ियों से मुक्त पूंजीवादी शासन का तत्काल **पूंजीवादी आतंकवाद** में परिणत होना

* देखें, कार्ल मार्क्स, 'जून क्रांति'।—सं०

अवश्यम्भावी था। सर्वहारा वर्ग को कुछ समय के लिए रंगमंच से हटा दिये तथा पूंजीवादी अधिनायकत्व को अधिकृत रूप से मान्यता दिये जा चुकने के बाद पूंजीवादी समाज की मध्यवर्ती श्रेणियों – निम्नपूंजीपति वर्ग तथा कृषक वर्ग – को सर्वहारा वर्ग से अधिकाधिक संलग्न होना पड़ा क्योंकि उनकी स्थिति अधिक असहनीय तथा पूंजीपति वर्ग से उनका वैरभाव अधिक तीक्ष्ण हो गया था। जिस तरह पहले वे अपनी विपत्ति का कारण सर्वहारा के उभार में ढूंढ़ते थे, ठीक उसी तरह अब उन्हें उसकी पराजय में अपनी विपत्ति का कारण ढूंढ़ना पड़ा।

यदि जून के विप्लव ने पूरे महाद्वीप में पूंजीपति वर्ग के आत्मविश्वास को बढ़ाया और उसे इस बात के लिए मजबूर किया कि वह जनता के ख़िलाफ़ खुलेआम राजतंत्र के साथ नाता जोड़े तो सवाल उठता है कि इस संघबद्धता का पहला शिकार कौन बना? स्वयं महाद्वीपीय पूंजीपति वर्ग। जून की पराजय ने उसे अपना शासन सुदृढ़ नहीं करने दिया, अर्द्ध-सन्तुष्ट, अर्द्ध-निराश जनता को पूंजीवादी क्रान्ति की सबसे निचली मंज़िल में निश्चल खड़ा नहीं होने दिया।

अन्ततोगत्वा जून की पराजय ने यूरोप की निरंकुश शक्तियों के सामने यह भेद खोल दिया कि फ़्रांस को विदेशों के साथ हर क़ीमत पर शांति क़ायम रखनी होगी ताकि वह देश में गृहयुद्ध चलाने में समर्थ हो। इस तरह जिन लोगों ने अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए लड़ाई शुरू की थी, उन्हें रूस, आस्ट्रिया तथा प्रशा के हवाले कर दिया गया, लेकिन साथ ही इन राष्ट्रीय क्रान्तियों की क़िस्मत को सर्वहारा क्रान्ति की क़िस्मत का आश्रित भी बना दिया गया, और उन्हें महान सामाजिक क्रान्ति से अपनी प्रतीयमान स्वायत्तता, अपनी स्वतंत्रता से वंचित कर दिया गया। जब तक मज़दूर गुलाम रहेगा तब तक न तो हंगेरियाई, न पोल और न इतालवी स्वतंत्र होगा!

अन्ततोगत्वा पुनीत संघ की विजयों के साथ यूरोप ने ऐसा रूप धारण कर लिया है जिसके कारण फ़्रांस में हर नयी सर्वहारा उथल-पुथल सीधे **विश्वयुद्ध** की ओर ले जाती है। नयी फ़्रांसीसी क्रान्ति अपनी राष्ट्रीय भूमि को तत्काल छोड़ने तथा **यूरोपीय रंगमंच को जीतने** के लिए विवश हुई है, केवल उसी पर १९वीं शताब्दी की सामाजिक क्रान्ति सम्पन्न की जा सकती है।

इस तरह जून की पराजय ने वे तमाम परिस्थितियां तैयार कर दी हैं जिनके अन्तर्गत फ़्रांस यूरोपीय क्रान्ति की **पहल** हासिल कर सकता है। जून के विप्लवियों के **ख़ून** में रंगने के बाद ही तिरंगा झंडा यूरोपीय क्रान्ति का झंडा – **लाल झंडा** – बना!

और हम विस्मयबोधक स्वर में कहते हैं – **क्रान्ति की मृत्यु हो गयी है! – क्रान्ति जिन्दाबाद!**

२

१३ जून १८४९

२५ फ़रवरी १८४८ ने फ़्रांस को **जनतंत्र** प्रदान किया था; २५ जून ने उस पर **क्रान्ति** थोपी थी। और जून के बाद क्रान्ति का अर्थ था – **पूंजीवादी समाज को उलटना**, जबकि फ़रवरी से पहले उसका अर्थ था **सरकार के रूप को उलटना**।

जून की लड़ाई का नेतृत्व पूंजीपति वर्ग के **जनतंत्रीय** धड़े ने किया था; विजय के साथ राजनीतिक सत्ता लाज़िमी तौर पर ही उसके हिस्से में आयी। घेरेबन्दी की स्थिति ने पेरिस को इस तरह जकड़ दिया था कि वह मुक़ाबला नहीं कर सकता था और प्रान्तों में घेरेबन्दी की भावना, पूंजीपति वर्ग की विजय का धमकी भरा, भोंडा अहंकार तथा किसानों की सम्पत्ति के प्रति बेलगाम मतान्धता व्याप्त थी। इसलिए **नीचे से** कोई ख़तरा नहीं था!

मज़दूरों की क्रान्तिकारी शक्ति के ढहने के साथ-साथ **जनवादी**, अर्थात् **निम्न-पूंजीवादी जनतंत्रवादियों** का राजनीतिक प्रभाव भी ढह गया जिनका प्रतिनिधित्व कार्यकारी आयोग में लेद्रू-रोलें, राष्ट्रीय संविधान सभा में पर्वत दल, अख़बारों में «*Réforme*» समाचारपत्र कर रहा था। पूंजीवादी जनतंत्रवादियों के साथ मिलकर उन्होंने १६ अप्रैल को[122] सर्वहारा वर्ग के विरुद्ध षड्यंत्र रचा था, उनके साथ मिलकर उन्होंने जून के दिनों में सर्वहारा वर्ग के ख़िलाफ़ लड़ाई की थी। इस तरह उन्होंने ख़ुद उस आधार को विध्वस्त कर दिया जिसके सहारे उनकी पार्टी एक शक्ति के रूप में खड़ी थी क्योंकि निम्नपूंजीवादी पूंजीपतियों के विरुद्ध सिर्फ़ तभी तक क्रान्तिकारी रुख़ बरक़रार रख सकते हैं जब तक सर्वहारा वर्ग उनके पीछे खड़ा रहता है। उन्हें अलग कर दिया गया। अस्थायी सरकार तथा कार्यकारी आयोग के ज़माने में उनके साथ मन मारकर तथा दिमाग़ में गांठ बांधकर जो स्वांगभरा मोर्चा बनाया गया था, उसे पूंजीवादी जनतंत्रवादियों ने तोड़ डाला। साथियों के रूप में ठुकरा दिये जाने तथा पीछे धकेल दिये जाने के बाद जनवादी जनतंत्रवादी तिरंगे झंडे वाले लोगों के अनुचरों की स्थिति में पहुंच गये, उनसे वे कोई रियायत तो नहीं हासिल कर सके, लेकिन उनके प्रभुत्व को उन्हें उस समय हमेशा सहारा देना पड़ता था जब उसे तथा उसके साथ जनतंत्र को जनतंत्रविरोधी पूंजीवादी धड़ों की ओर से ख़तरा प्रतीत होता था। अन्ततः ये धड़े आर्लियानिस्ट तथा लेजिटिमिस्ट राष्ट्रीय संविधान सभा में शुरू से ही

अल्पमत में थे। जून के दिनों से पहले वे केवल पूंजीवादी जनतंत्रवादियों का नक़ाब पहनकर ही सामने आने की हिम्मत कर सकते थे; जून की विजय ने पूरे पूंजीवादी फ़्रांस को कुछ देर के लिये अपने रक्षक के रूप में कैवेन्याक का अभिनन्दन करने दिया। और जून के दिनों के कुछ ही समय बाद जब जनतंत्रवादविरोधी पार्टी ने आज़ादी फिर से हासिल कर ली तो फ़ौजी प्रभुत्व तथा पेरिस में घेरेबन्दी की हालत ने उसे अपनी स्पर्शश्रृंगिकाएं बहुत ही सहमे-सहमे ढंग से तथा सावधानी के साथ बाहर लाने की इजाज़त दी।

१८३० से **पूंजीवादी जनतंत्रवादी** धड़ा अपने लेखकों, प्रवक्ताओं, अपने प्रतिभाशाली तथा महत्वकांक्षी लोगों, संसत्सदस्यों, जनरलों, बैंकपतियों तथा वकीलों के रूप में पेरिस के «*National*» अख़बार के इर्दगिर्द एकत्रित हो गया था। प्रान्तों में इस समाचारपत्र की अपनी शाखाएं थीं। «*National*» का गुट **तिरंगे जनतंत्र का राजवंश** था। उसने तुरन्त सारे राजकीय पदों को हथिया लिया – मंत्रालयों, पुलिस के प्रशासन, डाकघरों की डायरेक्टरशिप, प्रशासनाधिकारी के पदों, फ़ौज के आला अफ़सरों के ओहदों को जो अब रिक्त हो गये थे। कार्यकारी सत्ता के शीर्ष स्थान पर अब उसका जनरल **कैवेन्याक** खड़ा था; उसका प्रधान सम्पादक मारास्त राष्ट्रीय संविधान सभा का स्थायी अध्यक्ष बन गया। इसके साथ ही वह रस्म-समारोहों के आचार्य के रूप में अपने स्वागत-समारोहों में "सम्माननीय" जनतंत्र की ओर से आतिथ्य-सत्कार का कर्त्तव्य निभाता था।

क्रांतिकारी लेखकों तक ने, जो, कह सकते हैं, जनतंत्रीय परम्परा से विस्मयाकुल हो उठे थे, इस भ्रान्त धारणा को दृढ़ बनाया है कि राष्ट्रीय संविधान सभा में राजतंत्रवादियों का प्रभुत्व था। इसके विपरीत संविधान सभा जून के दिनों के बाद **पूंजीवादी जनतंत्रवाद का विशिष्ट प्रतिनिधि** बनी रही और उसने इस पहलू पर उतनी ही अधिक दृढ़ता के साथ ज़ोर दिया, जितना अधिक तिरंगे पक्षधर जनतंत्रवादियों का सभा के बाहर प्रभाव धराशायी होता गया। यदि प्रश्न पूंजीवादी जनतंत्र के **रूप** बनाये रखने का था तो सभा के पास जनवादी जनतंत्रवादियों के वोट मौजूद थे, यदि प्रश्न उसकी **अन्तर्वस्तु** बनाये रखने का था तो उसके वक्तृत्व की शैली तक अब उसे राजतंत्रवादी पूंजीवादी धड़ों से पृथक नहीं करती थी क्योंकि पूंजीपति वर्ग के हित ही, उसके वर्ग शासन तथा वर्ग शोषण की भौतिक परिस्थितियां ही पूंजीवादी जनतंत्र की अन्तर्वस्तु हैं।

अतः यह राजतंत्रवाद नहीं वरन् पूंजीवादी जनतंत्रवाद ही था जिसने इस

संविधान सभा के जीवन तथा कार्य में मूर्त्त रूप प्राप्त किया, जो अंत में न तो **मरी** और न मारी गयी बल्कि सड़ गयी।

संविधान सभा अपने शासन के पूरे कार्यकाल में जब तक रंगमंच पर राज्य का भव्य अभिनय करती रही, तब तक पार्श्वभूमि में अखण्ड नरमेध यज्ञ चलता रहा – बन्दी बनाये गये जून के बग़ावतियों को फ़ौजी अदालतें बराबर सज़ा देती चली गयीं अथवा उन्हें बिना मुक़दमे के निर्वासित किया जाता रहा। संविधान सभा में यह स्वीकार करने की चतुराई थी कि जून के बग़ावतियों को लेकर वह अपराधियों का फ़ैसला नहीं कर रही थी अपितु दुश्मनों का सफ़ाया कर रही थी।

राष्ट्रीय संविधान सभा का पहला पग था जून तथा १५ मई की घटनाओं और उन दिनों समाजवादी तथा जनवादी पार्टी के नेताओं द्वारा अदा की गयी भूमिका की जांच करने के लिये एक **जांच आयोग** की स्थापना करना। यह जांच सीधे लूई ब्लां, लेद्रू-रोलें तथा कोसीदियेर के ख़िलाफ़ लक्षित थी। पूंजीवादी जनतंत्रवादी इन प्रतिद्वन्द्वियों से छुटकारा पाने के लिये छटपटा रहे थे। उन्होंने अपना गुबार निकालने का काम श्री **ओदिलां बारो** को सौंपा, इसके लिये उन्हें राजवंशीय विपक्ष के इस भूतपूर्व प्रधान, उदारतावाद के अवतार, इस nullité grave,* ऊपर से नीचे तक इस ओछे इन्सान से ज़्यादा उपयुक्त पात्र नहीं मिल सकता था जिसे केवल राजवंश से ही बदला नहीं लेना था बल्कि प्रधानमंत्री पद से वंचित रखने के लिये क्रान्तिकारियों से भी हिसाब-किताब बराबर करना था। यह उसकी निष्ठुरता की पक्की गारंटी थी! इस कारण इसी बारो को जांच आयोग का अध्यक्ष नियुक्त किया गया और उसने फ़रवरी क्रान्ति के ख़िलाफ़ एक पूरी क़ानूनी प्रक्रिया रच दी, उस प्रक्रिया को सार रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है – १७ मार्च को **प्रदर्शन**; १६ अप्रैल को **षड्यंत्र**; १५ मई को **मार डालने का प्रयत्न**; २३ जून को **गृहयुद्ध**! उसने अपराधविज्ञानी के रूप में जो पांडित्यपूर्ण अनुसंधान किये, उन्हें वह पीछे २४ फ़रवरी तक क्यों नहीं ले गया? *«Journal des Débats»*[123] ने इसका उत्तर दिया: २४ फ़रवरी – वह तो **रोम की आधारशिला** है। राज्यों का मूल कपोल-कल्पनाओं में लुप्त हो जाता है जिनमें सब को विश्वास करना चाहिए और जिन पर कोई बहस नहीं कर सकता। लूई ब्लां तथा कोसीदियेर को

* तुच्छ। – सं०

अदालतों के हवाले किया गया। राष्ट्रीय सभा ने १५ मई को अपने अन्दर सफ़ाई करने का जो काम शुरू किया था, वह उसने पूरा कर दिया।

पूंजी पर कर लगाने—बन्धक कर के रूप में—की जिस योजना को अस्थायी सरकार ने तैयार किया था तथा जिसे फिर गुदशो ने पेश किया था, उसे राष्ट्रीय संविधान सभा ने ठुकरा दिया; कार्य-दिवस घटाकर दस घंटे तक सीमित करनेवाला क़ानून रद्द कर दिया गया; कर्ज़ की अदायगी न करने पर जेल की सज़ा फिर चालू की गयी; फ़ांसीसी आबादी के बड़े हिस्से के लिये, जिसे न लिखना आता है और न पढ़ना, न्यायिक सेवा वर्जित कर दी गयी। तो फिर उसे मताधिकार से भी क्यों नहीं वर्जित किया जाता? पत्र-पत्रिकाओं को फिर ज़मानती रुपया जमा करना पड़ा; संघबद्ध होने का अधिकार सीमित कर दिया गया।

परन्तु पुराने पूंजीवादी संबंधों को उनकी पुरानी गारंटियां वापस देने की और क्रांति की लहरों द्वारा अपने पीछे छोड़े गये हर चिह्न को मिटाने की जल्दबाज़ी में पूंजीवादी जनतंत्रवादियों को एक ऐसे प्रतिरोध का सामना करना पड़ा जिसने उनके लिये अप्रत्याशित ख़तरा पैदा कर दिया।

जून के दिनों में सम्पत्ति की रक्षा तथा साख को फिर से चालू करने के लिये कॉफ़े और रेस्तरांओं के मालिकों, marchands de vin,* छोटे-छोटे व्यापारियों, दुकानदारों, दस्तकारों आदि से अधिक मतान्धता के साथ और किसी ने संघर्ष नहीं किया था। दुकानदार उठ खड़ा हुआ और बैरीकेडों की ओर बढ़ा ताकि उस ट्रैफ़िक को फिर से चालू कर सके जो सड़कों से दुकान की ओर बढ़ता है। परन्तु बैरीकेड के पीछे ग्राहक तथा कर्ज़दार तथा उसके आगे दुकान के ऋणदाता खड़े थे। और जब बैरीकेड गिरा दिये गये और मज़दूर पराजित हुए और विजय के नशे में धुत्त दुकानदार अपनी दुकानों की ओर तेजी से लपके तो उन्होंने देखा कि सम्पत्ति का रक्षक, साख का सरकारी एजेंट उसका रास्ता रोके खड़ा है, उसने उनके आगे धमकीभरे नोटिस पेश किये: प्रोनोटों की मियाद गुज़र चुकी है! मकान-भाड़े की अदायगी की मियाद गुज़र चुकी है! हुंडी की मियाद ख़त्म हुई! दुकान का सत्यानाश! दुकानदार का सत्यानाश!

सम्पत्ति की रक्षा! परन्तु जिस घर में वे रहते थे, वह उनकी सम्पत्ति नहीं था; जो दुकान उनके पास थी, वह उनकी अपनी सम्पत्ति नहीं थी; जिन चीज़ों का वे कारोबार करते थे, वे उनकी अपनी सम्पत्ति नहीं थीं। उनके पास

---

*शराब की दुकानों के मालिक।—सं०

जो व्यापार था, वे जिस रक़ाबी में खाना खाते थे, जिस बिस्तर पर वे सोते थे, उनमें से कुछ भी अब उनका नहीं रह गया था। ठीक इन्हीं लोगों से **इस सम्पत्ति की रक्षा की जानी थी** – मकान-मालिक के लिये, जो मकान किराये पर उठाता था, बैंक-मालिक के लिये, जो प्रोनोट पर बट्टा काटता था, पूंजीपति के लिये, जो नक़द पेशगी देता था, मैनुफ़ेक्चरर के लिये, जो अपने माल की बिक्री का काम इन खुदरा व्यापारियों को सौंपता था, थोक व्यापारी के लिये, जो इन दस्तकारों को कच्ची सामग्री उधार देता था। **साख की पुनःस्थापना!** परन्तु साख अपनी शक्ति पुनः प्राप्त कर चुकने के बाद सशक्त और प्रतिशोधकारी देवता सिद्ध हुई, क्योंकि उसने कर्ज़दार को, जो कर्ज़ा नहीं चुका सकता था, पत्नी तथा बच्चे के साथ घर की चारदीवारी से बाहर निकाल दिया, उसकी काल्पनिक सम्पत्ति पूंजी के हवाले कर दी, और स्वयं व्यक्ति को कर्ज़दारों की जेल में पहुंचा दिया, जिसने एक बार फिर जून के विप्लवियों की लाशों के ऊपर ख़तरनाक ढंग से अपना सिर ऊपर उठाया।

निम्नपूंजीपतियों ने भयभीत होकर देखा कि मज़दूरों को धराशायी कर उन्होंने अपने को बिना किसी प्रतिरोध के अपने ऋणदाताओं के सुपुर्द कर डाला है। जून के बाद उनका दिवालियापन, जो फ़रवरी से पुराने ढंग से पांव घसीटते चला जा रहा था और जो, नज़रअन्दाज़ कर दिया गया प्रतीत होता था, खुलेआम घोषित कर दिया गया।

उनकी नाममात्र की सम्पत्ति जब तक **सम्पत्ति के नाम पर** उन्हें रणक्षेत्र की ओर धकेलने के लिये कुछ महत्व की रही, तब तक उस पर हमला नहीं किया गया। अब चूंकि सर्वहारा वर्ग के साथ निपटने का बड़ा मसला हल कर दिया गया था, इसलिये अब छोटे दुकानदारों का छोटा-सा मसला तय किया जा सकता था। पेरिस में अतिदेय हुंडियों की क़ीमत २ करोड़ १० लाख फ़्रांक से अधिक और प्रांतों में १ करोड़ १० लाख फ़्रांक से ऊपर पहुंच चुकी थी। पेरिस की सात हज़ार से अधिक दूकानों के मालिकों ने फ़रवरी से भाड़ा नहीं चुकाया था।

राष्ट्रीय सभा ने जहां ठीक फ़रवरी के अंत से लेकर होनेवाले **राजनीतिक अपराध** के बारे में enquête* बिठायी, वहां निम्नपूंजीपति वर्ग अब मांग करने लगा कि २४ फ़रवरी तक के **नागरिक ऋणों** के लिये भी enquête बिठायी जाये। वे निम्नपूंजीपति बहुत बड़ी तादाद में स्टाक एक्सचेंज के हाल में जमा

* जांच। – सं०

हुए और उन्होंने हर उस व्यापारी की ओर से, जो यह सिद्ध कर सकता था कि उसका दिवाला पिटने का एकमात्र कारण क्रान्ति द्वारा उत्पन्न गतिरोध है तथा २४ फ़रवरी तक उसका कारोबार अच्छी हालत में था, मांग की कि वाणिज्य अदालत के आदेश के ज़रिए भुगतान की मियाद बढ़ा दी जाये तथा ऋणदाताओं के दावों का मामूली सैकड़ेवारी भुगतान के बदले अनिवार्य रूप से परिसमापन कर दिया जाये। इस प्रश्न पर राष्ट्रीय सभा में «concordats à l'amiable»* के बारे में विधायी प्रस्ताव के रूप में विचार किया गया। राष्ट्रीय सभा हिचकिचाती रही; तब उसे सहसा पता चला कि उसी वक़्त पोर्ट सेंट देनी के पास हज़ारों विप्लवियों की पत्नियों तथा बच्चों ने क्षमादान की अर्ज़ी तैयार की है।

जून के पुनरुज्जीवित हौवे के सामने निम्नपूंजीपति वर्ग कांपने लगा और राष्ट्रीय सभा ने अपनी निष्ठुरतापूर्ण स्थिति पुन:प्राप्त कर ली। कर्ज़दार तथा ऋणदाता के बीच concordats à l'amiable – सौहार्दपूर्ण समझौते – को उसके सबसे बुनियादी मुद्दों के साथ ठुकरा दिया गया।

इस तरह राष्ट्रीय सभा में पूंजीपति वर्ग के जनतंत्रवादी प्रतिनिधियों द्वारा निम्नपूंजीपति वर्ग के जनवादी प्रतिनिधियों को पीछे धकेले जाने के कुछ समय बाद इस संसदीय दरार को अपना पूंजीवादी, अपना वास्तविक आर्थिक अर्थ प्राप्त हुआ: कर्ज़दारों के रूप में निम्नपूंजीपतियों को ऋणदाताओं के रूप में पूंजीपतियों के हवाले कर दिया गया। निम्नपूंजीपतियों का एक बड़ा हिस्सा पूरी तरह बर्बाद हो गया तथा बाक़ी को केवल ऐसी अवस्थाओं में अपना कारोबार चलाने दिया गया जिन्होंने उन्हें पूंजी का पूर्ण दास बना दिया। २२ अगस्त १८४८ को राष्ट्रीय सभा ने concordats à l'amiable को ठुकरा दिया; १९ सितम्बर १८४८ को घेरेबन्दी की स्थिति के बीच प्रिंस लूई बोनापार्त तथा वेन्सेन्स के बन्दी कम्युनिस्ट रास्पायल पेरिस के प्रतिनिधि चुने गये। परन्तु पूंजीपति वर्ग ने यहूदी-बैंकपति और आर्लियानिस्ट फ़ूल्द को अपना प्रतिनिधि निर्वाचित किया। अतः राष्ट्रीय संविधान सभा के विरुद्ध, पूंजीवादी जनतंत्रवाद के विरुद्ध, कैवेन्याक के विरुद्ध चारों ओर से युद्ध की खुली घोषणा कर दी गयी।

यह सिद्ध करने के लिये किसी तर्क की आवश्यकता नहीं है कि पेरिस के निम्नपूंजीपतियों के बड़े पैमाने पर दिवालियेपन का प्रभाव उसके तत्काल शिकार

* "सौहार्दपूर्ण समझौता"। – सं०

बननेवालों की परिधि से कहीं दूर तक फैला, कि पूंजीवादी वाणिज्य का फिर एक बार बुरी तरह छटपटाना अवश्यंभावी था जबकि उधर जून विप्लव पर ख़र्चों के कारण राजकीय घाटा नये सिरे से बढ़ता गया तथा उत्पादन के रोके जाने, खपत के सीमित होने और आयात के घटाये जाने के कारण राजकीय राजस्व में निरन्तर गिरावट आती चली गयी। कैवेन्याक तथा राष्ट्रीय सभा के लिये इसके अलावा और कोई चारा नहीं रह गया था कि वे तुरन्त नया ऋण प्राप्त करें जिसने उन्हें वित्तीय अभिजाततंत्र के जूए से और कसकर बांध दिया।

निम्नपूंजीपति वर्ग ने जहां अदालत के आदेश के ज़रिए जून की विजय के रूप में केवल दिवालियापन और नीलामी कमायी, वहां कैवेन्याक के जांनिसारों,[124] गश्ती गार्डों ने गणिकाओं की मुलायम बांहों में अपना पुरस्कार पाया और उन्हे "समाज के तरुण रक्षकों" के रूप में मारास्त के, तिरंगे झंडे के इस gentilhomme के दीवानख़ानों में सब तरह का सम्मान प्राप्त हुआ; इस व्यक्ति ने ही "सम्मानित" जनतंत्र के स्वागतकर्त्ता तथा साथ ही भाट की भूमिका अदा की। इस बीच गश्ती गार्डों के प्रति इस सामाजिक पक्षपात तथा उन्हें आवश्यकता से अधिक मिलनेवाले वेतन ने सेना में कटुता पैदा कर दी, उधर इसके साथ ही वे सारी राष्ट्रीय भ्रान्तियां लुप्त हो गयीं जिनकी मदद से पूंजीवादी जनतंत्रवाद अपने पत्र «*National*» के माध्यम से लूई फ़िलिप के अधीन सेना तथा कृषक वर्ग के एक हिस्से को अपने साथ संलग्न कर सका था। मध्यस्थ की भूमिका, जो कैवेन्याक, तथा राष्ट्रीय सभा ने इंगलैंड के साथ मिलकर उत्तरी इटली में अदा की थी ताकि उसको विश्वासघातपूर्वक आस्ट्रिया के हवाले किया जा सके,– इस एक दिन के राज ने «*National*» के अठारह वर्षों के विपक्ष की हैसियत को नष्ट कर दिया। कोई सरकार «*National*» की सरकार से कम राष्ट्रीय नहीं थी, कोई इंगलैंड पर उससे अधिक आश्रित नहीं थी, और लूई फ़िलिप के मातहत «*National*» काटो के सिद्धान्तवाक्य Carthaginem esse delendam* का हर रोज पदान्वयन कर अपना काम चलाता था; पुनीत संघ का उससे बड़ा ताबेदार और कोई नहीं था, और गीज़ो से «*National*» ने वियेना संधियां फाड़ डालने की मांग की। यह इतिहास का व्यंग्य था जिसने «*National*» के वैदेशिक विषयों के भूतपूर्व सम्पादक बास्तीद को फ़्रांस का विदेशमंत्री बना दिया ताकि वह अपने हर डिस्पैच से अपने हर लेख का खण्डन कर सके।

---

*कार्थेज नष्ट किया ही जाना चाहिए।–सं०

फ़ौज और कृषक वर्ग क्षण भर के लिये यह विश्वास कर बैठा कि फ़ौजी अधिनायकत्व के साथ-साथ विदेश में युद्ध तथा "महिमा" फ़ांस के लिये नित्यप्रति का क्रम बन गये हैं। परन्तु कैवेन्याक पूंजीवादी समाज के सिर पर तलवार का अधिनायकत्व नहीं था, वह तो तलवार की सहायता से पूंजीपति वर्ग का अधिनायकत्व था। और सैनिक की उन्हें अब केवल पुलिस के काम के लिये ज़रूरत थी। दकियानूसी-जनतंत्रवादी सादगी की कठोर मुद्रा के पीछे कैवेन्याक ने अपने पूंजीवादी पद की अपमानजनक अवस्थाओं के प्रति तुच्छतापूर्ण आत्मसमर्पण को छुपाया। L'argent n'a pas de maître! धन का कोई स्वामी नहीं होता! कैवेन्याक ने तथा साधारण रूप से संविधान सभा ने tiers état* के पुराने चुनाव-नारे को आदर्श रूप में देखते हुए उसका राजनीतिक भाषा में अनुवाद किया: पूंजीपति वर्ग का कोई राजा नहीं होता; उसके शासन का वास्तविक रूप है जनतंत्र।

राष्ट्रीय संविधान सभा का "महान सांघटिक कार्य" इस रूप को तैयार करने, एक जनतंत्रीय संविधान तैयार करने में निहित था। इस संविधान द्वारा पूंजीवादी समाज में जो परिवर्तन किया गया था, उसे जो परिवर्तन करना था, वह उससे अधिक नहीं था जो मसीही कैलेंडर को जनतंत्रीय कैलेंडर में परिणत किये जाने से या सन्त बार्थोलोम्यू को सन्त रोबेसपियेर का नाम दिये जाने से मौसम में हुआ। जहां वह पोशाक बदलने के काम से आगे बढ़ा, वहां उसने विद्यमान तथ्यों को दर्ज किया। इस तरह उसने जनतंत्र को स्थापित करने के तथ्य को, सर्वमताधिकार के तथ्य को, दो सीमित संविधानी सदनों के स्थान पर एक ही प्रभुसत्तासम्पन्न राष्ट्रीय सभा के तथ्य को दर्ज किया। इस तरह उसने स्थायी, अनुत्तरदायी, वंशानुगत राजतंत्र के स्थान पर अस्थायी, उत्तरदायी तथा निर्वाचन द्वारा नियुक्त राजतंत्र, चार वर्ष के कार्यकाल का राष्ट्राध्यक्ष पद प्रतिष्ठापित कर कैवेन्याक के अधिनायकत्व को दर्ज और विनियमित किया। उसने उन असाधारण अधिकारों को, जिन्हें राष्ट्रीय सभा ने १५ मई तथा २५ जून की विभीषिकाओं के बाद स्वयं अपनी सुरक्षा की ख़ातिर दूरदर्शितापूर्ण ढंग से अपने सभापति को प्रदान किया था, जिस दर्जे पर पहुंचाया, वह एक सांघटिक क़ानून से कम नहीं था। बाक़ी संविधान तो पारिभाषिक शब्दावली तैयार करने का काम था। पुराने राजतंत्र के शाही बिल्ले फाड़ दिये गये और जनतंत्रवादी बिल्ले चिपका

*तीसरा एस्टेट। – सं०

दिये गये। «*National*» के भूतपूर्व प्रधान सम्पादक और अब संविधान के प्रधान सम्पादक मारास्त ने इस शास्त्रीय कार्य की जिस तरह पूर्ति की, वह प्रतिभाशून्य नहीं थी।

संविधान सभा चिली के उस अफ़सर से मिलती-जुलती थी जो ज़मीन के मामले में सम्पत्ति-सम्बन्धों को मालगुज़ारी विषयक एक सर्वेक्षण के ज़रिए ठीक उस समय विनियमित करना चाहता था जब ज़मीन के अन्दर गड़गड़ाहट ने उस ज्वालामुखी-विस्फोट की सूचना दी जिसे उसके पांव के नीचे से धरती खिसकानी थी। सिद्धांततः उसने जहां उन रूपों को सही ढंग से निरूपित किया जिनमें पूंजीपति वर्ग के शासन को जनतंत्रीय अभिव्यक्ति मिल गयी, वहां वास्तविकता यह थी कि वह तमाम फ़ार्मूलों के उन्मूलन के ज़रिए ही, sans phrase* बल के ज़रिए ही, **घेरेबन्दी की अवस्था** के ज़रिए ही टिकी रह सकी। संविधान तैयार करने का काम शुरू करने से दो दिन पहले उसने घेरेबन्दी की स्थिति को आगे जारी रखने की घोषणा की। पहले संविधान उस समय के बाद बनते तथा मंजूर होते थे, जब क्रान्ति की सामाजिक प्रक्रिया विश्राम-स्थली पर पहुंची होती, जब नवनिर्मित वर्ग-सम्बन्ध अपने को स्थापित किया करते, तथा सत्तारूढ़ वर्ग के संघर्षरत धड़े समझौते का रास्ता पकड़े हुए होते थे, जो उन्हें एक ओर आपस में संघर्ष करने देता था तथा दूसरी ओर थके-मांदे जनसाधारण को उससे बाहर रखने में मदद देता था। इस संविधान ने इसके विपरीत किसी सामाजिक क्रान्ति की मंजूरी नहीं दी; उसने क्रान्ति पर पुराने समाज की अस्थायी विजय को मंजूरी दी।

जून के दिनों से पूर्व तैयार संविधान के पहले मसौदे[125] में अब भी «droit au travail», काम का अधिकार, वह पहला भोंडा फ़ार्मूला मौजूद था जिसमें सर्वहारा की क्रान्तिकारी मांगों को सारांश रूप में प्रस्तुत किया गया है। उसे droit à l'assistance में, सहायता पाने के अधिकार में बदल गया; ऐसा कौनसा आधुनिक राज्य है जो अपने कंगालों को इस या उस रूप में खाना नहीं खिलाता? काम का अधिकार पूंजीवादी अर्थ में एक बेतुकी चीज़, एक दयनीय, काल्पनिक वस्तु है। परन्तु काम के अधिकार के पीछे तो पूंजी के ऊपर प्रभुत्व है; पूंजी के ऊपर प्रभुत्व के पीछे उत्पादन के साधनों का हस्तगतकरण, सम्मिलित मज़दूर वर्ग के द्वारा उनका अधीनीकरण खड़ा है; फलस्वरूप उजरती

* वाग्जाल रहित।—सं०

श्रम, पूंजी तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों का उन्मूलन खड़ा है। **"काम के अधिकार"** के पीछे जून-विप्लव खड़ा था। संविधान सभा को, जिसने वस्तुत: क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग को hors la loi, क़ानून के बाहर रखा, सिद्धान्तत: **सर्वहारा वर्ग** का फ़ार्मूला संविधान से, क़ानूनों में सबसे बड़े इस क़ानून से बाहर फेंकना पड़ा, उसे "काम के अधिकार" को शाप देना पड़ा। परन्तु बात वहीं ख़त्म नहीं हुई। जिस तरह अफ़लातून ने अपने जनतंत्र से कवियों को निष्कासित किया, उसी तरह उसने अपने जनतंत्र में **वर्द्धमान कर** पर हमेशा के लिये पाबन्दी लगा दी थी। और वर्द्धमान कर केवल पूंजीवादी पग ही नहीं है जिसे उत्पादन के मौजूदा सम्बन्धों के अन्तर्गत न्यूनाधिक मात्रा में लागू किया जा सकता है; वह तो पूंजीवादी समाज के मध्यम तबक़े को "सम्मानित" जनतंत्र के साथ बांधने का, राजकीय ऋण घटाने का और पूंजीपति वर्ग के जनतंत्रवादविरोधी बहुमत को रोके रखने का एकमात्र उपाय भी था।

Concordats à l'amiable के मामले में तिरंगेवादी जनतंत्रवादियों ने वास्तव में निम्नपूंजीपतियों की बड़े पूंजीपति वर्ग के आगे बलि दे दी थी। उन्होंने वर्द्धमान कर के क़ानूनी निषेध के ज़रिए इस अलग-थलग तथ्य को सिद्धान्त के दर्जे पर पहुंचा दिया। उन्होंने पूंजीवादी सुधार को सर्वहारा क्रान्ति के ही स्तर पर बिठा दिया। परन्तु तब कौनसा वर्ग उनके जनतंत्र का मुख्य आधार-स्तम्भ रह गया था? बड़ा पूंजीपति वर्ग। उसका बहुमत तो जनतंत्रविरोधी था। जहां उसने «*National*» के जनतंत्रवादियों को आर्थिक जीवन के पुराने सम्बन्धों को फिर से मज़बूत बना सकने के लिए इस्तेमाल किया, वहां उसने दूसरी ओर यह भी सोचा कि एक बार फिर दृढ़ बने हुए सामाजिक सम्बन्धों का इस्तेमाल किया जाये ताकि उनसे मेल खानेवाले राजनीतिक रूपों को पुनरुज्जीवित किया जा सके। अक्तूबर के प्रारम्भ में ही कैवेन्याक ने अनुभव किया कि उसकी अपनी पार्टी के मस्तिष्कहीन कट्टरतावादी चाहे कितना ही गुर्रायें और कितना ही हंगामा मचायें, वह दूफ़ोर और विव्येन को, लूई फ़िलिप के भूतपूर्व मंत्रियों को, फिर से जनतंत्र के मंत्री बनाने के लिए विवश है।

तिरंगेवादी संविधान ने जहां निम्नपूंजीपति वर्ग के साथ किसी भी तरह के समझौते को अस्वीकार कर दिया, और वह किसी भी नये सामाजिक तत्व को सरकार के नये रूप के साथ लाने में अक्षम रहा, वहां उसने उस निकाय की परम्परागत अनतिक्रम्यता जल्दी से पुन:स्थापित की जो पुराने राज्य का सबसे दुर्दमनीय तथा मतान्ध रक्षक था। उसने **जजों की अपदस्थता** को, जिसे अस्थायी

सरकार ने चुनौती दी थी, एक मूलभूत क़ानून बना दिया। जिस एक **राजा** को उसने हटाया था, वह अब अपदस्थ न किये जा सकनेवाले क़ानूनियत के इन ज़ालिमों के रूप में बीसियों की तादाद में उठ खड़ा हुआ।

फ़्रांसीसी अख़बारों ने श्री॰ मारास्त के संविधान के अन्तर्विरोधों का अनेकानेक पहलुओं से विश्लेषण किया था—उदाहरण के लिए दो प्रभुसत्ताधारियों का, राष्ट्रीय सभा और राष्ट्रपति का सह-अस्तित्व आदि, आदि।

परन्तु इस संविधान का मुख्य अन्तर्विरोध इस चीज़ में निहित है: संविधान को जिन वर्गों की—सर्वहारा वर्ग, कृषक समुदाय, निम्नपूंजीपति वर्ग की—सामाजिक दासता बरक़रार रखनी है, उन्हें वह सर्वमताधिकार प्रणाली द्वारा राजनीतिक सत्ता सौंपता है। और जिस वर्ग की—पूंजीपति वर्ग की—पुरानी सामाजिक शक्ति को वह अनुमोदित करता है, उसे वह राजनीतिक गारंटियों से वंचित करता है। वह पूंजीपति वर्ग के राजनीतिक शासन को जनवादी चौखटे में रख देता है जो हर क्षण विरोधी वर्गों को विजय दिलाने में मदद देता है तथा पूंजीवादी समाज की नींवों को ही ख़तरे में डाल देता है। एक वर्ग-समूह से वह मांग करता है कि वह राजनीतिक मुक्ति से सामाजिक मुक्ति की ओर न बढ़े और दूसरे से वह मांग करता है कि वह सामाजिक पुनःस्थापन से राजनीतिक पुनःस्थापन की ओर न लौटे।

इन अन्तर्विरोधों ने पूंजीवादी जनतंत्रवादियों को बहुत कम विचलित किया। वे जिस हद तक **आवश्यक** नहीं रह गये थे – और वे केवल क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग के विरुद्ध पुराने समाज के हरावल के रूप में ही आवश्यक थे—उस हद तक वे अपनी विजय के चन्द हफ़्तों बाद **पार्टी** की स्थिति से खिसककर एक **गुट** की स्थिति में पहुंच गये। और उन्होंने संविधान को एक बहुत बड़ा **षड्यंत्र** माना। उसमें जो चीज़ गठित की जानी थी, वह थी सर्वोपरि उनके गुट की हुकूमत। राष्ट्रपति पद पर कैवेन्याक बना रहे, विधान सभा संविधान सभा का अनुपूरक हो। उन्हें उम्मीद थी कि वे जनसाधारण की राजनीतिक सत्ता को घटाकर उसे सत्ता की झलक मात्र बना सकेंगे और वे स्वयं इस दिखावटी सत्ता के साथ काफ़ी खिलवाड़ कर सकेंगे ताकि पूंजीपति वर्ग की बहुसंख्या को जून के दिनों की द्विविधा में—*«National»* का **राज्य अथवा अराजकता का राज्य**—रखकर निरन्तर उसके ऊपर मंडरा सकें।

संविधान बनाने का जो काम ४ सितम्बर को आरम्भ हुआ था, वह २३ अक्तूबर को पूरा हुआ। २ सितम्बर को संविधान सभा ने तय किया कि जब

तक संविधान के लिए परिपूरक बननेवाले अंगभूत क़ानून नहीं बनेंगे तब तक वह विघटित नहीं होगी। फिर भी अब १० दिसम्बर को, अपने कार्यकलाप के बन्द होने के बहुत पहले ही उसने राष्ट्रपति पद में, जो उसकी अपनी ही सर्वाधिक विचित्र रचना थी, प्राण भरने का फ़ैसला किया। उसे पक्का यक़ीन था कि वह संविधान के वामन में अपनी मां के सच्चे पुत्र का अभिनन्दन कर सकेगा। सतर्कता के रूप में यह व्यवस्था की गयी कि यदि किसी भी उम्मीदवार को २० लाख वोट नहीं मिलते तो चुनाव का काम राष्ट्र के हाथ से संविधान सभा के पास पहुंचे जायेगा।

निरर्थक सतर्कता! संविधान को लागू करने का पहला दिन संविधान सभा के शासन का आख़िरी दिन था। मतदान की पेटी के तल में उसकी मौत की सज़ा पड़ी हुई थी। उसने "अपनी मां के बेटे" की तलाश की और उसे "अपने चाचा का भतीजा" मिल गया। साउल-कैवेन्याक ने **दस** लाख वोट हासिल किये परन्तु डेविड-नेपोलियन ने तो **साठ** लाख हासिल किये। साउल-कैवेन्याक को छगुनी ज़्यादा मार पड़ी।[126]

१० दिसम्बर १८४८ **किसानों की बग़ावत** का दिन था। केवल इसी दिन से फ़्रांसीसी किसानों के लिए फ़रवरी शुरू होती है। क्रान्तिकारी आन्दोलन में उनके प्रवेश को अभिव्यक्त करनेवाला प्रतीक, जो भोंडे ढंग की चालाकी से भरा था, जिसमें धूर्त्ततापूर्ण भोलापन था, मूर्खताभरी उदात्तता थी, जिसमें सोच-समझकर अपनाया गया अंधविश्वास था, जो दयनीय स्वांग था, जिसमें चतुराई-मूर्खता से युक्त कालदोष था, जो विश्व-इतिहास का मसख़रापन था तथा जो सभ्यों के दिमाग़ के लिए एक अपाठ्य गूढ़लिपि था – उस प्रतीक पर उस वर्ग की आकृति की साफ़-साफ़ छाप थी जो सभ्यता के अन्दर बर्बरता का प्रतिनिधित्व करता है। जनतंत्र ने इस वर्ग के सामने अपनी आकृति **कर वसूल करनेवाले** के रूप में प्रकट की; और इस वर्ग ने जनतंत्र के सामने अपनी आकृति **सम्राट** के रूप में प्रकट की। नेपोलियन एकमात्र ऐसा व्यक्ति था जो १७८९ में नवनिर्मित कृषक वर्ग के हितों तथा कल्पना की विस्तृत रूप से अभिव्यक्ति करता था। उसने जनतंत्र के चेहरे पर नेपोलियन का नाम अंकित कर विदेशों में युद्ध तथा देश में अपने वर्ग हितों के लिए संघर्ष घोषित किया। नेपोलियन किसानों के लिए एक व्यक्ति नहीं वरन् एक कार्यक्रम था। वे झंडे लेकर, नगाड़े बजाते हुए, तुरही की ध्वनि के साथ मार्च करते हुए मतदान केन्द्रों में पहुंचे, वे चिल्ला रहे थे – «Plus d'impôts, à bas les riches, à bas la république, vive l'Empereur!» –

"कर मुर्दाबाद, अमीर मुर्दाबाद, जनतंत्र मुर्दाबाद, सम्राट जिंदाबाद!" सम्राट के पीछे कृषक युद्ध छुपा हुआ था। जिस जनतंत्र को उन्होंने वोट से नीचे गिराया, वह **अमीरों का जनतंत्र** था।

१० दिसम्बर का दिन किसानों का coup d'état* का दिन था जिसने मौजूदा सरकार को उखाड़ फेंका। उस दिन के बाद जब उन्होंने फ्रांस से एक सरकार ले ली तथा उसे एक दूसरी सरकार दी, उनकी आंखें निरन्तर पेरिस पर टिकी रहीं। एक क्षण के लिए क्रांतिकारी नाटक के क्रियाशील नायक रह चुकने के बाद उन्हें अब गायकवृन्द की निष्क्रिय तथा शक्तिहीन भूमिका की ओर नहीं धकेला जा सकता था।

दूसरे वर्गों ने किसानों की चुनाव-विजय पूर्ण करने में मदद दी। **सर्वहारा वर्ग** के लिए नेपोलियन की विजय का अर्थ था कैवेन्याक को अपदस्थ किया जाना, संविधान सभा को उलटा जाना, पूंजीवादी जनतंत्रवाद की बर्ख़ास्तगी, जून की विजय को रद्द किया जाना। **निम्नपूंजीपति वर्ग** के लिए नेपोलियन का अर्थ था कर्ज़ देनेवाले पर कर्ज़ पानेवाले की हुकूमत। **बड़े पूंजीपति वर्ग** की बहुसंख्या के लिए नेपोलियन के चुनाव का मतलब था उस धड़े से खुला सम्बन्ध-विच्छेद, जिसका उसे एक क्षण के लिए क्रान्ति के ख़िलाफ़ उपयोग करना पड़ा था। परन्तु ज्योंही इस धड़े ने उस क्षण की स्थिति को मज़बूत बनाकर उसे संवैधानिक स्थिति बनाना चाहा, वह असहनीय हो गया। इस बहुसंख्या के लिए कैवेन्याक के स्थान पर नेपोलियन का अर्थ था जनतंत्र के स्थान पर राजतंत्र, शाही दरबार का पुनःस्थापन, ड्यूक आर्लियां की ओर – वायलेट के नीचे छुपी इस लिली की ओर संकोचभरा संकेत।[127] अन्ततः **सेना** ने गश्ती गार्ड के ख़िलाफ़ नेपोलियन के पक्ष में, रमणीय शान्ति के विरुद्ध युद्ध के पक्ष में मत डाला।

इस तरह, जैसा कि «*Neue Rheinische Zeitung*» ने लिखा था फ़्रांस में सबसे मामूली इन्सान ने सबसे अधिक नानाविध महत्व ग्रहण कर लिया।[128] महज़ इसलिए कि वह कुछ नहीं था, वह अपने को छोड़कर बाक़ी सब चीज़ों का द्योतक हो सकता था। भिन्न-भिन्न वर्गों की ज़बान पर नेपोलियन के नाम का अर्थ भले ही भिन्न-भिन्न रहा हो, हर एक ने अपने मतदान पत्र पर लिखा «*National*» की पार्टी मुर्दाबाद, कैवेन्याक मुर्दाबाद, संविधान सभा मुर्दाबाद,

---

* बलात् सत्ता-परिवर्तन। – सं०

पूंजीवादी जनतंत्र मुर्दाबाद! दूफ़ोर नामक मंत्री ने संविधान सभा में इसे खुलेआम घोषित किया – १० दिसम्बर दूसरा २४ फ़रवरी है।

निम्नपूंजीपति वर्ग तथा सर्वहारा वर्ग ने नेपोलियन के **पक्ष में** en bloc* वोट दिया ताकि कैवेन्याक के **खिलाफ़** वोट दे सकें और अपने वोट मिलाकर संविधान सभा से अन्तिम निर्णय हस्तगत कर सकें। परन्तु इन दो वर्गों के अधिक उन्नत भागों ने अपने उम्मीदवार खड़े किये थे। नेपोलियन पूंजीवादी जनतंत्र के विरुद्ध सम्मिलित तमाम पार्टियों का **सामूहिक नाम** था; **लेद्रू-रोलें तथा रास्पायल व्यक्तिगत नाम** थे, लेद्रू-रोलें जनवादी निम्नपूंजीपति वर्ग का तथा रास्पायल क्रान्तिकारी सर्वहारा का नाम था। रास्पायल को दिये जानेवाले वोटों का काम – सर्वहाराओं तथा उनके समाजवादी प्रवक्ताओं ने खुलेआम घोषित किया – किसी भी तरह के राष्ट्रपति पद के विरुद्ध याने स्वयं संविधान के विरुद्ध प्रदर्शन मात्र था, लेद्रू-रोलें के विरुद्ध मतदान था; यह पहला काम था जिसके ज़रिये सर्वहारा वर्ग ने एक स्वतंत्र राजनीतिक पार्टी के रूप में जनवादी पार्टी से अपनी पृथकता घोषित की। दूसरी ओर इस पार्टी ने – जनवादी निम्नपूंजीपति वर्ग और उसके संसदीय प्रतिनिधि पर्वत दल ने – लेद्रू-रोलें की उम्मीदवारी के प्रति वह पूरी-पूरी गम्भीरता बरती जिससे वह अपने को आदतन बाक़ायदा छलती रहती है। वैसे तो यह सर्वहारा वर्ग के ख़िलाफ़ अपने को स्वतंत्र रूप से खड़ा करने की उसकी आख़िरी कोशिश थी। जनतंत्रीय पूंजीवादी पार्टी की ही नहीं वरन् जनवादी निम्नपूंजीपति वर्ग तथा उसके पर्वत दल की भी १० दिसम्बर को शिकस्त हो गयी।

फ़्रांस के पास अब **पर्वत** दल के साथ-साथ एक **नेपोलियन** भी था, यह इस बात का प्रमाण था कि दोनों उन बृहद ऐतिहासिक घटनाओं के निर्जीव विद्रूप मात्र थे जिनके नाम वे धारण किये हुए थे। लूई नेपोलियन ने सम्राट के टोप तथा बाज़ के साथ पुराने नेपोलियन की जो नक़ल की, वह पर्वत दल द्वारा १७६३ से उधार लिये गये शब्दजाल तथा बाज़ारू ढंग की भावमुद्रा के साथ पुराने पर्वत दल की नक़ल जितनी ही दयनीय थी। इस तरह १७६३ का परम्परागत अन्धविश्वास तथा परम्परागत नेपोलियनीय अन्धविश्वास भी ख़त्म कर दिया गया। क्रान्ति तभी उचित सम्मान पा सकी जब वह अपना **निजी**, अपना **मूल** नाम हासिल कर सकी और ऐसा तभी कर सकी जब आधुनिक क्रान्तिकारी वर्ग,

---

*संयुक्त रूप में। – सं०

औद्योगिक सर्वहारा वर्ग प्रभावशाली ढंग से सामने आया। यह कहा जा सकता है कि १० दिसम्बर ने पर्वत दल को अवाक् कर दिया था और उसके दिमाग़ में उलझन बढ़ा दी और यदि और किसी कारण नहीं तो कम से कम इसी कारण कि उस दिन ने ठहाका लगाते हुए, तिरस्कारसूचक कृषक व्यंग्य के साथ पुरानी क्रांति के साथ सादृश्य दिखाने की कोशिशों का एकाएक अन्त कर दिया।

कैवेन्याक २० दिसम्बर को अपने पद से अलग हो गया और संविधान सभा ने लूई नेपोलियन को राष्ट्रपति घोषित किया। १९ दिसम्बर को, अपने अनन्य शासन के आख़िरी दिन, उसने जून के विप्लवियों के लिये क्षमादान का प्रस्ताव ठुकरा दिया। क्या २७ जून की आज्ञप्ति का, जिसके अन्तर्गत उसने १५,००० विप्लवियों को निर्वासन की सज़ा दी थी, खण्डन करने का अर्थ स्वयं जून की लड़ाई का खण्डन करना नहीं होता?

लूई फ़िलिप का अन्तिम मंत्री ओदिलों बारो लूई नेपोलियन का प्रथम मंत्री बन गया। जिस तरह लूई नेपोलियन ने अपने शासन की तिथि १० दिसम्बर से नहीं वरन् १८०४ की सीनेट की एक आज्ञप्ति से निश्चित की, ठीक उसी तरह उसे ऐसा प्रधानमंत्री मिल गया जो मानता था कि उसका मंत्रित्व २० दिसम्बर से नहीं वरन् २४ फ़रवरी की एक शाही आज्ञप्ति से शुरू हुआ था। लूई फ़िलिप के वैध उत्तराधिकारी के रूप में लूई नेपोलियन ने पुराना मंत्रिमंडल बरक़रार रखकर सरकार के परिवर्तन को आसान बनाया, और भी अधिक इसलिए कि उसे अभी जीर्ण होने का समय नहीं मिला था क्योंकि उसे अभी जीवन में प्रवेश करने का समय ही नहीं मिला था।

इस चयन में शाही पूंजीवादी धड़ों के नेताओं ने उसे सलाह दी थी। पुराने राजवंशीय विपक्ष का प्रधान, जो पहले *«National»* के जनतंत्रवादियों की ओर अचेतन रूप से संक्रमण का माध्यम बना था, अब पूरे सचेतन रूप से पूंजीवादी जनतंत्र से राजतंत्र में संक्रमण करने के लिए और भी अधिक उपयुक्त था।

ओदिलों बारो एकमात्र पुरानी विपक्षी पार्टी का नेता था जो मंत्रिपदों के लिए हमेशा असफलतापूर्वक संघर्ष करती रही और अभी तक उपयोग में नहीं लायी गयी थी। क्रान्ति बहुत तेज़ी से एक-एक कर सभी पुरानी विपक्षी पार्टियों को उछालकर राज्य के शीर्ष स्तर पहुंचाती चली गयी ताकि वे करनी में नहीं वरन् कथनी में भी अपने पुराने वाक्यों का खण्डन करने के लिए विवश हों और अन्ततः जनता उन सबको एक घिनौने सम्मिश्रण में समेटकर इतिहास के कूड़े-कचरे के ढेर में फेंक सके। बारो ने, पूंजीवादी उदारतावाद के इस मूर्त रूप ने, जो अपनी काया

के गम्भीर आचरण के पीछे अपनी ख़ाली दिमाग़ की धूर्तता को १८ वर्ष तक छुपाये रहा, विश्वासघात की कोई भी मंज़िल नहीं छोड़ी। यदि किन्हीं क्षणों में वर्तमान के कांटों और बीते दिनों की सफलताओं के बीच अतीव अद्भुत विपर्यय ने इस इन्सान को भौंचक्का कर दिया था तो अब दर्पण पर एक नज़र डालते ही उसे मंत्री जैसा अपना आत्मविश्वास तथा मानवोचित आत्मप्रशंसा की शक्ति वापस मिल गयी। दर्पण से उसे जो मुस्कराते हुए देख रहा था, वह था गीज़ो, जिससे वह हमेशा ईर्ष्या करता था, जिसने हमेशा उसे वशीभूत रखा था, वह था तो गीज़ो परन्तु ओदिलां के ओलिम्पियन माथे वाला गीज़ो था। जो चीज़ें उसने नज़रअन्दाज़ कीं, वे थीं मिदास के कान।

२४ फ़रवरी का बारो 'पहले २० दिसम्बर के बारो में प्रकट हुआ। उससे, आर्लियानिस्ट तथा वाल्तेयरवादी से, संलग्न था सार्वजनिक धर्म मंत्री के रूप में लेजिटिमिस्ट और जेसुइट फ़ालू।

चन्द दिन बाद गृह मंत्रालय माल्थसपंथी लियों फ़ोशे के हवाले कर दिया गया। क़ानून, धर्म तथा राजनीतिक अर्थशास्त्र! बारो के मंत्रिमण्डल में यह सब था और इसके अलावा लेजिटिमिस्टों तथा आर्लियानिस्टों का सम्मिश्रण भी था। केवल बोनापार्तवादी का अभाव था। बोनापार्त नेपोलियन की भूमिका अदा करने की अपनी कामना को अब भी छुपाये हुआ था क्योंकि सूलूक ने अभी तुस्सेन-लूवेरत्यूर की भूमिका अदा नहीं की थी।

«National» की पार्टी को उन तमाम उच्चतर पदों से तुरन्त हटा दिया गया जिनमें वह जमी हुई थी। कोतवाली, डाक विभाग, प्रोक्युरेटरशिप जनरल, पेरिस की नगरपालिका – इन सभी जगहों पर राजतंत्र के पुराने लोग बिठा दिये गये। लेजिटिमिस्ट शांगार्नियें को सीन ज़िले के राष्ट्रीय गार्ड, गश्ती गार्ड और प्रथम सैनिक डिवीज़न की पांत के सैनिकों की एकीकृत कमान सौंपी गयी; आर्लियानिस्ट ब्यूज़ो को अल्पियन सेना का प्रधान सेनापति नियुक्त किया गया। बारो सरकार के अधीन अधिकारियों को बदलने का यह काम निर्बाध रूप से चलता रहा। उसके मंत्रिमण्डल का पहला काम था पुराने राजवंशीय प्रशासन की पुनःस्थापना करना। सरकारी रंगमंच – दृश्यावली, परिधान, भाषा, अभिनेता, अतिरिक्त अभिनेता, मूक अभिनेता, अनुबोधक, पार्टियों की स्थिति, नाटक का विषय, संघर्ष की अन्तर्वस्तु, पूरी स्थिति – पलभर में रूपान्तारित हो गया। केवल प्रागैतिहासिक संविधान सभा अब भी अपने स्थान पर थी। परन्तु ठीक उस घड़ी से जब राष्ट्रीय सभा ने बोनापार्त को, बोनापार्त ने बारो को, बारो ने शांगा-

निंये को प्रतिष्ठापित किया, फ्रांस ने जनतंत्र के संस्थापन की अवधि से बाहर निकलकर संस्थापित जनतंत्र की अवधि में प्रवेश किया। और संविधान सभा के लिए संस्थापित जनतंत्र में क्या स्थान हो सकता था? पृथ्वी की सृष्टि हो चुकने के बाद स्रष्टा के लिए इसके अलावा और कोई काम नहीं रह गया था कि वह स्वर्ग की ओर कूच करे। संविधान सभा उसके उदाहरण का अनुसरण न करने के लिए कृतसंकल्प थी, वह तो पूंजीवादी जनतंत्रवादियों की पार्टी की अन्तिम शरण-स्थली थी। यदि उससे कार्यकारी सत्ता के तमाम उत्तोलक हथिया लिये गये थे तो क्या संवैधानिक सर्वशक्तिमत्ता उसके हाथों में नहीं रहने दी गयी थी? उसका ध्यान सबसे पहले इस बात पर केन्द्रित था कि वह प्रभुसत्ता के जिस स्थान पर आसीन थी, उसे वह किसी भी सूरत में अपने पास रखे और हाथ से खिसक चुकी स्थिति को फिर से हासिल करे। बारो मंत्रिमण्डल को एक बार «*National*» का मंत्रिमण्डल अपदस्थ कर दे तो राजवंशीय कर्मचारियों को प्रशासन के महल तुरन्त खाली करने होंगे और तिरंगे का अमला फिर से विजय-पूर्वक वापस आ सकेगा। राष्ट्रीय सभा ने मंत्रिमण्डल को उलटने का निश्चय किया और मंत्रिमण्डल ने प्रहार करने के लिए स्वयं ऐसा अवसर प्रदान किया जिससे बेहतर अवसर संविधान सभा तैयार नहीं कर सकती थी।

स्मरण रहे, किसानों के लिए लूई बोनापार्त "कर मुर्दाबाद" का द्योतक था। उसे राष्ट्रपति पद पर बैठे ६ दिन हो चुके थे, सातवें दिन, २७ दिसम्बर को उसके मंत्रिमण्डल ने **नमक-कर क़ायम रखने** का प्रस्ताव किया जिसे ख़त्म करने की आज्ञप्ति अस्थायी सरकार ने जारी की थी। नमक-कर और शराब-कर को एक ही चीज में साझेदार होने का सौभाग्य प्राप्त है, वह यह है कि दोनों पुरानी फ़्रांसीसी वित्तीय प्रणाली के बलि के बकरे रहे हैं, ख़ास तौर पर देहात के लोगों की नजर में। बारो मंत्रिमण्डल किसानों द्वारा निर्वाचित आदमी के मुंह से इसके निर्वाचकों पर करारा व्यंग्य करने के लिये इससे अच्छा नारा उद्घोषित नहीं करा सकता था—**नमक-कर फिर से चालू करो!** नमक-कर के साथ बोनापार्त अपना क्रान्तिकारी नमक खो बैठा—किसान-विद्रोह का नेपोलियन किसी मायावी आकृति की तरह लुप्त हो गया तथा राजवंशीय पूंजीवादी षड्यंत्र की एक बड़ी रहस्यमय हस्ती के सिवाय कुछ भी बाक़ी नहीं रहा। और बारो मंत्रिमण्डल ने चतुराईहीन भोंडे भ्रम-निवारण की इस कार्रवाई को यदि राष्ट्रपति की पहली सरकारी कार्रवाई बना दी थी तो ऐसा अकारण नहीं किया था।

संविधान सभा ने अपनी बारी में मंत्रिमण्डल को उलटने तथा कृषक समुदाय

द्वारा चुने हुए आदमी के खिलाफ़ अपने को कृषक हितों के रक्षक के रूप में खड़ा करने के दुहरे सुयोग को उत्सुकतापूर्वक हथिया लिया। उसने वित्त मंत्री का प्रस्ताव ठुकरा दिया, नमक-कर की पहले की राशि को घटाकर एक-तिहाई कर दिया, इस तरह उसने ५६ करोड़ के राजकीय घाटे में ६ करोड़ की वृद्धि कर दी और इस **अविश्वास-प्रस्ताव** के बाद वह खामोशी से मंत्रिमण्डल के त्यागपत्र की प्रतीक्षा करने लगी। अपने चारों ओर खड़ी नयी दुनिया का, अपनी बदली हुई स्थिति का उसे इतना कम बोध था। मंत्रिमण्डल के पीछे राष्ट्रपति खड़ा था, और राष्ट्रपति के पीछे वे साठ लाख निर्वाचक थे जिन्होंने संविधान सभा के प्रति अविश्वास प्रकट करने के लिए मतदान-पेटी में उतने ही वोट डाले थे। संविधान सभा ने राष्ट्र को उसका अविश्वास-प्रस्ताव लौटा दिया। कितना उपहासास्पद आदान-प्रदान था यह! वह भूल गयी थी कि उसके वोट अब वैधमुद्रा नहीं रह गये थे। नमक-कर के ठुकराये जाने की कार्रवाई ने संविधान सभा को **"खत्म करने"** के बोनापार्त और उसके मंत्रिमण्डल के निर्णय को और भी दृढ़ किया। इस तरह वह लम्बा द्वन्द्वयुद्ध आरम्भ हुआ जो संविधान सभा के जीवन के पूरे उत्तरार्द्ध तक जारी रहा। **२९ जनवरी**, २१ मार्च तथा ८ मई journées थे—इस संकट के निर्णायक दिन, **१३ जून** के आगमन के पूर्वसूचक।

फ़्रांसीसियों ने, उदाहरण के लिए लूई ब्लां ने, २९ जनवरी को संवैधानिक विरोधाभास के, सर्वमताधिकार के गर्भ से जन्मी एक सार्वभौम तथा अविलेय राष्ट्रीय सभा और एक ऐसे राष्ट्रपति के बीच विरोधाभास के दिन के रूप में देखा है, जो कहने को तो राष्ट्रीय सभा के प्रति उत्तरदायी था परन्तु जो वस्तुतः राष्ट्रीय सभा की तरह सर्वमताधिकार द्वारा अनुमोदित हुआ था, जिसने इसके अतिरिक्त अपने साथ उन तमाम वोटों को ऐक्यबद्ध ही नहीं किया था जो सैकड़ों गुना हिस्सों में बांटे गये थे तथा राष्ट्रीय सभा के पृथक-पृथक सदस्यों के बीच वितरित हो गये थे, अपितु जिसके हाथों में वह कार्यकारी सत्ता पूरी तरह जमा थी जिसके ऊपर राष्ट्रीय सभा मात्र एक नैतिक शक्ति के रूप में मंडराया करती थी। २९ जनवरी की यह परिभाषा संसद, अखबारों तथा क्लबों में होनेवाले संघर्ष की भाषा और उसकी वास्तविक अन्तर्वस्तु को उलझा देती है। लूई बोनापार्त बनाम राष्ट्रीय संविधान सभा—यह एक इकतरफ़ा संवैधानिक सत्ता बनाम दूसरी इकतरफ़ा संवैधानिक सत्ता का मामला नहीं था; यह कार्यकारी सत्ता बनाम विधायी सत्ता का मामला नहीं था; यह तो स्वयं संस्थापित पूंजीवादी जनतंत्र बनाम उसके संविधान के उपकरणों का, बनाम पूंजीपति वर्ग

के उस क्रान्तिकारी धड़े के महत्वाकांक्षापूर्ण षड्यंत्रों और विचारधारात्मक मांगों का मामला था जिसने उसकी स्थापना की थी और जो अब यह देखकर चकित था कि उसका संस्थापित जनतंत्र पुनःस्थापित राजतंत्र की तरह लग रहा है, और अब यह धड़ा संस्थापन की अवधि को, उसकी अवस्थाओं, उसके भ्रमों, उसकी भाषा तथा उसके लोगों समेत जबरन बढ़ाना तथा परिपक्व पूंजीवादी जनतंत्र को अपने पूर्ण तथा विचित्र रूप में प्रकट होने से रोकना चाहता था। जिस तरह राष्ट्रीय संविधान सभा कैवेन्याक का, जो उसके बीच वापस पहुंचा था, प्रतिनिधित्व करती थी, उसी तरह बोनापार्त विधायी राष्ट्रीय सभा का प्रतिनिधित्व करता था जिसका अभी उससे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हुआ था, अर्थात् संस्थापित पूंजीवादी जनतंत्र की राष्ट्रीय सभा का प्रतिनिधित्व।

नेपोलियन के चुनाव के अर्थ को केवल तभी समझा जा सका जब एक नाम की जगह उसके नाना अर्थ रखे गये, उसका अर्थ केवल तभी समझा जा सका जब यह नयी राष्ट्रीय सभा के चुनाव के समय दुहराया गया। पहले का अधिदेश १० दिसम्बर को रद्द कर दिया गया था। इस तरह २६ जनवरी को आमने-सामने खड़े होनेवाले एक ही जनतंत्र का राष्ट्रपति तथा उसकी राष्ट्रीय सभा नहीं थे; वे तो जन्म ले रहे जनतंत्र की राष्ट्रीय सभा तथा जन्म ले चुके जनतंत्र का राष्ट्रपति थे, वे दो ऐसी शक्तियां थीं जो जनतंत्र की जीवन-प्रक्रिया में दो सर्वथा विभिन्न अवधियों के मूर्त रूप थीं। एक शक्ति थी पूंजीपति वर्ग का एक छोटा-सा जनतंत्रवादी धड़ा, केवल वही जनतंत्र की उद्घोषणा कर सकता था, सड़कों पर होनेवाली लड़ाई और आतंकपूर्ण राज की मदद से उसे क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग से छीन सकता था तथा संविधान में उस जनतंत्र के आदर्शमूलक मुख्य लक्षणों को निरूपित कर सकता था; दूसरी शक्ति थी पूंजीपति वर्ग का पूरा राजतंत्रवादी झुंड, अकेले वही इस संस्थापित पूंजीवादी जनतंत्र पर राज कर सकता था, संविधान का विचारधारात्मक परिधान उतार सकता था, और अपने क़ानूनों तथा प्रशासन के माध्यम से सर्वहारा वर्ग को गुलाम बनाने के लिए आवश्यक अवस्थाएं तैयार कर सकता था।

२६ जनवरी को जो आंधी चलनी शुरू हुई थी, उसकी पूरे जनवरी मास में तैयारी हो रही थी। संविधान सभा अपने अविश्वास से बारो मंत्रिमण्डल को इस्तीफ़ा देने के लिए विवश करना चाहती थी। दूसरी ओर बारो मंत्रिमण्डल ने संविधान सभा से प्रस्ताव किया कि वह स्वयं अपने पक्ष में निश्चित रूप से अविश्वास-प्रस्ताव पास करे, आत्म-हत्या का निर्णय करे तथा स्वयं अपने विघटन

की आज्ञप्ति जारी करे। ६ जनवरी को रातो नामक एक सबसे अज्ञात सदस्य ने मंत्रिमण्डल के आदेश पर यह प्रस्ताव संविधान सभा के समक्ष, उसी संविधान सभा के समक्ष प्रस्तुत किया जो अगस्त में पहले ही यह संकल्प कर चुकी थी कि जब तक वह संविधान का परिपूरक बननेवाले क़ानूनों की एक पूरी श्रृंखला को पास नहीं कर देती तब तक वह विघटित नहीं होगी। मंत्रिमण्डलवादी फ़ूल्द ने उससे दो टूक ढंग से कहा कि "**अस्तव्यस्त साख के पुनरुद्धार के लिये**" उसका विघटन ज़रूरी है। क्या उसने उस समय साख को अस्तव्यस्त नहीं किया था जब उसने अस्थायी स्थिति की अवधि बढ़ायी थी तथा जब बारो के रूप में बोनापार्त पर और बोनापार्त के रूप में संस्थापित जनतंत्र पर एक बार फिर शंका प्रकट की थी? ओलिम्पियन बारो अपनी जेब में अन्ततः आ चुके प्रधानमंत्री पद को, जिससे जनतंत्रवादियों ने उसे पहले ही एक बार एक «decennium» तक यानी दस माह तक दूर रखा था, मुश्किल से दो सप्ताह के उपभोग के बाद फिर अपने से छीने जाने की सम्भावना देखकर मारे ग़ुस्से के उद्धत रोलां बन गया। इस बदनसीब संविधान सभा के साथ व्यवहार में बारो ने स्वेच्छाचारिता के मामले में स्वेच्छाचारी को भी मात दे दी। इसके सबसे नरम शब्द थे: "इसके लिए कोई भविष्य सम्भव नहीं है।" और वस्तुतः वह केवल गुज़रे समय का ही प्रतिनिधित्व कर रही थी। उसने व्यंग्यपूर्ण शब्दों में इतना और कहा: "यह जनतंत्र को ऐसी संस्थाएं देने में असमर्थ है जो उसके सुदृढ़ीकरण के लिए आवश्यक हैं।" और वह सचमुच असमर्थ थी! उसकी पूंजीवादी शक्ति सर्वहारा वर्ग के प्रति उसके असामान्य वैरभाव के साथ-साथ भंग हो गयी थी और राजतंत्रवादियों के प्रति अपने वैरभाव के साथ-साथ उसके जनतंत्रीय उल्लास को नया जीवन मिल गया। इस तरह पूंजीवादी जनतंत्र को, जिसे वह अब समझने में असमर्थ थी, उचित संस्थाओं के माध्यम से दृढ़ बनाने में उसकी असमर्थता दुगुनी बढ़ गयी थी।

रातो के प्रस्ताव के साथ-साथ मंत्रिमण्डल ने पूरे देश में **अर्जियों का तूफ़ान** पैदा कर दिया; फ़्रांस के कोने-कोने से "प्रेम-पत्रों" के बंडल के बंडल उड़ते हुए चले आये और संविधान सभा के माथे से टकराते गये जिनमें उससे न्यूनाधिक स्पष्ट भाषा में अनुरोध किया जाता था कि वह अपने को **विघटित** कर दे और अपना वसीयतनामा लिखे। उधर, संविधान सभा ने जवाबी अर्जियां मंगवायीं जिनमें उसने अपने से यह अनुरोध कराया कि वह अपने को जीवित रखे। बोनापार्त तथा कॅवेन्याक के बीच चुनाव संघर्ष को राष्ट्रीय सभा के विघटन के

पक्ष या विपक्ष में अर्ज़ियों के इस संघर्ष के रूप में फिर चलाया गया। अर्ज़ियों को १० दिसम्बर पर विलम्बित टिप्पणियां बनना था। यह प्रचार-कार्य पूरे जनवरी माह में चलता रहा।

राष्ट्रपति के विरुद्ध संघर्ष में संविधान सभा अपने आविर्भाव के लिए आम चुनाव का हवाला नहीं दे सकती थी क्योंकि सभा ने भी सर्व मताधिकार से अपील की थी। वह किसी नियमित रूप से गठित सत्ता पर अपने को आधारित नहीं कर सकती थी क्योंकि मसला तो क़ानूनी सत्ता के विरुद्ध संघर्ष का था। वह अविश्वास-प्रस्तावों से मंत्रिमण्डल को बर्ख़ास्त नहीं कर सकती थी जैसा कि उसने ६ और २६ जनवरी को प्रयत्न किया था क्योंकि मंत्रिमण्डल ने उससे विश्वास मांगा ही नहीं था। उसके सामने **एक ही** चारा रह गया था, वह था **विद्रोह**। विद्रोह की सेनाएं थीं—**राष्ट्रीय गार्ड का जनतंत्रवादी हिस्सा, गश्ती गार्ड** और क्रान्तिकारी सर्वहारा के केन्द्र—**क्लब**। गश्ती गार्ड, जून के दिनों के ये शूरवीर, दिसम्बर में पूंजीपति वर्ग के जनतंत्रवादी धड़े की उसी तरह की संगठित सेना बन गये जिस तरह जून से पहले **राष्ट्रीय वर्कशाप** क्रान्तिकारी सर्वहारा की संगठित सेना बने थे। जिस तरह संविधान सभा के कार्यकारी आयोग ने राष्ट्रीय वर्कशापों को उस समय अपना निर्मम प्रहार का निशाना बनाया था जब सर्वहारा वर्ग के दावे उसके लिए असह्य बनने पर उन्हें ख़त्म करना ज़रूरी हो गया था, उसी तरह बोनापार्त के मंत्रिमण्डल को उस समय गश्ती गार्ड को अपने प्रहार का निशाना बनाना पड़ा जब पूंजीपति वर्ग के जनतंत्रवादी धड़े के दावों के असह्य बनने पर उन्हें ख़त्म करना ज़रूरी हो गया था। उसने **गश्ती गार्ड को भंग करने** का आदेश दिया। उसका आधा भाग बर्ख़ास्त कर दिया गया तथा उसे बाहर सड़कों की ओर धकेल दिया गया तथा बाक़ी आधे को जनवादी ढर्रे पर नहीं वरन् राजतंत्रवादी ढर्रे पर संगठित किया गया और उसका वेतन घटाकर नियमित सेना के आम वेतन के बराबर कर दिया गया। इस तरह गश्ती गार्ड ने अपने को जून के विप्लवियों की स्थिति में पाया और अख़बारों में रोज़ **सार्वजनिक पश्चातापों** की ख़बरें छपती रहीं जिनमें वह जून के दिनों का दोष स्वीकार करता था तथा सर्वहारा वर्ग से अनुनय करता था कि उसे माफ़ कर दिया जाये।

और **क्लब**? संविधान सभा ने बारो के रूप में राष्ट्रपति पर तथा राष्ट्रपति के रूप में संस्थापित पूंजीवादी जनतंत्र पर और गठित पूंजीवादी जनतंत्र के रूप में सामान्यतया पूंजीवादी जनतंत्र पर ठीक जिस क्षण से आपत्ति प्रकट करना शुरू किया, उसी क्षण से फ़रवरी क्रान्ति के सारे घटक तत्व लाज़िमी तौर पर

उसके इर्दगिर्द जमा हो गये – ये थीं वे सब पार्टियां जो मौजूदा जनतंत्र को उलटना चाहती थीं तथा उग्र प्रतिगामी प्रक्रिया के माध्यम से उसे अपने वर्गीय हितों तथा सिद्धान्तों के जनतंत्र में बदल देना चाहती थीं। जो कुछ हुआ, वह मानो कभी हुआ ही नहीं था, क्रान्तिकारी आन्दोलन में से निकली ठोस वस्तु ने फिर तरल रूप ग्रहण कर लिया; जिस जनतंत्र के लिए लड़ाई की जा रही थी, वह अब फिर फ़रवरी के दिनों का अनिश्चित जनतंत्र बन गया था, जिसकी परिभाषा करने का अधिकार हर एक ने अपने लिए सुरक्षित रख छोड़ा था। कुछ देर के लिए विभिन्न पार्टियों ने फ़रवरी के दिनों की पुरानी स्थिति फिर अपना ली, पर इस बार वे फ़रवरी के दिनों के भ्रमों में भागीदार नहीं थे। *«National»* के तिरंगे जनतंत्रवादियों ने फिर *«Réforme»* के जनवादी जनतंत्रवादियों का आश्रय लिया और उन्हें संसदीय संघर्ष के हरावल के रूप में आगे धकेला। जनवादी जनतंत्रवादियों ने फिर समाजवादी जनतंत्रवादियों का आश्रय लिया (२७ जनवरी को एक सार्वजनिक घोषणापत्र ने उनके बीच मेल-मिलाप तथा एकता का ऐलान किया) और उन्होंने क्लबों में विद्रोह की पृष्ठभूमि की तैयारी की। मंत्रिमण्डल के पक्षपोषक समाचारपत्रों ने *«National»* के तिरंगे जनतंत्रवादियों को जून के पुनरुज्जीवित विद्रोहियों के रूप में ठीक ही देखा। अपने को पूंजीवादी जनतंत्र के शीर्ष-स्थान पर रख सकने के लिए उन्होंने स्वयं पूंजीवादी जनतंत्र पर संदेह प्रकट किया। २६ जनवरी को मंत्री फ़ोशे ने संघबद्ध होने के अधिकार के बारे में एक क़ानून का प्रस्ताव किया, उसके पहले परिच्छेद में कहा गया था, "**क्लबों का निषेध किया जाता है।**" उसने प्रस्ताव रखा कि इस विधेयक को तात्कालिक महत्व का मानकर उस पर तुरन्त विचार किया जाये। संविधान सभा ने तात्कालिकता का प्रश्न ठुकरा दिया और २७ जनवरी को लेद्रू-रोलें ने संविधान का उल्लंघन करने के लिए मंत्रिमण्डल पर मुक़दमा चलाने का एक प्रस्ताव रखा जिसके साथ २३० हस्ताक्षर संलग्न थे। ऐसे मौक़े पर मंत्रिमण्डल पर मुक़दमा चलाना जब इस तरह की कार्रवाई न्यायाधीश के अर्थात् सदन की बहुसंख्या के नपुंसकत्व को प्रकाश में लाने की अचतुराई भरी वस्तु थी या स्वयं इस बहुसंख्या के विरुद्ध आरोप लगानेवाले का नपुंसकत्वपूर्ण विरोध – यह था वह बड़ा क्रान्तिकारी तुरुप का पत्ता जिसे पिछलग्गू पर्वत दल अब संकट के हर निर्णायक मौक़े पर इस्तेमाल करने लगा था। बेचारा पर्वत दल, अपने ही नाम के भार के नीचे दब गया!

१५ मई को ब्लांकी, बार्बेस और रास्पायल आदि ने पेरिस के सर्वहाराओं

को अपने साथ लिया और संविधान सभा के अधिवेशन-कक्ष में जबरन घुसकर संविधान सभा को भंग करने की कोशिश की। बारो ने उसी संविधान सभा के लिए १५ मई की एक नैतिक पुनरावृत्ति तैयार की जब वह उस पर आत्मविघटन का आदेश थोपना तथा उसका कक्ष बन्द करना चाहता था। उसी संविधान सभा ने बारो को मई के अभियुक्तों के विरुद्ध जांच करने का काम सौंपा और अब जब बारो उसके समक्ष राजतंत्रवादी ब्लांकी के रूप में आया, जब संविधान सभा ने उसके खिलाफ़ क्लबों में सर्वहारा क्रान्तिकारियों के बीच, ब्लांकी की पार्टी में साथियों की तलाश की, ठीक उसी समय निर्मम बारो ने उसके सामने मई-बन्दियों को जूरी-अदालत से हटाकर उन्हें हाई कोर्ट के पास, «*National*» की पार्टी द्वारा तैयार haute cour के पास सौंपने का प्रस्ताव रखकर उसे संत्रस्त किया। यह उल्लेखनीय चीज़ है कि मंत्री का पद हाथ से निकल जाने के भय के कारण हमारे बारो के दिमाग़ से कैसी हाज़िरजवाबी की धारा फूट पड़ी जो बोमार्शे के उपयुक्त है! काफ़ी ढुलमुलपन के बाद राष्ट्रीय सभा ने उसका प्रस्ताव स्वीकार कर डाला। मई विद्रोहियों के सम्बन्ध में वह अपनी सामान्य स्थिति की ओर लौट आयी।

यदि राष्ट्रपति तथा मंत्रियों के खिलाफ़ संविधान सभा **विप्लव** के रास्ते का आश्रय लेने के लिए विवश हुई तो राष्ट्रपति और मंत्री संविधान सभा के खिलाफ़ **सत्ता का तख़्ता उलटने** के लिए विवश हुए क्योंकि उसे भंग करने के लिए उनके पास कोई क़ानूनी साधन नहीं थे। परन्तु संविधान सभा तो संविधान की जननी थी और राष्ट्रपति की जननी संविधान थी। सत्ता का तख़्ता उलटकर राष्ट्रपति ने संविधान फाड़ डाला और अपने जनतंत्रीय क़ानूनी अधिकार को नष्ट कर दिया। तब वह अपने शाही अधिकारों को सामने लाने के लिए विवश हुआ, परन्तु शाही अधिकारों ने आर्लियानिस्ट अधिकारों को जगा दिया और फिर दोनों लेजिटिमिस्ट अधिकारों के सामने फीके लगने लगे। क़ानूनी जनतंत्र का पतन केवल अपने बिल्कुल उलटे छोर को ही, लेजिटिमिस्ट राजतंत्र को ही शीर्ष स्थान पर पहुंचा सकता था, क्योंकि उस समय आर्लियानिस्ट पार्टी अभी फ़रवरी की मात्र परास्त पक्ष थी तथा बोनापार्त अभी केवल १० दिसम्बर का विजयी पक्ष था, और दोनों जनतंत्रीय बलापहार के मुक़ाबले में अपने वैसे ही बलापहारी राजतंत्रीय अधिकारों को खड़ा कर सकते थे। लेजिटिमिस्ट समय की अनुकूलता से अवगत थे; वे खुलेआम षड्यंत्र करने लगे। वे जनरल शांगार्निये के रूप में अपना मांक पाने की आशा कर सकते थे। श्वेत राजतंत्र की सन्निकटता की

उनके क्लबों में वैसे ही खुलेआम घोषणा की गयी जैसे सर्वहारा क्लबों में **लाल जनतंत्र** की घोषणा की गयी थी।

बग़ावत का सफलतापूर्वक दमन मंत्रिमण्डल को तमाम कठिनाइयों से बचा देता। "क़ानूनियत हमारी मौत है!"—ओदिलां बारो चिल्लाया। यदि बग़ावत होती तो मंत्रिमण्डल आसानी से salut public* के बहाने स्वयं संविधान को भंग कर देता, स्वयं संविधान के हितार्थ संविधान का उल्लंघन कर देता। राष्ट्रीय सभा में ओदिलां बारो का निष्ठुर आचरण, क्लबों के विघटन का प्रस्ताव, ५० तिरंगेवादी प्रीफ़ेक्टों को हंगामे के साथ हटाया जाना तथा उनके स्थान पर राजतंत्रवादियों को बिठाया जाना, गश्ती गार्ड को भंग किया जाना, शांगार्निये द्वारा उसके उच्चाधिकारियों के साथ बुरा बर्ताव, लेर्मिन्ये की, उस प्रोफ़ेसर की फिर से नियुक्ति, जो गीज़ो के समय भी अनुचित माना जाता था, डींग हांकनेवाले लेजिटिमिस्टों को सहन किया जाना—बग़ावत के लिए इतने सारे उकसावे थे। परन्तु बग़ावत तो गूंगी बनी रही। वह मंत्रिमण्डल से नहीं वरन् संविधान सभा से इशारे की आशा कर रही थी।

अन्ततः २६ जनवरी का दिन, वह दिन आया जब रातो के प्रस्ताव को बिना शर्त ठुकरा देने के मत्यो दे ला द्रोम के प्रस्ताव पर फ़ैसला किया जाना था। लेजिटिमिस्ट, आर्लियानिस्ट, बोनापार्तपंथी, गश्ती गार्ड, पर्वत दल तथा क्लब—सबने इस दिन षड्यंत्र रचा, हर एक ने यह षड्यंत्र जितना काल्पनिक शत्रु के विरुद्ध रचा, उतना ही काल्पनिक साथी के विरुद्ध भी रचा। घोड़े पर सवार बोनापार्त ने सैनिकों के एक भाग को Place de la Concorde में जमा किया; शांगार्निये ने सामरिक अभ्यासों के प्रदर्शन का नाटक रचा; संविधान सभा ने अपने भवन पर सेना का अधिकार पाया। यह सभा—आपस में टकरानेवाली तमाम आशाओं, भयों, अपेक्षाओं, उफानों, तनावों तथा षड्यंत्रों का यह केन्द्र, यह वीर सभा ऐसे क्षण में एक पल के लिए भी नहीं हिली-डुली जो उसके लिए सबसे गम्भीर विश्व-ऐतिहासिक क्षणों में से एक था। वह उस योद्धा की तरह थी जो अपने हथियारों के उपयोग से ही नहीं डरता था अपितु जो अपने विपक्षी के हथियारों को भी आंच न आने देने के लिए अपने को कर्तव्यबद्ध अनुभव करता था। मौत को हिक़ारत से देखते हुए उसने अपनी मौत की सज़ा पर स्वयं दस्तख़त कर दिये और रातो के प्रस्ताव को बिना शर्त ठुकराने

* सार्वजनिक मंगल-कल्याण।—सं०

का प्रस्ताव ठुकरा दिया। स्वयं घेरेबन्दी की हालत में रहते हुए उसने संवैधानिक कार्यकलाप की हद निश्चित कर दी जिसका अपरिहार्य चौखटा पेरिस की घेरेबन्दी की स्थिति था। उसने अपने से उपयुक्त ढंग से बदला लिया: अगले दिन उसने मंत्रिमण्डल द्वारा २९ जनवरी को उसे भयभीत किये जाने की कार्रवाई की जांच शुरू की। पर्वत दल ने अपने क्रान्तिकारी उत्साह तथा राजनीतिक समझदारी के अभाव का परिचय दिया जब उसने षड्यंत्रों के इस बड़े प्रहसन में अपने को «*National*» की पार्टी द्वारा उद्घोषक के रूप में इस्तेमाल होने दिया। «*National*» की पार्टी ने संस्थापित जनतंत्र में शासन की अपनी उस इजारेदारी की, जो पूंजीवादी जनतंत्र के आरम्भिक दौर में उसके पास थी, बरक़रार रखने की आख़िरी कोशिश की। वह ध्वस्त हो चुकी थी।

जनवरी के संकट के दौरान जहां सवाल संविधान सभा के अस्तित्व का था, वहां २१ मार्च के संकट में सवाल संविधान के अस्तित्व का था – वहां सवाल «*National*» की पार्टी के अमले का था, यहां सवाल उसके आदर्श का था। यह बताने की कोई ख़ास जरूरत नहीं है कि "सम्मानित" जनतंत्रवादियों ने अपनी विचारधारा की बुलन्दी को सरकारी सत्ता के सांसारिक उपभोग की तुलना में अधिक सस्ते भाव बेच दिया।

२१ मार्च को संघबद्धता के अधिकार के विरुद्ध फ़ोशे के विधेयक – **क्लबों के दमन** सम्बन्धी विधेयक पर राष्ट्रीय सभा में बहस होनेवाली थी। संविधान की ८वीं धारा तमाम फ़्रांसीसियों को संघबद्ध होने की गारंटी देती है। इसलिए क्लबों पर प्रतिबन्ध संविधान का सुस्पष्ट उल्लंघन था, और संविधान सभा को अपने हाथों अपनी पवित्र वस्तु की भ्रष्टता को प्रामाणिकता प्रदान करना था। परन्तु क्लब – वे तो क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग के जमाव की जगहें, षड्यंत्रकारिता के उसके गुप्त अड्डे थे। राष्ट्रीय सभा ने मज़दूरों द्वारा पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध मोर्चा बनाये जाने की स्वयं मनाही कर दी थी। और क्लब – वे पूरे पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध पूरे मज़दूर वर्ग के एक मोर्चे के अलावा, पूंजीवादी राज्य के विरुद्ध मज़दूरों के राज्य के गठन के अलावा और क्या थे? क्या वे सर्वहारा वर्ग की संविधान सभाएं ही नहीं थे, संघर्ष के लिए तैयार विप्लव के फ़ौजी दस्ते नहीं थे? संविधान को सर्वोपरि जो दृढ़ करना था, वह था पूंजीपतियों का शासन। अतः संविधान के लिए संघबद्धता के अधिकार का अर्थ स्पष्टतया केवल ऐसी संघबद्धता हो सकता था जिसका पूंजीपति वर्ग के शासन के साथ अर्थात् पूंजीवादी व्यवस्था के साथ तालमेल हो। यदि सैद्धान्तिक औचित्य के कारण उसने अपने को आम भाषा

में व्यक्त किया तो क्या उसकी व्याख्या करने तथा विशेष मामले में उसे लागू करने के लिए सरकार और राष्ट्रीय सभा नहीं थीं? यदि जनतंत्र के आदिम युग में क्लबों को घेरेबन्दी की स्थिति ने वस्तुत: निषिद्ध कर दिया था तो क्या उन्हें व्यवस्थित, संस्थापित जनतंत्र में क़ानून द्वारा निषिद्ध नहीं किया जाना था? तिरंगेवादी जनतंत्रवादियों के पास संविधान की इस नीरस व्याख्या के मुक़ाबले में संविधान की खूब चमकीली-भड़कीली शब्दावली रखने के अलावा और कुछ नहीं था। उनके एक हिस्से ने, पान्येर, दुक्लेर आदि ने, मंत्रिमण्डल के पक्ष में वोट दिया और इस तरह उसे बहुमत दिला दिया। क्लबों पर प्रतिबन्ध लगाने की धारा के पास हो चुकने के बाद दूसरा हिस्सा देवदूत कैवेन्याक तथा चर्च के पिता मारास्त के नेतृत्व में लेद्रू-रोलें और पर्वत दल के साथ एक विशेष समिति कक्ष में चला गया और वहां "परामर्श करने लगा"। राष्ट्रीय सभा को पक्षाघात हो गया था; उसके पास अब कोरम भी नहीं रह गया था। ऐन मौक़े पर समिति कक्ष में श्री क्रेम्यो ने याद दिलाया कि यहां से रास्ता सीधे सड़कों पर जाता है और यह कि इस समय फ़रवरी १८४८ नहीं वरन् मार्च १८४९ है। *«National»* की पार्टी को एकाएक बोध प्राप्त हुआ, वह राष्ट्रीय सभा के अधिवेशन-कक्ष में लौट आयी, उसके पीछे पर्वत दल था जो एक बार फिर ठगा गया था। क्रान्तिकारी उत्कण्ठाओं से निरन्तर संत्रस्त पर्वत दल उसी निरन्तरता के साथ संवैधानिक सम्भावनाओं का दामन पकड़े रहा और उसने क्रान्तिकारी सर्वहारा के आगे रहने के बजाय पूंजीवादी जनतंत्रवादियों के पीछे रहना अधिक सुविधाजनक अनुभव किया। इस तरह प्रहसन-नाटक खेला गया। और संविधान सभा ने स्वयं यह निर्णय दिया कि संविधान के मूलपाठ का उल्लंघन उसकी भावना की एकमात्र उचित पूर्त्ति है।

केवल **एक** मुद्दा सुलझाने के लिए बाक़ी रह गया था, वह था यूरोपीय क्रान्ति के साथ संस्थापित जनतंत्र का सम्बन्ध, उसकी **विदेश नीति**। ८ मई १८४९ को संविधान सभा में, जिसका कार्यकाल चन्द दिनों के अन्दर समाप्त होने जा रहा था, अनोखी उत्तेजना व्याप्त थी। रोम पर फ़्रांसीसी सेना का हमला, रोमनों द्वारा उसे पीछे धकेला जाना, उसकी राजनीतिक अपकीर्ति तथा फ़ौजी अपमान, रोमन जनतंत्र की फ़्रांसीसी जनतंत्र द्वारा घृणित ढंग से हत्या, द्वितीय बोनापार्त का पहला इतालवी अभियान, यह सब निरन्तर घटित हो रहा था। पर्वत दल ने फिर अपने तुरुप का इस्तेमाल किया: लेद्रू-रोलें ने मंत्रिमण्डल के विरुद्ध और संविधान का उल्लंघन करने के लिए इस बार बोनापार्त के भी विरुद्ध मुक़दमे का अपरिहार्य विधेयक अध्यक्ष की मेज़ पर रख दिया।

आगे चलकर ८ मई के उद्देश्य की १३ जून के उद्देश्य के रूप में पुनरावृत्ति की गयी। आइये, रोम के विरुद्ध इस अभियान को स्पष्ट रूप से समझ लिया जाये।

कैवेन्याक नवम्बर १८४८ के मध्य में ही एक जहाजी बेड़ा चिविता-वेक्किया भेज चुका था ताकि पोप की रक्षा की जा सके, उसे जहाज पर बिठाया जा सके और फ़्रांस लाया जा सके। पोप का काम था "सम्मानित" जनतंत्र का पवित्रीकरण करना तथा राष्ट्रपति पद पर कैवेन्याक का चुनाव सुनिश्चित करना। कैवेन्याक पोप की मदद से पादरियों को, पादरियों की मदद से किसानों को और किसानों की मदद से राष्ट्रपति पद को अपने जाल में फंसाना चाहता था। कैवेन्याक का अभियान तात्कालिक उद्देश्य की दृष्टि से चुनाव-प्रचार तो था ही, साथ ही वह रोमन क्रान्ति का विरोध और उसके लिए एक धमकी भी था। उसके भ्रूण में था पोप के पक्ष में फ़्रांस का हस्तक्षेप।

पोप के पक्ष में और रोमन जनतंत्र के विरुद्ध आस्ट्रिया तथा नेपल्स के साथ मिलकर किये जानेवाले इस हस्तक्षेप का फ़ैसला २३ दिसम्बर को बोनापार्त के मंत्रिमण्डल की पहली बैठक में किया गया था। फ़ालू का मंत्रिमण्डल में होना– इसका मतलब था रोम में पोप का होना तथा पोप के रोम में होना। बोनापार्त को किसानों का राष्ट्रपति बनने के लिए अब पोप की जरूरत नहीं रह गयी थी परन्तु उसे पोप के बने रहने की ज़रूरत थी ताकि किसानों को राष्ट्रपति के पक्ष में रखा जा सके। उनकी विश्वासशीलता ने उसे राष्ट्रपति बनाया था। आस्था के होने पर उनकी विश्वासशीलता तथा पोप के होने पर आस्था जाती रहती। और आर्लियानिस्टों तथा लेजिटिमिस्टों का संयुक्त होना, जो बोनापार्त के नाम पर शासन कर रहे थे! राजा के पद के पुनःप्रतिष्ठापन से पहले उस सत्ता का पुनःप्रतिष्ठापन करना आवश्यक था जो राजाओं के पद को पवित्र करती है। बात केवल उनके राजतंत्रवाद की ही नहीं थी : पुराने रोम के बिना, जो पोप के सांसारिक शासन के अधीन था, पोप नहीं होता ; पोप के बिना कैथोलिक सम्प्रदाय न होता ; कैथोलिक सम्प्रदाय के बिना फ़्रांसीसी धर्म न होता और यदि धर्म न होता तो पुराने फ़्रांसीसी समाज का क्या बनता? परलोक की वस्तुओं पर किसान अपना जो अधिकार सुरक्षित कर देते हैं, वह किसानों की सम्पत्ति पर पूंजीपति वर्ग के अधिकार की गारंटी करता है। रोमन क्रान्ति इसीलिए सम्पत्ति पर, पूंजीवादी व्यवस्था पर प्रहार थी, उतनी ही भयावह थी जितनी जून की क्रान्ति थी। फ़्रांस में पुनःस्थापित पूंजीवादी शासन को रोम में पोप के शासन के पुनःस्थापन की

आवश्यकता थी। अन्ततः रोमन क्रान्तिकारियों को नीचा दिखाने का मतलब था फ़्रांसीसी क्रान्तिकारियों के साथियों को नीचा दिखाना; संस्थापित फ़्रांसीसी जनतंत्र में प्रतिक्रान्तिकारी वर्गों के मोर्चे को पुनीत संघ के साथ, नेपल्स तथा आस्ट्रिया के साथ फ़्रांसीसी जनतंत्र के मोर्चे ने स्वाभाविक रूप से अनुपूरित किया। मंत्रिमण्डल का २३ दिसम्बर का निर्णय संविधान सभा के लिए ज़रा भी गोपनीय नहीं था। ८ जनवरी को लेद्रू-रोलें मंत्रिमण्डल से इसके बारे में प्रश्न पूछ चुके थे; मंत्रिमण्डल ने इसका प्रतिवाद किया और राष्ट्रीय सभा अपने काम में जुट गयी। क्या उसने मंत्रिमण्डल की बात पर विश्वास कर लिया था? हम जानते हैं कि उसने पूरा जनवरी माह मंत्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पेश करने में बिताया था। परन्तु यदि झूठ बोलना मंत्रिमण्डल की भूमिका का अंग था तो उसके झूठ में विश्वास करने का स्वांग रचना तथा इस तरह जनतंत्रीय शिष्टाचार की रक्षा करना संविधान सभा की भूमिका का अंग था।

इस बीच प्येमां नीचे पटका जा चुका था, शार्ल-अल्बेर ने गद्दी छोड़ दी थी और आस्ट्रिया की सेना फ़्रांस के दरवाज़े खटखटा रही थी। लेद्रू-रोलें आवेगपूर्ण ढंग से प्रश्न करता रहा। मंत्रिमण्डल ने सिद्ध कर दिया कि वह उत्तरी इटली में कैवेन्याक की नीति को ही जारी रख रहा था और कैवेन्याक केवल अस्थायी सरकार की याने लेद्रू-रौलें की नीति को जारी रख रहा था। इस बार तो उसने राष्ट्रीय सभा से अपने प्रति विश्वास-प्रस्ताव भी पास करा दिया और उसे यह अधिकार मिल गया कि वह उत्तरी इटली में किसी उपयुक्त स्थान पर अस्थायी रूप से अधिकार कर ले ताकि सार्डिनियाई इलाक़े की अखण्डता तथा रोम के सवाल के सम्बन्ध में आस्ट्रिया के साथ शान्तिपूर्ण वार्ताओं को सहारा दिया जा सके। यह सुविदित है कि इटली की क़िस्मत का फ़ैसला उत्तरी इटली के रणक्षेत्र में होता है। इसलिए या तो रोम लोम्बार्डी तथा प्येमां के साथ धराशायी हो जायेगा अथवा फ़्रांस को आस्ट्रिया के विरुद्ध तथा इस तरह यूरोपीय प्रतिक्रान्ति के विरुद्ध युद्ध घोषित करना पड़ेगा। क्या राष्ट्रीय सभा ने बारो मंत्रिमण्डल को एकाएक पुरानी सार्वजनिक सुरक्षा समिति[120] मान लिया था? या वह स्वयं अपने को कन्वेंशन मान बैठी थी? तो फिर उत्तरी इटली में किसी स्थान पर फ़ौजी अधिकार क्यों किया गया? इस पारदर्शी पर्दे ने रोम के ख़िलाफ़ अभियान को ढक दिया।

१४ अप्रैल को १४,००० सैनिकों ने जहाज़ों में बैठकर ऊदिनो के नेतृत्व में चिविता-वेक्किया की ओर कूच किया; राष्ट्रीय सभा ने भूमध्यसागर में तीन माह तक हस्तक्षेपकारी बेड़े का ख़र्चा पूरा करने के लिए मंत्रिमण्डल को १२,००,०००

फ़्रांक ऋण देने का प्रस्ताव पास कर दिया। इस तरह उसने मंत्रिमण्डल को रोम के खिलाफ़ हस्तक्षेप करने का हर साधन प्रदान किया जबकि उसने इस तरह की मुद्रा बनायी मानो वह उसे आस्ट्रिया के विरुद्ध हस्तक्षेप करने दे रही है। उसने यह नहीं देखा कि मंत्रिमण्डल क्या कर रहा है, बस वही सुना जो उसने कहा। इस प्रकार की आस्था तो इस्रायल में भी देखने को नहीं मिली थी। संविधान सभा ऐसी स्थिति में जा पहुंची थी जहां वह यह जानने की हिम्मत नहीं कर सकती थी कि संस्थापित जनतंत्र को क्या करना पड़ रहा है।

अन्ततः ८ मई को प्रहसन-नाटक का अन्तिम अंक खेला गया ; संविधान सभा ने मंत्रिमण्डल से आग्रह किया कि इतालवी अभियान दल को उसके लिए निर्धारित लक्ष्य की ओर वापस लाने के लिए वह तेज़ी से पग उठाये। बोनापार्त ने उसी शाम को «Moniteur» में एक पत्र छपवाया जिसमें उसने ऊदिनो पर प्रशंसा की बौछार कर दी। ११ मई को राष्ट्रीय सभा ने इसी बोनापार्त तथा उसके मंत्रिमण्डल पर मुक़दमा चलाने का विधेयक ठुकरा दिया। और पर्वत दल ने धोखे के इस जाल की धज्जियां उड़ाने के बजाय संसदीय प्रहसन को त्रासदी का रूप दे दिया ताकि उसमें फ़ुक्ये-तेनवील की भूमिका स्वयं अदा कर सके, लेकिन उसने कन्वेंशन से उधार ली हुई शेर की खाल के नीचे अपनी असली, निम्नपूंजीवाद रूपी बछड़े की खाल ही को प्रकट किया!

संविधान सभा के जीवन का उत्तरार्द्ध संक्षिप्त रूप में इस प्रकार है– २९ जनवरी को वह स्वीकार करती है कि राजतंत्रवादी पूंजीवादी धड़े उस द्वारा गठित जनतंत्र के स्वाभाविक स्वामी हैं ; २१ मार्च को वह स्वीकार करती है कि संविधान का उल्लंघन उसकी पूर्त्ति है ; और ११ मई को वह स्वीकार करती है कि संघर्षरत जनता के साथ फ़्रांसीसी जनतंत्र के शब्दाडम्बरपूर्ण ढंग से उद्घोषित मोर्चे का अर्थ है यूरोपीय प्रतिक्रान्ति के साथ उसका सक्रिय मोर्चा।

यह बदनसीब सभा अपने जन्म-दिवस की जयन्ती (*४ मई) के दो दिन पहले जून के विप्लवियों को क्षमा-दान देने के प्रस्ताव को ठुकरा देने से सन्तोष प्राप्त कर चुकने के बाद मंच से हट गयी। संविधान सभा, जिसकी सत्ता छिन्न-भिन्न थी, जिससे जनता घोर घृणा कर रही थी, जिसे पूंजीपति वर्ग ने, जिसके हाथों का वह एक साधन थी, पीछे धकेल दिया था, तिरस्कारपूर्वक एक ओर फेंक दिया था, जो अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में अपने पूर्वार्द्ध को अनंगीकार करने के लिए विवश हुई थी, जो अपने जनतांत्रिक भ्रमों से वंचित हो गयी थी, जिसने अतीत में कोई बड़ा कार्य नहीं किया, जिसकी भविष्य में कोई आशा नहीं थी,

जिसका जीवित शरीर सड़ रहा था, जून-विजय को निरन्तर स्मरण कर, उसके ही सहारे जीवित रहकर अपने शव में जीवन संचारित कर पा रही थी, अभिशप्त को बारंबार अभिशाप देती हुई अपनी अभिपुष्टि कर रही थी। रक्तचूषक प्रेत, जो जून-विप्लवियों का ख़ून पीकर जीवित था!

वह अपने पीछे ऐसा राजकीय घाटा छोड़ गयी थी जिसे जून-विप्लव के ख़र्चों ने, नमक-कर की समाप्ति, नीग्रो-दासता के ख़ात्मे के लिए बागानों के मालिकों को उस द्वारा दिये गये मुआविज़े, रोम-अभियान के ख़र्चे, शराब पर कर की समाप्ति ने बढ़ा दिया था; शराब पर कर की समाप्ति का फ़ैसला संविधान सभा ने आख़िरी सांस लेते समय, उस विद्वेषी वृद्ध की तरह किया जो अपने भाग्यशाली उत्तराधिकारी पर सन्देहास्पद मान-ऋण थोपने पर प्रसन्न होता है।

मार्च माह के शुरू में **राष्ट्रीय विधान सभा** के चुनाव का प्रचार-कार्य आरम्भ हो गया था। दो मुख्य पार्टियों, **अमन की पार्टी**[130] तथा **जनवादी-समाजवादी, अथवा लाल पार्टी** एक दूसरे का मुक़ाबला कर रही थीं; दोनों के बीच खड़े थे **संविधान के मित्र**। *«National»* के तिरंगेवादी जनतंत्रवादियों ने इस नाम के अन्तर्गत एक पार्टी खड़ी करने का प्रयास किया। **अमन की पार्टी** सीधे जून के दिनों के बाद बनायी गयी थी; लेकिन उसके अस्तित्व का, **आर्लियानिस्टों** तथा **लेजिटिमिस्टों** के **एक पार्टी में सम्मिलन** का रहस्य केवल तभी प्रकाश में आया जब १० दिसम्बर ने उसे *«National»* के, पूंजीवादी जनतंत्रवादियों के गुट को अपने से अलग करने दिया। पूंजीपति वर्ग दो बड़े-बड़े धड़ों में बंटकर अलग हो गया, सत्ता की इजारेदारी बारी-बारी से इन दो के पास, **पुनःस्थापित राजतंत्र**[131] के अन्तर्गत **बड़े भू-स्वामियों** तथा **जुलाई राजतंत्र** के अन्तर्गत **वित्तीय महाप्रभुओं और औद्योगिक पूंजीपतियों** के पास रही। एक धड़े के हितों के प्रभुत्वशाली प्रभाव का शाही नाम था **बूर्बों। आर्लियां** दूसरे धड़े के हितों के प्रभुत्वशाली प्रभाव का शाही नाम था। केवल **जनतंत्र के बेनाम जगत्** में ही दो धड़े अपनी पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता का परित्याग किये बिना समान अधिकार के साथ अपने समान हित बरक़रार रख सकते थे। यदि पूंजीवादी जनतंत्र पूरे पूंजीपति वर्ग के परिष्कृत तथा सुस्पष्ट रूप से अभिव्यक्त शासन के अलावा और कुछ नहीं हो सकता था तो क्या वह लेजिटिमिस्टों द्वारा अनुपूरित आर्लियानिस्टों तथा आर्लियानिस्टों द्वारा अनुपूरित लेजिटिमिस्टों के राज के अलावा, **पुनःस्थापित राजतंत्र तथा जुलाई राजतंत्र के संश्लेषण** के अलावा और कुछ हो सकता था? *«National»* के पूंजीवादी जनतंत्रवादी अपने वर्ग के किसी ऐसे धड़े का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे जो आर्थिक नीवों पर

खड़ा हो। उनके पास तो केवल यही महत्व तथा यही ऐतिहासिक दावा था कि उन्होंने राजतंत्र के काल में उन दो पूंजीवादी धड़ों के विपरीत, जो केवल अपनी-अपनी **विशेष** व्यवस्थाएं ही समझते थे, पूंजीपति वर्ग की आम व्यवस्था, **जनतंत्र के बेनाम जगत्** की अभिपुष्टि की, जिसे उन्होंने आदर्शमय बनाया तथा पुरानी अरबी शैली से अलंकृत किया, लेकिन जिसमें उन्होंने सर्वोपरि अपनी मंडली के शासन का अभिनन्दन किया। यदि «*National*» की पार्टी अपने द्वारा स्थापित जनतंत्र के शीर्ष स्थान पर एक दूसरे के साथ सम्मिलित राजतंत्रवादियों को देखकर दिमाग़ी उलझन में फंस गयी थी तो इन राजतंत्रवादियों ने भी अपने संयुक्त शासन के तथ्य के सम्बन्ध में अपने को कोई कम धोखा नहीं दिया। वे यह नहीं समझ पाये कि यदि इनके धड़ों में से हर एक – यदि उन्हें अलग-अलग लिया जाये – राजतंत्रवादी था तो उनके रासायनिक सम्मिश्रण से तैयार होनेवाली वस्तु अनिवार्यतः **जनतंत्रीय** होती, कि सफ़ेद राजतंत्र तथा नीले राजतंत्र को तिरंगे जनतंत्र में एक दूसरे को प्रभावहीन बनाना ही था। क्रान्तिकारी सर्वहारा और उन संक्रमणकारी वर्गों से वैरभाव ने, जो अपने केन्द्र के रूप में उसके अधिकाधिक इर्दगिर्द जमा होते जा रहे थे, अमन की पार्टी के दोनों धड़ों को अपनी संयुक्त शक्ति जुटाने तथा इस संयुक्त शक्ति का संगठन बरक़रार रखने के लिए विवश किया; इन में से हर धड़े को दूसरे धड़े की पुनःस्थापन की कामना तथा विशेष आकांक्षाओं के विरुद्ध अपने संयुक्त शासन की अर्थात् पूंजीवादी शासन के **जनतांत्रिक रूप** की अभिपुष्टि करनी पड़ी। इस तरह हम देखते हैं कि ये राजतंत्रवादी शुरू-शुरू में पुनःस्थापन में विश्वास करते हुए और आगे चलकर क्रोधोन्मत्त दशा में तथा ज़बान पर विषभरी कटूक्तियां लेकर जनतंत्रीय रूप को बरक़रार रखते हुए यह स्वीकार करते हैं कि वे केवल जनतंत्र के अन्दर ही एक-दूसरे को सहन कर सकते हैं, तथा पुनःस्थापन को अनिश्चित काल तक स्थगित करते हैं। स्वयं संयुक्त शासन के उपभोग ने इन दो धड़ों में से हर एक को दृढ़ बनाया तथा उनमें से हर एक को दूसरे की मातहती स्वीकार करने में अर्थात् राजतंत्र को पुनःस्थापित करने में और ज्यादा असमर्थ तथा अनिच्छुक बनाया।

अमन की पार्टी ने अपने चुनाव-कार्यक्रम में पूंजीपति वर्ग के शासन को अर्थात् उसके शासन की जीवन की अवस्थाओं को – **सम्पत्ति, परिवार, धर्म, अमन** को – बरक़रार रखने की प्रत्यक्ष घोषणा की। उसने स्वभावतया अपने वर्ग शासन तथा अपने वर्ग शासन की अवस्थाओं को सभ्यता के शासन के रूप में और भौतिक उत्पादन की तथा उससे पैदा होनेवाले सामाजिक संसर्ग के सम्बन्धों की आवश्यक

अवस्थाओं के रूप में प्रस्तुत किया। अमन की पार्टी के पास अथाह धन-साधन थे; उसने फ़्रांस भर में अपनी शाखाएं संगठित कीं, उसके पास पुराने समाज के सिद्धान्तकार थे जो उसके वेतनभोगी थे, उसके पास मौजूदा सरकारी सत्ता का प्रभाव था; उसके पास निम्नपूंजीपति वर्ग तथा किसानों के पूरे जनसमूह में ऐसे अवेतनभोगी मातहतों की फ़ौज थी जो क्रान्तिकारी आन्दोलन से अब भी दूर थे तथा जिन्होंने सम्पत्ति के इन महाप्रभुओं को अपनी छोटी सम्पत्ति तथा अपने तुच्छ पूर्वाग्रहों के स्वाभाविक रक्षकों के रूप में देखा। यह पार्टी, जिसका देश भर में अनगिनत टुटपुंजिये राजा प्रतिनिधित्व कर रहे थे, अपने उम्मीदवारों की अस्वीकृति को बग़ावत क़रार देकर सज़ा दे सकती थी, बाग़ी मज़दूरों, अवज्ञाकारी खेत-मज़दूरों, घरेलू नौकरों, दुकानों के कारिंदों, रेल-अधिकारियों, क्लर्कों, अपने मातहत सारे नागरिक कर्मचारियों को बर्ख़ास्त कर सकती थी। अन्ततः वह यहां-वहां यह भ्रम बनाये रख सकती थी कि जनतंत्रीय संविधान सभा ने १० दिसम्बर के बोनापार्त को अपनी चमत्कार दिखानेवाली शक्तियां प्रकट करने से रोक दिया है। हमने अमन की पार्टी के सिलसिले में बोनापार्तपंथियों का ज़िक्र नहीं किया है। वे पूंजीपति वर्ग का कोई संजीदा धड़ा नहीं थे, वे तो बूढ़ों, अंधविश्वासी अपाहिजों का और युवा नास्तिक दुस्साहसियों का जमघट थे।—अमन की पार्टी चुनावों में विजयी रही; उसने विधान सभा में बहुत बड़ा बहुमत प्राप्त किया।

एकीभूत प्रतिक्रान्तिकारी पूंजीपति वर्ग के विपरीत निम्नपूंजीपति वर्ग तथा कृषक वर्ग के हिस्सों को, जिनका पहले ही क्रान्तिकरण हो चुका था, स्वभावतया क्रान्तिकारी हितों के प्रमुख वाहक, क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग से अपने को सम्बद्ध करना पड़ा। हम देख चुके हैं कि संसद में निम्नपूंजीपति वर्ग के जनवादी प्रवक्ताओं, अर्थात् पर्वत दल को किस तरह संसदीय पराजयों ने सर्वहारा वर्ग के समाजवादी प्रवक्ताओं की ओर धकेला और संसद के बाहर कैसे concordats à l'amiable की अस्वीकृति ने, पूंजीवादी हितों को संभालने के क्रूर काम ने तथा दिवालियेपन ने असली निम्नपूंजीपति वर्ग को वास्तविक सर्वहाराओं की ओर धकेला। २७ जनवरी को पर्वत दल तथा समाजवादियों ने अपने मिलाप पर समारोह मनाया; फ़रवरी १८४९ के भव्य भोज के अवसर पर उन्होंने अपनी संघबद्धता की कार्रवाई दुहरायी। सामाजिक पार्टी तथा जनवादी पार्टी, मज़दूरों की पार्टी और निम्नपूंजीपति वर्ग की पार्टी **सामाजिक-जनवादी पार्टी** यानी **लाल पार्टी** बनाने के लिए ऐक्यबद्ध हो गयीं।

जून के दिनों के बाद की पीड़ा से कुछ समय के लिए शक्तिहीन होनेवाला

फ़्रांसीसी जनतंत्र घेरेबन्दी की स्थिति के बाद, १६ अक्तूबर के बाद निरन्तर एक के बाद दूसरी सरगर्म उत्तेजनात्मक घटनाओं के बीच से गुजरता रहा। पहले राष्ट्रपति पद के लिए संघर्ष ; फिर राष्ट्रपति तथा संविधान सभा के बीच संघर्ष ; क्लबों के लिए संघर्ष ; बूर्ग का मुक़दमा[132] जिसमें राष्ट्रपति, एकीकृत राजतंत्रवादियों, "सम्मानित" जनतंत्रवादियों, जनवादी पर्वत दल और सर्वहारा वर्ग के समाजवादी सिद्धांतविलासियों की ठिंगनी आकृतियों की तुलना में सर्वहारा वर्ग के वास्तविक क्रान्तिकारी ऐसे आदिम दैत्यों के रूप में प्रकट हुए जिन्हें पृथ्वी की सतह पर किसी प्रलय ही ने अपने पीछे छोड़ दिया, या जो किसी सामाजिक प्रलय के ठीक पूर्व सामने आ सकते हैं ; चुनाव आन्दोलन ; ब्रेग्रा[133] के हत्यारों को प्राणदण्ड ; अख़बारों के ख़िलाफ़ लगातार अदालती कार्रवाइयां ; सरकार द्वारा पुलिस कार्रवाई के जरिए भोजों में हिंसात्मक हस्तक्षेप ; धृष्टतापूर्ण राजतंत्रीय उकसावे ; लूई ब्लां तथा कोसीदियेर के चित्रों को टिकठी में दिखाया जाना ; संस्थापित जनतंत्र तथा संविधान सभा के बीच क्रमबद्ध संघर्ष, जिसने हर बार क्रान्ति को उसी जगह पहुंचा दिया जहां से वह शुरू हुई थी, जो हर बार विजेताओं को पराजित तथा पराजितों को विजेता बना देता था तथा पलक झपकते ही पार्टियों तथा वर्गों की, उनके वियोजनों तथा सम्बन्धों की स्थितियां बदल दिया करता था ; यूरोपीय प्रतिक्रान्ति की तेजी से अग्रगति ; गौरवमय हंगरियाई युद्ध ; जर्मनी में विप्लव ; रोम अभियान ; रोम के सामने फ़्रांसीसी सेना की कलंक भरी पराजय — हलचल के इस भंवर में, ऐतिहासिक अशान्ति के इस सन्ताप में, क्रांतिकारी आवेगों, आशाओं तथा निराशाओं के इस नाटकीय उतार-चढ़ाव में फ़्रांसीसी समाज के विभिन्न वर्गों को अपने विकास की अवधि का हिसाब सप्ताहों में करना पड़ता था जबकि वे पहले उनका हिसाब आधी शताब्दियों में किया करते थे। किसानों तथा प्रान्तों के काफ़ी बड़े हिस्से का क्रान्तिकरण हो चुका था। वे नेपोलियन से निराश ही नहीं हुए थे — लाल पार्टी ने उनके सामने नाम के बजाय अन्तर्वस्तु, करों से भ्रामक स्वतंत्रता के बजाय लेजिटिमिस्टों को दी गयी अरब की राशि की वापसी, बन्धकों के निपटारे तथा सूदख़ोरी के उन्मूलन की आशा प्रस्तुत की।

यहां तक कि सेना क्रान्ति के ज्वर की पकड़ में आ गयी थी। बोनापार्त के पक्ष में वोट देकर सेना ने विजय के पक्ष में वोट दिया था, पर उसने सेना को पराजय दी। उसे वोट देकर सेना ने उस नाटे हवलदार को वोट दिया जिसके पीछे बहुत बड़ा क्रान्तिकारी जनरल छुपा हुआ है ; और उसने एक बार फिर उसे

बहुत बड़े जनरल दिये जिनके पीछे घटिया हवलदार अपने को छुपाये हुए है। इसमें कोई शक़ नहीं था कि लाल पार्टी यानी एकीभूत जनवादी पार्टी को यदि विजय नहीं तो कम से कम बड़ी-बड़ी सफलताएं मिलनी अवश्यम्भावी थीं; कि पेरिस, सेना तथा प्रान्तों का एक बड़ा हिस्सा उसके पक्ष में वोट देते। पर्वत दल के नेता **लेद्रू-रोलें** पांच ज़िलों द्वारा निर्वाचित हुए थे; अमन की पार्टी का कोई नेता ऐसी विजय हासिल नहीं कर पाया था, स्वयं सर्वहारा पार्टी के एक भी उम्मीदवार ने ऐसी विजय प्राप्त नहीं की थी। यह चुनाव हमारे सामने जनवादी-समाजवादी पार्टी का भेद खोल देता है। यदि एक ओर जनवादी निम्नपूंजीपति वर्ग का संसदीय समर्थक पर्वत दल सर्वहारा वर्ग के समाजवादी सिद्धांतविलासियों के साथ ऐक्यबद्ध होने के लिए बाध्य हुआ, और सर्वहारा वर्ग जून की भयंकर भौतिक पराजय द्वारा अपने को बौद्धिक विजयों के ज़रिए फिर से खड़ा करने के लिए बाध्य होने और शेष वर्गों के विकास की बदौलत क्रान्तिकारी अधिनायकत्व हस्तगत करने में अब भी सक्षम न होने के कारण इस बात के लिए विवश हो गया था कि वह अपनी मुक्ति के सिद्धांतविलासियों की, समाजवादी फ़िरक़ों के संस्थापकों की बांहों में पहुंच जाये – तो दूसरी ओर क्रान्तिकारी किसानों, सेना तथा प्रान्तों ने अपने को पर्वत दल के पीछे पंक्तिबद्ध कर दिया था, इस तरह यह दल क्रान्तिकारी सैनिक शिविर का प्रभु तथा स्वामी बन गया और उसने समाजवादियों के साथ आपसी समझदारी से क्रान्तिकारी शिविर के अन्दर सारी फूट मिटा दी। संविधान सभा के जीवन के उत्तरार्द्ध में पर्वत दल उसके जनतंत्रीय जोश का प्रतिनिधित्व कर रहा था और इस तरह उसे अस्थायी सरकार के ज़माने के, कार्यकारी आयोग के ज़माने के, जून के दिनों के अपने पापों को दफ़नाने में मदद मिली। «*National*» की पार्टी ने अपने अधकचरे स्वभाव के अनुसार जिस तरह अपने को राजतंत्रवादी मंत्रिमण्डल द्वारा कुचलने दिया, उसी हिसाब से पर्वत दल, जिसे «*National*» की पार्टी की सर्वशक्तिमत्ता के ज़माने में एक किनारे फेंक दिया गया था, उठ खड़ा हुआ और उसने क्रान्ति के संसदीय प्रतिनिधि के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त की। वस्तुतः «*National*» की पार्टी के पास दूसरे के, राजतंत्रवादी धड़ों के मुक़ाबले में महत्वाकांक्षी व्यक्तियों तथा आदर्शवादी वाचालों के अलावा और कुछ नहीं था। इसके विपरीत पर्वत दल पूंजीपति वर्ग तथा सर्वहारा वर्ग के बीच मंडराते जनसमूह का, ऐसे जनसमूह का प्रतिनिधित्व कर रहा था जिसके भौतिक हित जनवादी संस्थाओं का तक़ाज़ा कर रहे थे। इसलिए कैवेन्याक और मारास्त की तुलना में लेद्रू-रोलें तथा पर्वत दल सच्ची क्रान्ति के प्रतिनिधि थे तथा इस महत्वपूर्ण

स्थिति की अनुभूति से उन्होंने इस कारण और भी अधिक साहस ग्रहण किया कि क्रान्तिकारी शक्ति की अभिव्यक्ति संसदीय प्रहारों, अभियोग के विधेयकों, धमकियों, गरजते भाषणों और ज़्यादातियों तक सीमित थी जो केवल वाग्जाल तक पहुंच पाती थीं। किसान भी लगभग उसी स्थिति में थे जिसमें निम्नपूंजीपति थे; उनके पास पेश करने के लिए लगभग वैसी ही सामाजिक मांगें थीं। समाज के सारे मध्यवर्ती स्तरों के लिए – जिस हद तक वे क्रान्तिकारी आन्दोलन में खींचे गये थे – लेद्रू-रोलें के रूप में अपना नायक पाना अवश्यम्भावी था। लेद्रू-रोलें जनवादी निम्नपूंजीपति वर्ग का साकार रूप था। अमन की पार्टी के विरुद्ध, इस व्यवस्था के अर्द्ध रूढ़िवादी, अर्द्ध क्रान्तिकारी तथा पूरी तरह काल्पनिक सुधारों को पहला स्थान दिया जाना अवश्यम्भावी था।

«National» की पार्टी, "quand même* संविधान के मित्र", républicains purs et simples** चुनावों में पूरी तरह परास्त हो गये। उनकी बहुत ही अल्पसंख्या विधायी सदन में पहुंच सकी; उनके सबसे जाने-माने नेता रंगमंच से लुप्त हो गये जिनमें यहां तक कि "सम्मानित" जनतंत्र के ओरफ़ियस तथा प्रधान सम्पादक मारास्त तक शामिल था।

२८ मई को विधान सभा का अधिवेशन आरम्भ हुआ; ११ जून को ८ मई की टक्कर फिर ताज़ा हुई, और पर्वत दल के नाम पर लेद्रू-रोलें ने संविधान के उल्लंघन के लिए, रोम पर बमबारी करने के लिए राष्ट्रपति तथा मंत्रिमण्डल के विरुद्ध अभियोग का विधेयक पेश किया। १२ जून को विधान सभा ने अभियोग के इस विधेयक को उसी तरह ठुकरा दिया जिस तरह संविधान सभा ने ११ मई को उसे ठुकराया था, परन्तु सर्वहारा वर्ग ने इस बार पर्वत दल को सड़कों पर पहुंचाया, सड़क पर लड़ाई के लिए नहीं, वरन् सड़क पर मात्र जलूस निकालने के लिए। यह कहना कि पर्वत दल इस आन्दोलन का नेता था, इस बात को जानने के लिए पर्याप्त होगा कि आन्दोलन परास्त हो चुका था, कि जून १८४९ जून १८४८ की उतनी ही उपहासास्पद नक़ल है, जितनी तुच्छ है। १३ जून के पीछे हटने की यह महान कार्रवाई केवल शांगार्निये की, अमन की पार्टी द्वारा तैयार की गयी इस नयी बड़ी हस्ती की और भी बड़ी युद्ध-सम्बन्धी रिपोर्ट से ही धुंधली पड़ी। हर सामाजिक युग को अपनी बड़ी हस्तियों की ज़रूरत होती है,

* हर सूरत में। – सं०

** शुद्ध जनतंत्रवादी। – सं०

जब वह उन्हें नहीं ढूंढ़ पाता तो हेल्वेतियस के शब्दों में वह उन्हें तैयार करता है।

२० दिसम्बर को संस्थापित पूंजीवादी जनतंत्र के केवल आधे भाग का, **राष्ट्रपति** का अस्तित्व था; २८ मई को उसे शेष आधे भाग ने, **विधान सभा** ने पूरा कर दिया। जून १८४८ को संस्थापित हो रहे पूंजीवादी जनतंत्र ने सर्वहारा वर्ग के विरुद्ध अपूर्व संघर्ष के ज़रिए तथा जून १८४९ में संस्थापित पूंजीवादी जनतंत्र ने निम्नपूंजीपति वर्ग के साथ अनिर्वचनीय प्रहसन के ज़रिए इतिहास की जन्म-पंजिका में अपने नामों को अंकित कर दिया था। जून १८४९ जून १८४८ की प्रतिशोध-देवी की तरह था। जून १८४९ में मज़दूर परास्त नहीं हुए, धराशायी तो निम्नपूंजीपति हुए जो मज़दूरों और क्रान्ति के बीच खड़े थे। जून १८४९ उजरती श्रम तथा पूंजी के बीच कोई रक्तपातपूर्ण त्रासदी नहीं था, वह तो क़र्ज़ लेनेवालों तथा क़र्ज़ देनेवालों के बीच जेलों में पहुंचानेवाला तथा अफ़सोसनाक नाटक था। अमन की पार्टी विजयी हुई, वह सर्वशक्तिशाली थी; उसे अब यह सिद्ध करना था कि वह क्या है।

३

१३ जून १८४९ के परिणाम

२० दिसंबर को **संवैधानिक जनतंत्र** के दो चेहरे वाले जानुस देवता ने अपना **केवल एक ही** चेहरा, लूई बोनापार्त के धुंधले, सपाट रूपरंग वाली कार्यकारी सत्ता का चेहरा दिखाया। २८ मई १८४९ को उसने अपना दूसरा चेहरा, **विधायी** चेहरा दिखाया जो उन दाग़ों से भरा पड़ा था जिन्हें पुनःस्थापन तथा जुलाई राजतंत्र की ताण्डव-लीला अपने पीछे छोड़ गयी थी। राष्ट्रीय विधान सभा के साथ **संवैधानिक जनतंत्र** की रचना पूरी हो गयी यानी राज्य का वह जनतंत्रीय रूप पूरा हो गया था जिसमें पूंजीपति वर्ग का शासन, परिणामस्वरूप फ़्रांसीसी पूंजीपति वर्ग का प्रतिनिधित्व करनेवाले दो बड़े राजतंत्रीय धड़ों का संयुक्त शासन, एकीकृत लेजिटिमिस्टों तथा आर्लियानिस्टों, **अमन की पार्टी** का शासन गठित था। जहां फ़्रांसीसी जनतंत्र इस तरह राजतंत्रवादी पार्टियों के मिले-जुले संगठन की सम्पत्ति बन गया, वहां प्रतिक्रान्तिकारी शक्तियों के यूरोपीय मिले-जुले संगठन ने उन आख़िरी गढ़ों के विरुद्ध आम जेहाद छेड़ दिया जो मार्च की क्रान्तियों की शरण-

स्थलियां बने हुए थे। रूस ने हंगरी पर हमला किया; प्रशा ने राइख़ संविधान की रक्षा करनेवाली सेना के ख़िलाफ़ धावा बोल दिया तथा ऊदिनो ने रोम पर बमबारी की। यूरोपीय संकट स्पष्टतया निर्णायक मोड़ के पास पहुंचता जा रहा था; पूरे यूरोप की नज़रें पेरिस पर तथा पूरे पेरिस की नज़रें **विधान सभा** पर टिक गयीं।

११ जून को लेद्रू-रोलें उसके मंच पर खड़ा हुआ। उसने कोई भाषण नहीं किया; उसने मंत्रियों के विरुद्ध अभियोग – नग्न, बिना बढ़ा-चढ़ाकर, यथार्थ, संक्षिप्त तथा सशक्त – सूत्रबद्ध किया।

रोम पर हमला संविधान पर हमला है; रोमन जनतंत्र पर हमला फ़्रांसीसी जनतंत्र पर हमला है। संविधान की ५ वीं धारा कहती है – "फ़्रांसीसी जनतंत्र कहीं भी किसी भी जनता की स्वतंत्रता के विरुद्ध अपनी सेनाओं का कभी उपयोग नहीं करेगा," परन्तु राष्ट्रपति फ़्रांसीसी सेना को रोमन आज़ादी के ख़िलाफ़ इस्तेमाल करता है। संविधान की ५४ वीं धारा राष्ट्रीय सभा* की अनुमति के बिना कार्यकारी सत्ता द्वारा किसी भी तरह के युद्ध की घोषणा किये जाने की मनाही करती है। संविधान सभा का ८ मई का प्रस्ताव मंत्रियों को सुस्पष्ट शब्दों में आदेश देता है कि वे रोम अभियान की स्थिति को अधिकतम शीघ्रता के साथ उसके मूल मिशन के अनुरूप बनायें; इसलिए वह रोम के विरुद्ध युद्ध की उतने ही सुस्पष्ट रूप में मनाही करता है; परन्तु ऊदिनो रोम पर बमबारी करता है। इस प्रकार लेद्रू-रोलें ने स्वयं संविधान से बोनापार्त और उसके मंत्रियों के विरुद्ध मुक़दमे का साक्षी बनने के लिए कहा। राष्ट्रीय सभा के राजतंत्रीय बहुमत के बीच लेद्रू-रोलें ने, संविधान के प्रवक्ता ने धमकी भरी घोषणा की – "जनतंत्रवादी हर साधन से, भले ही हथियारों के ज़ोर से, संविधान का सम्मान कराने के लिए बाध्य कराना जानते हैं!" "**हथियारों के ज़ोर से!**" पर्वत दल ने प्रतिध्वनि सौगुनी ज़्यादा शक्ति से की। बहुमत ने भयंकर कोलाहल के साथ इसका उत्तर दिया; राष्ट्रीय सभा के अध्यक्ष ने लेद्रू-रोलें को व्यवस्था का पालन करने का आदेश दिया; लेद्रू-रोलें ने चुनौती भरी घोषणा दुहरायी और अन्ततः बोनापार्त तथा उसके मंत्रियों पर मुक़दमा चलाने का प्रस्ताव अध्यक्ष के समक्ष प्रस्तुत किया। राष्ट्रीय सभा ने २०३ के विरुद्ध ३६१ वोटों से फ़ैसला किया कि रोम पर बमबारी

---

*यहां तथा आगे राष्ट्रीय सभा का तात्पर्य २८ मई १८४९ से दिसम्बर १८५१ तक सत्तारूढ़ राष्ट्रीय विधान सभा से है (लेजिस्लातीवा)। – सं०

के विषय से आगे बढ़कर कार्यसूची के अगले विषय पर विचार किया जाये।

क्या लेद्रू-रोलें को इस बात पर यक़ीन था कि वह राष्ट्रीय सभा को संविधान के ज़रिए तथा राष्ट्रपति को राष्ट्रीय सभा के ज़रिए पटक सकेगा?

संविधान ने निस्सन्देह दूसरे देशों की जनता पर किसी भी प्रकार के आक्रमण का निषेध किया था, परन्तु फ़्रांसीसी सेना ने रोम में जिस चीज़ पर हमला किया था, वह मंत्रिमण्डल के अनुसार "स्वतंत्रता" नहीं थी वरन् "अराजकता की निरकुंशता" थी। संविधान सभा में सारे अनुभवों के बाद भी क्या पर्वत दल इतना नहीं समझ सका कि संविधान की परिभाषा करने का अधिकार उन लोगों को नहीं है जिन्होंने उसे बनाया है बल्कि केवल उन लोगों को है जिन्होंने उसे स्वीकार किया है? क्या पर्वत दल इतना भी नहीं समझ सका कि इसकी शब्द-रचना की व्याख्या उसके जीवन्त अर्थ से की जानी चाहिए, कि पूंजीवादी अर्थ ही उसका एकमात्र जीवन्त अर्थ था? क्या पर्वत दल इतना भी नहीं समझ सका कि बोनापार्त और राष्ट्रीय सभा का राजतंत्रवादी बहुमत संविधान के वैसे ही प्रामाणिक भाष्यकार थे जैसे पादरी बाइबल का तथा न्यायाधीश क़ानून का प्रामाणिक भाष्यकार होता है? क्या आम चुनावों से नयी-नयी जन्मी राष्ट्रीय सभा मृत संविधान सभा के, जिसकी इच्छा को उसकी जीवितावस्था में ही ओदिलां बारो ने कुचल दिया था, वसीयतनामा की धाराओं से अपने को बंधा हुआ अनुभव करे? लेद्रू-रोलें ने जब संविधान सभा के ८ मई के प्रस्ताव का हवाला दिया तो क्या वह यह भूल गया था कि उसी संविधान सभा ने ११ मई को बोनापार्त तथा उसके मंत्रियों पर मुक़दमा चलाने के उसके पहले प्रस्ताव को नामंज़ूर कर दिया था, कि उसने राष्ट्रपति और मंत्रियों को दोषमुक्त ठहराया, कि इस तरह उसने रोम पर आक्रमण को "संवैधानिक" करार दिया था; कि वह पहले ही दिये जा चुके फ़ैसले के विरुद्ध केवल अपील कर रहा था; कि वह अन्ततः जनतंत्रीय संविधान सभा की ओर से राजतंत्रवादी विधान सभा से अपील कर रहा था? स्वयं संविधान एक 'विशेष धारा द्वारा हर नागरिक को अपनी रक्षा के लिए बुलाकर बग़ावत को अपनी मदद के लिए आमंत्रित करता है। लेद्रू-रोलें ने इस धारा को अपना आधार बनाया। परन्तु साथ ही क्या राजकीय अधिकारी संविधान की रक्षा के लिए संगठित नहीं किये जाते और क्या संविधान का उल्लंघन सिर्फ़ उसी क्षण से आरम्भ नहीं होता जब एक संवैधानिक अधिकारी दूसरे के विरुद्ध विद्रोह करता है? जनतंत्र के राष्ट्रपति, जनतंत्र के मंत्रियों तथा जनतंत्र की राष्ट्रीय सभा की आपस में सर्वाधिक सामंजस्यपूर्ण सहमति थी।

पर्वत दल ने ११ जून को जिस चीज़ की कोशिश की थी, वह "**विशुद्ध विवेक की सीमाओं के अन्दर बग़ावत**" थी, यानी विशुद्ध **संसदीय बग़ावत** थी। वह यह आशा लगाये बैठा था कि आम जनता के सशस्त्र विप्लव की सम्भावना से भयभीत होकर विधान सभा का बहुमत बोनापार्त तथा मंत्रियों के रूप में स्वयं अपनी सत्ता तथा अपने चुनाव के महत्व को नष्ट कर देगा। क्या संविधान सभा ने बोनापार्त के चुनाव को रद्द करने की उस समय इसी तरह की कोशिश नहीं की थी जब उसने बारो—फ़ालू मंत्रिमण्डल को भंग करने के लिए हठपूर्वक ज़ोर दिया था?

कन्वेंशन के समय में संसदीय बग़ावतों के नमूनों का भी कोई अभाव नहीं था जिन्होंने बहुमत तथा अल्पमत के बीच सम्बन्ध का रूप पूर्णतया बदल डाला था।—तो क्या जहां वृद्ध पर्वत दल सफल हुआ था, वहां तरुण पर्वत दल सफल नहीं होगा? इसके अलावा उस समय इस तरह का बीड़ा उठाने के लिए अवस्थाएं भी अप्रतिकूल प्रतीत नहीं हो रही थीं। पेरिस में आम उत्तेजना चिन्ताजनक स्तर पर पहुंचती जा रही थी; चुनाव में पड़े वोटों को देखकर ऐसे प्रतीत हुआ कि सेना का सरकार के प्रति अनुकूल रुझान नहीं है; स्वयं विधायी बहुमत सुदृढ़ता की दृष्टि से अभी बहुत कम उम्र का था; इसके अलावा उसके सदस्य बूढ़े लोग थे। यदि पर्वत दल संसदीय बग़ावत में सफल हो जाता तो राज्य की पतवार सीधे उसके हाथ में जा पहुंचती। जहां तक जनवादी निम्नपूंजीपति वर्ग का सम्बन्ध था, हमेशा की भांति उसकी इससे अधिक और कोई उत्कट कामना नहीं थी कि वह लड़ाई को अपने सिर के ऊपर बादलों में, संसद सदस्यों की छायाओं के बीच लड़ते हुए देखे। अंततः दोनों के दोनों, जनवादी निम्नपूंजीपति तथा उनका प्रतिनिधि पर्वत दल संसदीय बग़ावत के ज़रिए अपने महान उद्देश्य की सिद्धि करना चाहते थे—वे यह चाहते थे कि सर्वहारा के हाथ खोले बिना तथा दूर से ही उसका भय दिखाकर पूंजीपति वर्ग की सत्ता तोड़ दी जाये; सर्वहाराओं को ख़तरनाक बनाये बिना उनका उपयोग कर लिया जाता।

११ जून को राष्ट्रीय सभा में मतदान के बाद पर्वत दल के कुछ सदस्यों तथा मज़दूरों की गुप्त संस्थाओं के प्रतिनिधियों की एक बैठक हुई। इन प्रतिनिधियों ने इस बात पर ज़ोर दिया कि उसी शाम को धावा बोल दिया जाये। पर्वत दल ने यह योजना निर्णायक रूप से ठुकरा दी। वह नेतृत्व को किसी भी सूरत में अपने हाथों से नहीं खिसकने देना चाहता था; उसे अपने साथियों पर उतना ही सन्देह था जितना अपने विरोधियों पर और यह उचित ही था। जून १८४८ की घटनाओं

की स्मृति पेरिस के सर्वहाराओं की क़तारों में पहले किसी भी समय की अपेक्षा अधिक तीक्ष्ण रूप से उभर आयी थी। तिस पर भी वह पर्वत दल के साथ मैत्री के सूत्रों से बंधा हुआ था। पर्वत दल ज़िलों के अधिकतम भाग का प्रतिनिधित्व करता था; उसने सेना पर अपने प्रभाव को बढ़ा-चढ़ाकर बताया; उसके साथ राष्ट्रीय गार्ड का जनवादी हिस्सा था; उसके पीछे दुकानदारों की नैतिक शक्ति थी। पर्वत दल की इच्छा के विरुद्ध इस क्षण क्रान्ति शुरू करने का मतलब सर्वहारा वर्ग के लिए, जिसका काफ़ी बड़ा हिस्सा पहले ही हैज़े के कारण काल-कवलित हो चुका था तथा जिसे बेरोज़गारी ने काफ़ी बड़ी तादाद में पेरिस से बाहर धकेल दिया था, १८४८ के जून के दिनों की वह स्थिति न होते हुए भी व्यर्थ पुनरावृत्ति करना होता जिसने उसे यह निराशाजनक संघर्ष करने के लिए विवश किया था। सर्वहारा प्रतिनिधियों ने एकमात्र युक्तिसंगत काम किया। उन्होंने पर्वत दल को **अपनी स्थिति बदलने** के लिए मजबूर किया यानी उसे इस बात के लिए मना लिया कि अभियोग सम्बन्धी उसके प्रस्ताव के ठुकराये जाने पर वह संसदीय संघर्ष की सीमाओं से बाहर आ जाये। १३ जून को पूरे दिन सर्वहारा वर्ग यही संशयात्मक सावधानी भरा रुख़ अपनाये हुए रहा और जनवादी राष्ट्रीय गार्ड तथा सेना के बीच निश्चित रूप से होनेवाली गम्भीर मुठभेड़ की प्रतीक्षा करता रहा ताकि ऐसा होने पर वह इस मुठभेड़ में कूद जाये और क्रान्ति को उस निम्नपूंजीवादी लक्ष्य से आगे ले जा सके जो उस पर लादा गया था। एक सर्वहारा कम्यून पहले ही संगठित किया जा चुका था ताकि विजय की प्राप्ति की स्थिति में वह अधिकृत सरकार के साथ स्थान ग्रहण कर सके। पेरिस के मज़दूर जून १८४८ के रक्तरंजित विद्यालय से शिक्षा ले चुके थे।

१२ जून को मंत्री लाक्रोस ने विधान सभा में अभियोग विधेयक पर तुरन्त विचार शुरू करने का प्रस्ताव पेश किया। रात के समय सरकार ने प्रहार तथा बचाव के लिए पूरी-पूरी व्यवस्था कर दी थी; राष्ट्रीय सभा का बहुमत विद्रोही अल्पमत को बाहर सड़क पर धकेलने के लिए कटिबद्ध था; स्वयं अल्पमत अब पीछे नहीं हट सकता था; पांसा फेंका जा चुका था; अभियोग विधेयक ८ वोटों के विरुद्ध ३७७ वोटों से अस्वीकृत हो गया। पर्वत दल, जिसने मतदान में भाग नहीं लिया, नाराज़ होकर "शान्तिप्रिय प्रजातंत्र" के प्रचार-कक्षों में, *«Démocratie pacifique»*[134] के अख़बार के दफ़्तर की ओर लपका।

संसद से हटने के कारण उसकी ताक़त उसी तरह नष्ट हो गयी जिस तरह पृथ्वी से हटने पर उसके महाबली पुत्र एंटेयस की शक्ति नष्ट हुई थी। विधान

सभा की चहारदीवारी के अन्दर वे सैमसन थे परन्तु "शान्तिप्रिय प्रजातंत्र" की चहारदीवारी के अन्दर वे केवल कूपमण्डूक थे। लम्बी, शोरगुल भरी, बेतरतीब बहस शुरू हुई। "**केवल हथियारों के जोर को छोड़कर**" बाक़ी सब साधनों से संविधान का ज़बरदस्ती सम्मान कराने के लिए पर्वत दल कटिबद्ध था। इस फ़ैसले में उसका समर्थन किया एक घोषणापत्र[135] ने तथा "संविधान के मित्र" नामक संस्था के एक प्रतिनिधिमण्डल ने। "संविधान के मित्र" वह नाम था जो *«National»* की पार्टी के गुट के, पूंजीवादी-जनवादी पार्टी के गुट के **बचे-खुचे भाग** ने अपने को दिया था। जहां उसके बचे-खुचे संसदीय प्रतिनिधियों में से ६ ने अभियोग विधेयक की अस्वीकृति के **विरुद्ध** तथा दूसरों ने उसकी अस्वीकृति के **पक्ष** में वोट दिया, जहां **कैवेन्याक** ने अपनी तलवार अमन की पार्टी के हवाले कर दी, वहां गुट के बड़े, संसद के बहिर्गत भाग ने राजनीतिक चांडाल की अपनी स्थिति से बाहर आने और किसी न किसी तरह जनवादी पार्टी की क़तारों के अन्दर घुसने का सुयोग हथिया लिया। क्या वे इस पार्टी के स्वाभाविक कवचधारियों के रूप में प्रकट नहीं हुए जो स्वयं अपने को उनके कवच के पीछे, उनके **सिद्धान्तों** के पीछे, **संविधान** के पीछे छुपाये हुए थी?

पर्वत दल पौ फटने तक प्रसव-वेदना से ग्रस्त रहा। उसने जन्म दिया "**जनता के नाम एक उद्घोषणा**" को, जिसे १३ जून की सुबह को दो समाजवादी पत्रिकाओं[136] में कमोबेश एक मामूली कोने में जगह मिली। उसने राष्ट्रपति, मंत्रियों तथा विधान सभा के बहुमत को "**संविधान के बाहर**" (hors la constitution) घोषित किया तथा राष्ट्रीय गार्ड, सेना और अन्ततः जनता को भी "उठ खड़े होने" के लिए ललकारा। "**संविधान जिंदाबाद!**" वह नारा था जो उसने पेश किया, वह नारा था जो "**क्रान्ति मुर्दाबाद!**" के अलावा और किसी चीज़ का द्योतक नहीं था।

पर्वत दल की संवैधानिक घोषणा के अनुरूप १३ जून को निम्नपूंजीपतियों का एक तथाकथित **शांतिपूर्ण प्रदर्शन** हुआ यानी सड़क पर एक जलूस निकला जो शातो-द'ओ से शुरू हुआ और बूलेवार के बीच से गुज़रा, उसमें ३०,००० व्यक्ति थे, वे मुख्यतया राष्ट्रीय गार्ड थे, जो निरस्त्र थे, गुप्त तौर पर काम करनेवाले मज़दूरों के संगठनों के सदस्य भी उनके साथ मिले हुए थे; जलूस "**संविधान ज़िंदाबाद!**" नारा लगाते हुए बढ़ता जा रहा था। स्वयं प्रदर्शनकारी यंत्रवत, संवेदनशून्यता तथा दूषित अन्तःकरण के साथ यह नारा लगा रहे थे; यह चिल्लाहट मेघ-गर्जन बनने के बजाय उन लोगों की प्रतिध्वनि द्वारा विडम्बनापूर्ण

ढंग से पीछे धकेली जा रही थी जिनकी भीड़ फ़ुटपाथ पर आगे बढ़ रही थी। नानाकण्ठीय गीत में हृदय से निकलनेवाले सुर लुप्त थे। और जब जलूस "संविधान के मित्र" नामक संस्था के अधिवेशन-कक्ष में पहुंचा और संविधान का एक भाड़े का टट्टू उद्घोषक छज्जे पर प्रकट हुआ जहां से वह किराये के भाटों जैसे अपने टोप को पूरी ताक़त से हवा में हिला रहा था तथा फेफड़े फुला-फुला कर **"संविधान ज़िंदाबाद!"** शब्दों को यात्रियों के सिर पर ओलों की तरह बरसा रहा था, तब क्षण भर के लिए लगा कि यात्रियों ने स्वयं महसूस किया कि स्थिति कितनी हास्यास्पद है। यह सुविदित है कि जलूस जब दे ला पे सड़क के छोर पर पहुंचा तो शांगार्निये के घुड़सवार सैनिकों तथा पैदल सिपाहियों ने कैसे सर्वथा असंसदीय ढंग से उसकी अगवानी की थी, कैसे वह पल झपकते ही सारी दिशाओं में तितर-बितर हो गया और कैसे उसने भागते हुए "हथियार उठाओ!" के चन्द नारे केवल इसलिए लगाये कि हथियार उठाने के ११ जून के संसदीय आह्वान की पूर्त्ति हो सके।

शान्तिपूर्ण जलूस को इस तरह हिंसात्मक ढंग से तितर-बितर किये जाने की कार्रवाई, बूलेवार में निहत्थे नागरिकों के कत्ल की दबी ज़बान से फैलनेवाली अफ़वाहें तथा सड़कों पर बढ़ती जाती बेचैनी जब यह उद्घोषणा करती प्रतीत हो रही थीं कि विप्लव की घड़ी पास आती जा रही है तो आज़ार सड़क पर जमा पर्वत दल की बहुसंख्या तितर-बितर हो गयी। लेद्रू-रोलें ने, जो संसद-सदस्यों की एक छोटी-सी टोली के आगे-आगे था, पर्वत दल की इज़्ज़त बचायी। पेरिस के तोपख़ाने के, जो पाले नासिओनाल में एकत्र था, संरक्षण में वे कला तथा व्यवसाय संग्रहालय पहुंचे जहां राष्ट्रीय गार्ड के पांचवें तथा छठे सैन्यदल को पहुंचना था। परन्तु पर्वत दल के लोग पांचवें तथा छठे सैन्यदल की निरर्थक प्रतीक्षा करते रहे; इन दूरंदेश राष्ट्रीय गार्डों ने अपने प्रतिनिधियों को बीच मंझधार में छोड़ दिया; स्वयं पेरिस के तोपख़ाने ने जनता को बैरीकेड खड़ा करने से रोका; अराजकता तथा हुल्लड़ के कारण कोई फ़ैसला करना असम्भव था; पंक्तिबद्ध सैनिक तनी संगीनें लेकर आगे बढ़ रहे थे; कुछ प्रतिनिधि गिरफ़्तार कर लिये गये जबकि दूसरे बच निकले। इस तरह १३ जून का पटाक्षेप हुआ।

यदि २३ जून १८४८ क्रान्तिकारी सर्वहारा का विप्लव था तो १३ जून १८४९ जनवादी निम्नपूंजीपति वर्ग का विप्लव था; इन दो विप्लवों में से हर एक उस वर्ग की विशुद्ध क्लासिकीय अभिव्यक्ति था जो उसका वाहक था।

केवल लियों में ही ज़बर्दस्त, रक्तपातपूर्ण टक्कर हुई। इस जगह, जहां औद्यो-

गिक पूंजीपति वर्ग तथा औद्योगिक सर्वहारा वर्ग सीधे एक दूसरे के विरुद्ध खड़े हैं, जहां मजदूरों का आन्दोलन पेरिस के विपरीत **न तो आम आन्दोलन में शामिल है और न उस द्वारा निर्धारित होता है**, १३ जून प्रतिक्रियास्वरूप **अपना मूल चरित्र खो बैठा**। प्रान्तों में जहां कहीं उसकी प्रतिध्वनि हुई उसने आग की लपट पैदा नहीं की, वह **ठंडी कौंध** था।

१३ जून **संवैधानिक जनतंत्र के जीवन में पहली अवधि** का अध्याय बन्द कर देता है जिसने २८ मई १८४९ को विधान सभा की बैठक होने पर अपना सामान्य अस्तित्व प्राप्त कर लिया था। इस प्रस्तावना की पूरी अवधि अमन की पार्टी तथा पर्वत दल के बीच, बड़े पूंजीपति वर्ग तथा निम्नपूंजीपति वर्ग के बीच कोलाहलपूर्ण संघर्ष से भरी पड़ी है; निम्नपूंजीपति वर्ग ने उस पूंजीवादी जनतंत्र के सुदृढ़ीकरण के विरुद्ध निरर्थक प्रयास किया जिसके लिए वह स्वयं अस्थायी सरकार में तथा कार्यकारी आयोग में निरन्तर षड्यंत्र रचता रहा तथा जिसके लिए उसने जून के दिनों में सर्वहारा वर्ग के ख़िलाफ़ मतान्धों की तरह संघर्ष किया था। १३ जून ने उसके प्रतिरोध की कमर तोड़ दी और संयुक्त राजतंत्रवादियों के **विधायी अधिनायकत्व** को निर्विवाद तथ्य बना दिया। अब से राष्ट्रीय सभा **अमन की पार्टी की सार्वजनिक सुरक्षा समिति** मात्र है।

पेरिस ने राष्ट्रपति, मंत्रियों तथा राष्ट्रीय सभा के बहुमत को "**अभियुक्तों की स्थिति**" में रख दिया; उन्होंने पेरिस को "घेरेबन्दी की स्थिति" में रख दिया। पर्वत दल ने विधान सभा के बहुमत को "**संविधान के बाहर**" घोषित किया; बहुमत ने पर्वत दल को संविधान के उल्लंघन के लिए हाई कोर्ट के हवाले कर दिया तथा उसके अन्दर हर उस चीज़ को निषिद्ध क़रार दिया जिसमें अब भी जीवन-शक्ति थी। उसका अंगोच्छेदन कर उसे बिना सिर या हृदय वाला शरीर-पिंड बना दिया गया। अल्पमत ने तो **संसदीय बग़ावत** तक करने की कोशिश की; बहुमत ने अपनी **संसदीय स्वेच्छाचारिता** को क़ानून की जगह पर पहुंचा दिया। उसने नये संसदीय **नियम** जारी किये जिन्होंने मंच की स्वतंत्रता की हत्या की और राष्ट्रीय सभा के अध्यक्ष को नियमों के उल्लंघन करने के लिए प्रतिनिधियों को झिड़ककर, इन पर जुर्माना कर, उनका वेतन रोककर, कुछ समय के लिए अधिवेशनों से अलग कर, उन्हें बन्दी बनाकर दंडित करने का अधिकार दिया। पर्वत दल के धड़ के ऊपर उसने तलवार के बजाय छड़ी लटका दी। पर्वत दल के बाक़ी सदस्यों के लिए बाहर निकलना सम्मान का तक़ाजा था। इस तरह की कार्रवाई से अमन की पार्टी का विघटन और जल्दी हो जाता। उसे अपने मूल

संघटक भागों में ऐसे समय विखण्डित होना ही पड़ता जब विपक्ष का आभास तक उसे आगे सूत्रबद्ध न रख पाता।

जनवादी निम्नपूंजीपति वर्ग को उसकी **संसदीय** शक्ति के साथ-साथ पेरिस के तोपखाने और राष्ट्रीय गार्ड के आठवें, नवें तथा बारहवें सैन्य दलों के विघटन के माध्यम से उसकी **सशस्त्र** शक्ति से भी वंचित कर दिया गया। दूसरी ओर वित्तीय महाप्रभुओं के सैन्य दल को, जिसने १३ जून को बूले और रू के छापाघरों पर छापा मारा था, छपाई मशीनें नष्ट कर दी थीं, जनतंत्रवादी अख़बारों के दफ़्तरों में तबाही मचा दी थी और सम्पादकों, कम्पोज़िटरों, छपाई करनेवालों, सामान बुक करनेवाले क्लर्कों तथा चपरासियों को गिरफ़्तार कर लिया था, इस काम के लिए राष्ट्रीय सभा के मंच से अनुमोदन प्राप्त हुआ। पूरे फ़्रांस में उन राष्ट्रीय गार्डों के विघटन की पुनरावृत्ति होती रही जिन पर जनतंत्रवादी होने का सन्देह था।

एक नया **प्रेस क़ानून, संघबद्धता का** एक नया **क़ानून, घेरेबन्दी की स्थिति के बारे में** एक नया **क़ानून**, पेरिस की जेलों में तिल रखने की जगह न होना, राजनीतिक शरणार्थियों को निकाला जाना, *«National»* की सीमाओं से बाहर जानेवाले तमाम अख़बारों का प्रकाशन रोक दिया जाना, लियों तथा उसके चारों ओर स्थित पांच ज़िलों का निर्ममतापूर्वक दमन करने के लिए उन्हें फ़ौजी स्वेच्छाचारिता के हाथों में सौंप दिया जाना, सर्वत्र अदालतों का नियंत्रण, अफ़सरों के लश्करों का, जिनका इतनी बार शुद्धिकरण हो चुका था, एक बार फिर शुद्धिकरण — यह था विजयी प्रतिक्रियावाद का अवश्यम्भावी, निरन्तर दुहराया जानेवाला साधारण **नित्यक्रम** जो जून के क़त्लेआम तथा निर्वासन-कार्रवाइयों के बाद केवल इसलिए चर्चायोग्य है कि इस बार वह पेरिस के ही विरुद्ध नहीं वरन् ज़िलों के भी विरुद्ध, सर्वहारा के ही विरुद्ध नहीं वरन सर्वोपरि मध्य वर्गों के भी विरुद्ध लक्षित था।

दमनकारी क़ानूनों ने, जिनके माध्यम से घेरेबन्दी की स्थिति की घोषणा करना या न करना सरकार की मर्ज़ी पर छोड़ दिया गया था, अख़बारों की ज़बान और भी अधिक सख़्ती के साथ बन्द कर दी गयी थी तथा संघबद्धता के अधिकार का गला घोंटा जा चुका था, जून, जुलाई और अगस्त के महीनों की राष्ट्रीय सभा की सारी विधायी गतिविधियों को निगल लिया था।

परन्तु इस युग का चारित्रिक लक्षण है विजय का **यथार्थ रूप में** नहीं वरन् **सिद्धान्त में** उपयोग; राष्ट्रीय सभा के निर्णय नहीं वरन् इन निर्णयों की

आधारभूमि का निरूपण; काम नहीं वरन् लफ़्फ़ाज़ी; लफ़्फ़ाज़ी नहीं वरन् लफ़्फ़ाज़ी में जान डालनेवाला उच्चारण तथा हाव-भाव। **राजतंत्रवादी भावनाओं** के अनियंत्रित और निर्लज्जतापूर्ण प्रदर्शन, जनतंत्र के तिरस्कार भरे अभिजातीय अपमान; पुन:स्थापन के लक्ष्यों के नख़रेबाज़ी और छिछोरेपन भरे प्रकटीकरण, संक्षेप में, **जनतंत्रीय शिष्टाचार** के दम्भपूर्ण उल्लंघन ने इस युग को विशेष स्वर दिया तथा उस पर अपनी छाप डाली। १३ जून के **परास्तों** का रण-नारा था– **संविधान ज़िंदाबाद! विजेता** इसलिए संवैधानिक यानी जनतंत्रीय भाषा के पाखण्ड से बच गये। प्रतिक्रान्ति हंगरी, इटली तथा जर्मनी पर विजय प्राप्त कर चुकी थी, और उनका विश्वास था कि पुन:स्थापन तो पहले से ही फ़्रांस के दरवाज़े पर पहुंच चुका है। अमन की पार्टी के धड़ों के नेताओं के बीच एक असली प्रतियोगिता आरम्भ हो गयी, वे *«Moniteur»* में अपनी राजतंत्रवादिता दर्ज कराने लगे, राजतंत्र के मातहत यदि उनसे कभी कोई उदारतावादी पाप हो गये हों तो परमात्मा और मनुष्य के सामने उन्हें स्वीकार करने लगे, पश्चाताप करने लगे और क्षमा-याचना करने लगे। एक भी दिन ऐसा नहीं गुज़रा जब राष्ट्रीय सभा के मंच से फ़रवरी क्रान्ति को राष्ट्रीय विपदा घोषित न किया गया हो, एक भी ऐसा दिन नहीं गुज़रा जब दूर दराज़ के किसी लेजिटिमिस्ट ज़मींदार ने गम्भीर भाव से यह न कहा हो कि उसने जनतंत्र को कभी स्वीकार नहीं किया था, जब किसी न किसी कायर भगोड़े तथा जुलाई राजतंत्र के प्रति किसी न किसी ग़द्दार ने वीरता के उन विलम्बित कारनामों का वर्णन न किया हो जिन्हें पूरा करने में केवल लूई फ़िलिप का परमार्थ या दूसरी ग़लतफ़हमियां ही उसके रास्ते में बाधक बनी थीं। फ़रवरी के दिनों में जो चीज़ प्रशंसनीय थी, वह विजयी जनता की उदारता नहीं थी अपितु राजतंत्रवादियों का आत्म-बलिदान तथा उनकी नरमी थी जिन्होंने उसे बिजयी बनने दिया था। एक जन-प्रतिनिधि ने फ़रवरी के ज़माने में घायल लोगों को राहत पहुंचाने के लिए नियत की गयी धनराशि का एक भाग अलग कर **म्युनिसिपल गार्डों** को देने का प्रस्ताव किया क्योंकि केवल वे ही ऐसे लोग थे जिन्होंने उन दिनों पितृभूमि की सेवा की थी। एक दूसरा यह चाहता था कि कारुसेलि पथ पर आर्लियां के ड्यूक की एक घुड़सवार मूर्त्ति खड़ी की जाये। थियेर ने संविधान को काग़ज़ का एक गन्दा टुकड़ा बताया। मंच पर एक के बाद दूसरे आते चले गये–आर्लियानिस्ट वैध राजतंत्र के विरुद्ध षड्यंत्र का पश्चाताप करने के लिए; लेजिटिमिस्ट अवैध राजतंत्र का प्रतिरोध कर सामान्यतया राजतंत्र का शीघ्रतापूर्वक तख़्ता उलटने के लिए अपने को धिक्कारने के लिए; थियेर मोले

के विरुद्ध षड्यंत्र का पश्चाताप करने के लिए; मोले गीज़ों के विरुद्ध षड्यंत्र का पश्चाताप करने के लिए; बारो तीनों के विरुद्ध षड्यंत्र का पश्चाताप करने के लिए। "सामाजिक-जनवादी जनतंत्र ज़िंदाबाद!" नारा अवैधानिक घोषित किया गया; "जनतंत्र ज़िंदाबाद!" नारे को सामाजिक-जनवादी नारा क़रार देकर उसके विरुद्ध क़ानूनी कार्रवाई की गयी। वाटरलू युद्ध की वर्षगांठ पर एक प्रतिनिधि ने ऐलान किया: "मैं प्रशियाइयों के आक्रमण से उतना नहीं डरता जितना फ़्रांस में क्रान्तिकारी उत्प्रवासियों के प्रवेश से डरता हूं।" लियों तथा आस-पड़ोस के ज़िलों में आतंकवादी कार्रवाइयों के बारे में शिकायतों का उत्तर देते हुए बारागे द' इलिए ने कहा: "मैं लाल आतंक के मुक़ाबले में श्वेत आतंक को अधिक पसन्द करता हूं।" (J'aime mieux la terreur blanche que la terreur rouge.) और सभा के वक्ताओं की वाणी से जब कहीं जनतंत्र के विरुद्ध, क्रान्ति के विरुद्ध, संविधान के विरुद्ध, राजतंत्र के पक्ष में या पुनीत संघ के पक्ष में व्यंगात्मक शब्द निकलते थे, सभा हर्षध्वनि किया करती थी। सूक्ष्मतम जनतंत्रीय औपचारिता का – उदाहरण के लिए प्रतिनिधियों को "citoyens"* कहकर पुकारने की औपचारिता का – हर उल्लंघन अमन-चैन के सूरमाओं को उमंगित कर देता था।

८ जुलाई को पेरिस में हुए उपचुनावों ने, जो पेरिस में घेरेबन्दी और सर्वहारा वर्ग के एक बहुत बड़े भाग द्वारा मतपेटिकाओं से पृथक रहने की हालत में हुए, फ़्रांसीसी सेना द्वारा रोम पर अधिकार, रोम में लाल कार्डिनलों[137] के तथा उनके पीछे-पीछे कैथोलिक जांच-न्यायालय तथा मठ वालों के आतंक के प्रवेश ने जून की विजय में नयी-नयी विजयों की अभिवृद्धि की तथा अमन की पार्टी का नशा और बढ़ा दिया।

अन्ततः राजतंत्रवादियों ने मध्य अगस्त में दो माह तक राष्ट्रीय सभा का सत्रावसान करने की आज्ञप्ति जारी की – यह उन्होंने कुछ हद तक ज़िला परिषदों में जिनके अधिवेशन अभी-अभी शुरू हुए थे, शामिल होने के इरादे से और कुछ हद तक उस थकान के कारण किया जिसे कई महीनों के राजतंत्रीय ताण्डवनृत्य ने पैदा किया था। वे पारदर्शी व्यंग्य के साथ २५ प्रतिनिधियों का एक आयोग, लेजिटिमिस्ट तथा आर्लियानिस्ट पार्टियों का उत्तमांश, मोले और शांगार्निये जैसे लोगों को राष्ट्रीय सभा के स्थानापन्न के रूप में, जनतंत्र के अभिभावकों के रूप में पीछे छोड़ गये। व्यंग्य उससे कहीं गहरा था जितना उन्होंने समझा था। जिन

* "नागरिक"। – सं०

लोगों के भाग्य में इतिहास ने उस राजतंत्र को उलटने में मदद देना लिखा था जिससे वे प्यार करते थे, उन्हें वह जनतंत्र बचाना पड़ा जिससे वे नफ़रत करते थे।

संवैधानिक जनतंत्र के जीवन में दूसरी अवधि, राजतंत्रवादी उद्धतता की अवधि का विधान सभा के **सत्रावसान के साथ पटाक्षेप होता है।**

पेरिस में फिर से घेरेबन्दी की स्थिति ख़त्म की गयी, अख़बारों की हलचल फिर शुरू हुई। सामाजिक-जनवादी अख़बारों पर पाबन्दी के दौरान, दमनात्मक कार्रवाइयों तथा राजतंत्रवादी हंगामे के दौरान, **राजतंत्रवादी-संवैधानिक निम्न-पूंजीपति वर्ग** के पुराने साहित्यिक प्रतिनिधि «*Siècle*»[138] अख़बार ने **जनतंत्रवादी** रुख़ अपनाया; **पूंजीवादी सुधारवादियों** के पुराने साहित्यिक व्याख्याकार «*Presse*»[139] ने **जनवाद** का रुख़ अपनाया जबकि **जनतंत्रवादी पूंजीपति वर्ग** के पुराने जमे हुए मुखपत्र «*National*» ने समाजवाद का रुख़ अपनाया।

गुप्त सोसायटियां आकार तथा गहनता के मामले में उसी हिसाब से बढ़ रही थीं जिस हिसाब से **खुले क्लबों** के लिए टिका रहना असम्भव होता जा रहा था। **मज़दूरों की** औद्योगिक **सहकारी समितियां** जिन्हें विशुद्ध वाणिज्यिक सोसायटियों के रूप में सहन किया जा रहा था और जो कोई आर्थिक महत्व की नहीं थीं, राजनीतिक दृष्टि से सर्वहारा को ऐक्यबद्ध करने के लिए एक साधन बन गयीं। १३ जून ने विविध अर्द्ध क्रान्तिकारी पार्टियों के औपचारिक शीश नीचे गिरा दिये थे; जो जनसाधारण बचे रह गये, उन्हें अपना शीश मिल गया। अमन-चैन के सूरमा लाल जनतंत्र के आतंक की भविष्यवाणियां कर भय उत्पन्न कर रहे थे; हंगरी, बांदेन और रोम में विजयी प्रतिक्रान्ति के घृणित अत्याचारों तथा नृशंसता ने "लाल जनतंत्र" को धोकर धवल बना दिया। तथा फ़्रांसीसी समाज के असन्तुष्ट मध्य वर्गों ने लाल राजतंत्र और उसके वास्तविक नैराश्य की जगह लाल जनतंत्र को उसके संदिग्ध आतंकों समेत तरजीह देना शुरू कर दिया था। फ़्रांस में किसी भी समाजवादी ने **गाइनाऊ** से अधिक क्रान्तिकारी प्रचार नहीं किया। A chaque capacité selon ses oeuvres!*

इस बीच लूई बोनापार्त ने राष्ट्रीय सभा के सत्रावसान का लाभ उठाकर प्रान्तों की राजसी यात्रा की, सबसे अधिक उग्र लेजिटिमिस्टों ने एम्स की तीर्थ-यात्राएं कीं, जहां वे महात्मा लूई के पौत्र[140] के पास पहुंचे, और अमन की पार्टी

*हर प्रतिभावान व्यक्ति को उसके कार्य के अनुसार! (सेंत-साइमन के प्रसिद्ध सूत्र का पदान्वय।) — सं०

के प्रतिनिधियों का एक बहुत बड़ा समूह ज़िला परिषदों में, जिनके अधिवेशन चालू ही हुए थे, षड्यंत्र करते रहे। उनसे वह उद्घोषित कराना ज़रूरी था जिसका साहस राष्ट्रीय सभा का बहुमत अभी नहीं कर सका था, यह था **संविधान के तात्कालिक संशोधन का फ़ौरी प्रस्ताव**। संविधान के अनुसार उसे १८५२ से पहले संशोधित नहीं किया जा सकता था और उसके बाद भी उसे वही राष्ट्रीय सभा संशोधित कर सकती थी जो ख़ास तौर पर इसी चीज़ के लिए बुलायी जाती, लेकिन ज़िला परिषदों की बहुसंख्या यदि इस पक्ष में अपनी राय दे दें तो क्या राष्ट्रीय सभा फ़ांस की वाणी के समक्ष संविधान के सतीत्व की बलि देने के लिए बाध्य नहीं थी? राष्ट्रीय सभा इन प्रान्तीय परिषदों से वही आशा कर रही थी जो वाल्तेयर की कृति «*Henriade*» की भिक्षुणियां पंडूरों* से करती थीं। परन्तु कुछ अपवादों को छोड़कर राष्ट्रीय सभा के पेंटेफ़्रियों को प्रान्तों के इतने सारे जोज़ेफ़ों से साबिक़ा पड़ रहा था। विशाल बहुसंख्या उसे नहीं समझना चाहती थी जो हठपूर्वक उसके दिमाग़ में भरी जा रही थी। संविधान का संशोधन करने का काम ठीक उन साधनों से, जिन द्वारा उसे अस्तित्व में लाया जाना था, ज़िला परिषदों के वोटों से विफल बना दिया गया। फ़ांस, वस्तुतः पूंजीवादी फ़ांस अपनी आवाज़ बुलन्द कर चुका था, संशोधन के विरुद्ध आवाज़ बुलन्द कर चुका था।

अक्तूबर के आरम्भ में राष्ट्रीय विधान सभा का एक बार फिर अधिवेशन हुआ – tantum mutatus ab illo!** उसका चेहरा पूरी तरह बदल चुका था। ज़िला परिषदों द्वारा अप्रत्याशित रूप से संशोधन ठुकराये जाने की कार्रवाई ने उसे फिर संविधान की सीमाओं के अन्दर पहुंचा दिया तथा उसके कार्यकाल की सीमाओं के बारे में याद दिलाई। आर्लियानिस्ट लेजिटिमिस्टों की एम्स की तीर्थयात्रा से सशंकित हो गये थे; लेजिटिमिस्ट लन्दन के साथ आर्लियानिस्टों की बातचीत[141] के कारण सशंकित हो गये थे; इन दो धड़ों के अख़बार आग में घी डालते रहे तथा अपने दावेदारों के आपसी दावों को तौलते रहे। आर्लियानिस्ट तथा लेजिटिमिस्ट दोनों एक स्वर से बोनापार्तपंथियों की उन साज़िशों पर बड़बड़ाते रहे जो राष्ट्रपति की राजसी यात्राओं में, संविधान से मुक्ति पाने की उसकी न्यूनाधिक पारदर्शी चेष्टाओं में, बोनापार्तपंथी अख़बारों की अकड़ भरी भाषा में प्रकट हुईं; लूई बोनापार्त राष्ट्रीय सभा के विरुद्ध बड़बड़ाता रहा जिसने केवल

---

* क्रोशियाई पैदल सैनिक। – सं०

** तबसे कितना परिवर्तन हो चुका था! (विर्जिलियस, 'एनेइड') – सं०

लेजिटिमिस्ट-आर्लियानिस्ट षड्यंत्र को ही वैध पाया, वह मंत्रिमण्डल के विरुद्ध बड़बड़ाता रहा जो उसके साथ निरन्तर ग़द्दारी कर उसे इस राष्ट्रीय सभा के हवाले करता रहा। अन्ततः स्वयं मंत्रिमंडल के अन्दर रोमन नीति तथा उस **आय कर** के बारे में फूट थी जिसे मंत्री **पास्सी** ने प्रस्तावित किया था तथा जिसे अनुदारपंथियों ने समाजवादी बताया था और उसकी निंदा की थी।

विधान सभा के पुनरारम्भ सत्र में बारो मंत्रिमण्डल ने जो प्रथम विधेयक पेश किये, उनमें से एक में **आर्लियां की डचेस** को विधवा होने के नाते पेंशन देने के लिए ३००,००० फ़्रांक के क़र्ज़ की मांग की गयी थी। राष्ट्रीय सभा ने उसकी मंज़ूरी दे दी तथा फ़्रांसीसी राष्ट्र के क़र्ज़ों की फ़ेहरिस्त में ७० लाख फ़्रांक की वृद्धि कर दी। इस तरह लूई फ़िलिप जहां pauvre honteux की – लजीले भिखारी की – भूमिका सफलतापूर्वक निभाता रहा, वहां न तो मंत्रिमण्डल ने बोनापार्त का वेतन बढ़ाने का प्रस्ताव करने की हिम्मत की और न सभा ने ही उसे मंज़ूर करने के लिए कोई रुझान दिखाया। और लूई बोनापार्त सदा की तरह द्विविधा में भटकता रहा – Aut Caesar, aut Clichy! *

मंत्रिमण्डल की दूसरी मांग ने याने **रोमन अभियान का ख़र्चा** उठाने के वास्ते ९० लाख फ़्रांक के क़र्ज़ की मांग ने एक ओर बोनापार्त तथा दूसरी ओर मंत्रियों और राष्ट्रीय सभा के बीच तनाव बढ़ा दिया। लूई बोनापार्त ने अपने सैनिक सहायक एदगर नेई को लिखा हुआ एक पत्र *«Moniteur»* में प्रकाशित कराकर पोप की सरकार को संवैधानिक गारंटियों से बांध दिया। पर उधर पोप ने अपना परिपत्र, *«Motu proprio»*,[142] प्रकाशित किया जिसमें उसने अपने पुनःस्थापित शासन पर किसी भी तरह का प्रतिबंध लगाया जाना अस्वीकार कर दिया। बोनापार्त के पत्र ने इरादतन धृष्टता के साथ अपने मंत्रिमण्डल के ऊपर से पर्दा उठा दिया ताकि वह दर्शक-दीर्घा के सामने दिखा सके कि उसमें तो परोपकारी का गुण है परन्तु उसे ग़लत समझा जा रहा है और वह अपने ही घर में जकड़ा हुआ है। यह पहला मौक़ा नहीं था जब उसने "एक मुक्त आत्मा के पंख पोशीदा ढंग से फड़फड़ाते हुए"** नखरेबाजी की थी। आयोग के रिपोर्टर **थियेर** ने बोनापार्त

---

* या तो सीज़र या क्लिशी! (क्लिशी – दिवालिया होनेवाले क़र्ज़दार लोगों की पेरिस की जेल। सुविदित उक्ति Aut Caesar, aut nihil – या तो सीज़र या कुछ नहीं – का पदान्वय)। – सं०

** गेओर्ग हरवे, 'पर्वतों से'। – सं०

के पंखों की फड़फड़ाहट की पूरी तरह उपेक्षा की थी और उसने अपने को पोप की अपील का फ़्रांसीसी में अनुवाद करने तक सीमित रखा। मंत्रिमण्डल नहीं वरन् **विक्तोर ह्यूगो** ने राष्ट्रीय सभा के सामने नेपोलियन के पत्र से सहमति प्रकट करने का प्रस्ताव करके राष्ट्रपति को बचाने का यत्न किया था। «Allons donc! Allons donc!»* – इस असम्मानजनक और हल्केपन से भरे विस्मयबोधक स्वर से बहुसंख्या ने ह्यूगो का प्रस्ताव दफ़ना दिया। राष्ट्रपति की नीति? राष्ट्रपति का पत्र? स्वयं राष्ट्रपति? «Allons donc! Allons donc!» श्रीमान बोनापार्त पर कौन संजीदगी से विश्वास करता है? श्रीमान विक्तोर ह्यूगो, क्या आप इस बात पर विश्वास करते हैं कि हमें आप पर यह विश्वास है कि आप राष्ट्रपति पर विश्वास करते हैं? «Allons donc! Allons donc!»

अन्ततः **आर्लियानों तथा बूर्बों की वापसी** पर बहस के कारण बोनापार्त तथा राष्ट्रीय सभा के बीच दरार और जल्दी बढ़ गयी। मंत्रिमण्डल की ग़ैरहाज़िरी में राष्ट्रपति के चचेरे भाई, वेस्तफ़ाली के भूतपूर्व राजा के बेटे** ने यह प्रस्ताव पेश किया था, उसका इसके अलावा और कोई उद्देश्य नहीं था कि लेजिटिमिस्ट तथा आर्लियानिस्ट दावेदारों को धकेलकर बोनापार्ती दावेदार के ही स्तर पर, या कहना चाहिए कि उससे **निचले** स्तर पर पहुंचा दिया जाये जो वस्तुतः कम से कम राज्य के शिखर पर तो खड़ा था।

नेपोलियन ने **निर्वासित शाही परिवारों की वापसी तथा जून के विद्रोहियों के लिये क्षमादान** को एक ही प्रस्ताव के दो अंग बनाकर काफ़ी बेअदबी का परिचय दिया था। बहुमत के रोष ने उसे तुरन्त पुण्यशील तथा अपुण्यशील के, शाही नस्लों तथा सर्वहारा झुंड के, समाज के स्थिर सितारों तथा उसके भटकते दलदली चिरागों के इस धर्मद्रोही मेल के लिए मांफ़ी मांगने के लिए तथा दो प्रस्तावों में से हर एक को उसके उचित स्थान पर पहुंचाने के लिए विवश किया। बहुमत ने शाही परिवार की वापसी का प्रस्ताव जोश के साथ ठुकरा दिया, और लेजिटिमिस्टों के डेमोस्थनीज़ **बेरिये** ने इस वोट के अर्थ के बारे में सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं छोड़ी। दावेदारों को साधारण नागरिकों की स्थिति तक पहुंचाना – यही है इच्छित लक्ष्य! इरादा यह है कि उन्हें उनके प्रभामण्डल से, उन्हें अपनी बची-खुची महिमा के अन्तिम अवशेष से, **निर्वासन की महिमा** से वंचित कर दिया

---

* अजी छोड़िये भी, अजी छोड़िये भी! – सं०

** नेपोलियन जोज़ेफ़ बोनापार्त, जेरोम बोनापार्त का बेटा। – सं०

जाये ! बेरिये ने चिल्लाकर कहा — दावेदारों में से उसके बारे में क्या सोचा जायेगा जो अपने राजसी मूल को भुलाकर यहां साधारण व्यक्ति के रूप में बसने आया है ? लूई बोनापार्त को इससे अधिक स्पष्ट रूप से इस बात से अवगत नहीं कराया जा सकता था कि उसे देश में अपनी उपस्थिति से कोई फ़ायदा नहीं हुआ है, कि जहां संघबद्ध राजतंत्रवादियों को उसकी यहां राष्ट्रपति की कुर्सी पर **तटस्थ व्यक्ति** के रूप में जरूरत थी, वहां सिंहासन के वास्तविक दावेदारों को निर्वासन के कुहासे से आच्छादित होकर अनजान लोगों की दृष्टि से दूर रहना था।

१ नवम्बर को लूई बोनापार्त ने विधान सभा को एक सन्देश के ज़रिए उत्तर दिया जिसने काफ़ी रूखे शब्दों में बारो मंत्रिमण्डल की बर्ख़ास्तगी तथा एक नये मंत्रिमण्डल के गठन की घोषणा की। बारो — फ़ालू मंत्रिमण्डल मिले-जुले राजतंत्रवादियों का मंत्रिमण्डल था, ओपूल मंत्रिमण्डल बोनापार्त का मंत्रिमण्डल था, विधान सभा के विरुद्ध राष्ट्रपति के हाथ का औज़ार, क्लर्कों का मंत्रिमण्डल था।

बोनापार्त १० दिसम्बर १८४८ का **तटस्थ व्यक्ति** मात्र नहीं रह गया था। कार्यकारी सत्ता के पास आने से बहुत से हित उसके इर्द-गिर्द जमा हो गये थे, अराजकता से संघर्ष ने स्वयं अमन की पार्टी को उसका प्रभाव बढ़ाने के लिए विवश किया था, और यदि वह लोकप्रिय नहीं रह गया, तो अमन की पार्टी अलोकप्रिय हो गयी थी। क्या वह आर्लियानिस्टों तथा लेजिटिमिस्टों की प्रतिद्वन्द्विता के ज़रिए और साथ ही किसी न किसी प्रकार के राजतंत्रीय पुनःस्थापन की आवश्यकता के ज़रिए उन्हें **तटस्थ दावेदार** को मान्यता देने के लिए विवश करने की आशा नहीं कर सकता था ?

१ नवम्बर १८४९ से संवैधानिक जनतंत्र के जीवन की तीसरी अवधि शुरू होती है, जो १० मार्च १८५० को समाप्त हो जाती है। अब संवैधानिक संस्थानों का नियमित खेल, जिसकी गीज़ो इतनी प्रशंसा करता था, कार्यकारी सत्ता तथा विधायी सत्ता के बीच कलह शुरू होता है। परन्तु जो हुआ, वह इतना ही नहीं था। पुनःस्थापन के लिए ऐक्यबद्ध आर्लियानिस्टों तथा लेजिटिमिस्टों की उत्कण्ठा के विरुद्ध बोनापार्त अपनी वास्तविक सत्ता के क़ानूनी आधार — जनतंत्र — की रक्षा करता है; पुनःस्थापन के लिए बोनापार्त की उत्कण्ठा के विरुद्ध अमन की पार्टी अपने समान शासन के क़ानूनी आधार — जनतंत्र — की रक्षा करती है; आर्लियानिस्टों के विरुद्ध लेजिटिमिस्ट तथा लेजिटिमिस्टों के विरुद्ध आर्लियानिस्ट यथास्थिति — जनतंत्र — की रक्षा करते हैं। अमन की पार्टी के ये सारे धड़े, जिनमें

से हरेक का in petto* अपना राजा तथा अपना पुनःस्थापन है, सत्ता हड़पने तथा विद्रोह करने की अपनी प्रतिद्वन्द्वियों की उत्कण्ठा के विरुद्ध पूंजीपति वर्ग का समान शासन, वह रूप – **जनतंत्र** – लागू करते हैं जिसमें विशेष दावे प्रभावहीन तथा सुरक्षित पड़े रहते हैं।

जिस तरह कांट जनतंत्र को राज्य के एकमात्र विवेकसम्मत रूप की हैसियत से व्यावहारिक तर्कबुद्धि का एक आधार-तत्त्व मानते हैं जिसका मूर्त्त रूप कभी प्राप्त नहीं होता, लेकिन जिसकी प्राप्ति के लिए हमेशा यत्न किया जाना चाहिए, तथा जिसके साथ लक्ष्य के रूप में सदैव मानसिक दृष्टि से संलग्न रहना चाहिए, ठीक उसी तरह ये राजतंत्रवादी **राजतंत्र** को ऐसा ही आधार-तत्व मानते हैं।

इस प्रकार संवैधानिक जनतंत्र एक खोखले विचारधारात्मक फ़ार्मूला के रूप में पूंजीवादी जनतंत्रवादियों के हाथों से निकलकर अन्तर्वस्तु तथा जीवन से भरपूर रूप बनने के लिए संघबद्ध राजतंत्रवादियों के हाथों में पहुंच गया। और थियेर ने जब कहा कि "हम राजतंत्रवादी संवैधानिक जनतंत्र के वास्तविक आधार-स्तम्भ हैं" तो उसने अपनी बात उससे कहीं अधिक सत्य के साथ कह दी जितना स्वयं सोचा था।

संयुक्त मंत्रिमण्डल को उलट दिये जाने तथा क्लर्कों के मंत्रिमण्डल के प्रकट होने का एक दूसरा महत्व है। उसका वित्तमंत्री **फ़ूल्द** था। वित्तमंत्री के रूप में फ़ूल्द फ़्रांस की राष्ट्रीय आय सरकारी तौर पर स्टाक एक्सचेंज के हवाले किये जाने, राज्य की सम्पत्ति का स्टाक एक्सचेंज द्वारा तथा स्टाक एक्सचेंज के हितार्थ प्रबंध किये जाने का द्योतक था। फ़ूल्द की नामज़दगी के साथ वित्तीय अभिजात वर्ग ने *«Moniteur»* में अपने पुनःस्थापन की घोषणा की। इस पुनःस्थापन ने आवश्यक रूप से अन्य पुनःस्थापनों की, जो संवैधानिक जनतंत्र की शृंखला की इतनी सारी कड़ियां मात्र हैं, परिपूर्ति की।

लूई फ़िलिप ने कभी किसी असली loup-cervier** को वित्तमंत्री बनाने की हिम्मत नहीं की थी। जिस तरह उसका राजतंत्र बड़े पूंजीपति वर्ग के शासन का आदर्श नाम था, ठीक उसी तरह उसके मंत्रालयों में विशेषाधिकारप्राप्त स्वार्थों को विचारधारात्मक दृष्टि से निस्स्वार्थ नाम ग्रहण करने पड़ते थे। पूंजीवादी जनतंत्र ने हर जगह उन चीजों को आगे धकेला जिन्हें विभिन्न राजतंत्र,

---

* अंतःकरण में। – सं०

** स्टाक एक्सचेंज का भेड़िया। – सं०

लेजिटिमिस्ट और आर्लियानिस्ट पार्श्वभूमि में छुपाये हुए थे। उसने उस चीज़ को पार्थिव वस्तु बना दिया जिसे वे स्वर्ग की वस्तु बनाये हुए थे। उसने सन्तों के नामों के स्थान पर प्रभुत्वशाली वर्ग हितों के पूंजीवादी निजी नाम रख दिये।

हमारे पूरे बयान से यह पता चल जाता है कि जनतंत्र ने अपने अस्तित्व के पहले ही दिन से वित्तीय अभिजात वर्ग का तख़्ता नहीं उलटा वरन् उसे दृढ़ बनाया। परन्तु उसे ये रियायतें नियति के आगे विवश होकर अनिच्छापूर्वक दी गयी थीं। फ़ूल्द के साथ सरकार के अन्दर पहलक़दमी फिर से वित्तीय अभिजात वर्ग के हाथों में वापस आ गयी।

प्रश्न किया जा सकता है—संघबद्ध पूंजीपति वर्ग वित्तीय अभिजात वर्ग के शासन को कैसे सहन कर तथा झेल सकता था, जो लूई फ़िलिप के ज़माने में बाक़ी पूंजीपतियों के सत्ता से हटाये जाने या मातहत रखे जाने पर टिका हुआ था?

उत्तर सीधा-सादा है।

सर्वप्रथम वित्तीय अभिजात वर्ग स्वयं राजतंत्रवादी गंठजोड़ का वज़नदार, प्रामाणिक भाग था जिसकी संयुक्त सरकारी सत्ता को जनतंत्र के नाम से पुकारा जाता है। क्या आर्लियानिस्टों के प्रवक्ता तथा "प्रतिभासम्पन्न" लोग वित्तीय अभिजात वर्ग के पुराने संघवादी तथा संगी-साथी नहीं थे? क्या वह स्वयं आर्लियानिस्टों की सुनहरी मंडली नहीं थी? जहां तक लेजिटिमिस्टों का प्रश्न है, वे तो लूई फ़िलिप के ज़माने में स्टाक एक्सचेंज के सारे आमोद-प्रमोद में, खानों तथा रेलों में सट्टेबाज़ियों में व्यवहारतः हिस्सा ले चुके थे। साधारणतः वित्तीय अभिजात वर्ग के साथ बड़े भू-स्वामियों का सम्मिलन एक **सामान्य तथ्य** है। प्रमाण **है—इंगलैंड**, प्रमाण है—**आस्ट्रिया** तक।

फ़्रांस जैसे देश में, जहां राष्ट्रीय उत्पादन की मात्रा राष्ट्रीय ऋण की राशि की तुलना में विषम रूप से निम्न स्तर पर है, जहां सरकारी ऋणपत्र सट्टेबाज़ी का सबसे महत्वपूर्ण विषय हैं, और जहां स्टाक एक्सचेंज पूंजी के, जो अपने को अनुत्पादक ढंग से बढ़ाना चाहती है, निवेश की प्रमुख मंडी है, ऐसे देश में सारे पूंजीवादी तथा अर्द्ध-पूंजीवादी वर्गों के अनगिनत लोगों की राजकीय ऋणों में, स्टाक एक्सचेंज की जूएबाज़ी में, वित्त में दिलचस्पी होनी चाहिए। क्या ये सारे गौण हिस्से अपना स्वाभाविक आधार तथा अपना नेतृत्व उस धड़े में नहीं पाते, जो इन्हीं हितों का उनके व्यापक पैमाने पर प्रतिनिधित्व करता है, जो उनका समग्र रूप में प्रतिनिधित्व करता है?

परन्तु बड़े वित्तीय अभिजात वर्ग के हाथों में राजकीय सम्पत्ति किस तरह

पहुंचती है? राज्य के लगातार बढ़ते हुए क़र्ज़ के कारण। और राज्य के क़र्ज़ का कारण क्या है? आय से व्यय में निरन्तर बढ़ोतरी, ऐसा वैषम्य, जो राजकीय ऋणों की व्यवस्था का कारण तथा परिणाम साथ-साथ होता है।

इस क़र्ज़ से बचने के लिए राज्य को या तो व्यय सीमित करना पड़ेगा यानी सरकारी ढांचे को सरल करना होगा तथा उसमें कटौती करनी होगी, जहां तक हो सके कम से कम शासन करना होगा, जहां तक सम्भव हो कम से कम अमला रखना होगा, जहां तक सम्भव हो, नागरिक समाज के मामलों में कम से कम दख़ल देना होगा। अमन की पार्टी के लिए यह रास्ता असम्भव था, दमन के उसके साधनों का, सरकार के नाम पर उस द्वारा किये जानेवाले हस्तक्षेप का, राज्य के निकायों के माध्यम से उसकी सर्वव्यापकता का उतनी ही मात्रा में बढ़ना अवश्यम्भावी था, जितनी मात्रा में वे क्षेत्र बढ़ते गये, जिनकी ओर से उसके शासन तथा उसके वर्ग के अस्तित्व की अवस्थाओं के लिए ख़तरा हो रहा था। सिपाहियों को ऐसे समय में नहीं घटाया जा सकता जब लोगों या सम्पत्ति के विरुद्ध हमले बढ़ते हैं।

या फिर राज्य क़र्ज़ों से कतराये और सबसे दौलतमन्द वर्गों के कंधों पर **असाधारण कर** लादकर अपने बजट में तत्काल भले ही अस्थायी सन्तुलन पैदा करे। परन्तु क्या अमन की पार्टी को पितृभूमि की वेदी पर अपनी ही दौलत की बलि चढ़ानी थी ताकि स्टाक एक्सचेंज को राष्ट्रीय सम्पत्ति का शोषण करने से रोके? Pas si bête! *

अतः फ़्रांसीसी राज्य में पूर्ण क्रान्ति के बिना फ़्रांसीसी राजकीय वित्त-व्यवस्था में कोई भी क्रान्ति अकल्पनीय है। इस राजकीय वित्त-व्यवस्था के साथ अवश्य ही राजकीय ऋण सम्बन्धित होता है और राजकीय ऋण के साथ राज्य के ऋणों की सट्टेबाज़ी का, राज्य के ऋणदाताओं का, बैंकपतियों का, महाजनों का, स्टाक एक्सचेंज के भेड़ियों का प्रभुत्व सम्बन्धित होता है। अमन की पार्टी के केवल एक ही धड़े की – **मैनुफ़ेक्चररों** की – वित्तीय महाप्रभुओं का तख़्ता उलटने में दिलचस्पी थी। यहां हम मध्य या छोटे उद्योगपतियों की बात नहीं कर रहे हैं, हम उद्योगों के अधिपतियों की बात कर रहे हैं जो लूई फ़िलिप के ज़माने में राजवंशीय विपक्ष के व्यापक आधार बन गये थे। उनका हित निस्सन्देह उत्पादन के ख़र्च में कटौती में था, यानी करों में, जो उत्पादन के ख़र्च में प्रवेश करते हैं, कटौती, इसलिए

* वह इतनी मूर्ख नहीं है! – सं०

राजकीय ऋणों में कमी, जिन पर ब्याज करों में प्रवेश करता है—संक्षेप में उनका हित वित्तीय अभिजात वर्ग का तख़्ता उलटने में था।

इंगलैंड में—सबसे बड़े फ़्रांसीसी मैनुफ़ेक्चरर भी अपने अंग्रेज़ प्रतिद्वन्द्वियों के सामने निम्नपूंजीपति ही हैं—हम वास्तव में मैनुफ़ेक्चररों को, काबडेन, ब्राइट जैसे लोगों को बैंक तथा स्टाक एक्सचेंज के अभिजात वर्ग के विरुद्ध जेहाद करनेवालों के शीर्ष स्थान में पाते हैं। तो फिर ऐसा फ़्रांस में क्यों न हो? इंगलैंड में उद्योग का दबदबा है; फ़्रांस में कृषि का है। इंगलैंड में उद्योग को मुक्त व्यापार की ज़रूरत है, फ़्रांस में संरक्षण-शुल्क की, दूसरी इजारेदारियों के साथ राष्ट्रीय इजारेदारी की ज़रूरत है। फ़्रांसीसी उद्योग फ़्रांसीसी उत्पादन पर हावी नहीं है। इसलिए फ़्रांसीसी उद्योगपति फ़्रांसीसी पूंजीपति वर्ग पर हावी नहीं हैं। पूंजीपति वर्ग के बाक़ी धड़ों के ख़िलाफ़ अपने हितों को आगे बढ़ाने के लिए वे आन्दोलन का नेतृत्व अपने हाथ में नहीं ले सकते तथा साथ-साथ अपने हितों को आगे नहीं बढ़ा सकते जैसा कि अंग्रेज़ करते हैं; उन्हें क्रान्ति का दुमछल्ला बनकर उसके पीछे-पीछे चलना होगा, और उन हितों की पूर्त्ति करनी होगी जो उनके वर्ग के आम हितों के विरुद्ध हैं। फ़रवरी में उन्होंने अपनी स्थिति को ग़लत समझा था; फ़रवरी ने उन्हें सबक़ पढ़ा दिया था। और मालिक से, औद्योगिक पूंजीपति से अधिक किसको मज़दूरों की ओर से प्रत्यक्ष ख़तरा हो सकता है? इसलिए मैनुफ़ेक्चरर फ़्रांस में आवश्यकतावश अमन की पार्टी का सबसे कट्टर अनुयायी बन गया। वित्तपतियों द्वारा उसके मुनाफ़ों में की जानेवाली यह कमी **सर्वहारा वर्ग द्वारा मुनाफ़ों का ही ख़ात्मा किये जाने की तुलना में क्या है?**

फ़्रांस में निम्नपूंजीपति वह करता है जो सामान्यतया औद्योगिक पूंजीपति को करना पड़ता; मज़दूर वह करता है जो सामान्यतया निम्नपूंजीपति का काम होता है; और मज़दूर का लक्ष्य—उसे कौन पूरा करता है? कोई नहीं। फ़्रांस में इस लक्ष्य का समाधान नहीं किया जाता; यहां उसकी उद्घोषणा होती है। राष्ट्रीय चहारदीवारी के अन्दर कहीं उसका समाधान नहीं किया जा सकता;[14] फ़्रांसीसी समाज के अन्दर वर्ग-संघर्ष विश्व-युद्ध में बदल जायेगा, जिसमें राष्ट्र एक-दूसरे के आमने-सामने खड़े हो जायेंगे। समाधान केवल तभी शुरू होगा जब विश्व-युद्ध सर्वहारा को आगे धकेलकर विश्व-मंडी पर प्रभुत्वशाली राष्ट्र के शीर्ष स्थान पर, इंगलैंड के शीर्ष स्थान पर पहुंचा देगा। क्रान्ति, जिसे यहां अपना अन्तिम छोर नहीं वरन् अपनी संगठनात्मक शुरूआत मिलती है, कोई क्षणभंगुर क्रान्ति नहीं है। मौजूदा पीढ़ी तो उन यहूदियों की तरह है जिन्हें मूसा रेगिस्तान में से ले जा

रहे थे। उसके सामने जीतने के लिए एक नयी दुनिया ही नहीं है, उसे रंगमंच से हटना होगा ताकि उन लोगों के लिए जगह ख़ाली की जा सके जिनमें नयी दुनिया का सामना करने की क्षमता है।

आइये अब फिर फ़ूल्द की ओर लौटा जाये।

फ़ूल्द १४ नवम्बर १८४६ को राष्ट्रीय सभा के मंच पर पहुंचा और उसने वहां अपनी वित्त-प्रणाली पर बयान दिया: पुरानी कर-प्रणाली के पक्ष में सफ़ाई! शराब पर कर की बरक़रारी! पास्सी के आय कर को तिलांजलि!

पास्सी भी कोई क्रान्तिकारी नहीं था; वह लूई फ़िलिप का पुराना मंत्री था। वह दूफ़ोर मार्का शुद्धाचारवादियों में से था, तेस्त के सबसे अन्तरंग विश्वासपात्रों में से था, जो जुलाई राजतंत्र का बलि का बकरा था।* पास्सी ने भी पुरानी कर-प्रणाली की प्रशंसा की थी और शराब-कर बनाये रखने की सिफ़ारिश की थी; परन्तु उसने साथ ही राजकीय घाटे का पर्दा फाड़ डाला। उसने ऐलान किया था कि यदि राज्य को दिवालिया होने से बचाना है तो नया कर, आय-कर लगाना ज़रूरी है। फ़ूल्द ने, जिसने किसी ज़माने में लेद्रू-रोलें से राज्य को दिवालिया बनाने की सिफ़ारिश की थी, अब विधान सभा से राजकीय घाटे के लिए सिफ़ारिश की। उसने बचत करने का वचन दिया, जिसका भेद बाद में, उदाहरण के लिए, इस चीज़ में प्रकट हुआ कि ख़र्चों में तो ६ करोड़ की कमी हो गयी और चालू ऋणों में २० करोड़ की बढ़ोतरी हो गयी। यह था आंकड़ों को जोड़ने का, हिसाब तैयार करने का बाज़ीगर का करिश्मा, इन सबका अन्ततः परिणाम था नये ऋण।

अन्य प्रतिस्पर्द्धी पूंजीवादी धड़ों के साथ वित्तीय अभिजात वर्ग ने स्वभावतया फ़ूल्द के ज़माने में उतनी निर्लज्जता भरी भ्रष्टाचारिता से काम नहीं किया जितनी निर्लज्जता भरी भ्रष्टाचारिता से उसने लूई फ़िलिप के ज़माने में काम किया था। परन्तु एक बार अस्तित्व में आ जाने के बाद यह प्रणाली ज्यों की त्यों बनी रही: ऋण की वही स्थायी बढ़ोतरी, वही पर्दापोश घाटा। और वक़्त बीतने के साथ

---

*८ जुलाई १८४७ को पेरिस में श्रीमन्तों के सदन में नमक के काम में रियायत हासिल करने की दृष्टि से अधिकारियों को रिश्वत देने के लिए पारमान्त्ये तथा जनरल क्युब्येर पर तथा इस तरह की नक़द रिश्वतें स्वीकार करने के लिए तत्कालीन लोक कार्य मंत्री तेस्त पर मुक़द्दमा आरम्भ हुआ। तेस्त ने मुक़द्दमे के दौरान आत्महत्या करने का प्रयास किया। सब पर भारी जुर्माने किये गये। तेस्त को इसके अलावा तीन साल की क़ैद की सज़ा दी गयी। (**१८९५ के संस्करण के लिए एंगेल्स की टिप्पणी।**)

स्टाक एक्सचेंज की पुरानी घोटालेबाज़ी और खुले रूप में सामने आने लगी। प्रमाण हैं – अविनोन रेलवे लाइन सम्बन्धी क़ानून; सरकारी प्रतिभूतियों में रहस्यमय उतार-चढ़ाव, जो पूरे पेरिस में कुछ समय तक आम चर्चा का विषय बना रहा, अन्ततः १० मार्च के चुनावों को लेकर फ़ूल्द तथा बोनापार्त की नाकामयाब जूएबाज़ी।

वित्तीय अभिजात वर्ग के सरकारी तौर पर पुनःस्थापन के साथ फ़्रांसीसी जनता को शीघ्र ही २४ फ़रवरी के सामने खड़ा होना पड़ा।

संविधान सभा ने अपने उत्तराधिकारी के प्रति घृणा के आवेश में आकर १८५० में शराब पर कर ख़त्म कर दिया। पुराने कर मिटाकर नये क़र्ज़ तो चुकाये नहीं जा सकते थे। अमन की पार्टी के एक मूढ़मति क्रेतों ने विधान सभा का सत्रावसान होने से पहले ही शराब पर कर बरक़रार रखने का प्रस्ताव पेश कर दिया। फ़ूल्द ने बोनापार्त के मंत्रिमण्डल के नाम पर यह प्रस्ताव अपना लिया और २० दिसम्बर १८४९ को, उस दिन की जयन्ती के अवसर पर, जब बोनापार्त को राष्ट्रपति घोषित किया गया था, राष्ट्रीय सभा ने **शराब-कर फिर से चालू करने** का निर्णय किया।

इस कर को फिर से चालू करने का पक्ष-पोषक कोई वित्तपति नहीं था, वह तो जेसुइट मुखिया **मोंतालम्बेर** था। उसके तर्क में आश्चर्यजनक सरलता थी – कर-प्रणाली मां का वह स्तन है जिससे सरकार को दुग्धपान कराया जाता है। सरकार दमन का साधन होती है, वह सत्ता का निकाय है, वह सेना है, वह पुलिस है, वह अफ़सर, न्यायाधीश, मंत्री है, वह **पुरोहित** है। कर-प्रणाली पर प्रहार अमन के प्रहरियों पर, जो सर्वहारा वहशियों के हमलों से पूंजीवादी समाज की भौतिक तथा आध्यात्मिक सम्पत्ति की रक्षा करते हैं, अराजकतावादियों का प्रहार है। कर-प्रणाली सम्पत्ति, परिवार, अमन और धर्म के साथ खड़ा पांचवां भगवान है। और शराब पर कर निर्विवाद रूप से एक कर है, यही नहीं वह कोई साधारण कर नहीं है अपितु परम्परागत, राजतंत्रवाद की ओर झुकी हुई, सम्मानप्राप्त कर-प्रणाली है। Vive l'impôt des boissons! Three cheers and one cheer more! *

फ़्रांसीसी किसान जब किसी प्रेत का वर्णन करता है तो वह उसकी कर वसूल करनेवाले के रूप में कल्पना करता है। मोंतालम्बेर ने जिस क्षण कर-प्रणाली को ऊपर उठाकर ईश्वर के दर्जे पर पहुंचाया, फ़्रांसीसी किसान उसी क्षण से निरीश्वरवादी,

---

* शराब पर कर ज़िन्दाबाद! वाह-वाह, एक बार और वाह-वाह! – सं०

नास्तिक बन गया और उसने अपने को प्रेत की, **समाजवाद** की बांहों में सौंप दिया। अमन का धर्म उसे खो बैठा। जेसुइट उसे खो बैठे; बोनापार्त उसे खो बैठा। २० दिसम्बर १८४९ ने २० दिसम्बर १८४८ को अपरिवर्तनीय रूप से बदनाम किया। 'अपने चाचा का भतीजा" अपने परिवार में पहला शख़्स नहीं था जिसे शराब पर कर ने, इस कर ने परास्त किया था, जिससे मोंतालम्बेर के शब्दों में क्रान्तिकारी तूफ़ान की गंध आ जाती है। वास्तविक, महान नेपोलियन ने सेंट हेलेना में घोषित किया था कि शराब पर कर फिर से लागू किये जाने की कार्रवाई ने उसके पतन में और दूसरी तमाम चीज़ों से ज़्यादा योग दिया था क्योंकि उसने उसे दक्षिणी फ़्रांस के किसानों से अलग-थलग कर दिया था। लूई १४ वें के ज़माने में ही जनता की घृणा का प्रिय विषय बन चुके इस कर को (बुआगिल्बेर और वोबां की कृतियां देखिये), जिसे प्रथम क्रांति ने ख़त्म कर दिया था, नेपोलियन ने १८०८ में संशोधित रूप में फिर से लागू किया था। जब पुनःस्थापन का फ़्रांस में प्रवेश हुआ तो उसके सामने कज़्ज़ाक ही नहीं वरन् शराब पर कर ख़त्म करने के वचन भी दुलकी चाल चल रहे थे। Gentilhommerie* के लिए gens taillables à merci et miséricorde** को दिये गये शब्दों का पालन करना स्वभावतया आवश्यक नहीं था। १८३० के वर्ष ने शराब पर कर के ख़ात्मे का वचन दिया था। यह उसकी आदत नहीं थी कि वह जो कहे, वह करे या जो करे वह कहे। १८४८ के वर्ष ने शराब पर कर मिटाने का वचन वैसे ही दिया जैसे उसने हर चीज़ का वचन दिया था। अन्ततः संविधान सभा ने, जिसने किसी चीज़ का वचन नहीं दिया था, एक वसीयतनामा तैयार किया जिसके अनुसार – जैसा कि पहले कहा जा चुका है – शराब पर कर को १ जनवरी १८५० से ख़त्म हो जाना था। और १ जनवरी १८५० से केवल दस दिन पहले विधान सभा ने उसे फिर से लागू कर दिया। इस तरह वह स्थायी रूप से फ़्रांसीसी जनता का पीछा करता रहा और उसने जब उसे दरवाज़े से बाहर फेंका तो देखा कि वह खिड़की से फिर अन्दर लौट आया है।

शराब पर कर से आम घृणा का कारण यह तथ्य है कि वह फ़्रांसीसी कर-प्रणाली के सारे घिनौने पहलुओं को अपने अन्दर समेट लेता है। उसे वसूलने का तरीक़ा घिनौना है, उसके वितरण का तरीक़ा अमीराना है क्योंकि करों की

* सामन्त लोग। – सं०

** ऐसे लोग जिन पर कर मनमाने ढंग से लगाये जा सकते थे। – सं०

दरें साधारणतम शराबों के लिए भी उतनी ही हैं जितनी सबसे महंगी शराबों के लिए, इसलिए वह उसी हिसाब से बढ़ता जाता है जिस हिसाब से उपभोक्ताओं की सम्पत्ति घटती जाती है; यही विलोमित वर्द्धमान कर है। वह मिलावटी तथा नक़ली शराबों को बढ़ावा देता और फलस्वरूप मेहनतकश वर्गों को ज़हर पिलाने की हरकतों को सीधे-सीधे उकसाता है। वह खपत घटाता है क्योंकि वह ४,००० से ऊपर की आबादी वाले तमाम शहरों के प्रवेश-द्वारों में चुंगीघर क़ायम करता है और इस तरह के हर शहर को फ़्रांसीसी शराब के विरुद्ध संरक्षण-शुल्क जारी कर विदेश में बदल डालता है। शराब के बड़े तिजारती, और उनसे भी ज्यादा छोटे तिजारती – marchands de vins, शराब की दुकानों के मालिक, जिनकी आजीविका सीधे शराब की खपत पर निर्भर करती है, शराब पर कर के कट्टर दुश्मन हैं। और अन्ततः खपत कम कर शराब पर कर उत्पादन की मंडी को भी संकुचित करता है। वह जहां शहरी मजदूर को शराब ख़रीदने में असमर्थ बनाता है, वहां वह शराब-उत्पादकों को भी उसकी बिक्री करने में असमर्थ बना देता है। और ध्यान रहे, फ़्रांस में शराब पैदा करनेवालों की तादाद लगभग एक करोड़ बीस लाख है। इसलिए साधारणतया लोगों में व्याप्त घृणा को समझना आसान है; शराब पर कर के विरुद्ध किसानों के प्रचण्ड आवेश को ख़ास तौर पर समझा जा सकता है। इसके अलावा उन्होंने उसके पुनःस्थापन में कोई छुटपुट या न्यूनाधिक आकस्मिक घटना नहीं देखी। किसानों के पास एक तरह की अपनी ही ऐतिहासिक परम्परा होती है जिसे बाप बेटे को सौंपता आया है और इस ऐतिहासिक विद्यालय में यह बात बुदबुदाते हुए कही जाती है कि कोई सरकार जब कभी किसानों की आंखों में धूल झोंकना चाहती है, वह शराब पर कर ख़त्म करने का वचन देती है, और किसानों की आंखों में धूल झोंकने के बाद वह कर को बरक़रार रखती है या फिर से चालू कर देती है। किसान सरकार की प्रवृत्ति की परीक्षा शराब के कर से करता है। २० दिसम्बर को शराब पर कर फिर से चालू किये जाने का अर्थ था – **लूई बोनापार्त औरों की तरह ही है।** परन्तु वह बाक़ी औरों की तरह नहीं था; वह तो **कृषक की खोज था**; और शराब पर कर के ख़िलाफ़ लाखों दस्तख़तों वाली अर्ज़ियों में उन्होंने वे वोट वापस ले लिये जो उन्होंने एक साल पहले "अपने चाचा के भतीजे" को दिये थे।

देहाती लोग – कुल फ़्रांसीसी आबादी के दो-तिहाई भाग से अधिक – अधिकतर तथाकथित **स्वतंत्र भू-स्वामी** हैं। पहली पीढ़ी ने, जिसे १७८९ की क्रांति ने सामन्ती बोझ से मुफ़्त में ही छुटकारा दिला दिया था, ज़मीन की कोई क़ीमत नहीं चुकायी

थी। परन्तु आगे आनेवाली पीढ़ियों को **ज़मीन की क़ीमत** के रूप में वह चुकाना पड़ा जो उनके अर्द्ध-दास पूर्वजों को लगान, दशमांश, बेगारी आदि के रूप में चुकाना पड़ता था। एक ओर आबादी जितनी अधिक बढ़ती गयी तथा दूसरी ओर ज़मीन का जितना अधिक बंटवारा होता चला गया, खण्डित भूमि का मूल्य उतना ही बढ़ता गया क्योंकि खेतों के आकार के छोटे होते जाने के साथ-साथ उनकी मांग में वृद्धि होती गयी। लेकिन किसान द्वारा ख़रीदी जानेवाली ज़मीन का – चाहे उसने वह प्रत्यक्ष रूप से ख़रीदी हो अथवा उसे अपने सह-वारिसों की पूंजी के रूप में दर्ज करायी हो – मूल्य जिस अनुपात से बढ़ा, उसी अनुपात से **किसान की ऋणग्रस्तता** में भी यानी **गिरवीनामों** में लाज़िमी तौर पर वृद्धि हुई। ज़मीन पर दिये जानेवाले कर्ज़ सम्बन्धी दावे को **गिरवीनामा** कहा जाता है, यानी ज़मीन के मामले में गिरवीनामा। जिस तरह मध्ययुगीन ज़मीन पर **विशेषाधिकार** संचित होते चले गये, ठीक उसी तरह आज की छोटी-छोटी जोतों पर **गिरवीनामे** जमा होते थे। दूसरी ओर ज़मीन के खण्डित होने की प्रणाली के अन्तर्गत ज़मीन अपने स्वामी के लिए विशुद्ध रूप से **उत्पादन का साधन** होती है। और ज़मीन जिस हिसाब से बांटी जाती है, उसी हिसाब से उसकी फलप्रदता भी घटती जाती है। ज़मीन पर मशीनों का उपयोग किया जाना, श्रम-विभाजन, ज़मीन की हालत सुधारने के लिए दलदल सुखाना, सिंचाई करनेवाली नहरों का निर्माण करना, ऐसे ही अन्य प्रमुख पगों का उठाया जाना अधिकाधिक असम्भव होता जाता है जबकि काश्त की **अनुत्पादक लागत** भी उसी अनुपात से बढ़ती जाती है जिस अनुपात से स्वयं उत्पादन के उस साधन का बंटवारा बढ़ता जाता है। यह सब छोटी जोत के मालिक के पास पूंजी होने या न होने के बावजूद होता है। परन्तु बंटवारा जितना ज्यादा बढ़ता जाता है, दयनीय औज़ारों के साथ ज़मीन का छोटा टुकड़ा छोटी जोत वाले किसान की कुल पूंजी बनता जाता है, ज़मीन पर पूंजी-निवेश उतना ही घटता चला जाता है, कृषिविज्ञान की प्रगति का उपयोग करने के लिए किसान के पास ज़मीन, धन तथा शिक्षा का उतना ही अधिक अभाव होता जाता है तथा ज़मीन पर काश्त का उतना ही ह्रास होता चला जाता है। अन्ततः **शुद्ध आय** उसी अनुपात से घटती चली जाती है जिस अनुपात से **कुल खपत** बढ़ती जाती है, जिस अनुपात से किसान के पूरे परिवार को उसकी जोत के ज़रिये दूसरे कामधंधों से दूर रखा जाता है, जिसके सहारे तिस पर भी उसे गुज़ारा नहीं करने दिया जाता।

अतएव जिस मात्रा में आबादी और उसके साथ भूमि का बंटवारा बढ़ता है,

उसी मात्रा में **उत्पादन का औज़ार — खेत — महंगा होता जाता है, उसकी उर्वरता** घटती जाती है, **कृषि का ह्रास होता जाता है तथा किसान के सिर पर क़र्ज़ का बोझ लदता जाता है।** और जो वस्तु परिणाम थी, वह अपनी बारी में कारण बन जाती है। हर पीढ़ी अपनी अगली पीढ़ी पर और ज़्यादा क़र्ज़ लाद जाती है; हर नयी पीढ़ी और अधिक प्रतिकूल, अधिक तीक्ष्ण परिस्थितियों के अन्तर्गत काम शुरू करती है; एक बन्धक-ऋण दूसरे बन्धक-ऋण को जन्म देता है, और जब किसान के लिए **नये क़र्ज़** हासिल करने के वास्ते अपनी छोटी जोत रेहन रखना सम्भव नहीं रह जाता, यानी फिर से बन्धक रखना सम्भव नहीं होता, वह सीधे **सूदख़ोरों** के चंगुल में फंस जाता है और **सूद की दरें** हद से ज़्यादा बढ़ जाती हैं।

तो हुआ यह कि फ़्रांसीसी किसान ज़मीन को **बन्धक** रखने के बदले दिये जानेवाले **सूद** के रूप में, और **बन्धक के बिना सूदख़ोर से लिये गये** उधार के बदले दिये जानेवाले सूद के रूप में ज़मीन का लगान ही नहीं, औद्योगिक मुनाफ़ा ही नहीं, संक्षेप में **पूरा का पूरा मुनाफ़ा** ही नहीं बल्कि **मजूरी का एक हिस्सा** तक पूंजीपति को सौंप देता है, और इसलिए वह **आयरिश पट्टेदार किसान** के स्तर पर जा पहुंचता है, और यह सब **निजी स्वामी** होने का स्वांग रचते हुए।

इस प्रक्रिया को फ़्रांस में निरन्तर बढ़ते हुए **करों के बोझ** ने, **अदालती ख़र्चों** ने तेज़ किया, इन अदालती ख़र्चों के कारण थे — अंशतः सीधे-सीधे स्वयं वे औपचारिकताएं जिनसे फ़्रांसीसी क़ानून भूमि के स्वामित्व को जकड़ता है, अंशतः सब जगह कहीं एक-दूसरे से लगनेवाले तथा कहीं एक-दूसरे के बीच से गुज़रनेवाले खण्डित खेतों को लेकर होनेवाले अनगिनत कलह और अंशतः किसानों की मुक़दमेबाज़ी जिनका सम्पत्ति का सुख अपनी काल्पनिक सम्पत्ति, अपने **सम्पत्ति-अधिकारों** की उन्माद भरे ढंग से रक्षा करने तक सीमित होता है।

१८४० के आंकड़ों से सम्बन्धित एक बयान के अनुसार फ़्रांसीसी कृषि के कुल उत्पादन का मूल्य ५,२३,७१,७८,००० फ़्रांक था। इसमें काश्त पर लागत ३,५५,२०,००,००० फ़्रांक थी, जिसमें काश्तकारों की खपत भी शामिल थी। इस तरह १,६८,५१,७८,००० फ़्रांक की शुद्ध उपज बची जिसमें से बन्धकों पर ब्याज के लिए ५५,००,००,००० फ़्रांक, विधि-अधिकारियों के लिए १०,००,००,०००, करों के लिए ३५,००,००,०००, रजिस्ट्रेशन-धन, स्टाम्प-कर, बन्धक-शुल्क आदि के लिए १०,७०,००,००० काटना होगा। इस तरह शुद्ध उपज का एक-तिहाई बचता है यानी ५३,८०,००,००० फ़्रांक की रक़म रह जाती है; इसे यदि पूरी आबादी में बांट दिया जाये तो प्रति व्यक्ति के हिस्से में शुद्ध आय २५ फ़्रांक के हिसाब से

भी नहीं आती।[143] इस हिसाब में न तो बन्धकों से बाहर की सूद की रकमों और न वकीलों की फ़ीस आदि को शामिल किया गया है।

जनतंत्र ने जब फ़्रांसीसी किसानों के सिर पर पुराने बोझ के साथ नये बोझ भी लाद दिये तो उनकी क्या हालत हुई होगी, इसे आसानी से समझा जा सकता है। यह देखा जा सकता है कि उनका शोषण औद्योगिक सर्वहारा से केवल **स्वरूप में** ही भिन्न है। शोषक वही है यानी **पूंजी**। निजी तौर पर पूंजीपति **बन्धकों और सूदखोरी** के ज़रिये किसानों का शोषण करते हैं; पूंजीपति वर्ग **राजकीय करों** के ज़रिये कृषक वर्ग का शोषण करता है। सम्पत्ति पर किसान का हक़ वह तावीज़ है जिसके ज़रिये पूंजी ने अब तक उस पर अपना जादू कर रखा था, वह बहाना था जिससे वह उसे औद्योगिक सर्वहारा के ख़िलाफ़ खड़ा किया करती थी। केवल पूंजी का पतन ही किसान को ऊपर उठा सकता है; केवल पूंजीवाद-विरोधी, सर्वहारा सरकार ही उसकी आर्थिक मुफ़लिसी, उसके सामाजिक अधोपतन का अन्त कर सकती है। **संवैधानिक जनतंत्र** उसके संयुक्त शोषकों का अधिनायकत्व है; **सामाजिक-जनवादी, लाल** जनतंत्र उसके साथियों का अधिनायकत्व है। पलड़ा उन मतों के हिसाब से ऊपर उठता या नीचे झुकता है जिन्हें किसान मतदान पेटियों में डालता है। उसे अपने भाग्य का फ़ैसला स्वयं करना है।— ऐसी बात कही समाजवादियों ने सब तरह की पुस्तिकाओं, लेख-संग्रहों, कलैंडरों तथा पर्चों में। यह बात अमन की पार्टी के जवाबी लेखों ने उसके लिए और सुबोध बना दी; वह भी उसकी ओर मुड़ी और उसने समाजवादियों के इरादों तथा विचारों को अशिष्टतापूर्वक अतिशयोक्ति के साथ तोड़ते-मरोड़ते हुए सच्चा कृषक स्वर पकड़ा और वर्जित फल* तोड़ने की किसान की लालसा को उद्दीप्त किया। परन्तु ज्यादा सुबोध थी उस वास्तविक अनुभव की भाषा जो कृषक वर्ग ने मताधिकार के उपयोग से सीखी थी, वह मोह-भंग था, जो क्रान्तिकारी गति के साथ उस पर एक के बाद दूसरा प्रहार करता था। **क्रान्तियां इतिहास के इंजन हुआ करती हैं।**

किसानों का धीरे-धीरे क्रान्तिकरण विविध लक्षणों के ज़रिए अभिव्यक्त हो रहा था। वह विधान सभा के चुनाव में अपने को प्रकट कर चुका था; लियों की सीमा से लगनेवाले पांच प्रांतों की घेरेबन्दी की स्थिति में भी वह प्रकट हो चुका था; वह १३ जून के कुछ महीने बाद जिरोंद प्रांत द्वारा Chambre

---

*आदम और हौवा को जो फल तोड़ने से मना किया गया था।—अनु०

introuvable* के भूतपूर्व अध्यक्ष की जगह पर्वत दल के एक सदस्य के चुनाव में प्रकट हो चुका था; वह २० दिसम्बर १८४९ को du Gard[144] प्रांत में—जो लेजिटिमिस्टों की स्वर्गभूमि था, वह क्षेत्र था जहां १७९४ तथा १७९५ में जनतंत्रवादियों पर सबसे ख़ौफ़नाक अत्याचार हुआ था, जो १८१५ में terreur blanche** का केन्द्र था, जहां उदारपंथियों तथा प्रोटेस्टेंटों का खुलेआम कत्ल हुआ था—एक मृत लेजिटिमिस्ट सदस्य के स्थान पर एक लाल प्रतिनिधि के चुनाव में प्रकट हुआ। सबसे अधिक गतिहीन वर्ग का यह क्रान्तिकरण शराब पर कर फिर से चालू होने के बाद सबसे अधिक स्पष्ट हो जाता है। १८५० के जनवरी तथा फ़रवरी महीनों के सरकारी पग और क़ानून विशिष्ट रूप से **प्रांतों** और **किसानों** के विरुद्ध लक्षित हैं। उनकी प्रगति का यह सबसे ज्वलन्त प्रमाण है।

ओपूल का परिपत्र, जिसके ज़रिए पुलिसमैन प्रीफ़ेक्ट, उपप्रीफ़ेक्ट, और सर्वोपरि मेयर के विरुद्ध अन्वेषणाधिकारी नियुक्त किया गया था, और जिसके ज़रिए सबसे दूर-दराज की देहाती बस्ती के अज्ञात कोनों तक में जासूसी का जाल संगठित किया गया था; **स्कूली अध्यापकों के ख़िलाफ़ क़ानून**, जिसके ज़रिए उन्हें—कृषक वर्ग के सिद्धान्तकारों, प्रवक्ताओं, शिक्षकों तथा परामर्शदाताओं को—प्रीफ़ेक्ट की मनमानी सत्ता के अधीन कर दिया गया था, जिसके ज़रिए उन्हें—विद्वत् वर्ग के सर्वहाराओं को—आखेटयोग्य वन्य पशुओं की तरह एक जगह से दूसरी जगह भगाया जाता रहा; **मेयरों के विरुद्ध विधेयक**, जिसके ज़रिए बर्ख़ास्तगी की नंगी तलवार धागे से बांध कर उनके सिर के ऊपर लटका दी गयी और उन्हें—कृषक बस्तियों के अध्यक्षों को—हर क्षण जनतंत्र के राष्ट्रपति और अमन की पार्टी से भिड़ाया जाता रहा; **अध्यादेश** जिसने फ़्रांस के १७ फ़ौजी जिलों को चार पाशालिकों[145] में बदल दिया और बैरकों तथा सफ़री तम्बुओं को फ़्रांसीसियों पर उनके राष्ट्रीय दीवानख़ाने के रूप में थोप दिया; **शिक्षा क़ानून**, जिसके ज़रिए अमन की पार्टी ने फ़्रांस की अज्ञानता तथा जब्रन पैदा की गयी जड़ता को सार्वजनिक मताधिकार की शासन-प्रणाली के अन्तर्गत

---

*इतिहास ने यह नाम उस मतान्ध चरम राजतंत्रवादी और प्रतिक्रियावादी प्रतिनिधि सदन को दिया है जो १८१५ में नेपोलियन का तख़्ता दूसरी बार उलटे जाने के फ़ौरन बाद चुना गया था। (**१८९५ के संस्करण में एंगेल्स की टिप्पणी।**)

**श्वेत आतंक।—सं०

उसके जीवन की अवस्था घोषित कर दी — ये सब क़ानून तथा पग क्या थे? प्रांतों तथा प्रांतों के किसानों को फिर से अमन की पार्टी के पक्ष में लाने के लिए हाथ-पांव पटकने की कारवाइयां।

दमन के रूप में वे दयनीय तरीक़े थे जो निशाने पर नहीं बैठ रहे थे। शराब पर कर, ४५ सांतीम कर बरक़रार रखने, अरब की राशि वापस करने की किसानों की याचिकाएं तिरस्कारपूर्वक अस्वीकृत करने आदि जैसे संजीदा पगों ने, इन सारी विधायी बिजलियों ने कृषक वर्ग पर केन्द्र से, थोक भाव, एकबारगी चोट की ; इन क़ानूनों तथा पगों ने प्रहार तथा प्रतिरोध को **आम** स्वरूप दिया, हर झोंपड़ी में चर्चा का मुख्य विषय बना दिया ; उन्होंने हर गांव को क्रांति का टीका लगा दिया ; उन्होंने **क्रान्ति को जगह-जगह पहुंचाया और उसका "किसानीकरण" किया।**

दूसरी ओर, क्या बोनापार्त के ये प्रस्ताव तथा राष्ट्रीय सभा द्वारा उनका स्वीकरण यह सिद्ध नहीं करते कि जहां तक अराजकता के, यानी पूंजीवादी अधिनायकत्व के ख़िलाफ़ उठ खड़े होनेवाले तमाम वर्गों के दमन का सवाल है, संवैधानिक जनतंत्र की इन दो शक्तियों में एकता है? क्या **सूलूक** ने विधान सभा को अमन के प्रति अपनी निष्ठा का आश्वासन अपने अशिष्ट सन्देश[146] के तुरन्त बाद **कार्लिये** द्वारा, उस व्यक्ति द्वारा दिये गये सन्देश[147] के ज़रिए नहीं दे दिया था जो फ़ुशे का वैसा ही गन्दा, बाज़ारू कार्टून था जैसा लूई बोनापार्त स्वयं नेपोलियन का घटिया कार्टून था?

शिक्षा क़ानून हमें बूढ़े वाल्तेयरियनों के साथ नौजवान कैथोलिकों की संघबद्धता प्रदर्शित करता है। ऐक्यबद्ध पूंजीपति वर्ग का राज क्या जेसुइट पोषक पुन:स्थापन तथा स्वतंत्र-चिन्तक होने का स्वांग रचनेवाले जुलाई राजतंत्र की संघबद्ध निरंकुशता के अलावा कुछ और हो सकता था? प्रभुत्व हासिल करने के लिए परस्पर संघर्ष के दौरान एक पूंजीवादी धड़े द्वारा दूसरे धड़े के विरुद्ध जनता के बीच बांटे गये हथियारों को उसके हाथों से, जनता के हाथों से वापस नहीं लिया जाना चाहिए था जब वह उनके संयुक्त अधिनायकत्व के विरुद्ध खड़ी हो गई? पेरिस के दुकानदार को concordats à l'amiable के अस्वीकरण तक ने इतना उत्तेजित नहीं किया था जितना उसे **जेसुइटिज़्म** के साथ इस नख़रेबाज़ी ने किया था।

इस बीच अमन की पार्टी के भिन्न-भिन्न धड़ों के मध्य, साथ ही राष्ट्रीय सभा तथा बोनापार्त के मध्य टक्करें जारी रहीं। राष्ट्रीय सभा ने यह क़तई पसन्द

नहीं किया कि बोनापार्त ने अपने coup d'état के फ़ौरन बाद अपना मंत्रिमण्डल, बोनापार्तवादी मंत्रिमण्डल नियुक्त करने के बाद राजतंत्र के अपंगों को, नवनियुक्त प्रीफ़ेक्टों को अपने सामने पेश होने के लिए कहा और अपने पदों पर बरक़रार रहने के लिए यह शर्त रखी कि वे उसके पुनर्निर्वाचन के लिए अवैधानिक आन्दोलन करें; उसे यह बात क़तई पसन्द नहीं थी कि कार्लिये ने एक लेजिटिमिस्ट क्लब बन्दकर अपनी नियुक्ति मनायी; उसे यह बात क़तई पसन्द नहीं थी कि बोनापार्त ने अपना अख़बार, «*Le Napoléon*»[148] चालू किया, जिसने राष्ट्रपति की गुप्त अभिलाषा को जनता के सामने प्रकट कर दिया जबकि उसके मंत्रियों को विधान सभा के मंच से इसका खण्डन करना पड़ा; विधान सभा को यह बात क़तई पसन्द नहीं थी कि उसके अनेक अविश्वास-प्रस्तावों के बावजूद अवज्ञापूर्ण ढंग से मंत्रिमण्डल को बनाये रखा गया; उसे यह बात क़तई पसन्द नहीं थी कि ग़ैरकमीशनयाफ़्ता अफ़सरों को चार सू प्रतिदिन का अतिरिक्त वेतन देकर अपनी ओर करने और एजेन सू की कृति 'पेरिस के रहस्य' से साहित्यिक चोरी कर, उधार देनेवाले "सम्मान-बैंक" स्थापित करके सर्वहारा को अपनी ओर करने की कोशिश की गयी; अन्ततः उसे वह निर्लज्जता भी क़तई पसंद नहीं थी जो जून के बाक़ी बचे विप्लवियों को अल्जीयर्स निर्वासित करने के लिये मंत्रियों को विवश करने के वास्ते अपनायी गयी ताकि विधान सभा पर अलोकप्रियता en gros* थोपी जा सके, जबकि व्यक्तिगत रूप से लोगों को माफ़ी देकर राष्ट्रपति ने अपने लिए en détail** लोकप्रियता सुरक्षित रखी। **थियेर** ने coup d'état और coups de tête*** के बारे में धमकी भरे शब्दों का उच्चारण किया जबकि विधान सभा ने बोनापार्त द्वारा अपने लाभ के लिए प्रस्तुत हर विधेयक को ठुकरा कर तथा ऊंचे स्वर में अविश्वास जताते हुए बोनापार्त द्वारा समान हितार्थ प्रस्तुत प्रत्येक प्रस्ताव की यह जांच कर अपना बदला लिया, कि क्या बोनापार्त कार्यकारी सत्ता बढ़ाकर अपनी निजी शक्ति बढ़ाने के लिए तो इच्छुक नहीं है। संक्षेप में उसने **घृणा के षड्यंत्र द्वारा बदला लिया**।

---

* थोक रूप में। – सं०

** खुदरा रूप में। – सं०

*** शब्दश्लेष है: coup d'état – सत्ता परिवर्तन, coups de tête – उतावली हरकतें। – सं०

लेजिटिमिस्ट पार्टी को यह देखकर खीझ हुई कि अधिक चालाक आर्लियानिस्ट फिर से प्रायः तमाम पदों पर आसीन हैं और **केन्द्रीयकरण** बढ़ रहा है जबकि वह अपना निस्तार मुख्यतया **विकेन्द्रीयकरण** में ढूंढ़ रही थी। और सचमुच यही हुआ। प्रतिक्रान्ति ने **जबरन केन्द्रीयकरण किया** यानी उसने क्रान्ति का कार्ययंत्र तैयार किया। उसने बैंक नोटों के अनिवार्य भाव के ज़रिए फ़्रांस के सोने और चांदी को पेरिस बैंक में केन्द्रित कर दिया और इस तरह क्रान्ति के **तैयारशुदा युद्ध ख़जाने** का निर्माण कर डाला।

अन्ततः आर्लियानिस्टों को यह देखकर खीझ हुई कि फिर से उभरनेवाले वैधता के सिद्धान्त को उनके राजवंश की वर्णसंकरता के सिद्धांत के मुक़ाबले में खड़ा किया जा रहा है और उन्हें हर मौक़े पर अपमानित किया जा रहा है तथा उनके साथ दुर्व्यवहार किया जा रहा है ठीक उसी तरह जिस तरह कोई रईस अपनी पत्नी को पूंजीवादी सन्तान मानकर उसका अपमान करता है।

शनैः शनैः हमने यह स्पष्ट किया कि किस तरह किसान, निम्नपूंजीपति, साधारणतया मध्य वर्ग सर्वहारा वर्ग की ओर झुक गये और औपचारिक जनतंत्र के खुले विरोधी बन गये, जो उनके साथ विरोधियों की तरह का व्यवहार करने लगा। **पूंजीवादी अधिनायकत्व के विरुद्ध रोष, समाज को बदलने की आवश्यकता, अपने आन्दोलन के निकायों के रूप में जनवादी-जनतंत्रवादी संस्थानों को बरक़रार रखना, निर्णायक क्रान्तिकारी शक्ति के रूप में सर्वहारा वर्ग के इर्द-गिर्द जमा होना**— ये हैं **तथाकथित सामाजिक-जनवादी पार्टी** के, **लाल जनतंत्र पार्टी** के आम चारित्रिक गुण। यह **"अराजकता की पार्टी"**—जैसा कि उसके विरोधियों ने उसे नाम दिया है—विभिन्न हितों का उतना ही मिला-जुला संगठन है जितना कि **अमन की पार्टी** है। पुरानी सामाजिक व्यवस्था के छोटे से छोटे सुधार से लेकर पुरानी सामाजिक व्यवस्था को उलटने, पूंजीवादी उदारतावाद से लेकर क्रान्तिकारी आतंकवाद तक—ये एक दूसरे से सर्वथा दूर वे दो छोर हैं जो "अराजकता की पार्टी" का प्रस्थान-बिन्दु तथा अन्तिम बिन्दु बनते हैं।

संरक्षण-शुल्क का उन्मूलन—समाजवाद है! क्योंकि वह अमन की पार्टी के **औद्योगिक** धड़े पर चोट करता है। राजकीय बजट का नियामन—समाजवाद है! क्योंकि वह अमन की पार्टी के **वित्तीय** धड़े पर चोट करता है। विदेशों से मांस तथा अनाज का मुक्त रूप से आयात—समाजवाद है! क्योंकि वह अमन की पार्टी के तीसरे धड़े की इजारेदारी पर, **बड़े भू-स्वामियों** पर चोट करता है। मुक्त व्यापार का पक्ष-पोषण करनेवाली पार्टी की यानी अंग्रेज़ों की सबसे अग्रणी

पूंजीवादी पार्टी की मांगें फ़्रांस में समाजवादी मांगें मानी जाती हैं। वाल्तेयरवाद समाजवाद है! क्योंकि वह अमन की पार्टी के चौथे धड़े पर, **कैथोलिकों** पर चोट करता है। अख़बारों की स्वच्छन्दता, संघबद्ध होने का अधिकार, सार्वजनिक शिक्षा – समाजवाद है, समाजवाद है! वे अमन की पार्टी की आम इजारेदारी पर चोट करते हैं!

क्रान्ति की अग्रगति ने हालात को इतनी तेज़ी से परिपक्व बना दिया कि सुधार के मित्रों को, अपने सबसे मामूली दावों के साथ मध्यम वर्गों को क्रान्ति की सबसे उग्र पार्टी के झंडे के नीचे, **लाल झंडे** के नीचे एकजुट होने के लिए विवश होना पड़ा।

"अराजकता की पार्टी" के विभिन्न भागों के **समाजवाद** में किसी वर्ग की अथवा वर्ग के किसी धड़े की आर्थिक परिस्थितियों तथा उनमें से जन्म लेनेवाली आम क्रान्तिकारी आवश्यकताओं को देखते हुए कितना ही अन्तर क्यों न हो, **एक** बात में उसमें पूर्ण सामंजस्य है – वह अपने को **सर्वहारा की मुक्ति का माध्यम** तथा उसकी मुक्ति को अपना **ध्येय** घोषित करता है। कुछ द्वारा जान-बूझकर धोखा दिया जाना; दूसरों द्वारा अपने को धोखा दिया जाना, जो यह मानते हैं कि उनकी आवश्यकताओं के अनुसार रूपान्तरित संसार सबके लिए सर्वोत्तम संसार है, वह समस्त क्रान्तिकारी दावों की पूर्ति तथा समस्त क्रान्तिकारी टकरावों के उन्मूलन का साकार रूप है।

"अराजकता की पार्टी" के **आम** समाजवादी वाक्यों के पीछे, जो किसी हद तक एक जैसे लगते हैं, *«National»*, *«Presse»* और *«Siècle»* अख़बारों का **समाजवाद** छुपा हुआ है, जो न्यूनाधिक सुसंगतता के साथ वित्तीय अभिजाततंत्र के राज का तख़्ता उलटना और उद्योग तथा व्यापार को उनकी मौजूदा बेड़ियों से छुड़ाना चाहता है। यह उद्योग का, व्यापार का तथा कृषि का समाजवाद है, अमन की पार्टी में उनके मालिक इनके हितों की बलि दे देते हैं क्योंकि वे उनकी निजी इजारेदारियों से अब मेल नहीं खाते। समाजवाद विशेष, **निम्नपूंजीवादी समाजवाद**, समाजवाद par excellence* इस **पूंजीवादी समाजवाद** से भिन्न है, जो समाजवाद की हर दूसरी क़िस्म की तरह मज़दूरों तथा निम्नपूंजीपतियों का एक हिस्सा स्वभावतया आकर्षित करता है। पूंजी इस वर्ग का **ऋणदाता** के रूप में पीछा करता है, इसलिए यह वर्ग **साख संस्थानों**

---

*शब्द के वास्तविक अर्थ में। – सं०

की मांग करता है; पूंजी उसे **प्रतियोगिता** से कुचल डालती है, इसलिए वह राज्य द्वारा समर्थित **असोसियेशनों** की मांग करता है; पूंजी **संकेन्द्रण** की मदद से उसे जीत लेती है, इसलिए वह **वर्द्धमान करों** की, उत्तराधिकार सीमित किये जाने की, बड़ी-बड़ी निर्माण-परियोजनाएं राज्य द्वारा पूरी किये जाने की तथा ऐसे अन्य पग उठाये जाने की मांग करता है जो **पूंजी की वृद्धि को जबर्दस्ती रोकें।** चूंकि वह अपने समाजवाद को शान्तिपूर्ण ढंग से उपलब्ध करने का सपना देखता है – शायद वह एक द्वितीय फ़रवरी क्रान्ति की भी इजाज़त दे दे जो एकाध दिन चले – तो समीप आनेवाली ऐतिहासिक प्रक्रिया उसे स्वभावतया उन **प्रणालियों का कार्यान्वयन** लगती है जिन्हें समाज के चिन्तक – चाहे मिलकर, चाहे निजी तौर पर तैयार करते हैं या तैयार कर चुके हैं। इस तरह वे समाजवादी सारसंग्रहवादी अथवा विद्यमान समाजवादी **प्रणालियों** के, उस **जड़सूत्रवादी समाजवाद** के समर्थक बन जाते हैं जो केवल तभी तक सर्वहारा वर्ग की सैद्धान्तिक अभिव्यक्ति था जब तक उसने और आगे विकसित होकर स्वयं एक मुक्त ऐतिहासिक आन्दोलन का रूप ग्रहण नहीं किया।

यह **काल्पनिक**, यह **जड़सूत्रवादी समाजवाद**, जो कुल आन्दोलन को अपने एक पहलू के अधीन कर देता है, जो सार्वजनिक सामाजिक उत्पादन की जगह पृथक-पृथक पंडितों के कार्यकलाप को बिठाता है और जो सर्वोपरि अपनी कल्पना की उड़ान में छोटे बाज़ीगरों की हाथ की सफ़ाई से या बहुत बड़ी भावुकता के ज़रिए वर्गों के क्रान्तिकारी संघर्षों और उनकी आवश्यकताओं को मिटा देता है, यह जड़सूत्रवादी समाजवाद दरअसल केवल वर्तमान समाज को आदर्शमूलक मानता है, उसकी तसवीर उसकी परछाइयों के बिना खींचता है, और वर्तमान समाज के यथार्थ की अवहेलना करते हुए अपना आदर्श हासिल करना चाहता है। जहां सर्वहारा यह समाजवाद निम्नपूंजीपति वर्ग को सौंप देता है, जहां भिन्न-भिन्न समाजवादी नेताओं का आपस में संघर्ष यह स्पष्ट करता है कि तथाकथित प्रणालियों में से हर एक सामाजिक क्रांति के एक संक्रमण-बिन्दु का दूसरों के विरुद्ध पक्षपातपूर्ण समर्थन है, वहां **सर्वहारा वर्ग क्रान्तिकारी समाजवाद** के, **कम्युनिज़्म** के, जिसे पूंजीपति वर्ग ने स्वयं **ब्लांकी** का नाम दिया है, झंडे के नीचे अधिकाधिक गोलबन्द हो जाता है। यह समाजवाद **स्थायी क्रांति की उद्घोषणा** है, **साधारण रूप में वर्ग-विभेदों के उन्मूलन** में, उत्पादन के उन सारे सम्बन्धों के, जिन पर वे आधारित हैं, उन्मूलन में, उत्पादन के इन सम्बन्धों से मेल खानेवाले सारे सामाजिक सम्बन्धों के उन्मूलन में, इन सामाजिक सम्बन्धों

से पैदा होनेवाले तमाम विचारों के क्रान्तिकरण में संक्रमण के आवश्यक बिन्दु के रूप में सर्वहारा का **वर्ग अधिनायकत्व** है।

हमारे वृत्तान्त का स्वरूप इस प्रश्न पर और प्रकाश डालने की इजाज़त नहीं देता।

हम देख चुके हैं कि जिस तरह **अमन** की पार्टी में **वित्तीय अभिजात वर्ग** ने अनिवार्यतः नेतृत्व सम्भाला, उसी तरह "**अराजकता** की पार्टी" में **सर्वहारा वर्ग** ने नेतृत्व सम्भाला। जहां एक क्रान्तिकारी संस्था में ऐक्यबद्ध विभिन्न वर्ग सर्वहारा के इर्द-गिर्द जमा होते गये, जहां प्रांत निरन्तर अधिकाधिक असुरक्षित होते चले गये तथा स्वयं विधान सभा फ़्रांसीसी सूलूक* के दावों के बारे में अधिकाधिक चिड़चिड़ी होती गयी, वहां १३ जून के बाद ग़ैरक़ानूनी घोषित पर्वत दल के प्रतिनिधियों के ख़ाली स्थानों के लिए लम्बे अर्से से स्थगित तथा विलम्बित उपचुनाव समीप आये।

अपने शत्रुओं द्वारा तिरस्कृत, अपने कथित मित्रों से नित्यप्रति बुरा बर्ताव पानेवाली तथा अपमानित सरकार ने अपनी इस घृणित और अस्थिर स्थिति से बाहर निकलने का **एक ही** रास्ता देखा – वह था **विद्रोह**। पेरिस में विद्रोह से पेरिस और प्रांतों की घेरेबन्दी की जा सकती थी तथा इस तरह चुनावों को नियंत्रित किया जा सकता था। दूसरी ओर अमन के दोस्तों को – बशर्ते वे स्वयं अराजकतावादी नहीं दिखायी देना चाहते थे – बाध्य होकर अराजकता पर विजय पानेवाली सरकार को रियायतें देनी पड़तीं।

सरकार काम में जुट गयी। फ़रवरी १८५० के आरम्भ में मुक्ति-वृक्ष[149] **काटकर जनता** को उत्तेजित करने का प्रयास किया गया। यह बेकार गया। यदि मुक्ति-वृक्षों ने अपना स्थान खोया तो स्वयं सरकार अपना सिर खो बैठी और स्वयं अपनी उत्तेजनात्मक कार्रवाई से भयभीत होकर पीछे हट गयी। परन्तु राष्ट्रीय सभा ने बोनापार्त की ओर से मुक्ति की इस भोंडी कोशिश को आवेगरहित अविश्वास के साथ देखा। जुलाई स्मारक-स्तम्भ से सदाबहार फूलों की मालाएं[150] हटाना भी विफल रहा। उसने सेना के एक भाग को क्रान्तिकारी प्रदर्शन करने का सुयोग दिया तथा राष्ट्रीय सभा को मंत्रिमण्डल के प्रति अविश्वास का न्यूनाधिक प्रच्छन्न प्रस्ताव रखने का मौक़ा दिया। सार्वजनिक मताधिकार ख़त्म करने की तथा कज़्ज़ाकों के हमले की सरकारी अख़बारों की धमकी भी

---

* नेपोलियन तृतीय। – सं०

बेकार गयी। ग्रोपूल द्वारा विधान सभा के अन्दर वामपक्ष को बाहर सड़कों पर निकलने की सीधी चुनौती तथा यह घोषणा भी बेकार गयी कि सरकार उसका "सत्कार" करने के लिए तैयार है। ग्रोपूल को कुछ नहीं मिला सिवाय अध्यक्ष द्वारा व्यवस्था बनाये रखने के आदेश के। और अमन की पार्टी ने मौन भाव से और कुत्सापूर्ण उल्लास के साथ वामपक्ष के एक सदस्य को बोनापार्त की सत्ता हड़पने की अभिलाषाओं का मखौल उड़ाने दिया। **२४ फ़रवरी** को क्रान्ति की भविष्यवाणी भी अन्ततः बेकार गयी। सरकार ने सिर्फ़ यह हासिल किया कि जनता ने २४ फ़रवरी की उपेक्षा कर दी।

सर्वहारा वर्ग ने **विद्रोह** करने के लिए अपने को उत्तेजित नहीं होने दिया क्योंकि वह **क्रान्ति** करने ही वाला था।

सरकार के उकसावों की, जिन्होंने मौजूदा स्थिति के प्रति आम क्षोभ को केवल उग्र ही बनाया, परवाह न करते हुए चुनाव समिति ने, जो पूरी तरह मजदूरों के प्रभाव में थी, पेरिस के लिए तीन उम्मीदवार पेश किये—**देफ़्लोत**, **वीदाल** और **कार्नो**। **देफ़्लोत** जून में निर्वासित होनेवालों में से था और उन लोगों में से था जिन्हें लोकप्रियता हासिल करने की बोनापार्त की एक युक्ति के कारण क्षमादान मिला था; वह ब्लांकी का दोस्त था और उसने १५ मई के प्रदर्शन में भाग लिया था। **वीदाल** 'सम्पदा के वितरण के सम्बन्ध में' नामक अपनी पुस्तक के कारण कम्युनिस्ट लेखक के रूप में जाना जाता था, वह लुक्ज़ेम्बर्ग आयोग में लूई ब्लां का सचिव रह चुका था। **कार्नो** कन्वेंशन के उस आदमी का बेटा था जिसने विजय संगठित की थी। वह «*National*» पार्टी में सबसे कम बदनाम व्यक्ति था, अस्थायी सरकार और कार्यकारी आयोग में शिक्षा मंत्री रह चुका था, वह अपने जनवादी सार्वजनिक शिक्षा विधेयक के माध्यम से जेसुइटों के शिक्षा क़ानून के विरोध का मूर्त प्रतीक था। ये तीन उम्मीदवार तीन संघबद्ध वर्गों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे—सबसे आगे था जून का विप्लवी, क्रान्तिकारी सर्वहारा का प्रतिनिधि; उसके बाद था मताग्रही समाजवादी, समाजवादी निम्नपूंजीपति वर्ग का प्रतिनिधि; अन्ततः तीसरा था जनतंत्रीय पूंजीवादी पार्टी का प्रतिनिधि, जिसके जनवादी सूत्रों को अमन की पार्टी के मुक़ाबले में समाजवादी महत्व मिल गया था और उनका स्वयं अपना महत्व बहुत पहले ख़त्म हो चुका था। यह था **फ़रवरी माह की तरह पूंजीपति वर्ग तथा सरकार के विरुद्ध आम संयुक्त मोर्चा**। परन्तु इस बार **सर्वहारा वर्ग क्रान्तिकारी लीग के शीर्ष स्थान पर था**।

सारी कोशिशों के बावजूद समाजवादी उम्मीदवार विजयी रहे। स्वयं सेना ने अपने ही युद्ध मंत्री **लाहित्त** के विरुद्ध जून के विप्लवी को वोट दिये थे। अमन की पार्टी भौचक्की रह गयी। प्रांतों में चुनाव भी सुखद नहीं थे—उनमें पर्वत दल के सदस्यों को बहुमत मिला।

१० मार्च १८५० को चुनाव! वह जून १८४८ की मनसूखी था: जून-विप्लवियों को क़त्ल तथा निर्वासित करनेवाले लोग राष्ट्रीय सभा में लौटे थे, परन्तु वे सिर झुकाये हुए तथा निर्वासितों के सिद्धांतों को अपनी जिह्वा में लिए हुए उनके संग लौटे थे। **यह १३ जून १८४९ की मनसूखी था:** राष्ट्रीय सभा द्वारा निषिद्ध घोषित पर्वत दल राष्ट्रीय सभा में लौट आया लेकिन अब वह क्रान्ति के सेनानायकों के रूप में नहीं वरन् उसके आगे-आगे चलनेवाले बिगुलवादकों के रूप में आया था। **यह १० दिसम्बर की मनसूखी था:** नेपोलियन अपने मंत्री लाहित्त के रूप में मुंह की खा चुका था। फ्रांस के संसदीय इतिहास में केवल एक ही अवसर इसके सदृश है—१८३० में शार्ल दसवें के मंत्री ओस्से का ठुकराया जाना। अन्ततः १० मार्च १८५० का चुनाव १३ मई के उस चुनाव की मनसूखी था जिसने अमन की पार्टी को बहुमत दिया था। १० मार्च के चुनाव ने १३ मई की बहुसंख्या का विरोध किया था। १० मार्च क्रान्ति था। परचियों के पीछे खड़ंजे छिपे हुए थे।

"१० मार्च का वोट युद्ध है," सेग्यूर द'अगेस्सो, अमन की पार्टी का एक कट्टर सदस्य, चिल्लाया।

१० मार्च १८५० के साथ संवैधानिक जनतंत्र ने एक नये दौर में, **अपने विघटन के दौर** में प्रवेश किया। बहुमत के विभिन्न धड़े आपस में और बोनापार्त के साथ फिर ऐक्यबद्ध हो जाते हैं; वे फिर अमन के रक्षक बन जाते हैं; बोनापार्त फिर उनका **तटस्थ व्यक्ति** है। यदि उन्हें यह याद है कि वे राजतंत्रवादी हैं तो उसका कारण केवल पूंजीवादी जनतंत्र की सम्भावना से पैदा होनेवाली निराशा है; यदि उसे यह याद है कि वह दावेदार है तो इसका कारण केवल यह है कि राष्ट्रपति बने रहने से निराश हो चुका है।

अमन की पार्टी के आदेश पर बोनापार्त **बारोश** को, ब्लांकी और बार्बेस, लेद्रू-रोलें और गिनार के अभियोक्ता को आन्तरिक मामलों का मंत्री बनाकर **देफ्लोत** के, जून के विप्लवी के चुनाव का जवाब देता है। विधान सभा शिक्षा क़ानून मंजूर कर **कार्नो** के चुनाव का तथा समाजवादी अख़बारों को बन्दकर **वीदाल** के चुनाव का जवाब देती है। अमन की पार्टी अपने अख़बारों के बिगुल

के शोर से अपने भय को छुपाना चाहती है। उसका एक मुखपत्र कहता है, "तलवार पुनीत वस्तु है"; दूसरा चिल्लाता है, "अमन के रक्षकों को लाल पार्टी के ख़िलाफ़ धावा बोलना चाहिए"; अमन का तीसरा मुर्ग़ा बांग देता है, "समाजवाद और समाज के बीच ज़िंदगी और मौत का द्वन्द्व चल रहा है, अविराम, निर्मम युद्ध चल रहा है; इस विकट युद्ध में एक या दूसरे पक्ष को धराशायी होना पड़ेगा; यदि समाज समाजवाद को मौत के घाट नहीं उतारता तो समाजवाद समाज को मौत के घाट उतार देगा।" अमन के बैरीकेड, धर्म के बैरीकेड, परिवार के बैरीकेड खड़े कर दो! पेरिस के १,२७,००० मतदाताओं[151] को ठिकाने लगाना होगा! समाजवादियों के लिए बार्थोलोम्यू की रात!* और अमन की पार्टी को कुछ देर के लिए अपनी विजय पर यक़ीन हो जाता है।

उनके मुखपत्र सबसे ज़्यादा आग बबूला **"पेरिस के दुकानदारों"** पर हुए। पेरिस के दुकानदारों ने पेरिस के जून-विप्लवी को अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया है! इसका अर्थ यह है कि दूसरा जून १८४८ असम्भव है; इसका अर्थ यह है कि दूसरा १३ जून १८४९ असम्भव है; इसका अर्थ यह है कि पूंजी का नैतिक प्रभाव भंग हो चुका है; इसका अर्थ यह है कि पूंजीवादी सभा अब केवल पूंजीपति वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है; इसका अर्थ यह है कि बड़ी सम्पत्ति के दिन लद चुके हैं क्योंकि उसका ताबेदार – छोटी सम्पत्ति – सम्पत्तिहीनों के खेमे में अपने बचाव की तलाश कर रहा है।

अमन की पार्टी स्वभावतया अपने अवश्यम्भावी **साधारण तौर-तरीक़ों** का सहारा लेती है। वह चिल्लाती है, **"और ज़्यादा दमन हो!" "दसगुना ज़्यादा दमन हो!"** परन्तु दमन करने की उसकी ताक़त दसगुनी घट गयी है जबकि प्रतिरोध सौगुना बढ़ गया है। क्या स्वयं दमन के मुख्य साधन का, सेना का दमन नहीं किया जाना चाहिए? और अमन की पार्टी अपने अन्तिम शब्द कहती है, "दमघोटू वैधता के लोहे के घेरे को तोड़ना होगा। **संवैधानिक जनतंत्र असम्भव है।** हमें स्वयं अपने असल हथियारों से लड़ना चाहिए; फ़रवरी १८४८ से हम क्रान्ति से **उसके** हथियारों से और **उसकी** ज़मीन पर लड़ते रहे हैं; हमने **उसके** संस्थान स्वीकार कर लिये हैं; संविधान एक दुर्ग है जो घिरे हुए लोगों की नहीं वरन् घेरा डालनेवालों की रक्षा करता है! त्रोय के घोड़े के पेट में बैठकर

---

*१५७२ में इस रात फ़्रांस में प्रोटेस्टेंटों का संहार हुआ था। – सं०

हम पुनीत इलियोन में चोरी-छुपे घुस गये हैं, लेकिन हमने अपने पूर्वज ग्रेकों* की तरह शत्रु का नगर नहीं जीता बल्कि स्वयं अपने को बन्दी बना डाला है।"

परन्तु संविधान की आधारशिला **सार्वजनिक मताधिकार है। सार्वजनिक मताधिकार का नाश करो** – ये हैं अमन की पार्टी के, पूंजीवादी अधिनायकत्व के अन्तिम शब्द।

४ मई १८४८ को, २० दिसम्बर १८४८ को, १३ मई १८४९ को तथा ८ जुलाई १८४९ को सार्वजनिक मताधिकार ने अधिनायकत्व पर पूंजीपति वर्ग के अधिकार को स्वीकार किया था। १० मार्च १८५० को सार्वजनिक मताधिकार ने स्वीकार किया कि वह स्वयं ग़लत था। सार्वजनिक मताधिकार के नतीजे और परिणाम के रूप में, जनता की सार्वभौम इच्छा की स्पष्ट कार्रवाई के रूप में पूंजीवादी शासन – यह है पूंजीवादी संविधान का अर्थ। परन्तु जिस क्षण से इस मताधिकार की, इस सार्वभौम इच्छा की अन्तर्वस्तु पूंजीवादी शासन नहीं रह जाती, क्या उसके बाद संविधान का कोई अर्थ रह जाता है? क्या यह पूंजीपति वर्ग का कर्त्तव्य नहीं है कि वह मतदान इस तरह नियमित करे कि वह उसके शासन को उचित ठहराये? विद्यमान राजकीय सत्ता का समय-समय पर अन्त करते हुए और अपने से उसकी पुनर्रचना करते हुए क्या सार्वजनिक मताधिकार सारी स्थिरता ख़त्म नहीं कर देता, क्या वह हर क्षण सारी मौजूद सत्ताओं पर संदेह नहीं प्रकट करता, क्या वह सत्ता का संहार नहीं करता, क्या वह यह धमकी नहीं देता कि वह स्वयं अराजकता को ऊपर उठाकर सत्तारूढ़ कर देगा? १० मार्च १८५० के बाद कौन इस पर सन्देह करता?

जिस सार्वजनिक मताधिकार के चोगे को पूंजीपति वर्ग अब तक धारण करता रहा और जिससे वह अपनी सर्वशक्तिमत्ता प्राप्त करता रहा, उसे ठुकराकर पूंजीपति वर्ग खुलेआम घोषणा करता है, "**हमारा अधिनायकत्व अब तक जनता की इच्छा से क़ायम रहा है; उसे अब जनता की इच्छा के विरुद्ध दृढ़ बनाया जाना चाहिये।**" और वह अब अपने अवलम्ब **फ़्रांस** के अन्दर नहीं बल्कि बाहर, दूसरे देशों में, बाहर से होनेवाले **हमले** में ढूंढ़ता रहता है, जो उसके लिए उचित भी है।

हमले के साथ यह दूसरा कोब्लेंज[152], जो अपना केन्द्र फ़्रांस में स्थापित कर

---

*शब्दों का खेल। एक अर्थ "ग्रीक" है तथा दूसरा "ठग" है। (१८९५ **के संस्करण में एंगेल्स की टिप्पणी।**)

देता है, अपने विरुद्ध सारे राष्ट्रीय आवेगों को उद्दीप्त करता है। सार्वजनिक मताधिकार पर प्रहार कर वह नयी क्रान्ति के लिये एक **आम बहाना** मुहैया करता है, और क्रान्ति को ऐसे बहाने की ज़रूरत होती है। प्रत्येक **विशेष** बहाना क्रान्तिकारी लीग के धड़ों को विभक्त कर देगा और उनके मतभेदों को उभार देगा। **आम** बहाना अर्द्ध-क्रान्तिकारी वर्गों को स्तब्ध कर देता है; वह उन्हें आनेवाली क्रान्ति के **निश्चित स्वरूप** के बारे में, उनकी अपनी कार्रवाइयों के परिणामों के बारे में अपने को धोखा देने देता है। हर क्रान्ति को एक भोज-प्रश्न की ज़रूरत पड़ती है। सार्वजनिक मताधिकार नयी क्रान्ति का भोज-प्रश्न है।

परन्तु संघबद्ध पूंजीवादी धड़ों का तो पहले ही फ़ैसला हो चुका है क्योंकि वे अपनी **संयुक्त** सत्ता के एकमात्र सम्भव रूप से, अपने **वर्ग शासन** के सबसे सशक्त तथा पूर्ण रूप से, **संवैधानिक जनतंत्र** से दूर होकर, निम्नस्तरीय, अपूर्ण, अधिक निर्बल रूप – **राजतंत्र** – की ओर लौटते हैं। वे उस बूढ़े आदमी की तरह लगते हैं जो अपने जवानी के दिनों की ताक़त फिर से हासिल करने के वास्ते अपने बाल्यकाल के वस्त्रों को उठा लाया और अपने कृशकाय हो चुके शरीरांगों को उनके अन्दर घुसाने से होनेवाली पीड़ा झेलता रहा। उनके जनतंत्र का एकमात्र गुण यह था कि **यह क्रान्ति का कांचगृह था।**

१० मार्च १८५० पर ये शब्द अंकित हैं:

Après moi le déluge! मेरे बाद प्रलय भी आये तो क्या!*

४

१८५० में सार्वजनिक मताधिकार का अन्त

(तीन पूर्ववर्ती अध्यायों का अगला क्रम «*Neue Rheinische Zeitung*» के पांचवें और छठे संयुक्त अंक में "समीक्षा" स्तम्भ के अन्दर है। यह पत्रिका का अन्तिम अंक था। इसमें पहले उस ज़बर्दस्त वाणिज्यिक संकट का, जो १८४७ में इंगलैंड में आरम्भ हुआ था, वर्णन किया गया था और इस बात पर प्रकाश डाला गया था कि उसकी प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप यूरोपीय महाद्वीप में फ़रवरी और मार्च १८४८ की क्रान्तियों में कैसे राजनीतिक उलझनें पराकाष्ठा

---

* ये शब्द लूई पंद्रहवें के बताये जाते हैं। – सं०

पर पहुंचीं, उसके बाद उसमें यह दिखाया गया है कि १८४८ के दौरान और इससे भी अधिक १८४९ में व्यापार तथा उद्योग में दुबारा जो समृद्धि आयी, उसने कैसे क्रान्तिकारी उभार को अपंग बना दिया था और कैसे प्रतिक्रियावाद की विजय को सम्भव बनाया था। फ्रांस के विशेष प्रसंग में तब यह कहा गया है –)*

वही लक्षण १८४९ के बाद और ख़ास तौर पर १८५० के आरम्भ से फ्रांस में प्रकट हुए। पेरिस के उद्योग पूरी तरह काम कर रहे हैं और रूआं तथा म्यूलखाजन की सूती कपड़े की फ़ैक्टरियों में भी अच्छा काम चल रहा है हालांकि इंगलैंड की तरह यहां भी कच्चे माल के ऊंचे दामों का अवरुद्धकारी प्रभाव पड़ा है। फ़्रांस में समृद्धि की वृद्धि को स्पेन में सीमा-शुल्क में व्यापक सुधार तथा मैक्सिको में विभिन्न विलास-सामग्री पर शुल्कों की कमी ने ख़ास तौर पर बढ़ावा दिया था; दोनों मंडियों को फ़्रांसीसी माल का निर्यात बहुत बढ़ गया। फ़्रांस में पूंजी की वृद्धि ने एक के बाद दूसरी सट्टेबाज़ी को जन्म दिया जिसके लिए कैलिफ़ोर्निया में सोने की ख़ानों की बड़े पैमाने पर खुदाई अच्छा कारण बन गयी। बेशुमार कम्पनियां प्रकट हो गयीं, उनके शेयरों के कम दाम और समाजवादी रंग में रंगे प्रोस्पेक्टस निम्नपूंजीपतियों और मजदूरों को सीधे लुभाने लगते हैं, परन्तु वे सब के सब उस सरासर घोटालेबाज़ी को जन्म देते हैं जो केवल फ़्रांसीसी और चीनी की चारित्रिक विशेषता है। इनमें से एक कम्पनी को तो सीधे सरकार प्रश्रय देती है। १८४८ के प्रथम नौ माहों में फ़्रांस में आयात-शुल्क ६,३०,००,००० फ़्रांक, १८४९ के नौ माहों में ९,५०,००,००० फ़्रांक तथा १८५० के नौ माहों में ९,३०,००,००० फ़्रांक रहा। इसके अलावा १८५० के सितम्बर में उनमें १८४९ के उसी माह की तुलना में फिर १० लाख की वृद्धि हुई। १८४९ में निर्यात भी बढ़ा और १८५० में उसमें और वृद्धि हुई।

फिर से हासिल की गयी समृद्धि का सबसे ज्वलन्त प्रमाण है ६ अगस्त १८५० के क़ानून द्वारा बैंक से नक़द भुगतान पुनः चालू कराया जाना। १५ मार्च १८४८ को बैंक को नक़द भुगतान रोकने का अधिकार दे दिया गया था। उस समय प्रान्तीय बैंकों समेत उसके ३७,३०,००,००० फ़्रांक (१,४९,२०,००० पौंड) के नोट प्रचलित थे। २ नवम्बर १८४९ को प्रचलित नोटों की यह संख्या बढ़कर

---

*यह प्रस्तावनास्वरूप पैराग्राफ़ एंगेल्स ने १८९५ के संस्करण के लिए लिखा था। – सं०

४८,२०,००,००० फ़्रांक यानी १,६२,८०,००० पौंड तक पहुंच गयी अर्थात् ४३,६०,००० पौंड की वृद्धि हुई; २ सितम्बर १८५० को यह संख्या ४६,६०,००,००० फ़्रांक यानी १,८६,४०,००० पौंड तक पहुंच गयी अर्थात् लगभग ५०,००,००० पौंड की वृद्धि हुई। इसके साथ नोटों के मूल्य का ह्रास नहीं हुआ, इसके विपरीत नोटों के बढ़ते हुए प्रचलन के साथ बैंक की तिजोरियों में जमा होनेवाले सोना और चांदी की मात्रा में भी निरन्तर वृद्धि होती चली गयी, यह वृद्धि इतनी हुई कि १८५० के ग्रीष्म काल में उसके पास इस संचित मूल्यवान धातु की क़ीमत लगभग १,४०,००,००० पौंड थी, जो फ़्रांस के लिए अभूतपूर्व राशि थी। बैंक इस तरह अपने नोटों का प्रचलन बढ़ाने और उसके साथ ही अपनी सक्रिय पूंजी १२,३०,००,००० फ़्रांक यानी ५०,००,००० पौंड तक बढ़ाने की स्थिति में हो गया, यह तथ्य पूर्ववर्ती अंक में हमारे इस दावे* को सही सिद्ध करता है कि वित्तीय अभिजात वर्ग क्रान्ति द्वारा उलट दिया जाना तो बहुत दूर रहा, वह और भी सुदृढ़ हो गया। यह निष्कर्ष पिछले चन्द वर्षों में बैंक सम्बन्धी फ़्रांसीसी क़ानूनों के आगे दिये जा रहे सर्वेक्षण से और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। १० जून १८४७ को बैंक को २०० फ़्रांक के नोट प्रचलित करने का अधिकार दे दिया गया था; अब तक सबसे कम मूल्यवर्ग का नोट ५०० फ़्रांक का होता था। १५ मार्च १८४८ की आज्ञप्ति ने बैंक आफ़ फ़्रांस के नोटों को वैध मुद्रा घोषित किया और बैंक को नक़द अदायगी करने के दायित्व से मुक्त कर दिया। नोट जारी करने का उसका अधिकार ३५,००,००,००० फ़्रांक तक सीमित कर दिया गया। उसके साथ ही उसे १०० फ़्रांक के नोट जारी करने का अधिकार दे दिया गया। २७ अप्रैल की आज्ञप्ति ने प्रांतीय बैंकों को बैंक आफ़ फ़्रांस में विलीन होने का आदेश दिया; २ मई १८४८ की एक अन्य आज्ञप्ति ने बैंक आफ़ फ़्रांस को ४४,२०,००,००० फ़्रांक तक नोट जारी करने का अधिकार दे दिया। २२ दिसम्बर १८४९ की आज्ञप्ति ने नोट जारी करने की अधिकतम संख्या ५२,५०,००,००० फ़्रांक तक बढ़ा दी। अन्ततः ६ अगस्त १८५० के क़ानून ने नोटों की सिक्कों में परिवर्तनीयता की पुनःस्थापना कर दी। इन तथ्यों – नोट-प्रचलन में निरन्तर वृद्धि, पूरे फ़्रांसीसी साख का बैंक के हाथों में संकेन्द्रण और सारे फ़्रांसीसी सोना-चांदी के बैंक की तिजोरियों में संचय के फलस्वरूप ही श्री प्रूदों इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि बैंक को अपनी पुरानी केंचुली

---

* इस खण्ड के पृष्ठ ३३३–३३८ देखें। – सं०

बदल लेनी चाहिए और अपना कायाकल्प कर प्रूदोंवादी जन-बैंक बन जाना चाहिए। १७६७ से लेकर १८१९ तक इंगलैंड ने बैंक पर जो प्रतिबन्ध लगाया था,[153] उसका इतिहास जानने की भी प्रूदों को आवश्यकता नहीं थी; उनके लिए यह जानने के वास्ते खाड़ी के पार नज़र डाल लेना काफ़ी होता कि यह तथ्य, जो उनके लिए पूंजीवादी समाज के इतिहास में अभूतपूर्व घटना था, एक ऐसी बहुत ही सामान्य पूंजीवादी घटना के अलावा और कुछ नहीं था जो अब फ्रांस में केवल पहली बार हो रही थी। यह देखा जा सकता है कि कथित क्रान्तिकारी सिद्धान्तकार, जो अस्थायी सरकार के बाद पेरिस में बड़ी-बड़ी डींगें हांका करते थे, उठाये गये पगों के स्वरूप तथा परिणामों से उतने ही अनभिज्ञ थे जितने अनभिज्ञ स्वयं अस्थायी सरकार के सज्जन थे।

फ्रांस फ़िलहाल जिस औद्योगिक तथा वाणिज्यिक समृद्धि का उपभोग कर रहा है, उसके बावजूद आम लोग, ढाई करोड़ किसान बहुत बड़ी मन्दी से संत्रस्त हैं। पिछले चन्द वर्षों की बढ़िया फ़सलों ने अनाज की क़ीमतों को बहुत नीचे, इंगलैंड से भी नीचे रखा है; और ऐसी परिस्थितियों में क़र्ज़ से दबे किसानों की स्थिति, जिन्हें सूदख़ोर पूरी तरह चूस रहे हैं और जो करो की चक्की में पिसे जा रहे हैं, और चाहे जो भी हो, शानदार नहीं हो सकती। परन्तु पिछले तीन वर्षों के इतिहास ने इस बात का पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत किया है कि आबादी का यह वर्ग किसी भी तरह की क्रान्तिकारी पहल करने में अक्षम है।

यह सकट जिस तरह इंगलैंड की तुलना में महाद्वीप में बाद में पैदा होता है, उसी तरह समृद्धि भी वहां बाद में आती है। मूल प्रक्रिया हमेशा पहले इंगलैंड में उत्पन्न होती है, वह पूंजीवादी ब्रह्मांड का जगत्पिता है। जिस चक्र के बीच से पूंजीवादी समाज निरन्तर नये सिरे से गुज़रता रहता है महाद्वीप में उसके भिन्न चरण द्वितीय और तृतीय रूप में सामने आते हैं। पहले महाद्वीप ने इंगलैंड को किसी भी अन्य देश की तुलना में अतुलनीय रूप में अधिक निर्यात किया। परन्तु उधर यह निर्यात इंगलैंड की स्थिति पर—ख़ास तौर पर उसकी सागरपार की मंडी को देखते हुए—निर्भर करता है। फिर पूरा महाद्वीप जितना निर्यात करता है, उससे अतुलनीय रूप में कहीं अधिक इंगलैंड सागरपार के देशों को निर्यात करता है, फलस्वरूप उन देशों में किया जानेवाला महाद्वीपीय निर्यात सदैव इंगलैंड के उस समय के सागरपार के निर्यात पर निर्भर करता है। इस-लिए जहां संकट पहले महाद्वीप में क्रान्तियों को जन्म देता है, वहां उनकी नींव

वस्तुत: हमेशा इंगलड में रखी जाती है। स्वभावत: पूंजीवादी शरीर के बिल्कुल विपरीत छोरों पर – उसकी हृदय-स्थली में नहीं – उग्र विस्फोट होने चाहिए क्योंकि वहां की तुलना में हृदय में क्षतिपूर्त्ति की अधिक सम्भावना होती है। दूसरी ओर इंगलैंड पर महाद्वीपीय क्रान्तियों की प्रतिक्रिया साथ-साथ ऐसा बैरोमीटर भी है जो बताता है कि ये क्रान्तियां वस्तुत: किस हद तक जीवन की पूंजीवादी अवस्थाओं को चुनौती देती हैं या वे किस हद तक केवल उसके राजनीतिक गठनों पर चोट करती हैं।

इस आम समृद्धि के होते हुए, जिसमें पूंजीवादी समाज की उत्पादक शक्तियां पूंजीवादी सम्बन्धों के अन्तर्गत अधिकतम प्रचुरता के साथ विकसित होती हैं, वास्तविक क्रान्ति की कोई बात ही नहीं की जा सकती। ऐसी क्रान्तियां केवल उन अवधियों में ही सम्भव हो सकती हैं जिनमें **ये दोनों उपादान, आधुनिक उत्पादक शक्तियां** तथा **उत्पादन के पूंजीवादी रूप** आपस में **टकराते** हैं। अमन की महाद्वीपीय पार्टी के पृथक-पृथक धड़ों के प्रतिनिधियों के बीच जो कलह और उनके फलस्वरूप जो बेईमानियां होती हैं, उन द्वारा नयी क्रान्तियों का मौक़ा प्रस्तुत होना तो बहुत दूर रहा, वे उसके विपरीत केवल इसीलिए सम्भव होते हैं कि सम्बन्धों का आधार फ़िलहाल बहुत अधिक सुरक्षित और बहुत अधिक पूंजीवादी है, जिस बात का प्रतिक्रियावाद को पता ही नहीं है। पूंजीवादी विकास को रोकने की प्रतिक्रियावाद की सारी कोशिशें जनवादियों के सारे नैतिक आक्रोशों और सारी जोशीली घोषणाओं की ही तरह यक़ीनन इस आधार से टकरायेंगी। **नयी क्रान्ति एक नये संकट के परिणाम के रूप में ही सम्भव है। पर वह उसी प्रकार अवश्यम्भावी है, जिस प्रकार यह संकट।**

आइये, फिर फ़्रांस की ओर मुड़ें।

जनता ने निम्नपूंजीपति वर्ग के साथ १० मार्च को जो विजय हासिल की थी, उसे उसने उस समय स्वयं रद्द कर दिया जब उसने २८ अप्रैल को नये चुनाव के दरवाज़े खोल दिये। वीदाल पेरिस में ही नहीं वरन् निचले राइन में भी चुन लिया गया। पेरिस समिति ने, जिसमें पर्वत दल तथा निम्नपूंजीपति वर्ग को ज़ोरदार प्रतिनिधित्व प्राप्त था, उसे मना लिया कि वह निचले राइन का अधिदेश स्वीकार करे। १० मार्च की विजय निर्णायक नहीं रह गयी; फ़ैसले का दिन एक बार फिर स्थगित कर दिया गया। जनता में तनाव ढीला पड़ गया; वह क्रान्तिकारी विजयों के बजाय क़ानूनी विजयों की आदी हो गयी। १० मार्च के क्रान्तिकारी अर्थ पर – जून विप्लव की प्रतिष्ठा लौटाने पर – एजेन सू की,

भावुक-निम्नपूंजीवादी सामाजिक-कल्पनावादी की विजय ने अन्ततः पूरी तरह पानी फेर दिया; इसे सर्वहारा हद से हद युवतियों को खुश करनेवाले एक मज़ाक़ के रूप में ही स्वीकार कर सकता था। इस सदाशयी उम्मीदवार के विरुद्ध अमन की पार्टी ने, जिसकी विपक्षियों के ढुलमुल भरी नीति के कारण हिम्मत बढ़ गयी थी, वह उम्मीदवार खड़ा किया जिसे **जून-विजय** का प्रतिनिधित्व करना था। यह विदूषक उम्मीदवार था स्पार्टकाई कुलपिता लेक्लेर, परन्तु उसके सूरमाई कवच की अख़बारों ने धज्जियां उड़ा दी थीं और उसे चुनाव में शानदार पराजय भोगनी पड़ी थी। २८ अप्रैल को नयी चुनाव-विजय ने पर्वत दल और निम्नपूंजीपति वर्ग को अनुप्राणित कर दिया। वे इस कल्पना का आनन्द भी लेने लग गये थे कि वे सर्वहारा को एक नयी क्रान्ति के ज़रिए मैदान में आगे धकेले बिना ही अपने लक्ष्य तक विशुद्ध क़ानूनी ढंग से पहुंच सकेंगे; वे निश्चित रूप से मान बैठे थे कि वे १८५२ के नये चुनावों में सार्वजनिक मताधिकार द्वारा लेद्रू-रोलें को राष्ट्रपति की कुर्सी पर बिठा देंगे और पर्वत दल के लिए राष्ट्रीय सभा में बहुमत हासिल कर लेंगे। अमन की पार्टी नये चुनावों से, सू की उम्मीदवारी से, पर्वत दल और निम्नपूंजीपति वर्ग के रंग-ढंग से पूरी तरह आश्वस्त हो गयी थी कि चाहे कुछ भी हो, पर्वत दल और निम्नपूंजीपति वर्ग शांत रहने का निश्चय किये हुए हैं, उसने यह सब देखकर दो चुनाव-विजयों का जवाब एक **चुनाव क़ानून** से दिया जिसने सार्वजनिक मताधिकार को ख़त्म कर दिया।

सरकार ने इस मामले में इतनी सावधानी बरती कि उसने इस विधायी प्रस्ताव को अपनी ज़िम्मेवारी पर पेश नहीं किया। उसने इस विधेयक को तैयार करने का काम बहुमत के बड़े पुरोहितों के, सत्रह बुर्गग्राफ़ों[154] के हवाले कर यह जताया कि वह बहुमत के साथ रियायत कर रही है। अतः राष्ट्रीय सभा के सामने सार्वजनिक मताधिकार मिटाने का प्रस्ताव सरकार ने नहीं रखा; उसे सभा के बहुमत ने स्वयं अपने सामने रखा।

८ मई को योजना सदन में रखी गयी। पूरा सामाजिक-जनवादी समाचारपत्र जगत् एक व्यक्ति के रूप में उठ खड़ा हुआ ताकि जनता को शालीनता बरतने, calme majestueux* अपनाने, निष्क्रिय बने रहने और अपने प्रतिनिधियों में विश्वास रखने का उपदेश दिया जा सके। इन अख़बारों का एक-एक लेख यह

---

* भव्य शान्ति। – सं०

स्वीकारोक्ति था कि क्रान्ति सर्वोपरि तथाकथित स्वतंत्र समाचारपत्र-जगत् का नाश कर देगी, इसलिए अब सवाल अपना अस्तित्व बनाये रखने का है। तथाकथित क्रान्तिकारी समाचारपत्र-जगत् ने अपना पूरा रहस्य खोल दिया। उसने अपनी मौत की सज़ा के काग़ज़ पर स्वय हस्ताक्षर कर दिये।

२१ मई को पर्वत दल ने बहस में प्रारम्भिक प्रश्न पेश किया और पूरी योजना को इस आधार पर ठुकराने का प्रस्ताव किया कि वह संविधान का उल्लंघन है। अमन की पार्टी ने उत्तर दिया कि यदि आवश्यक हुआ तो संविधान का उल्लंघन करना पड़ेगा; परन्तु अभी इसकी ज़रूरत नहीं है क्योंकि संविधान में ऐसी क्षमता है कि उसकी किसी भी तरह व्याख्या की जा सकती है, क्योंकि अकेला बहुमत ही यह तय करने की क्षमता रखता है कि उसकी सही व्याख्या क्या है। थियेर और मोंतालंबेर के बेलगाम, क्रूर प्रहारों के मुक़ाबले में पर्वत दल ने मर्यादित और परिष्कृत मानवतावाद अपनाया। उसने क़ानून को अपने रवैये का आधार बनाया; अमन की पार्टी ने उसे वह आधारभूमि, पूंजीवादी स्वामित्व दिखाया जिस पर क़ानून संवर्द्धित होता है। पर्वत दल रिरियाया – तो क्या वे सचमुच इस तरह मुख्य शक्ति के माध्यम से क्रान्तियों को बुलाना चाहते हैं? अमन की पार्टी ने जवाब दिया – जब वे आयेंगी तो हम चौंकेंगे नहीं।

२२ मई को २२७ वोटों के विरुद्ध ४६२ वोटों से प्रारम्भिक प्रश्न तय कर दिया गया। जिन लोगों ने इतने गम्भीर तथा इतने पूर्ण रूप से यह सिद्ध किया था कि राष्ट्रीय सभा और हर सदस्य उस समय अपने को सारे अधिकारों से वंचित करेंगे जिस समय वे उस जनता को अधिकारहीन बना देंगे जिसने उन्हें ये अधिकार सौंपे, ठीक वे ही लोग अब अपनी सीटों पर ख़ामोश बैठे रहे, उन्होंने स्वयं कार्रवाई करने के बजाय देश को अर्ज़ियों के ही माध्यम से काम करने दिया; वे वहां उस समय भी अविचलित बैठे रहे जब ३१ मई को क़ानून शानदार ढंग से पास हो गया। उन्होंने एक ऐसे विरोध के ज़रिए अपना बदला लेने का प्रयास किया जिसमें उन्होंने संविधान के बलात्कार के बारे में अपनी निर्दोषिता दर्ज की, लेकिन यह भी ऐसा विरोध था जिसे उन्होंने खुले रूप से पेश नहीं किया था बल्कि जिसे उन्होंने पीछे से चोरी-छुपे अध्यक्ष की जेब में पहुंचा दिया।

पेरिस में डेढ़ लाख लोगों की सेना, फ़ैसले का लम्बे समय तक स्थगन, अख़बारों द्वारा तुष्टिकरण का रुख़, पर्वत दल और नवनिर्वाचित प्रतिनिधियों की कायरता, निम्नपूंजीपति वर्ग की भव्य शान्ति, और सर्वोपरि वाणिज्यिक तथा

औद्योगिक समृद्धि ने सर्वहारा वर्ग को क्रान्ति की कोई भी चेष्टा करने से रोका।
• सार्वजनिक मताधिकार अपना मिशन पूरा कर चुका था। जनता का बहुमत विकास के विद्यालय से गुज़र चुका था, सार्वजनिक मताधिकार क्रान्तिकारी अवधि में केवल इतना ही काम दे सकता था। या तो क्रान्ति को अथवा प्रतिक्रियावाद को उसे दूर हटाना था।

पर्वत दल ने कुछ ही समय बाद होनेवाली एक घटना के दौरान और भी ज्यादा स्फूर्ति का प्रदर्शन किया। युद्धमंत्री ओपूल ने राष्ट्रीय सभा के मंच से फ़रवरी क्रान्ति को अभिशापपूर्ण विपदा बताया। पर्वत दल के वक्ताओं को, जो हमेशा नैतिकता के नाम पर आक्रोशभरा गर्जन कर अपनी विशिष्टता दिखाते रहते थे, अध्यक्ष दुपिन ने बोलने की इजाज़त नहीं दी। जिरार्दिन ने पर्वत दल से प्रस्ताव किया कि वह एक साथ सदन से वाकआउट करे। परिणाम – पर्वत दल बैठा रहा परन्तु जिरार्दिन को अयोग्य पात्र ठहराकर उसके बीच से बाहर फेंक दिया गया।

चुनाव क़ानून को पूरा होने में अब भी एक चीज़ की ज़रूरत थी, वह थी **प्रेस क़ानून**। उसे आने में ज्यादा देर नहीं हुई। सरकार के एक प्रस्ताव ने, जिसे अमन की पार्टी के संशोधनों ने कई गुना कठोर बना दिया था, ज़मानत की धनराशि बढ़ा दी, अख़बारों में छपनेवाले उपन्यासों पर अतिरिक्त मुद्रांक-शुल्क लगा दिया (सू के चुनाव का उत्तर), सारी साप्ताहिक तथा मासिक पत्रिकाओं में एक निश्चित आकार में छपनेवाली सभी सामग्री पर कर लगा दिया और अन्ततः इस बात का प्रावधान किया कि पत्रिका के हर लेख पर लेखक के हस्ताक्षर होने चाहिए। ज़मानत की धनराशि से सम्बन्धित प्रावधानों ने तथाकथित क्रान्तिकारी अख़बारों का गला घोंट दिया; जनता ने इसे सार्वजनिक मताधिकार के उन्मूलन के प्रतिकार के रूप में देखा। परन्तु नये क़ानून का रुझान और प्रभाव पत्र-पत्रिका-जगत् के केवल इसी हिस्से पर लागू नहीं हुए। समाचारपत्रों के लेखक जब तक गुमनाम रहे, वे व्यापक और नामहीन जनमत व्यक्त करते थे; वे राज्य में तृतीय सत्ता थे। हर लेख के साथ हस्ताक्षर देकर समाचारपत्र कमोबेश ज्ञात लोगों की रचनाओं का संग्रह मात्र बन गया। हर लेख का स्तर गिर गया और विज्ञापन बन गया। अब तक अख़बार जनमत के काग़ज़ी नोटों के रूप में प्रसारित होते थे; अब वे न्यूनाधिक रूप से सन्देहास्पद एकाकी हुंडियों में बदल गये, जिनकी क़ीमत और प्रचलन हुंडी लेनेवाले की ही नहीं वरन् बेचानकर्ता की साख पर भी निर्भर करते थे। अमन की पार्टी के अख़बारों ने सार्वजनिक मताधिकार

का अन्त करने के लिए ही नहीं, अपितु "ख़राब" अख़बारों के ख़िलाफ़ सबसे कठोर पग उठाने के लिए भी उकसाया था। परन्तु अपने अशुभ गुमनामपन के साथ "अच्छे" अख़बार तक अमन की पार्टी के लिए, और उससे भी ज़्यादा उसके अनेक प्रान्तीय प्रतिनिधियों के लिए अरुचिकर थे। जहां तक उसका सम्बन्ध था, उसने केवल पैसा लेनेवाले, नाम, पता और हुलिया वाले लेखक मांगे। "अच्छे" अख़बारों ने अपनी सेवाओं के पुरस्कार में इस कृतघ्नता पर बेकार के आंसू बहाये। क़ानून पास हो गया; नाम देने सम्बन्धी प्रावधानों ने उस पर सबसे ज़्यादा चोट की। जनतंत्रवादी पत्रकारों के नाम काफ़ी सुविदित थे; परन्तु *«Journal des Débats»*, *«Assemblée nationale»*[155], *«Constitutionnel»*[156] आदि; आदि, प्रतिष्ठित फ़र्मों ने राजकीय बुद्धिमत्ता की इश्तहारबाज़ी कर अपनी मूर्खतापूर्ण स्थिति उस समय प्रकट कर दी जब यह रहस्यमय कम्पनी अचानक ख़रीदे जा सकनेवाले सधे हुए कलमघसीटू लोगों के रूप में, जिन्होंने नक़दी की प्राप्ति के लिए ग्रानिए दे कासान्याक जैसे सारे सम्भव पक्षों की वकालत की थी, अथवा कापफ़ीग जैसे लोगों की तरह अपने को राजनेता कहनेवाले बूढ़े नामर्दों के रूप में, अथवा *«Débats»* के श्री लेमुआं जैसे नख़रेबाज़ छैलों के रूप में नज़र आयी।

प्रेस क़ानून पर बहस के दौरान पर्वत दल नैतिक पतन के ऐसे गर्त्त में जा पहुंचा था कि उसे लूई फ़िलिप के ज़माने के एक पुराने नामी व्यक्ति विक्तोर ह्यूगो के चमकीले-भड़कीले आक्षेपों पर तालियां बजाने तक अपने को सीमित रखना पड़ा।

चुनाव क़ानून और प्रेस क़ानून के साथ क्रान्तिकारी और जनवादी पार्टी अधिकृत मंच से बाहर आ जाती है। घर लौटने से पहले, सत्रावसान के कुछ ही समय बाद पर्वत दल के दो धड़ों ने, समाजवादी जनवादियों और जनवादी समाजवादियों ने दो घोषणापत्र, दो testimonia paupertatis* जारी किये जिनमें उन्होंने सिद्ध किया कि यद्यपि शक्ति तथा सफलता कभी उनके पक्ष में नहीं रहीं, वे इसके बावजूद चिरन्तन न्याय तथा तमाम अन्य चिरन्तन सत्यों के पक्ष में रहे हैं।

आइये, अब ज़रा अमन की पार्टी की ओर चलें। *«Neue Rheinische Zeitung»* ने अपने अंक ३, पृष्ठ १६ में लिखा, "पुनःस्थापन के लिए ऐक्यबद्ध

*ग़रीबी के सर्टिफ़िकेट। – सं०

आर्लियानिस्टों तथा लेजिटिमिस्टों की उत्कण्ठा के विरुद्ध बोनापार्त अपनी वास्तविक सत्ता के क़ानूनी आधार – **जनतंत्र** – की रक्षा करता है; पुन:स्थापन के लिए बोनापार्त की उत्कण्ठा के विरुद्ध अमन की पार्टी अपने समान शासन के क़ानूनी आधार – जनतंत्र – की रक्षा करती है; आर्लियानिस्टों के विरुद्ध लेजिटिमिस्ट तथा लेजिटिमिस्टों के विरुद्ध आर्लियानिस्ट यथास्थिति – जनतंत्र – की रक्षा करते हैं। अमन की पार्टी के ये सारे धड़े, जिनमें से हरेक का in petto अपना राजा तथा अपना पुन:स्थापन है, सत्ता हड़पने तथा विद्रोह करने की अपनी प्रतिद्वन्द्वियों की उत्कण्ठा के विरुद्ध पूंजीपति वर्ग का समान शासन, वह रूप – **जनतंत्र** – लागू करते हैं जिसमें विशेष दावे प्रभावहीन तथा सुरक्षित पड़े रहते हैं... और थियेर ने जब कहा कि 'हम राजतंत्रवादी संवैधानिक जनतंत्र के वास्तविक आधार-स्तम्भ हैं' तो उसने अपनी बात उससे कहीं अधिक सत्य के साथ कह दी जितना स्वयं सोचा था।"*

Républicains malgré eux** का यह प्रहसन, यथास्थिति के प्रति इस प्रतिक्रिया का प्रहसन और उसका निरन्तर दृढ़ीकरण; बोनापार्त और राष्ट्रीय सभा के बीच अविराम कलह; अमन की पार्टी का अपने पृथक अवयवों में विभक्त होने का निरन्तर विद्यमान ख़तरा और हर बार उसके धड़ों द्वारा आपस में मिलने की पुनरावृत्ति; समान शत्रु पर प्रत्येक विजय को अपने अस्थायी साथियों की पराजय में बदलने की हर धड़े की कोशिश; टुच्चे क़िस्म की पारस्परिक डाह, झांसापट्टी, एक-दूसरे को तंग किया जाना, बार-बार तलवार म्यान से खींचा जाना जिसका हमेशा baiser Lamourette[157] के साथ अन्त होता है – यह ग़लतियों का पूरा साधारण प्रहसन जिस क्लासिकी ढंग से इन ६ महीनों में विकसित हुआ, उतना पहले कभी नहीं हुआ था।

अमन की पार्टी ने चुनाव क़ानून की स्वीकृति को साथ ही बोनापार्त पर विजय माना। स्वयं अपने प्रस्ताव का सम्पादन करने का काम और उत्तरदायित्व सत्तरह व्यक्तियों के आयोग को सौंप कर क्या बोनापार्त की सरकार ने सत्ता का त्याग नहीं कर दिया था? और क्या राष्ट्रीय सभा के विरुद्ध बोनापार्त की मुख्य शक्ति इसमें निहित नहीं थी कि उसे ६० लाख व्यक्तियों ने चुना था?

---

*देखें, इस खण्ड के पृष्ठ ३३२–३३३। – सं०

**मजबूरन जनतंत्रवादी (मोलियेर के प्रहसन 'मजबूरन चिकित्सक' की ओर संकेत।) – सं०

उधर बोनापार्त ने चुनाव क़ानून को राष्ट्रीय सभा के लिए रियायत माना, उसने दावा किया कि इस रियायत से उसने विधायी सत्ता तथा कार्यकारी सत्ता के बीच एकता ख़रीद ली है। इस घटिया दुस्साहसी ने पुरस्कारस्वरूप अपने परिवार-व्यय में तीस लाख फ़्रांक की वृद्धि करने की मांग की। क्या राष्ट्रीय सभा ऐसे समय, जब उसने फ़्रांसीसियों के विशाल बहुमत को बहिष्कृत कर दिया था, कार्यकारी सत्ता से टक्कर लेने की हिम्मत कर सकती थी? उसमें क्रोध उत्पन्न हुआ; उसने यह जताया कि वह उग्रतम स्थिति तक पहुंच सकती है; उसके आयोग ने प्रस्ताव ठुकरा दिया बोनापार्तपंथी अख़बारों ने धमकी दी और अपने मताधिकार से वंचित जनता की ओर इशारा किया, कोई समझौता कर लेने के लिए ख़ूब शोरगुल के साथ अनेक कोशिशें की गयीं; और आख़िर राष्ट्रीय सभा वस्तुतः झुक गयी लेकिन उसने सिद्धान्त के मामले में बदला ले लिया। परिवार-व्यय में सिद्धान्ततः ३० लाख फ़्रांक वार्षिक वृद्धि करने के बजाय उसने उसे २१,६०,००० फ़्रांक की "सहायता" दी। इससे भी सन्तोष न होने पर उसने यह रियायत तभी दी जब शांगार्निये ने, अमन की पार्टी के जनरल ने और बोनापार्त पर थोपे गये संरक्षक ने उसका समर्थन किया। इसलिये उसने वस्तुतः बीस लाख की मंजूरी बोनापार्त के लिए नहीं वरन् शांगार्निये के लिए दी।

उधर बोनापार्त ने de mauvaise grâce* फेंके गये इस रोटी के टुकड़े को बिल्कुल दानदाता की भावना में स्वीकार किया। बोनापार्तपंथी अख़बार राष्ट्रीय सभा के विरुद्ध फिर नये सिरे से गरजने लगे। प्रेस क़ानून पर बहस के दौरान, जब हस्ताक्षरों के बारे में वह संशोधन किया गया जो विशेष रूप से कम महत्त्वपूर्ण अख़बारों के, बोनापार्त के निजी हितों के प्रतिनिधियों के विरुद्ध लक्षित था, प्रमुख बोनापार्तपंथी अख़बार *«Pouvoir»*[158] ने राष्ट्रीय सभा पर खुला और ज़ोरदार प्रहार करनेवाला लेख प्रकाशित किया। मंत्रियों को राष्ट्रीय सभा के समक्ष इस अख़बार को अनंगीकार करना पड़ा; *«Pouvoir»* के सम्पादक को राष्ट्रीय सभा के समक्ष जवाब देने के लिए खड़ा किया गया और इस पर सबसे अधिक जुर्माना, ५,००० फ़्रांक का जुर्माना किया गया। *«Pouvoir»* ने अगले दिन राष्ट्रीय सभा के विरुद्ध और अधिक धृष्टतापूर्ण लेख प्रकाशित किया तथा सरकार की ओर से प्रतिशोध के रूप में सरकारी

---

* अनिच्छा से। – सं०

वकील ने संविधान का उल्लंघन करने के लिए कई लेजिटिमिस्ट अख़बारों पर तुरन्त मुक़दमा दायर कर दिया।

अन्तत: सदन के सत्रावसान का सवाल आया। बोनापार्त यह चाहता था ताकि वह राष्ट्रीय सभा की ओर से किसी बाधा के बिना काम कर सके। अमन की पार्टी यह चाहती थी, अंशतः गुटबन्दी की अपनी साज़िशें चलाने के लिए और अंशतः अलग-अलग सदस्यों के व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए। दोनों को इसकी जरूरत थी ताकि प्रान्तों में प्रतिक्रियावाद की विजय को दृढ़ बनाया जा सके तथा उसे आगे बढ़ाया जा सके। अतः राष्ट्रीय सभा का ११ अगस्त से ११ नवम्बर तक सत्रावसान हो गया। परन्तु बोनापार्त ने चूंकि यह बात क़तई नहीं छुपायी थी कि उसकी एकमात्र उत्कण्ठा का विषय राष्ट्रीय सभा की निगरानी से छुटकारा पाना था, इसलिये राष्ट्रीय सभा ने स्वयं विश्वास-प्रस्ताव पर राष्ट्रपति के प्रति विश्वास के अभाव की मुहर लगा दी। सारे बोनापार्तपंथियों को २८ सदस्यों के उस स्थायी आयोग से बाहर रखा गया जो जनतंत्र की सदाचारिता के संरक्षक के रूप में सत्रावसान के दौरान काम करता रहा।[159] उनके स्थान पर «*Siècle*» और «*National*» के कुछ जनतंत्रवादियों तक को आयोग में चुन लिया गया ताकि राष्ट्रपति के सामने यह सिद्ध किया जा सके कि बहुसंख्या की संवैधानिक जनतंत्र से अनुरक्ति है।

राष्ट्रीय सभा के सत्रावसान के कुछ देर पहले और विशेष रूप से सत्रावसान के फ़ौरन बाद अमन की पार्टी के दो बड़े धड़े, आर्लियानिस्ट तथा लेजिटिमिस्ट जताना चाहते थे कि वे आपस में मेल चाहते हैं, ऐसा वे उन दो राजघरानों के एकीकरण के माध्यम से चाहते हैं जिनके झंडों के नीचे वे लड़ रहे थे। अख़बार मेल सम्बन्धी प्रस्तावों से भरे रहते थे, उनके बारे में सेंत-लियोनार्दस में लूई फिलिप की रोगीशय्या के पास विचार-विमर्श किया गया था; इतने में लूई फ़िलिप की मृत्यु ने स्थिति को सहसा सरल बना दिया। लूई फ़िलिप हड़पनेवाला व्यक्ति था; आंरी पंचम बेदख़ल किया हुआ व्यक्ति था; दूसरी ओर आंरी पंचम का चूंकि कोई बच्चा नहीं था, इसलिये पेरिस का काउंट सिंहासन के लिये उसका वैध उत्तराधिकारी था। दो राजवंशीय हितों के एकीकरण पर आपत्ति का हर बहाना अब दूर हो चुका था। पर पूंजीपति वर्ग के दो धड़ों को ठीक अब पहली बार पता चला कि उन्हें पृथक करनेवाली वस्तु किसी निश्चित राजघराने के प्रति अनुरक्ति नहीं थी अपितु उनके पृथक-पृथक वर्ग हित ही ऐसे थे जिन्होंने दो राजघरानों को अलग कर रखा था। लेजिटिमिस्टों को, जो

तीर्थयात्रा कर उसी तरह विसबादेन पहुंचे, जिस तरह उनके प्रतियोगियों को सेंत-लियोनार्दस के पास जाना पड़ा, वहां ख़बर मिली कि लूई फ़िलिप की मृत्यु हो चुकी है। उन्होंने चटपट in partibus infidelium[92] मंत्रिमण्डल[160] बना डाला जो जनतंत्र की सदाचारिता के संरक्षकों के उसी आयोग के सदस्यों को लेकर तैयार किया गया था और जिसने पार्टी के अन्दर झगड़े के मौक़े पर इश्वर की कृपा से प्राप्त अधिकार की सर्वाधिक स्पष्टवादिता से घोषणा की थी। ओर्लियानिस्टों ने बदनामी लानेवाले उस घोटाले पर ख़ुशी मनायी जिसे इस घोषणापत्र[161] ने अख़बारों में जन्म दिया और उन्होंने लेजिटिमिस्टों के प्रति अपनी खुली शत्रुता को एक क्षण के लिये भी नहीं छुपाया।

राष्ट्रीय सभा के सत्रावसान के दौरान प्रान्तों की परिषदों की बैठक हुई। उनकी बहुसंख्या ने संविधान में न्यूनाधिक सीमित संशोधन करने के पक्ष में घोषणा की यानी उन्होंने घोषणा की कि वे अनिश्चित रूप से परिभाषित राजतंत्र के पुनःस्थापन के पक्ष में हैं, एक **"समाधान"** के पक्ष में हैं, लेकिन साथ ही उन्होंने स्वीकार किया कि वे इस तरह का समाधान ढूंढ़ने के लिए बहुत ही अक्षम तथा बहुत कायर हैं। बोनापार्तपंथी धड़े ने संशोधन की इस इच्छा का तुरंत यह अर्थ लगाया कि यह राष्ट्रपति का कार्यकाल बढ़ाने की इच्छा है।

संवैधानिक समाधान, मई १८५२ में बोनापार्त द्वारा अवकाश प्राप्त किया जाना, देश के तमाम निर्वाचकों द्वारा एक साथ नये राष्ट्रपति का चुनाव किया जाना, एक संशोधन-सदन द्वारा नये राष्ट्रपति के कार्यकाल के प्रथम माहों में संविधान का संशोधन किया जाना सत्तारूढ़ वर्ग के लिये सर्वथा अग्राह्य है। नये राष्ट्रपति के चुनाव का दिन परस्पर शत्रुता रखनेवाली तमाम पार्टियों के लिये, लेजिटिमिस्टों, ओर्लियानिस्टों, पूंजीवादी जनतंत्रवादियों, क्रांतिवादियों के लिये मिलन-दिन होता। उसके परिणामस्वरूप विभिन्न धड़ों के बीच हिंसात्मक टक्कर होना अनिवार्य था। अमन की पार्टी शाही परिवारों के बाहर किसी तटस्थ व्यक्ति की उम्मीदवारी के इर्द-गिर्द यदि ऐक्यबद्ध हो भी जाती है, तब भी उसका बोनापार्त विरोध करेगा। जनता के विरुद्ध संघर्ष में अमन की पार्टी कार्यकारी सत्ता की शक्ति को निरन्तर बढ़ाते रहने के लिये मजबूर होती हैं। कार्यकारी सत्ता की शक्ति में हर वृद्धि सत्ताधारी की, बोनापार्त की सत्ता बढ़ा देती है। इसलिये अमन की पार्टी जितनी मात्रा में अपनी संयुक्त शक्ति बढ़ाती है, वह बोनापार्त के शाही दावों के जंगी साधनों को उतनी ही मात्रा में बढ़ा देती है, वह उसके लिये इस बात की सम्भावना बढ़ा देती है कि वह निर्णय वाले दिन

संवैधानिक समाधान को बलप्रयोग द्वारा विफल बना दे। तब बोनापार्त अमन की पार्टी के साथ अपने संघर्ष में संविधान के एक मूल सिद्धान्त का उल्लंघन करने में उसी तरह नहीं चूकेगा जिस तरह यह अमन की पार्टी अपने जनता विरोधी संघर्ष में सार्वजनिक मताधिकार रद्द कर संविधान के एक अन्य सिद्धान्त का उल्लंघन करने में नहीं चूकी थी। वह प्रकटतया राष्ट्रीय सभा तक के विरुद्ध सार्वजनिक मताधिकार के लिये अपील करेगा। संक्षेप में, संवैधानिक समाधान समूची राजनीतिक यथास्थिति को सन्देहजनक बनाता है और यथास्थिति के ख़तरे में पड़ने के पीछे पूंजीपति गड़बड़ी, अराजकता तथा गृहयुद्ध देखता है। वह अपने क्रय-विक्रय, अपनी हुंडियों, अपनी शादियों, नोटरी-दफ़्तर में ठीक तरह प्रमाणित अपने क़रारों, बंधकों, ज़मीन से मिलनेवाले लगान, मकान-भाड़ों, मुनाफ़ों, अपने सारे ठेकों और आय के साधनों के लिये मई १८५२ के प्रथम रविवार के दिन को चुनौती के दिन के रूप में देखता है। और वह इस तरह का ख़तरा मोल नहीं ले सकता। राजनीतिक यथास्थिति के ख़तरे में पड़ने के पीछे पूरे पूंजीवादी समाज के ढहने का ख़तरा मंडरा रहा है। पूंजीपति वर्ग की दृष्टि में एकमात्र समाधान है समाधान का स्थगन। वह संविधान का उल्लंघन करके ही, राष्ट्रपति की सत्ता का समय बढ़ाकर ही संवैधानिक जनतंत्र की रक्षा कर सकता है। यही "समाधानों" पर उस लम्बी-चौड़ी तथा विचारशील बहसों के बाद अमन की पार्टी के अख़बारों का फ़तवा है जिनमें उसने आम परिषदों के अधिवेशन के बाद भाग लिया था। इस तरह शक्तिशाली अमन की पार्टी लज्जित होकर उपहासास्पद, बाज़ारू, अपने लिये घिनौने मिथ्या-बोनापार्त को संजीदगी से देखने के लिये अपने को विवश पाती है।

इस घृणित आकृति ने भी इसी तरह अपने को उन कारणों के बारे में धोखा दिया जो उसे आवश्यक व्यक्ति की भूमिका का अधिकाधिक परिधान पहिनाते चले गये। उसकी पार्टी के पास इतनी पर्याप्त अन्तर्दृष्टि थी कि उसने परिस्थितियों को बोनापार्त के बढ़ते हुए महत्व का कारण माना, परन्तु बोनापार्त का ख़्याल था कि इसका एकमात्र कारण उसके नाम की जादुई ताक़त और उस द्वारा नेपोलियन की लगातार की जानेवाली नक़ल है। उसकी हिम्मत नित्यप्रति बढ़ती चली गयी। सेंत-लियोनार्देस और विसबादेन की तीर्थ-यात्राओं का प्रभाव ख़त्म करने के लिये उसने पूरे फ़्रांस के कई चक्कर काटे। बोनापार्तपंथियों को उसके व्यक्तित्व के जादुई प्रभाव में इतना कम विश्वास था कि उन्होंने पेरिस के लम्पट सर्वहाराओं के संगठन १० दिसम्बर के समाज के लोगों को रेलगाड़ियों

और डाकगाड़ियों में भरकर उन्हें वृत्तिभोगी प्रशंसकों के रूप में उसके साथ भेजा। उन्होंने अपनी कठपुतली के मुंह से अपने लिखे गये भाषण कराये; भिन्न-भिन्न शहरों में जिस तरह का स्वागत होता था, ये भाषण उसी के मुताबिक़ राष्ट्रपति की नीति के मुख्य रुख़ के रूप में जनतंत्रवादी विनम्रता या धैर्य और हठ प्रकट करते थे। इन तमाम तिकड़मों के बावजूद ये यात्राएं भले ही कुछ और रही हों, वे विजय जलूस सिद्ध नहीं हुईं।

जब बोनापार्त को यह विश्वास हो गया कि उसने इस तरह जनता में उत्साह पैदा कर दिया है वह सेना को अपनी ओर करने के काम में जुट गया। उसने वेर्साई के समीप सातोरी के पास बड़ी सैनिक परेडें करायीं जहां उसने सैनिकों को लहसुन के सासेजों, शैम्पेन और सिगारों से ख़रीदने का यत्न किया। अपने विजयाभियानों की कठिनाइयों के बीच असल नेपोलियन को जहां यह आता था कि कैसे अपनी पितृवत बेतकल्लुफ़ी से अपने थके हुए सैनिकों का हौसला बढ़ाया जा सकता है, वहां इस नक़ली नेपोलियन ने यह मान लिया कि सैनिक आभारस्वरूप चिल्ला रहे हैं – Vive Napoléon, vive le saucisson!* यानी "सासेज ज़िंदाबाद, भांड ज़िंदाबाद!

एक ओर बोनापार्त तथा उसके युद्ध मंत्री ओपूल तथा दूसरी ओर शांगार्नियें के बीच लम्बे समय से दबी हुई अनबन इन परेडों के फलस्वरूप ज़ोरों से उभर आयी। अमन की पार्टी ने शांगार्नियें के व्यक्तित्व में अपना वास्तविक तटस्थ व्यक्ति पा लिया था। उसकी ओर से किसी भी तरह के राजवंशीय दावों के होने का सवाल ही नहीं था। अमन की पार्टी ने उसे बोनापार्त का उत्तराधिकारी मनोनीत किया। इसके अलावा शांगार्नियें २९ जनवरी तथा १३ जून १८४९ के दिन अपने आचरण के ज़रिए अमन की पार्टी का महान जनरल, आधुनिक सिकन्दर बन गया था, कायर पूंजीपति वर्ग की नज़रों में उसके निर्मम हस्तक्षेप ने क्रांति की गोर्डियन गांठ काट दी थी। मूलतः बोनापार्त की ही तरह उपहासास्पद यह व्यक्ति इस तरह बहुत ही घटिया ढंग से एक ताक़त बन गया और उसे राष्ट्रीय सभा ने राष्ट्रपति पर नज़र रखने के लिये खड़ा कर दिया। उसने भी, उदाहरण के लिये, वेतन-अनुदान के मामले में राष्ट्रपति के संरक्षक की भूमिका निभाते हुए नख़रेबाज़ी प्रदर्शित की और बोनापार्त तथा उसके मंत्रियों के साथ अधिकाधिक आडम्बरपूर्ण ढंग से पेश आया। चुनाव क़ानून के मौक़े पर

* नेपोलियन ज़िन्दाबाद, सासेज ज़िन्दाबाद! – सं०

जब विप्लव की सम्भावना पैदा हो रही थी, उसने अफ़सरों को युद्ध मंत्री या बोनापार्त से किसी भी तरह का आदेश लेने की मनाही कर दी था। अखबार भी शांगार्निये के व्यक्तित्व को बढ़ाने-चढ़ाने का माध्यम बने। बड़ी हस्तियों के पूर्ण अभाव में अमन की पार्टी स्वभावतः एक ही व्यक्ति को वह ताक़त देने के लिये विवश हुई जो समूचे रूप में उसके वर्ग में नहीं थी, इस तरह उसे इस एक व्यक्ति को फुलाकर उसे चमत्कारी शक्ति बनाना पड़ा। इस तरह शांगार्निये को दन्त कथा नायक, "**समाज का दुर्ग**" बना दिया गया। शांगार्निये ने जिस अहंकारभरी धूर्तता, जिस रहस्यपूर्ण अकड़बाजी से यह जताया कि वह दुनिया को अपने कंधों पर ले जाने की कृपा कर रहा है, वह सातोरी परेड के समय और उसके बाद की घटनाओं का सर्वथा उपहासास्पद विपरीत रूप है। इन घटनाओं ने अकाट्य रूप से सिद्ध कर दिया कि बोनापार्त की, अनन्त रूप से नाटे व्यक्ति की क़लम की एक ही मार पूंजीवादी भय की इस विचित्र सन्तान को, दैत्याकार शांगार्निये को औसत दर्जे की आकृति में लौटा लाने के लिये, उसको, समाज के रक्षक को पेंशनयाफ़्ता जनरल बनाने के लिये काफ़ी है।

बोनापार्त अनुशासन के मामले में क्लेशदायी रक्षक के साथ कलह करने के लिये युद्ध मंत्री को उकसाकर शांगार्निये से बदला ले भी चुका था। सातोरी में अन्तिम परेड ने पुरानी शत्रुता को चरम शिखर पर पहुंचा दिया। शांगार्निये ने जब घुड़सवार रेजिमेंटों को संविधानविरोधी Vive l'empereur!* के जयघोष के साथ सलामी देते हुए देखा तो उसके संवैधानिक रोष की कोई सीमा न रही। सदन के आगामी सत्र में इस जयघोष पर किसी भी तरह की अप्रीतिकर बहस को रोकने के लिए बोनापार्त ने ओपूल को युद्ध मंत्री के पद से हटाकर उसे अल्जीरिया का गवर्नर बना दिया। उसकी जगह पर उसने साम्राज्य के ज़माने के एक विश्वसनीय बूढ़े जनरल को, उस व्यक्ति को नियुक्त किया जो अत्याचार करने के मामले में शांगार्निये की टक्कर का था। पर कहीं ओपूल की बर्ख़ास्तगी शांगार्निये के लिये रियायत न लगे, उसने उसके साथ-साथ जनरल नेमेयर का, जो समाज के महान रक्षक का दायां हाथ था, पेरिस से तबादला कर उसे नान्त भेज दिया। नेमेयर ही वह शख़्स था जिसने पिछली परेड में एक पूरी पैदल फ़ौज को नेपोलियन के उत्तराधिकारी के सामने रूखा मौन धारण कर मार्च करने के लिये प्रेरित किया था। नेमेयर पर चोट को अपने पर चोट अनुभव कर

---

*सम्राट जिंदाबाद!—सं०

शांगार्नियें ने विरोध किया और धमकी दी। उससे कोई नतीजा न निकला। दो दिन की बातचीत के बाद नेमेयर के तबादले की आज्ञप्ति *«Moniteur»* में छपी। अमन के सूरमा के लिये इसके अलावा और कोई चारा नहीं रह गया था कि वह या तो अनुशासन के सामने सिर झुका दे या इस्तीफ़ा दे डाले।

शांगार्नियें के साथ बोनापार्त का संघर्ष अमन की पार्टी के साथ उसके संघर्ष की शृंखला की एक कड़ी है। इसलिए ११ नवम्बर को राष्ट्रीय सभा का पुनः सत्रारम्भ अमंगलसूचक परिस्थितियों में होगा। वह तुम्बी में तूफ़ान होगा। सारतः पुराने खेल को जारी रहना है। इस बीच अपने विभिन्न धड़ों में सिद्धांत के आग्रहियों की चिल्ल-पों के बावजूद अमन की पार्टी राष्ट्रपति की सत्ता का समय बढ़ाने के लिये विवश होगी। बोनापार्त, जो धनाभाव के कारण पहले ही अपमानित हो चुका है, सारी आरम्भिक आपत्तियों के बावजूद सत्ता-अवधि में होने वाली यह वृद्धि इस रूप में स्वीकार कर लेगा कि वह तो उसे राष्ट्रीय सभा के हाथों से सौंपी गयी है। इस तरह समाधान स्थगित हो जाता है। यथास्थिति जारी रहती है; अमन की पार्टी का एक धड़ा दूसरे धड़े के हाथों से अप्रतिष्ठित होता है, कमज़ोर बनता है, उसका जीवन दूभर बनता है, समान शत्रु का, राष्ट्र के व्यापक भाग का दमन विस्तारित होता है और निःशक्त होकर समाप्त हो जाता है, यह उस समय तक चलता है जब तक आर्थिक सम्बन्ध फिर से विकास के ऐसे बिन्दु पर नहीं पहुंच जाते जहां एक नया विस्फोट इन तमाम कलहरत पार्टियों को उनके संवैधानिक जनतंत्र के साथ उड़ाकर उन्हें तार-तार नहीं कर देता।

पर पूंजीपति वर्ग की दिमाग़ी शान्ति के लिये यह कहना होगा कि बोनापार्त तथा अमन की पार्टी के बीच घोटालों के फलस्वरूप स्टाक एक्सचेंज में अनगिनत छोटे पूंजीपति बरबाद हो गये और उनकी परिसम्पत्तियां स्टाक एक्सचेंज के बड़े भेड़ियों की जेबों में पहुंच गयीं।

मार्क्स द्वारा जनवरी और १ नवम्बर १८५० के बीच लिखित।

अंग्रेज़ी से अनूदित।

«Neue Rheinische Zeitung. Politisch-ökonomische Revue» के १८५० के अंक १, २, ३, ५–६ में प्रकाशित।

हस्ताक्षर – **कार्ल मार्क्स**

टिप्पणियां

[1] '**फ़ायरबाख़ पर निबन्ध**' – कार्ल मार्क्स ने यह निबन्ध ब्रसेल्स में १८४५ के वसन्त में लिखा था। उस समय तक वह इतिहास के अपने भौतिकवादी सिद्धान्त का विकास मुख्यतया पूरा कर चुके थे तथा भौतिकवाद को मानव-समाज को समझने के कार्य पर लागू कर चुके थे। एंगेल्स के अनुसार यह "पहली दस्तावेज़ है जिसमें नूतन विश्वदृष्टिकोण का भव्य बीजाणु संचित है।"

'फ़ायरबाख़ पर निबन्ध' में मार्क्स फ़ायरबाख़ और उनके सारे पूर्ववर्तियों के भौतिकवाद की मूल त्रुटियों पर, उनके भौतिकवाद के निष्क्रिय, अनुध्यानात्मक चरित्र को तथा मानव के क्रान्तिकारी, "व्यावहारिक-आलोचनात्मक" कार्यकलाप के महत्व को समझने में उसकी असमर्थता को प्रकाश में लाते हैं। उन्होंने विश्व के संज्ञान तथा उसकी पुनर्रचना में क्रान्तिकारी अमल की निर्णायक भूमिका पर ज़ोर दिया।

यह निबन्ध मार्क्स की १८४४-४७ की उस 'नोटबुक' में है जिसका शीर्षक 'फ़ायरबाख़ के सम्बन्ध में' है। एंगेल्स ने जब यह 'निबन्ध' १८८८ में प्रकाशित किया तो उन्होंने इस दस्तावेज को, जिसे मार्क्स ने प्रकाशित करने के इरादे से नहीं लिखा था, पाठक के लिए अधिक बोधगम्य बनाने के वास्ते उसमें कतिपय सम्पादकीय परिवर्तन किये। प्रस्तुत खण्ड में 'निबन्ध' का एंगेल्स द्वारा प्रस्तुत पाठान्तर है जिसमें मार्क्स की पाण्डुलिपि के आधार पर मोटे अक्षर तथा उद्धरणचिह्न भी शामिल हैं जो १८८८ के संस्करण में नहीं हैं। 'फ़ायरबाख़ पर निबन्ध' शीर्षक मार्क्सवाद-लेनिनवाद संस्थान ने प्रस्तुत किया है। –पृ० ११

[2] 'जर्मन विचारधारा' («*Die deutsche Ideologue. Kritik der neuesten deutschen Philosophie in ihren Repräsentanten Feuerbach, B. Bauer und Stirner, und des deutschen Sozialismus in seinen verschiedenen Propheten*») की मार्क्स और एंगेल्स ने ब्रसेल्स में १८४५-४६ में मिलकर रचना की थी। इस कृति में दोनों ने वैज्ञानिक कम्युनिज़्म के सिद्धान्त के दार्शनिक आधार के रूप में पहली बार इतिहास के भौतिकवादी संप्रत्ययन का विशदीकरण किया था।

'जर्मन विचारधारा' की पाण्डुलिपि दो खण्डों में थी। पहले में हेगेलोत्तरी दर्शन की आलोचना थी तथा दूसरे में "सच्चे समाजवाद" की आलोचना।

'जर्मन विचारधारा' के पहले खण्ड का पहला अध्याय मुख्य सकारात्मक अन्तर्वस्तु को निरूपित करता है। यही कारण है कि यह पूरी कृति का सबसे महत्वपूर्ण अध्याय है तथा स्वयं एक महत्वपूर्ण रचना है। पहले अध्याय की पाण्डुलिपि में कच्ची पाण्डुलिपि के तीन भाग तथा अध्याय के आरम्भ के दो साफ़ पन्ने हैं। अध्याय का मूल पाठ तदनुसार चार भागों में बंटा हुआ है।

पहले अध्याय का भाग १ साफ़ कापी का दूसरा पाठान्तर है, उसमें दूसरे पाठान्तर में छोड़े गये अंशों के पहले पाठान्तर को जोड़ दिया गया है। भाग २ पूरे अध्याय का मूल सार प्रस्तुत करता है। भाग ३ तथा भाग ४ स्टर्नर के सम्बन्ध में लिखित अध्याय से लिये गये सैद्धान्तिक विषयान्तरण हैं।

सारे सम्पादकीय शीर्षक तथा आवश्यक संवर्द्धन, साथ ही पाण्डुलिपि के पृष्ठ वर्गकोष्ठकों में दिये गये हैं। मार्क्स तथा एंगेल्स द्वारा पृष्ठांकित मुख्य, दूसरी साफ़ कापी के पन्नों को "पन्ना" शब्द और सम्बन्धित संख्या डालकर अंकित किया गया है, उदाहरण के लिए [पन्ना १], [पन्ना २] आदि। पहली साफ़ कापी पर लेखकों ने नम्बर नहीं डाले हैं; पृष्ठों के लिए संकेत के रूप में "पृष्ठ" शब्द तथा सम्बन्धित संख्या का उपयोग किया गया है, उदाहरण के लिए [पृष्ठ १], [पृष्ठ २] आदि। पाण्डुलिपि के तीन कच्चे हिस्सों के पृष्ठों का जिन पर मार्क्स ने संख्या अंकित की है, संकेत अंकों से किया गया है, जैसे [१], [२] आदि।—पृ० १५

[3] यहां अभिप्राय डेविड स्ट्रॉस की मुख्य कृति 'ईसा का जीवन' (D. F. Strauß. «*Das Leben Jesu*». Bd. 1–2, Tübingen, 1835–1836) से है

जिसने धर्म की दार्शनिक आलोचना तथा हेगेलीय पंथ को पुराने हेगेल-पंथियों तथा नये ("तरुण") हेगेलपंथियों में विभक्त करने की शुरूआत की थी।—पृ० १५

[4] यहां इशारा १८वीं शताब्दी के अन्त में हुई फ़्रांसीसी पूंजीवादी क्रांति की ओर है।—पृ० १५

[5] **डियाडोची**—सिकन्दर महान के जनरल जिनके बीच सिकन्दर की मृत्यु के बाद सत्ता हथियाने के लिए जबर्दस्त लड़ाई हुई। इस लड़ाई के दौरान (ई० पू० चौथी शताब्दी का अन्त, तीसरी शताब्दी का आरम्भ) अस्थिर सैनिक तथा प्रशासनिक संघ, जो सिकन्दर का साम्राज्य था, कई स्वतंत्र राज्यों में बंट गया।—पृ० १५

[6] ये शब्द «*Wigand's Vierteljahrsschrift*», खण्ड ४, १८४५, पृष्ठ ३२७ में प्रकाशित एक गुमनाम लेख के हैं।

«*Wigand's Vierteljahrsschrift*» ('विगांड का त्रैमासिक')—यह तरुण हेगेलपंथियों की दार्शनिक पत्रिका थी जिसे ओटो विगांड ने लाइपज़िग में १८४४ से लेकर १८४५ तक प्रकाशित किया। उसमें लिखनेवालों में ब्रूनो बावेर, माक्स स्टर्नर तथा लुडविग फ़ायरबाख़ भी थे।—पृ० १६

[7] 'जर्मन विचारधारा' में "Verkehr" शब्द का बहुत व्यापक अर्थ में उपयोग किया गया है, उसकी परिधि में व्यक्तियों, सामाजिक समूहों तथा पूरे के पूरे देशों का संसर्ग आ जाता है। मार्क्स तथा एंगेल्स यह सिद्ध करते हैं कि भौतिक संसर्ग, सर्वोपरि उत्पादन की प्रक्रिया में मनुष्यों का परस्पर संसर्ग ही संसर्ग के अन्य सभी रूपों का आधार होता है। "Verkehrsform" (संसर्ग का रूप), "Verkehrsweise" (संसर्ग का ढंग), "Verkehrs-verhältnisse" (संसर्ग के सम्बन्ध अथवा अवस्थाएं) शब्दों को, जो हमें 'जर्मन विचारधारा' में मिलते हैं, मार्क्स तथा एंगेल्स "उत्पादन के सम्बन्ध" के संप्रत्यय को, जो उस दौर में उनके मस्तिष्क में मूर्त रूप ग्रहण करने लगा था, व्यक्त करने के लिए उपयोग में लाते हैं।—पृ० २१

[8] "Stamm" शब्द का—जिसके लिए इस खण्ड में "क़बीला" शब्द का उपयोग किया गया है—गत शताब्दी के पांचवें दशक में लिखी गयी ऐतिहासिक कृतियों में वर्तमान शताब्दी की तुलना में अधिक व्यापक अर्थ था। उसका एक

समान पूर्वज के वंश में जन्मे लोगों के समुदाय के अर्थ में उपयोग किया जाता था तथा उसमें "गोत्र" और "क़बीला" दोनों संप्रत्ययन आ जाते थे। इन संप्रत्ययनों की परिभाषा करने तथा उनमें अन्तर करने का कार्य सबसे पहले ल्यूइस हेनरी मोर्गन ने अपनी मुख्य कृति *«Ancient Society»* अर्थात् 'आदिम समाज' में किया था (१८७७)। इस प्रसिद्ध अमरीकी मानवजातिशास्त्र विशारद तथा इतिहासकार ने सबसे पहले आदिम सामुदायिक प्रणाली के नाभिक के रूप में गोत्र का महत्व सिद्ध किया था और इस तरह समग्रतः आदिम समाज के इतिहास की वैज्ञानिक आधारशिला रखी थी। एंगेल्स ने मोर्गन की खोजों से आम निष्कर्ष निकाले और 'परिवार, निजी सम्पत्ति तथा राज्य की उत्पत्ति' नामक अपनी कृति में (१८८४) में "गोत्र" तथा "क़बीला" संप्रत्ययनों के अर्थ का विशद विश्लेषण किया था। (देखें वर्तमान संस्करण, खण्ड ३।) – पृ० २२

[9] रोमन जन-प्रवक्ताओं लीसिनियस तथा सेक्सटियस के ३६७ ई० पू० के कृषि-क़ानून के अनुसार कोई रोमन नागरिक राज्य भूमि कोष (ager (publicus) की ५०० युगेरा (लगभग ३०६ एकड़) से ज्यादा भूमि अपने पास नहीं रख सकता था। – पृ० २३

[10] यहां इशारा ब्रूनो बावेर के लेख *«Charakteristik Ludwig Feuerbachs»* की ओर है जो *«Wigand's Vierteljahrsschrift»* ('विगांड का त्रैमासिक') नामक पत्रिका में (खण्ड ३, १८४५, पृष्ठ ८६–१४६) प्रकाशित हुआ था। – पृ० ३०

[11] देखें G. W. F. Hegel, *«Die Philosophie der Geschichte»*, Einleitung, Geographische Grundlage der Weltgeschichte ('इतिहास का दर्शन', भूमिका, विश्व इतिहास की भौगोलिक नींव)। – पृ० ३३

[12] यहां संकेत ब्रूनो बावेर के उन शब्दों की ओर है जो उन्होंने *«Charakteristik Ludwig Feuerbachs»* में *«Wigand's Vierteljahrsschrift»*, खण्ड ३, १८४५, पृष्ठ १३०) में लिखे थे। – पृ० ३३

[13] *«Deutsch-Französische Jahrbücher»* ('जर्मन-फ़ांसीसी वार्षिकी') – कार्ल मार्क्स और आर्नोल्ड रूगे द्वारा सम्पादित तथा पेरिस में जर्मन भाषा

में प्रकाशित पत्रिका। इसका केवल एक अंक – दो अंकों को मिलाकर – निकला था (फ़रवरी १८४४)। उसमें कार्ल मार्क्स के दो लेख – 'यहूदी प्रश्न के सम्बन्ध में' तथा 'हेगेलीय विधि-दर्शन। भूमिका' तथा फ्रेडरिक एंगेल्स के दो लेख – 'राजनीतिक अर्थशास्त्र की एक समीक्षा' तथा 'इंगलैंड की स्थिति। टामस कार्लाइल। "अतीत तथा वर्तमान"' छपे थे। ये रचनाएं भौतिकवाद तथा कम्युनिज़्म में मार्क्स तथा एंगेल्स द्वारा अंतिम रूप से संक्रमण किये जाने के द्योतक हैं। इस पत्रिका का प्रकाशन मुख्यतया मार्क्स तथा रूगे के, जो पूंजीवादी मूलपरिवर्तनवादी था, मध्य बुनियादी बातों पर मतभेदों के परिणामस्वरूप बन्द कर दिया गया था। – पृ० ३६

14 सर्वहारा क्रान्ति समस्त उन्नत पूंजीवादी देशों में एक साथ ही सम्पन्न की जा सकती है और इस कारण अकेले एक देश में क्रान्ति की विजय असम्भव है – यह निष्कर्ष, जिसे एंगेल्स की रचना 'कम्युनिज़्म के सिद्धान्त' में (देखें प्रस्तुत खण्ड के पृष्ठ ६७–११६) अन्तिम अभिव्यक्ति प्राप्त हुई, इजारेदार से पहले के दौर के लिए सही था। लेनिन ने साम्राज्यवाद के युग में पूंजीवाद के असमान आर्थिक तथा राजनीतिक विकास के जिस नियम की खोज की थी, उसके आधार पर वह नये निष्कर्ष पर पहुंचे थे। उन्होंने परिलक्षित किया कि नयी ऐतिहासिक परिस्थितियों में, इजारेदार पूंजीवाद के दौर में समाजवादी क्रान्ति पहले चन्द देशों में, यहां तक कि एक देश तक में विजयी हो सकती है और समस्त या अधिकांश देशों में क्रान्ति की एक साथ विजय असम्भव है। यह नियम सर्वप्रथम लेनिन के 'यूरोप के संयुक्त राज्य का नारा' शीर्षक लेख में (१९१५) निरूपित किया गया था। – पृ० ४२

15 **महाद्वीपीय प्रणाली** अथवा महाद्वीपीय नाकाबन्दी १८०६ में नेपोलियन प्रथम द्वारा घोषित की गयी थी। इस प्रणाली ने यूरोपीय महाद्वीप तथा इंगलैंड के बीच व्यापार पर पाबन्दी लगा दी थी। रूस में नेपोलियन की पराजय के बाद इसे रद्द कर दिया गया। – पृ० ४४

16 **मार्सेइयेज़, कार्मानोला,** "Ça ira" – अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग की फ़्रांसीसी पूंजीवादी क्रान्ति के दौर के क्रान्तिकारी गीत। अन्तिम गीत की टेक थी – "Ah! ça ira, ça ira, ça ira. Les aristocrates à la lanterne!" ("सब ठीक हो जायेगा। सामन्तों को बत्ती के खम्भे पर लटकाओ!") – पृ० ४७

[17] ये शब्द माक्स स्टर्नर की पुस्तक 'अनुपम तथा उसकी सम्पत्ति' (M.Stirner. «*Der Einzige und sein Eigenthum*». Leipzig, 1845) से लिये गये हैं। – पृ० ४८

[18] यह वाक्य ब्रूनो बावेर के लेख «*Charakteristik Ludwig Feuerbachs*» से लिया गया है। (देखें पत्रिका «*Wigand's Vierteljahrsschrift*», खण्ड ३, १८४५, पृष्ठ १३९)। – पृ० ५१

[19] यह शब्द माक्स स्टर्नर की पुस्तक 'अनुपम तथा उसकी सम्पत्ति' से लिया गया है। – पृ० ५१

[20] «*Hallische Jahrbücher*» तथा «*Deutsche Jahrbücher*» – तरुण हेगेलपंथियों की साहित्यिक तथा दार्शनिक पत्रिका का संक्षिप्त नाम। यह लाइपज़िग में छोटे पन्नों के रूप में छपा करती थी। यह जनवरी १८३८ तथा जून १८४१ के बीच «*Hallische Jahrbücher für deutsche Wissenschaft und Kunst*» ('जर्मन विज्ञान तथा कला के सम्बन्ध में हाले की वार्षिकी') तथा जुलाई १८४१ और जनवरी १८४३ के बीच «*Deutsche Jahrbücher für Wissenschaft und Kunst*» ('विज्ञान तथा कला के सम्बन्ध में जर्मन वार्षिकी') के नाम से प्रकाशित होती रही। जनवरी १८४३ में सरकार ने उसके प्रकाशन पर पाबन्दी लगा दी। – पृ० ५२

[21] B. Bauer. «*Geschichte der Politik, Cultur und Aufklärung des achtzehnten Jahrhunderts*». *Bd. 1–2, Charlottenburg, 1843–1845* (ब० बावेर। 'अठारहरवीं शताब्दी की राजनीति, संस्कृति तथा ज्ञानोद्दीप्ति का इतिहास')। – पृ० ५२

[22] **राइन गीत** – जर्मन निम्नपूंजीवादी कवि निकोलस बेकेर की कविता 'जर्मन राइन', राष्ट्रवादियों ने इसका बहुत व्यापक रूप में उपयोग किया था। वह १८४० में लिखी गयी थी तथा उसके बाद के वर्षों में भिन्न-भिन्न स्वरकारों ने उसके लिए संगीत-लिपि की रचना की थी। – पृ० ५२

[23] यहां इशारा लुडविग फ़ायरबाख़ के लेख '"अनुपम तथा उसकी सम्पत्ति" के संदभ में "ईसाइयत का सार"' की ओर है जो «*Wigand's*

Vierteljahrsschrift» पत्रिका में (खण्ड २, १८४५, पृष्ठ १९३–२०५) छपा था। लेख इस प्रकार समाप्त होता है: "इस कारण फ़ायरबाख़ को न तो भौतिकवादी, न भाववादी और न अनन्यता का दार्शनिक ही कहा जा सकता है। तो फिर वह क्या है? वह जो विचारों में है वही यथार्थ में है, जो आत्मा में है वही देह में है, अपने इन्द्रियगत सार रूप में **वह मनुष्य** है अथवा यों कहें—चूंकि फ़ायरबाख़ मनुष्य के सार को केवल समुदाय में देखते हैं—कि वह सामाजिक मनुष्य, **कम्युनिस्ट** है"।—पृ० ५३

[24] L. Feuerbach. *«Grundsötze der Philosophie der Zukunft».* Zürich und Winterthur, 1843, S. 47. (लु० फ़ायरबाख़। 'भविष्य के दर्शन के सिद्धान्त')।

'फ़ायरबाख़' शीर्षक से अपनी टिप्पणियों में, जो सम्भवतया 'जर्मन विचारधारा' के पहले खण्ड के अध्याय १ के लिए लिखी गयी थीं, एंगेल्स फ़ायरबाख़ की पुस्तक के इस अंश को उद्धृत करते हैं तथा उस पर टीका करते हैं:

"'अस्तित्व ऐसा आम संप्रत्यय नहीं है जिसे वस्तुओं से पृथक किया जा सके। वह विद्यमान वस्तुओं के साथ एक इकाई बनता है... अस्तित्व तत्व की स्थिति है। **मेरा तत्व मेरा अस्तित्व है।** मछली पानी में रहती है परन्तु उसका तत्व इस अस्तित्व से पृथक नहीं किया जा सकता। भाषा तक अस्तित्व तथा तत्व की एकरूपता को स्थापित करती है। केवल मानव-जीवन में ही अस्तित्व तत्व से विलग है—**परन्तु अपवादस्वरूप ही, असुखद मामलों में ही;** होता यह है कि व्यक्ति का तत्व उस स्थान में नहीं है जहां वह अस्तित्वमान है, परन्तु ठीक इस विभाजन के कारण ही उसकी आत्मा सही अर्थ में उस स्थान पर नहीं है जहां उसका शरीर वास्तव में है। आपका हृदय जहां है, केवल वहीं **आप हैं।** परन्तु समस्त वस्तुएं—**असामान्य मामलों को छोड़कर**—वहां रहने पर प्रसन्न हैं जहां वे हैं और जो वे हैं, वह होने से वे प्रसन्न हैं।' (पृष्ठ ४७)

"विद्यमान परिस्थितियों का यह सुन्दर गुणगान है। अपवादस्वरूप मामलों और चन्द असामान्य मामलों को छोड़ दें, आप जब सात वर्ष के होते हैं, उस समय किसी कोयला-खान में चौकीदार होने पर और रोज़ १४ घंटे अंधेरे में अकेले रहने पर प्रसन्न होते हैं, और चूंकि यह आपका अस्तित्व

है, इसलिए यह आपका तत्व भी है। यही बात किसी स्वतः क्रियाशील यंत्र पर टूटे धागे जोड़नेवाले पर लागू होती है। श्रम की किसी शाखा के अधीन होना आपका 'तत्व' है।" – पृ० ५३

[25] मार्क्स तथा एंगेल्स का संकेत 'जर्मन विचारधारा' के पहले खण्ड के अध्याय ३ की ओर है। फ़ायरबाख़ से सम्बन्धित अध्याय के इस भाग को मूलतया अध्याय ३ में शामिल किया गया था और उस पाठ के तुरन्त बाद रखा गया था जिसकी यहां मार्क्स तथा एंगेल्स चर्चा कर रहे हैं। अध्याय ३ के चर्चित अंश में वे हेगेल की कृति 'इतिहास का दर्शन' आदि उद्धृत करते हैं। – पृ० ५८

[26] **अनाज आयात विरोधी क़ानून संस्था** – अंग्रेज़ औद्योगिक पूंजीपतियों की एक संस्था जिसे १८३८ में मैंचेस्टर के दो कारख़ानेदारों, काबडेन तथा ब्राइट ने स्थापित किया था। तथाकथित अनाज क़ानूनों को, जिनका उद्देश्य विदेशों से अनाज के आयात को सीमित करना या उस पर पाबन्दी लगाना था, बड़े ज़मींदारों के हितों की रक्षा के लिए लागू किया गया था। निर्बाध मुक्त व्यापार की मांग कर संस्था ने मज़दूरों की तनख़ाहें घटाने और सामन्ती अभिजात वर्ग की आर्थिक तथा राजनीतिक स्थिति कमज़ोर बनाने के निमित्त अनाज क़ानून ख़त्म करने के लिए संघर्ष किया। इस संघर्ष के फलस्वरूप १८४६ में ये क़ानून ख़त्म कर दिये गये। इनका ख़ात्मा सामन्ती अभिजात वर्ग पर औद्योगिक पूंजीपति वर्ग की विजय का द्योतक था। – पृ० ६१

[27] "संघ" ("Verein") माक्स स्टर्नर के अनुसार अहंवादियों का स्वैच्छिक संघ था। – पृ० ६२

[28] J.Aikin. «*A Description of the Country from thirty to forty Miles round Manchester*». London, 1975 (जे० आइकिन। 'मैंचेस्टर के चारों ओर ३०–४० मील के क्षेत्र का वर्णन', लन्दन १७९५)। – पृ० ७०

[29] यहां «*Lettre sur la Jalousie du Commerce*» ('वाणिज्य में प्रतिद्वन्द्विता के विषय में पत्र') से एक अंश का हवाला दिया जा रहा है। यह पत्र पिंटो की पुस्तक «*Traité de la Circulation et du Crédit*». Amsterdam, 1771 ('प्रचलन तथा साख पर निबन्ध') में (पृष्ठ २३४ और २८३) छपा था। – पृ० ७०

[30] A. Smith. «*An Inquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations*». London, 1776 (ए० स्मिथ, 'राष्ट्रों की सम्पदा के स्वरूप तथा स्रोतों की जांच')।—पृ० ७१

[31] देखें जान जाक रूसो, «*Du Contrat social; ou, Principes du droit politique*» ('सामाजिक संविदा; या राजनीतिक विधि के सिद्धांत'), एम्सटरडम में १७६२ में प्रकाशित।—पृ० ८०

[32] यहां इशारा माक्स स्टर्नर के उस विचार की ओर है जो उन्होंने «*Wigand's Vierteljahrsschrift*» पत्रिका (खण्ड ३, १८४५, पृष्ठ १८७) में प्रकाशित अपने लेख 'स्टर्नर के आलोचक' में व्यक्त किये थे।—पृ० ८२

[33] नार्मनों ने इंगलैंड पर १०६६ और नेपल्स पर ११३० में क़ब्ज़ा किया था।—पृ० ८४

[34] **पूर्वी रोमन साम्राज्य**—दास-स्वामी रोमन साम्राज्य से ३९५ में पृथक हुआ राज्य, उसका केन्द्र कुस्तुंन्तुनिया था। आगे चलकर उसने बज़नतीन नाम ग्रहण किया। पूर्वी रोमन साम्राज्य १४५३ में तुर्कों द्वारा विजित होने तक टिका रहा।—पृ० ८४

[35] इतालवी नगर अमालफ़ी दसवीं तथा ग्यारहवीं शताब्दी में फलता-फूलता व्यापारिक केन्द्र था। उसका समुद्री क़ानून (Tabula Amalphitana) पूरे देश में लागू था और भूमध्यसागरवर्ती देशों में भी बहुप्रचलित था।—पृ० ९३

[36] '**कम्युनिज़्म के सिद्धान्त**' कृति कम्युनिस्ट लीग के कार्यक्रम का मसविदा है जिसे एंगेल्स ने पेरिस में लीग की ज़िला समिति के आदेश पर तैयार किया था। उसे आरम्भिक मसविदा मानते हुए एंगेल्स ने २३—२४ नवम्बर १८४७ को मार्क्स को लिखी गयी एक चिट्ठी में सुझाव दिया कि प्रश्नोत्तर के रूप का त्याग किया जाये तथा 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' के रूप में लीग का कार्यक्रम तैयार किया जाये। कम्युनिस्ट लीग की २९ नवम्बर से ८ दिसम्बर तक हुई दूसरी कांग्रेस में मार्क्स तथा एंगेल्स के विचारों को पूर्ण समर्थन प्राप्त हुआ और उन्हें लीग का कार्यक्रम—'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र'—तैयार करने का काम सौंपा गया। 'घोषणापत्र' लिखते समय मार्क्सवाद के संस्थापकों ने 'कम्युनिज़्म के सिद्धांत' में प्रस्तुत मान्यताओं में से कुछ का उपयोग किया।

'कम्युनिज़्म के सिद्धांत' में एंगेल्स ने सर्वहारा पार्टी के कुछ सबसे महत्वपूर्ण कार्यक्रम तथा कार्यनीति सम्बन्धी सिद्धान्तों की नींव रखी तथा सर्वहारा को सत्ता लेने के बाद पूंजीवाद से समाजवाद में संक्रमण करने के लिए सक्षम बनानेवाले उपाय बताये। – पृ० ६७

[37] प्रश्न २२ और २३ के उत्तरों की जगह पाण्डुलिपि में यह शब्द लिखा हुआ है, "वही"। इसका स्पष्टतया उत्तर वही है जिसे कम्युनिस्ट लीग के कार्यक्रम के एक आरम्भिक मसविदे में सूत्रबद्ध किया गया है जो हमें प्राप्त नहीं हो सका है। – पृ० ११३

[38] **चार्टिस्ट** – १९ वीं शताब्दी के चौथे दशक से लेकर छठे दशक तक ब्रिटिश मज़दूरों के राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेनेवालों को चार्टिस्ट कहा जाता है। यह आन्दोलन मज़दूरों की विषम आर्थिक दशा तथा राजनीतिक अधिकारों के अभाव का फल था। आन्दोलन जन-चार्टर को, जिसमें आम मताधिकार की तथा मज़दूरों के लिए यह अधिकार सुनिश्चित करनेवाली अनेक शर्तें पूरी करने की मांग की गयी थी, अमल में लाने के नारे के साथ चलाया गया था। लेनिन की परिभाषा के अनुसार चार्टिज़्म सही अर्थों में प्रथम विराट, राजनीतिक दृष्टि से गठित सर्वहारा क्रांतिकारी आन्दोलन था। – पृ० ११५

[39] **'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र'** – वैज्ञानिक कम्युनिज़्म की कार्यक्रम सम्बन्धी पहली दस्तावेज़ जो मार्क्स तथा एंगेल्स की महान शिक्षा के मूलभूत सिद्धान्तों की संपूर्ण तथा सुगठित विवेचन प्रस्तुत करती है। "यह रचना प्रतिभाशाली स्पष्टता तथा भव्यता के साथ एक नये विश्व-संप्रत्ययन – सुसंगत भौतिकवाद, जिसकी परिधि में सामाजिक जीवन का क्षेत्र आता है, विकास के सबसे व्यापक तथा गहन सिद्धान्त के रूप में द्वन्द्ववाद, वर्ग-संघर्ष के और सर्वहारा की, एक नये, कम्युनिस्ट समाज के स्रष्टा की विश्व-ऐतिहासिक क्रांतिकारी भूमिका के सिद्धान्त का चित्र प्रस्तुत करती है" (व्ला० इ० लेनिन)।

'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र' ने सर्वहारा को पूंजीवाद के विनाश तथा सर्वहारा क्रान्ति की विजय की अवश्यम्भाविता के वैज्ञानिक प्रमाणों से लैस किया और क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन के कार्य तथा लक्ष्य बताये।

सबसे पहले 'घोषणापत्र' लन्दन में फ़रवरी १८४८ में प्रकाशित हुआ था। – पृ० ११७

[40] **कम्युनिस्ट लीग** — सर्वहारा की प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट संस्था जिसे मार्क्स तथा एंगेल्स ने स्थापित किया था। यह संस्था १८४७ से १८५२ तक विद्यमान रही। देखें फ़्रेडरिक एंगेल्स का लेख 'कम्युनिस्ट लीग के इतिहास के सम्बन्ध में' (वर्तमान संस्करण, खण्ड ३)।—पृ० ११७

[41] यहां इशारा फ़्रांस में १८४८ की फ़रवरी क्रान्ति की ओर है।—पृ० ११७

[42] «*The Red Republican*» ('लाल जनतंत्रवादी') — लन्दन में जून से नवम्बर १८५० तक जार्ज जूलियन हार्नी द्वारा प्रकाशित चार्टिस्ट साप्ताहिक। उसके अंक २१—२४ में 'घोषणापत्र' संक्षिप्त रूप में प्रकाशित हुआ था।—पृ० ११७

[43] यहां इशारा पेरिस के मज़दूरों के २३—२६ जून १८४८ के वीरत्वपूर्ण विप्लव की ओर है जिसे फ़्रांसीसी पूंजीपति वर्ग ने घोर पाशविकता के साथ कुचल दिया था। यह विप्लव सर्वहारा तथा पूंजीपति वर्ग के बीच पहला महान गृहयुद्ध था।—पृ० ११७

[44] «*Le Socialiste*» ('समाजवादी') — न्यूयार्क में अक्तूबर १८७१ से लेकर मई १८७३ तक फ़्रांसीसी भाषा में प्रकाशित साप्ताहिक पत्र। वह इंटरनेशनल के उत्तर-अमरीकी संघ का मुखपत्र था। हेग कांग्रेस के बाद इस पत्र ने इंटरनेशनल से अपना नाता तोड़ लिया।

'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र' का फ़्रांसीसी अनुवाद जिसकी ओर यहां संकेत किया गया है, इस साप्ताहिक में जनवरी—मार्च १८७२ में प्रकाशित हुआ था।—पृ० ११७

[45] यहां इशारा 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र' के प्रथम रूसी संस्करण की ओर है जो १८६९ में जेनेवा में प्रकाशित हुआ था। यह बकूनिन का अनुवाद था। अनुवाद करते समय बकूनिन ने कुछ अंशों को तोड़-मरोड़ दिया। पहले संस्करण की त्रुटियां उस संस्करण में से निकाल दी गयीं जो १८८२ में जेनेवा में प्रकाशित हुआ। यह अनुवाद प्लेख़ानोव ने किया था। इसी संस्करण ने 'घोषणापत्र' में निहित विचारों के रूस में व्यापक प्रसार की शुरूआत की नींव रखी।—पृ० ११७

[46] **१८७१ का पेरिस कम्यून** — मज़दूर वर्ग की पहली क्रांतिकारी सरकार जो १८ मार्च से २८ मई १८७१ तक जीवित रही। व्यापक अर्थ में १८ मार्च १८७१

की सर्वहारा क्रान्ति तथा उसके बाद का मज़दूर वर्ग के अधिनायकत्व का काल पेरिस कम्यून के नाम से पुकारा जाता है। 'फ़्रांस में गृहयुद्ध' नामक मार्क्स की कृति पेरिस कम्यून के इतिहास से सम्बन्धित है जिसमें उसके सारतत्व पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है।—पृ० ११८

[47] यहां इशारा "स्वतंत्र रूसी छापाघर" की ओर है जो 'कोलोकोल' ('घंटी') छापा करता था। इस क्रान्तिकारी-जनवादी समाचारपत्र को अलेक्सान्द्र हर्ज़ेन तथा निकोलाई ओगार्योव प्रकाशित किया करते थे। हर्ज़ेन द्वारा स्थापित यह छापाघर १८६५ तक लन्दन में रहा, फिर उसे जेनेवा स्थानान्तरित किया गया। १८६९ में इस छापाघर नें 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' का रूसी संस्करण प्रकाशित किया था। देखें टिप्पणी ४५।—पृ० ११९

[48] लेखक यहां "नरोद्नाया वोल्या" (जनता की आज़ादी) के सदस्यों द्वारा १ मार्च १८८१ को सम्राट अलेक्सान्द्र द्वितीय की हत्या के बाद रूस में पैदा होनेवाली स्थिति की चर्चा कर रहे हैं। उसका उत्तराधिकारी अलेक्सान्द्र तृतीय "नरोद्नाया वोल्या" की कार्यकारी समिति द्वारा और ज्यादा आतंकवादी कार्रवाइयां किये जाने के डर से गातचिना से बाहर नहीं निकला।—पृ० १२०

[49] **कोलोन में कम्युनिस्टों पर मुक़दमा** (४ अक्तूबर से १२ नवम्बर १८५२ तक) —कम्युनिस्ट लीग के ११ सदस्यों पर प्रशा की सरकार द्वारा चलाया गया झूठा मुक़दमा। जाली दस्तावेज़ों और झूठी गवाही के आधार पर इन लोगों पर राज्य द्रोह का अभियोग लगाया गया तथा सात अभियुक्तों को तीन वर्ष से लेकर छः वर्ष तक क़िले में क़ैद रखे जाने की सज़ा दी गयी। अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर आन्दोलन के विरुद्ध प्रशियाई पुलिस राज्य के इन कुत्सित उकसावों की मार्क्स तथा एंगेल्स ने कलई खोल दी थी (देखें, एंगेल्स का लेख 'कोलोन में कम्युनिस्टों पर हाल का मुक़दमा', प्रस्तुत खण्ड, दूसरा भाग, तथा मार्क्स का पैंफ़्लेट 'कोलोन में कम्युनिस्टों पर मुक़दमे के बारे में रहस्योद्घाटन')।—पृ० १२२

[50] मार्क्स तथा एंगेल्स ने १९ वीं शताब्दी के पांचवें दशक से अपनी अनेक रचनाओं में इस सैद्धान्तिक प्रस्थापना की व्याख्या की थी। यहां जिस रूप में उसे सूत्रबद्ध किया गया है, उसे अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ की नियमावली में देखा जा सकता है।—पृ० १२४

[51] यह भूमिका एंगेल्स ने १ मई १८९० को उस दिन लिखी थी जब दूसरे इंटरनेशनल की पेरिस कांग्रेस के निर्णयानुसार (जुलाई १८८९) अनेक यूरोपीय तथा अमरीकी देशों में मज़दूरों के प्रदर्शन हुए, हड़तालें तथा सभाएं हुईं। मज़दूरों ने ८ घंटे के कार्य-दिवस की मांग तथा कांग्रेस द्वारा प्रस्तुत अन्य मांगों की पूर्त्ति के लिए आवाज़ उठायी। तबसे तमाम देशों के मज़दूर हर साल पहली मई को सर्वहारा की अन्तर्राष्ट्रीय एकता के दिवस के रूप में मनाते हैं।—पृ० १२४

[52] **कांग्रेसीय पोलैंड**—पोलैंड का वह हिस्सा जिसे १८१४-१५ की वियेना कांग्रेस के निर्णयानुसार पोलिश सल्तनत के नाम से रूस में मिला दिया गया था।—पृ० १२५

[53] यहां इशारा ज़ारशाही उत्पीड़न के विरुद्ध १८६३–१८६४ में पोलिश राष्ट्रीय मुक्ति विद्रोह की ओर है। क्रान्तिकारी पहल खो बैठी "लाल" पार्टी (छोटे-छोटे पोलिश सामन्तों की पार्टी) के ढुलमुलपन के कारण विद्रोह का नेतृत्व अमीर ज़मींदारों तथा बड़े पूंजीपतियों के हाथ में पहुंच गया। ये लोग ज़ार सरकार के साथ लाभप्रद सौदेबाज़ी करना चाहते थे। १८६४ के ग्रीष्मकाल में ज़ार के सैनिकों ने विद्रोह को निर्ममतापूर्वक कुचल डाला।—पृ० १२६

[54] एंगेल्स ने 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र' के १८९० के जर्मन संस्करण में यह टिप्पणी भी शामिल कर दी, उसके केवल अन्तिम वाक्य को हटा दिया गया।—पृ० १३०

[55] **धार्मिक अभियान**—११ वीं–१३ वीं सदियों में पूरब में उन सैनिक-उपनिवेशी अभियानों का नाम जो बड़े-बड़े पश्चिमी सामन्त-सरदारों और बड़े-बड़े इतालवी व्यापारियों ने यरूशलम में ईसाई गिरजाघरों और अन्य तीर्थस्थानों को मुसलमानों के हाथों से मुक्त करने के धार्मिक नारे के साथ चलाये थे। कैथोलिक चर्च तथा पोप, जो विश्व पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए उत्सुक थे, इन धार्मिक अभियानों के सिद्धान्तकार तथा प्रेरक थे और सामन्त-सरदार मुख्य सैनिक शक्ति थे। सामन्ती अत्याचारों से मुक्ति पाने की आशा से किसानों ने भी इनमें भाग लिया। धर्मयोद्धा अपने अभियानों के दौरान जिन-जिन देशों से गुज़रा करते थे, वहां वे मुसलमानों और ईसाइयों दोनों को लूटते-खसोटते और उनके विरुद्ध हिंसा का प्रयाग करते। वे केवल सीरिया,

फ़िलस्तीन, मिस्र तथा ट्यूनीशिया के मुस्लिम राज्यों को ही नहीं वरन् बज़नतीनी ईसाई राज्य को भी जीतना चाहते थे। परन्तु पूर्वी भूमध्यसागरीय क्षेत्र में उनकी विजय स्थिर नहीं रही। यह शीघ्र ही पुनः मुस्लिमों के हाथों में पहुंच गया।—पृ० १३४

56 मार्क्स तथा एंगेल्स ने अपने बाद की रचनाओं में "श्रम का मूल्य" तथा "श्रम का दाम" के स्थान पर मार्क्स द्वारा प्रचलित अधिक सटीक शब्दों का यानी "श्रम-शक्ति का मूल्य" तथा "श्रम-शक्ति का दाम" शब्दों का उपयोग किया। (इस सिलसिले में मार्क्स की रचना 'उजरती श्रम और पूंजी' के लिए एंगेल्स द्वारा लिखी गयी भूमिका देखें, प्रस्तुत खण्ड, पृष्ठ १७४–१८३)। —पृ० १३८

57 यहां इशारा चुनाव-क़ानून में सुधार के लिए चलनेवाले आन्दोलन की ओर है। हाउस आफ़ कामन्स ने जनता के दबाव के कारण १८३१ में यह सुधार स्वीकार कर लिया था तथा हाउस आफ़ लार्डस ने जून १८३२ को उसे अन्ततः अनुमोदित कर दिया। यह सुधार सामन्ती तथा वित्तीय अभिजाततंत्र के एकाधिकारपूर्ण शासन के विरुद्ध लक्षित था और उसने औद्योगिक पूंजीपति वर्ग के प्रतिनिधियों के लिए संसद के द्वार खोल दिये। सर्वहारा वर्ग तथा निम्नपूंजीपति वर्ग सुधार के लिए संघर्ष की मुख्य शक्ति थे परन्तु उन्हें उदारपंथी पूंजीपति वर्ग ने झांसा दे दिया तथा वे निर्वाचन अधिकारों से वंचित रहे।—पृ० १५४

58 १६६०–१६८९ का **पुनःस्थापन** – इंगलैंड में स्टुअर्ट राजवंश के द्वितीय शासन-काल का नाम। १७ शताब्दी में अंग्रेज़ क्रान्ति ने इस राजवंश का तख़्ता उलट दिया।

१८१४–१८३० का **पुनःस्थापन** – फ़्रांस में बूर्बों राजवंश के द्वितीय शासन काल का नाम। १८३० की जुलाई क्रान्ति ने सामन्तों तथा पुरोहितों के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले प्रतिक्रियावादी बूर्बों शासन का तख़्ता उलट दिया।—पृ० १५४

59 **लेजिटिमिस्ट** (वैधतावादी) – १८३० में सत्ताच्युत "वैध" बूर्बों राजवंश के समर्थक। यह राजवंश बड़े-बड़े भू-सामन्तों के हितों का प्रतिनिधित्व करता था। परन्तु कुछ लेजिटिमिस्ट सत्तारूढ़ आर्लियां राजवंश (१८३०–१८४८) के

विरुद्ध, जिसे वित्तीय महाप्रभुओं तथा बड़े-बड़े पूंजीपतियों का समर्थन प्राप्त था, सामाजिक नारेबाज़ी का आश्रय लेते रहे और यह जताते रहे कि वे मेहनतकश जनता को पूंजीपति वर्ग के शोषण से बचाना चाहते हैं।–पृ० १५५

[60] **"तरुण इंगलैंड"**–टोरी पार्टी के ब्रिटिश राजनीतिज्ञों तथा साहित्यकारों का एक समूह जिसकी स्थापना १६वीं शताब्दी के पांचवें दशक के आरंभ में की गयी थी। पूंजीपति वर्ग की बढ़ती हुई आर्थिक तथा राजनीतिक शक्ति के प्रति सामंती अभिजातीय वर्ग का असंतोष प्रकट करते हुए "तरुण इंगलैंड" के नेता मज़दूर वर्ग को अपने प्रभाव के अधीन करने तथा पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ अपने संघर्ष में उसका एक साधन के रूप में इस्तेमाल करने के लिये वाक्छल तथा शब्दाडंबर का सहारा लेते थे।–पृ० १५५

[61] **युंकर**–संकीर्ण अर्थ में पूर्वी प्रशा का सामन्ती अभिजात वर्ग। व्यापक अर्थ में जर्मन जागीरदारों का वर्ग।–पृ० १५६

[62] यहां इशारा उन निम्नपूंजीवादी जनतंत्रवादी जनवादियों तथा निम्नपूंजीवादी समाजवादियों की ओर है, जो पेरिस में १८४३ से १८५० तक प्रकाशित होनेवाले फ़्रांसीसी समाचारपत्र *«La Réforme»* ('सुधार') की नीति पर चलते थे। ये लोग जनतंत्र की स्थापना का तथा जनवादी और सामाजिक सुधारों का समर्थन करते थे।–पृ० १६६

[63] *«La Réforme»*–देखें, टिप्पणी ६२।–पृ० १६६

[64] फ़रवरी १८४६ में सारे पोलिश प्रदेशों में राष्ट्रीय मुक्ति के हेतु विद्रोह के लिए तैयारियां की गयीं। पोलैंड के क्रांतिकारी जनवादी (देम्बोव्स्की आदि) इस विद्रोह के मुख्य प्रेरक और प्रोत्साहक थे। परन्तु पोलिश अभिजात वर्ग के एक भाग द्वारा विश्वासघात तथा प्रशियाई पुलिस द्वारा विद्रोह के कर्णधारों की गिरफ़्तारी के कारण संगठित विद्रोह की जगह छिटफुट बलवे ही हो सके। केवल क्रैको में, जो १८१५ से आस्ट्रिया, रूस और प्रशा के संयुक्त नियंत्रण में था, २२ फ़रवरी को विद्रोहियों की विजय हुई। उन्होंने वहां एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की, जिसने एक घोषणापत्र जारी कर सामंती प्रभुओं के लिए की जानेवाली अनिवार्य सेवायें रद्द कर दीं। मार्च १८४६ में क्रैको विद्रोह कुचल दिया गया। नवंबर १८४६ में आस्ट्रिया, प्रशा तथा रूस के बीच एक

संधि हुई, जिसके अनुसार क्रैको आस्ट्रियाई साम्राज्य में शामिल कर दिया गया।—पृ० १६७

[65] यह लेख मार्क्स की कृति **'पूंजीपति वर्ग तथा प्रतिक्रान्ति'** (दिसम्बर १८४८ में लिखित) का एक भाग है। इसमें मार्क्स प्रशियाई प्रतिक्रान्ति की विजय का ऐतिहासिक-भौतिकवादी दृष्टिकोण से विश्लेषण करते हैं तथा जर्मनी में मार्च क्रान्ति के स्वरूप तथा विशिष्ट गुणों को प्रकाश में लाते हैं।—पृ० १६६

[66] यहां इशारा मार्च १८४८ में जर्मनी में हुई क्रान्ति की ओर है।—पृ० १६६

[67] यहां इशारा प्रशा के समस्त प्रान्तीय विधान सभाओं (लैंडटागों) के प्रतिनिधियों को लेकर बनी एस्टेट संस्था की ओर है। इस मामले में मार्क्स **दूसरे संयुक्त लैंडटाग** की चर्चा कर रहे हैं जिसे २ अप्रैल १८४८ को काम्प-हाउज़ेन की सरकार के समय संयोजित किया गया था। उसने प्रशियाई राष्ट्रीय सभा के लिए चुनावों के बारे में एक क़ानून पास किया और वह सरकार को वह ऋण देने के लिए सहमत हो गया जिसे १८४७ के संयुक्त लैंडटाग ने मंजूरी नहीं दी थी। इसके बाद लैंडटाग १० अप्रैल १८४८ को भंग कर दिया गया।—पृ० १६६

[68] **टोरी**—ब्रिटिश राजनीतिक पार्टी जिसका जन्म १८ वीं शताब्दी के अन्त में हुआ था। वह सामन्ती अभिजातों तथा चोटी के पादरी समुदाय के हितों का प्रतिनिधित्व करती थी तथा सामन्ती अतीत की परम्पराओं की रक्षा करते हुए उदारतावादी तथा प्रगतिशील मांगों का विरोध करती थी। इसी पार्टी के आधार पर १९ वीं शताब्दी के मध्य भाग में कंज़रवेटिव पार्टी की स्थापना हुई।—पृ० १६६

[69] यहां इशारा नीदरलैंड्स में (वर्तमान बेल्जियम तथा हालैंड), जो स्पेनी साम्राज्य का अंग था, १५६६–१६०९ की पूंजीवादी क्रान्ति की ओर है। इस क्रान्ति ने पूंजीपति वर्ग तथा जनसाधारण के सामन्तवाद विरोधी संघर्ष तथा स्पेनी शासन के विरुद्ध राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष को मिलाकर एक कर दिया था। निरन्तर पराजयों ने स्पेन को १६०९ में डच पूंजीवादी गणराज्य की स्वतंत्रता स्वीकार करने के लिए बाधित कर दिया। नीदरलैंड्स में १६ वीं शताब्दी की पूंजीवादी क्रान्ति ने यूरोप में विजयी पूंजीवादी क्रान्तियों के युग का सूत्रपात

कर दिया। वर्तमान बेल्जियम की भूमि १७१४ तक स्पेन के क़ब्ज़े में रही।—पृ० १७०

[70] यह कृति प्रकाशन के लिए तैयार करते समय मार्क्स ने पूंजीवादी समाज में वर्ग-संघर्ष के लिए भौतिक आधार बननेवाले आर्थिक सम्बन्धों की एक आम रूपरेखा प्रस्तुत करने का कार्य अपने समक्ष निर्धारित किया था। उनका मुख्य उद्देश्य सर्वहारा वर्ग को एक सैद्धान्तिक अस्त्र से लैस करना, उसे उस आधार की गहरी समझ प्रदान करना था जिस पर पूंजीवादी समाज में पूंजीपतियों का वर्ग शासन तथा मज़दूरों की उजरती दासता आधारित है। अतिरिक्त मूल्य के अपने सिद्धांत की मान्यताओं का विशदीकरण करते हुए मार्क्स ने पूंजीवाद के अन्तर्गत मज़दूर वर्ग की सापेक्ष तथा निरपेक्ष दरिद्रता के विषय में अपनी आम थीसिस को सूत्रित किया।—पृ० १७४

[71] «*Neue Rheinische Zeitung. Organ der Demokratie*» ('नया राइनी समाचारपत्र। जनवाद का मुखपत्र') — दैनिक समाचारपत्र जो कोलोन से १ जून १८४८ से १९ मई १८४९ तक निकलता रहा। मार्क्स इसके प्रधान संपादक थे और एंगेल्स संपादकमंडल के सदस्य।—पृ० १७४

[72] **जर्मन मज़दूर समाज** — मार्क्स और एंगेल्स ने अगस्त १८४७ के अंत में ब्रसेल्स में इस समाज की स्थापना की ताकि बेल्जियम में रहनेवाले जर्मन मज़दूरों की राजनीतिक चेतना का विकास किया जा सके और उनके बीच वैज्ञानिक कम्युनिज़्म के विचारों को फैलाया जा सके। मार्क्स तथा एंगेल्स और उनके सहयोगियों द्वारा निर्देशित यह समाज बेल्जियम में क्रांतिकारी जर्मन मज़दूरों को एकजुट करनेवाला एक वैधतापूर्ण केंद्र बन गया। समाज के सबसे प्रमुख सदस्य कम्युनिस्ट लीग की ब्रसेल्स शाखा के भी सदस्य थे। फ़्रांस में फ़रवरी १८४८ की पूंजीवादी क्रांति के थोड़े दिनों के बाद ही बेल्जियम की पुलिस द्वारा जर्मन मज़दूर समाज के सदस्यों की गिरफ़्तारियों तथा उनके देश-निकाले के कारण समाज का काम ठप हो गया।—पृ० १७४

[73] यहां संकेत हंगरी पर १८४९ में ज़ारशाही सेना की चढ़ाई की ओर है, जिसका उद्देश्य हंगरी की पूंजीवादी क्रांति को कुचल देना तथा आस्ट्रिया के हैब्सबर्ग राजवंश के शासन को पुनःस्थापित करना था।—पृ० १७४

[74] यहां इशारा जर्मनी के उन जन-विद्रोहों की ओर है जो मई – जुलाई १८४९ में शाही संविधान (२८ मार्च १८४९ को फ़्रैंकफ़ुर्ट की राष्ट्रीय सभा द्वारा स्वीकृत, पर अन्य कई जर्मन राज्यों द्वारा अस्वीकृत) के समर्थन में हुए थे। ये विद्रोह स्वतःस्फूर्त थे और विद्रोहियों में एकता न थी, इसलिए १८४९ के मध्य जुलाई तक उन्हें कुचल दिया गया। – पृ० १७४

[75] कालांतर में मार्क्स की पाण्डुलिपियों में एक लेख मिला जिसमें 'मज़दूरी' शीर्षक से उजरती श्रम और पूंजी के विषय पर एक समापन भाषण या अन्तिम व्याख्यान-माला की कच्ची रूपरेखा दी हुई है और आवरण-पृष्ठ पर एक टीप है: "ब्रसेल्स, दिसंबर १८४७"। विषय की दृष्टि से यह पाण्डुलिपि कुछ हद तक मार्क्स की अधूरी रचना 'उजरती श्रम और पूंजी' का ही आगे का क्रम मालूम होती है। परन्तु इस रचना के प्रकाशनार्थ प्रस्तुत अंतिम अध्याय मार्क्स की पाण्डुलिपियों में कभी नहीं पाये गये। – पृ० १७४

[76] मार्क्स ने 'पूंजी' में लिखा: "क्लासिकल राजनीतिक अर्थशास्त्र से मेरा मतलब डब्ल्यू० पेटी से लेकर उस सारे अर्थशास्त्र से है जो उत्पादन के पूंजीवादी अन्तःसम्बन्धों की खोजबीन करता रहा है।" ब्रिटेन में ऐडम स्मिथ तथा डेविड रिकार्डो क्लासिकल राजनीतिक अर्थशास्त्र के सर्वप्रमुख प्रतिनिधियों में थे। – पृ० १७६

[77] 'ड्यूहरिंग मत-खंडन' में एंगेल्स लिखते हैं: "यद्यपि अधिक संकुचित अर्थ में राजनीतिक अर्थशास्त्र ने पहले पहल सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में कुछ अत्यन्त प्रतिभाशाली व्यक्तियों के मस्तिष्कों में जन्म लिया था, तथापि जिस सकारात्मक रूप में उसे फ़िजियोक्राटों तथा ऐडम स्मिथ ने सूत्रबद्ध किया है, उस रूप में वह मूलतया अठारहवीं शताब्दी की सन्तान है..." – पृ० १७६

[78] एंगेल्स का इशारा १८९१ के मई दिवस समारोह की ओर है। कुछ देशों (ब्रिटेन और जर्मनी) में मई दिवस १ मई के बाद पहले रविवार को मनाया गया, जो १८९१ में ३ मई को पड़ा था। – पृ० १८३

[79] यहां आशय उस अत्यन्त उलझी हुई गांठ से है जिससे एक मिथक के अनुसार फ़िजियन राजा गोर्डियस ने जूए को रथ के डंडे से बांध दिया था। इस सम्बन्ध में एक देववाणी हुई थी, उसमें कहा गया था कि गांठ खोलनेवाला व्यक्ति

एशिया का राजा बन जायेगा। सिकन्दर महान ने गांठ खोलने के बजाय उसे तलवार से काट डाला था।—पृ० १६२

[80] **'कम्युनिस्ट लीग के नाम केन्द्रीय समिति का सन्देश'** मार्क्स तथा एंगेल्स ने मार्च १८५० के उत्तरार्द्ध में लिखा था। उस समय तक उन्हें यह उम्मीद बनी हुई थी कि एक क्रान्तिकारी उभार आकर रहेगा। आगामी क्रान्ति में सर्वहारा के सिद्धान्त तथा कार्यनीति तैयार करते समय मार्क्स तथा एंगेल्स ने स्वतंत्र सर्वहारा पार्टी स्थापित करने, निम्नपूंजीवादी जनवादियों से अलग रहने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया था। 'सन्देश' में मुख्य, पथ-प्रदर्शनकारी विचार है स्थायी क्रान्ति का विचार जिसे निजी स्वामित्व तथा वर्गों को ख़त्म तथा नये समाज की स्थापना करना है।

'केन्द्रीय समिति का सन्देश' कम्युनिस्ट लीग के सदस्यों में गुप्त रूप से वितरित किया गया था। १८५१ में यह दस्तावेज़, जिसे पुलिस ने लीग के कुछ गिरफ़्तार सदस्यों से बरामद किया, जर्मन पूंजीवादी अख़बारों में तथा वेर्मुट और श्टीबर नामक पुलिस अधिकारियों द्वारा लिखित पुस्तक में प्रकाशित हुई थी।—पृ० १२७

[81] यहां इशारा फ़्रांस की राजधानी पेरिस की ओर है जिसे १८ वीं शताब्दी के अन्त की फ़्रांसीसी पूंजीवादी क्रान्ति के बाद से ही क्रान्ति का सरगर्म अड्डा माना जाता रहा।—पृ० २१६

[82] **पुनीत संघ**—यूरोपीय सम्राटों की एक प्रतिक्रियावादी संस्था जिसे ज़ारशाही रूस, आस्ट्रिया तथा प्रशा ने पृथक-पृथक देशों में क्रान्तिकारी आन्दोलन कुचलने तथा वहां सामन्ती राजवंशों को क़ायम रखने के लिए १८१५ में स्थापित किया था।—पृ० २१६

[83] यहां इशारा राष्ट्रीय सभा के निम्नपूंजीवादी वामपक्ष की ओर है। इस राष्ट्रीय सभा को जर्मनी में मार्च क्रान्ति के बाद संयोजित किया गया था और १८ मई १८४८ को फ़्रैंकफ़ुर्ट-आन-मेन में उसका अधिवेशन आरम्भ हुआ। उसका मुख्य कार्य था जर्मनी में राजनीतिक फूट का अन्त करना तथा सारे जर्मनी का संविधान तैयार करना। परन्तु राष्ट्रीय सभा की उदारतावादी बहुसंख्या की कायरता और ढुलमुलपन के कारण तथा उसके वामपक्ष के निर्णय न कर सकने

तथा असंगतता के कारण राष्ट्रीय सभा सर्वोच्च सत्ता की बागडोर अपने हाथों में लेने में विफल रही और १८४८-४९ की क्रान्ति के आधारभूत प्रश्नों पर दृढ़ रुख़ नहीं अपना सकी। ३० मई १८४९ को राष्ट्रीय सभा को विवश होकर स्टुटगार्ट जाना पड़ा। १८ जून १८४९ को सैनिकों ने उसे विसर्जित कर दिया। – पृ० २१९

[84] *«Neue Oder-Zeitung»* ('नूतन आडेर गज़ेट') – इसी नाम से ब्रेस्लाउ (व्रोतस्लाव) में १८४९ से १८५५ तक प्रकाशित होनेवाला जर्मन पूंजीवादी-जनवादी दैनिक। १८५५ में मार्क्स उसके लन्दन स्थित सम्वाददाता थे। – पृ० २२३

[85] कृषि-प्रश्न के बारे में यहां मार्क्स तथा एंगेल्स द्वारा प्रकट किये गये विचार १९ वीं शताब्दी के पांचवें तथा छठे दशक में क्रान्तियों की सम्भावनाओं के बारे में उनके आम मूल्यांकन से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। जैसा कि लेनिन ने परिलक्षित किया है, मार्क्सवाद के संस्थापकों की उस समय मान्यता यह थी कि पूंजीवाद तो सठिया चुका है और समाजवाद बिल्कुल पास है। यह मानकर वे 'सन्देश' में छीनी गयी ज़मीन किसानों को सौंपने का विरोध करते हैं, इस बात का समर्थन करते हैं कि उसे राजकीय सम्पत्ति में बदल दिया जाये तथा संयुक्त देहाती सर्वहारा वर्ग की मजदूर-बस्तियों के हाथों में सौंप दिया जाये।

रूस में महान अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति तथा अन्य देशों में क्रान्तिकारी आन्दोलन के अनुभव के आधार पर लेनिन ने कृषि-प्रश्न पर मार्क्सवादी विचारों का विकास किया। उन्नत पूंजीवादी देशों में सर्वहारा क्रान्ति की विजय के बाद बड़े-बड़े कृषि-उद्यमों में से अधिकांश को ज्यों का त्यों बनाये रखने की आवश्यकता स्वीकार करने के साथ-साथ उन्होंने यह भी लिखा, "परन्तु इस नियम को अतिरंजित अथवा उसे रूढ़िबद्ध बना देना तथा उस भूमि के, जो सम्पत्ति से वंचित किये जा चुके सम्पत्तिहर्ताओं की थी, एक भाग को कभी आस-पड़ोस के छोटे और कभी-कभी मझोले किसानों को निःशुल्क न देने देना भारी ग़लती होगी।" – पृ० २२६

[86] **कन्वेंशन** – यह १८ वीं शताब्दी के अन्त में फ़्रांसीसी पूंजीवादी क्रान्ति के दौरान फ़्रांसीसी राष्ट्रीय सभा का नाम था। उसकी स्थापना १७९२ में हुई थी।

उसने सामन्तवाद का अन्तिम रूप से उन्मूलन कर दिया, तमाम प्रतिक्रान्तिकारी और समझौतापरस्त तत्त्वों को निर्ममतापूर्वक कुचल दिया तथा विदेशी हस्तक्षेपकारियों से युद्ध किया।—पृ० २२७

[87] **ब्रूमेर**—फ़्रांसीसी जनतंत्रीय कलैंडर का एक माह। १८ ब्रूमेर (६ नवम्बर) १७६६ को नेपोलियन बोनापार्त ने बलात सत्ता-परिवर्तन कर सैनिक अधिनायकत्व की स्थापना कर दी।—पृ० २२७

[88] मार्क्स की कृति **'फ़्रांस में वर्ग-संघर्ष, १८४८—१८५०'** में वह लेखमाला शामिल है जो '१८४८ से १८४६ तक' शीर्षक से लिखी गयी थी। यह कृति फ़्रांस के इतिहास के एक पूरे दौर पर भौतिकवादी स्थिति से प्रकाश डालती है तथा सर्वहारा की क्रान्तिकारी कार्यनीति के महत्वपूर्ण सिद्धांत निर्धारित करती है। जन क्रान्तिकारी संघर्ष के व्यावहारिक अनुभव का उपयोग करते हुए मार्क्स ने इस कृति में क्रान्ति तथा सर्वहारा के अधिनायकत्व के अपने सिद्धांत का विकास किया। मज़दूर वर्ग के लिए सत्ता हासिल करना आवश्यक है, यह सिद्ध करते हुए मार्क्स इसमें पहली बार "सर्वहारा का अधिनायकत्व" शब्दावली का उपयोग करते हैं तथा इस अधिनायकत्व के राजनीतिक, आर्थिक तथा विचारधारात्मक कार्यभारों को प्रकाश में लाते हैं। वह मज़दूर वर्ग तथा कृषक समुदाय के मोर्चे के विचार को सूत्रित करते हैं जिसमें अग्रणी भूमिका मज़दूर वर्ग की हो। मूल योजनानुसार 'फ़्रांस में वर्ग-संघर्ष' में चार लेख शामिल किये जाने थे—'जून १८४८ की पराजय', '१३ जून १८४६', 'महाद्वीप के लिए १३ जून के परिणाम' तथा 'इंगलैंड में मौजूदा स्थिति'। परन्तु इनमें से केवल तीन ही लेख प्रकाशित हो सके। जून १८४६ की घटनाओं का महाद्वीप पर पड़नेवाले प्रभाव से सम्बन्धित प्रश्नों तथा इंगलैंड की स्थिति पर *«Neue Rheinische Zeitung»* में प्रकाशित अन्य लेखों में और विशेष रूप से मार्क्स तथा एंगेल्स द्वारा संयुक्त रूप में लिखित अन्तर्राष्ट्रीय समीक्षाओं में प्रकाश डाला गया। एंगेल्स ने जब इस कृति को १८६५ में प्रकाशन के लिए तैयार किया तो उन्होंने चौथा अध्याय भी उसमें जोड़ दिया जिसमें 'तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय समीक्षा' के फ़्रांसीसी घटनाओं से सम्बन्धित अनुभाग शामिल किये गये। एंगेल्स ने इस अध्याय का शीर्षक रखा, '१८५० में सार्वजनिक मताधिकार का अन्त'।—पृ० २३०

[89] एंगेल्स ने मार्क्स की कृति 'फ़ांस में वर्ग-संघर्ष, १८४८–१८५०' के लिए **भूमिका** इस कृति के पृथक प्रकाशन (बर्लिन, १८९५) के वास्ते लिखी थी।

मार्क्स ने अपनी रचना में १८४८–१८४९ की क्रांति का और उसकी नसीहतों का जो विश्लेषण दिया है, उसके अपार महत्व को प्रकट करते हुए एंगेल्स ने भूमिका के मुख्य भाग में सर्वहारा के वर्ग-संघर्ष, प्रधानतः जर्मनी में वर्ग-संघर्ष से प्राप्त अनुभव को समान्वित रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने सर्वहारा वर्ग को समाजवादी क्रान्ति के लिए तैयार कराने की ग़रज़ से सभी क़ानूनी उपायों का इस्तेमाल करने, जनवाद के लिए संघर्ष को समाजवादी क्रान्ति के लिए संघर्ष के साथ दक्षतापूर्वक संयोजित करने तथा पहले संघर्ष को दूसरे के अधीन करने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया। भूमिका में एंगेल्स ने ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुरूप कार्यनीतिक तरीक़ों और संघर्ष के रूपों को तथा जब प्रतिक्रियावादी शासक वर्ग हिंसा और बल-प्रयोग पर उतर आयें तब क्रांतिकारी कार्रवाइयों के शांतिपूर्ण रूपों को, जिन्हें सर्वहारा तरजीह देता है, त्याग कर ग़ैरशान्तिपूर्ण रूपों को इस्तेमाल करने के आधारभूत मार्क्सवादी सिद्धांतों को पुनः प्रत्यक्ष किया है।

भूमिका के प्रकाशन से पहले जर्मनी की सामाजिक-जनवादी पार्टी के बोर्ड ने एंगेल्स से ज़ोरदार आग्रह किया था कि वह उसकी "अति क्रांतिकारी" भावना को कुछ हलका कर दें और उसे अधिक सावधानी भरा रूप दें। एंगेल्स ने पार्टी के नेताओं की ढुलमुल स्थिति की और "विशुद्ध रूप से क़ानूनियत के दायरे में काम करने की" उनकी कोशिशों की कड़ी आलोचना की। फिर भी बोर्ड के दबाव के कारण उन्हें विवश होकर भूमिका की प्रूफ़-कापी में कुछ काट-छांट करने और कुछ प्रस्थापनाओं को बदलने के लिए सहमत होना पड़ा।

इसके साथ ही कटी-छंटी भूमिका के आधार पर कुछ सामाजिक-जनवादी नेताओं ने यह दिखाने की कोशिश की कि एंगेल्स मज़दूर वर्ग के मात्र शांतिपूर्ण तरीक़े से सत्तारूढ़ होने के समर्थक थे, कि वह "किसी भी क़ीमत पर क़ानूनियत" की पूजा करते थे। इस पर एंगेल्स ने घोर रोषपूर्वक आग्रह किया कि उनकी भूमिका «*Neue Zeit*» पत्र में पूर्ण और अविकल रूप से प्रकाशित की जाये। इसके बावजूद पत्र में भूमिका उन परिवर्तनों के साथ ही प्रकाशित हुई जो लेखक को उपरोक्त पृथक् संस्करण के लिए विवश होकर करने पड़े थे।

एंगेल्स की भूमिका का पूर्ण अविकल पाठ पहली बार सोवियत संघ में १९३० में इस पुस्तक में प्रकाशित किया गया: कार्ल मार्क्स, 'फ्रांस में वर्ग-संघर्ष, १८४८–१८५०'।–पृ० २३०

[90] «*Neue Rheinische Zeitung. Politisch-ökonomische Revue*» ('नया राइनी समाचारपत्र। राजनीतिक-आर्थिक समीक्षा') – मार्क्स और एंगेल्स द्वारा स्थापित कम्युनिस्ट लीग का सैद्धांतिक और राजनीतिक मुखपत्र, जो दिसम्बर १८४९ से नवम्बर १८५० तक निकलता रहा। वह हैम्बर्ग में छपता था। कुल मिलाकर इसके छः अंक निकले थे। जर्मनी में पुलिस के जुल्म तथा धनाभाव के कारण पत्र बन्द हो गया।–पृ० २३२

[91] यहां इशारा उस सरकारी आर्थिक सहायता की ओर है जिसे एंगेल्स ने व्यंग्य से हैम्बर्ग के निकट सैक्सनवाल्द में उस जागीर का नाम दिया है जिसे सम्राट विल्हेल्म प्रथम ने बिस्मार्क को बख़्शा था।–पृ० २३३

[92] In partibus infidelium (शाब्दिक अर्थ: काफ़िरों के देश में) – ग़ैर-ईसाई देशों के बिशप के नाम मात्र पद पर नियुक्त किये जानेवाले कैथोलिक बिशप की उपाधि के साथ जुड़े शब्द। मार्क्स और एंगेल्स ने अपनी रचनाओं में देश विशेष की वस्तुस्थिति का लिहाज़ किये बिना विदेशों में स्थापित की गयी प्रवासी सरकारों के लिए अक्सर इस फ़िक़रे का इस्तेमाल किया है।–पृ० २३४

[93] यहां इशारा १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में फ़्रांसीसी पूंजीपति वर्ग की दो राजवंशवादी पार्टियों – लेजिटिमिस्टों (देखें टिप्पणी ५९) और आर्लियानिस्टों की ओर है।

आर्लियानिस्ट – आर्लियां राजवंश के समर्थक। यह राजवंश बूर्बों राजवंश की एक छोटी शाखा था, जो १८३० की जुलाई क्रान्ति में सत्तारूढ़ और १८४८ की क्रान्ति द्वारा सत्ताच्युत हुआ। आर्लियानिस्ट वित्तीय महाप्रभुओं तथा बड़े पूंजीपतियों के हितों की हिमायत करते थे।

दूसरे जनतंत्र के दौर में (१८४८–१८५१) लेजिटिमिस्ट और आर्लियानिस्ट संयुक्त अनुदारपंथी "अमन की पार्टी" का नाभिक बन गये।–पृ० २३८

[94] नेपोलियन तृतीय के शासन-काल में फ़्रांस ने क्रीमियाई युद्ध (१८५४–१८५५) में भाग लिया, इटली को लेकर आस्ट्रिया के साथ युद्ध किया (१८५९),

ब्रिटेन के साथ मिलकर चीन के ख़िलाफ़ युद्धों में भाग लिया (१८५६–१८५८ और १८६०), हिन्दचीन को जीतना शुरू किया (१८६०–१८६१), सीरिया में (१८६०–१८६१) और फिर मेक्सिको में (१८६२–१८६७) सशस्त्र अभियान संगठित किया, और अंत में (१८७०–१८७१) प्रशा के विरुद्ध युद्ध किया।–पृ० २३८

95 एंगेल्स द्वारा प्रयुक्त शब्द लूई बोनापार्त के द्वितीय साम्राज्य (१८५२–१८७०) के शासक गुटों द्वारा चलायी गयी विदेश नीति के एक सिद्धांत को व्यक्त करते हैं। महान शक्तियों के शासक वर्गों ने इस तथाकथित "राष्ट्रीयता के सिद्धांत" का देश-विजय तथा विदेशों में दुस्साहसिकता की अपनी योजनाओं को एक सैद्धांतिक आवरण प्रदान करने के लिए व्यापक उपयोग किया था। इस सिद्धांत और राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार की मान्यता में कोई साम्य नहीं था; वास्तव में उसका इस्तेमाल जातीय द्वेष और कलह को भड़काने और राष्ट्रीय आंदोलनों को, विशेषत: छोटी जातियों के राष्ट्रीय आंदोलनों को, प्रतिद्वंद्वी महान शक्तियों की प्रतिक्रान्तिकारी नीतियों के एक साधन में बदल देने के लिए किया गया।–पृ० २३८

96 **जर्मन महासंघ** जिसे वियेना कांग्रेस ने ८ जून १८१५ को स्थापित किया था, सामन्ती-निरंकुशवादी राज्यों का संगठन था। उसने जर्मनी में राजनीतिक तथा आर्थिक फूट को जारी रखने में मदद दी।–पृ० २३९

97 १८७०-७१ के फ़्रांस-प्रशा युद्ध में प्रशा की विजय के फलस्वरूप एक जर्मन साम्राज्य का जन्म हुआ जिसमें आस्ट्रिया नहीं था। इसी कारण उसका **"लघु जर्मन साम्राज्य"** नाम पड़ा। नेपोलियन तृतीय की पराजय से फ़्रांस में क्रान्ति को प्रेरणा मिली जिसने लूई बोनापार्त का तख़्ता उलट दिया तथा ४ सितम्बर १८७० को जनतंत्र की स्थापना की।–पृ० २३९

98 **राष्ट्रीय गार्ड**–सशस्त्र स्वयंसेवक सेना जिसके कमांडर निर्वाचित होते थे। राष्ट्रीय गार्ड ने फ़्रांस तथा अन्य पश्चिम यूरोपीय देशों में काम किया। वह पहले-पहल फ़्रांस में १७८९ में, पूंजीवादी क्रान्ति के आरम्भ के समय स्थापित हुआ था। १८७१ तक वह बीच-बीच में प्रकट होता रहा। १८७०-७१ में पेरिस के राष्ट्रीय गार्ड ने जिसे फ़्रांस-प्रशा युद्ध के दौरान आम जनवादी जनता की शिरक़त ने मज़बूत बना दिया था, प्रमुख क्रान्तिकारी भूमिका अदा की।

फ़रवरी १८७१ में राष्ट्रीय गार्ड की जो केन्द्रीय समिति स्थापित हुई, उसने १८ मार्च १८७१ के सर्वहारा विप्लव का नेतृत्व किया और वह १८७१ के पेरिस कम्यून के आरम्भिक दौर में विश्व की प्रथम सर्वहारा सरकार के रूप में काम करता रहा (२८ मार्च तक)। पेरिस कम्यून के कुचले जाने के बाद राष्ट्रीय गार्ड को विघटित कर दिया गया। —पृ० २३९

99 यहां इशारा १८७०-७१ के फ्रांस-प्रशा युद्ध में पराजय के बाद फ्रांस द्वारा क्षतिपूर्ति के रूप में दी जानेवाली ५ अरब फ्रांक की धनराशि की ओर है। —पृ० २४०

100 **समाजवादियों के विरुद्ध असाधारण क़ानून** जर्मनी में २१ अक्तूबर १८७८ को लागू किया गया। उसके अनुसार सामाजिक-जनवादी पार्टी के सारे संगठनों, आम मज़दूर संगठनों तथा मज़दूरों के अख़बारों पर पाबन्दी लगा दी गयी, समाजवादी साहित्य ज़ब्त किया जाने लगा तथा सामाजिक-जनवादियों को ज़ुल्म का शिकार बनाया गया। आम मज़दूर आन्दोलन के दबाव में यह क़ानून १ अक्तूबर १८९० को रद्द कर दिया गया। —पृ० २४१

101 सार्विक मताधिकार बिस्मार्क ने १८६६ में उत्तर-जर्मन राइख़स्टाग (संसद) के और १८७१ में संयुक्त जर्मन साम्राज्य के राइख़स्टाग के चुनावों के लिए लागू किया था। —पृ० २४२

102 एंगेल्स यहां फ्रांसीसी मज़दूर पार्टी के कार्यक्रम के लिए, जो १८८० में हावर में हुई कांग्रेस में अनुमोदित किया गया था, मार्क्स द्वारा लिखित सैद्धान्तिक प्राक्कथन को उद्धृत कर रहे हैं। —पृ० २४२

103 क्रान्तिकारी जनसाधारण ने लूई बोनापार्त की सरकार का तख़्ता ४ **सितम्बर १८७०** को उलट दिया तथा जनतंत्र की घोषणा कर दी। **उसी वर्ष ३१ अक्तूबर** को ब्लांकी के अनुयायियों द्वारा राष्ट्रीय प्रतिरक्षा सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने का प्रयत्न किया गया जो विफल रहा। —पृ० २४६

104 **वाग्राम** की लड़ाई १८०९ के आस्ट्रिया-फ्रांस युद्ध के दौरान ५–६ जुलाई को हुई। नेपोलियन बोनापार्त के नेतृत्व में फ्रांसीसी सैनिकों ने आर्चड्यूक चार्ल्स की आस्ट्रिया सेना को परास्त कर दिया।

वाटरलू की लड़ाई १८ जून १८१५ को हुई। नेपोलियन परास्त हो गया। यह लड़ाई १८१५ के अभियान के लिए निर्णायक महत्व की थी। उसने यूरोपीय शक्तियों के नेपोलियन-विरोधी गठबन्धन की अन्तिम विजय तथा नेपोलियन बोनापार्त के साम्राज्य की पराजय पूर्वनिश्चित कर दी।—पृ० २४७

105 यहां एंगेल्स का इशारा उस दीर्घ संघर्ष की ओर है, जो मैक्लेनबुर्ग-श्वेरिन और मैक्लेनबुर्ग-स्त्रेलित्स की ग्रैंड डचियों में ड्यूकों और सामन्तों के बीच चला और जिसके फलस्वरूप सामन्तों के आनुवंशिक अधिकारों के बारे में रोस्तोक में १७५५ में संवैधानिक संधि पर दस्तख़त हुए। संधि ने सामन्तों के पुराने स्वातंत्र्यों तथा विशेषाधिकारों की पुष्टि की और विधान सभाओं (लैंडटागों) में, जो एस्टेट सिद्धांत के आधार पर संगठित की गई थीं, उनकी नेतृत्वकारी भूमिका सुनिश्चित कर दी। इस संधि के अंतर्गत उनकी आधी ज़मीनें टैक्स से मुक्त कर दी गयीं, व्यापार और दस्तकारी पर टैक्स नियत किये गये और राजकीय व्यय में उनके योगदान को निश्चित किया गया।—पृ० २४८

106 समाजवादियों के विरुद्ध एक नये असाधारण क़ानून का मसविदा जर्मन राइख़स्टाग में ५ दिसम्बर १८९४ को पेश किया गया परन्तु ११ मई १८९५ को उसे अस्वीकृत कर दिया गया।—पृ० २५२

107 यहां इशारा १८३० की पूंजीवादी क्रान्ति की ओर है जिसने बूर्बों राजवंश का तख़्ता उलट दिया था।—पृ० २५४

108 आर्लियां के ड्यूक ने लूई फ़िलिप के नाम से फ़्रांसीसी राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया।—पृ० २५४

109 **५–६ जून १८३२** को पेरिस में विद्रोह हुआ। उसमें भाग लेनेवाले मज़दूरों ने बैरीकेड खड़े कर दिये तथा बहुत साहसपूर्वक और संकल्पपूर्वक अपनी रक्षा की।

अप्रैल १८३४ को लियों में मज़दूरों ने विद्रोह किया। यह फ़्रांसीसी सर्वहारा वर्ग की पहली व्यापक कारंवाई थी। अन्य नगरों, विशेष रूप से पेरिस में जनतंत्रवादियों द्वारा समर्थित यह विद्रोह निर्ममतापूर्वक कुचल दिया गया।

१२ मई १८३९ के पेरिस विद्रोह की तैयारी जिसमें क्रांतिकारी मज़दूरों ने मुख्य भूमिका अदा की, Société de saisons (ऋतु-समाज) नामक

संस्थां ने की थी। यह एक गुप्त जनतंत्रवादी-समाजवादी सोसायटी थी जिसके नेता श्रोग्यूस्त ब्लांकी तथा आर्मान बार्बेस थे। सरकारी सैनिकों तथा राष्ट्रीय गार्ड ने विद्रोह को कुचल दिया।—पृ० २५४

[110] **जुलाई राजतंत्र**—लूई फ़िलिप का शासन-काल (१८३०-४८)—यह नाम जुलाई क्रान्ति के नाम पर पड़ा।—पृ० २५५

[111] **ज़ोंडरबुंड** (Sonderbund)—आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए सात कैथोलिक स्विस प्रदेशों की पृथक संधि (१८४३), उसका उद्देश्य स्विट्ज़रलैंड में प्रगतिशील पूंजीवादी सुधारों का विरोध करना तथा चर्च और जेसुइटों के विशेषाधिकारों की रक्षा करना था। स्विस संसद का जुलाई १८४७ का निर्णय, जिसके ज़रिए ज़ोंडरबुंड को भंग कर दिया गया था, ज़ोंडरबुंड के लिए अन्य प्रदेशों के विरुद्ध नवम्बर के शुरू में फ़ौजी कार्रवाइयां शुरू करने का बहाना बन गया। २३ नवम्बर १८४७ को संघ सरकार के सैनिकों ने ज़ोंडरबुंड की सेना को शिकस्त दे दी। लड़ाई के दौरान प्रतिक्रियावादी पश्चिम यूरोपीय देशों ने अर्थात् पुनीत संघ के भूतपूर्व सदस्यों—आस्ट्रिया तथा प्रशा—ने ज़ोंडरबुंड की सहायता के लिए स्विस मामलों में हस्तक्षेप करने का यत्न किया। गीज़ो ने तो वस्तुतः इन देशों का समर्थन किया और इस तरह ज़ोंडरबुंड को अपना संरक्षण प्रदान किया।—पृ० २५८

[112] ब्यूज़ान्स (एन्द्र प्रांत) में आस-पड़ोस के गांवों के भुखमरी से पीड़ित मज़दूरों ने १८४७ के वसन्त में स्थानीय मुनाफ़ाख़ोरों के अनाज के गोदामों पर हमला किया, उसके फलस्वरूप वहां के निवासियों तथा सैनिकों के बीच टक्कर हो गयी। ब्यूज़ान्स की घटनाओं का नतीजा यह हुआ कि सरकार ने लोगों का दमन करने के लिए कठोर पग उठाये; दंगे में भाग लेनेवाले चार व्यक्तियों को १६ अप्रैल १८४७ को फांसी के तख़्ते पर चढ़ा दिया गया तथा बहुत-से दूसरे लोगों को कठोर कारावास का दंड मिला।—पृ० २५९

[113] *«Le National»*—पेरिस में १८३० से १८५१ तक प्रकाशित होनेवाला दैनिक; नरमपंथी पूंजीवादी जनतंत्रवादियों का अख़बार; अस्थायी सरकार में इन लोगों के मुख्य प्रतिनिधि मारास्त, बास्तीद और गार्नियें-पाजेस थे।—पृ० २६०

114 «*La Gazette de France*» – पेरिस में १६३१ से प्रकाशित होनेवाला दैनिक। १९वीं शताब्दी के पांचवें दशक में वह लेजिटिमिस्टों – बूर्बों राजवंश की पुनःस्थापना के समर्थकों का मुखपत्र रहा। – पृ० २६२

115 फ़्रांसीसी राष्ट्रीय पताका का स्वरूप तय करने का सवाल फ़्रांसीसी जनतंत्र के प्रथम दिनों में उठा। पेरिस के क्रान्तिकारी मज़दूरों ने मांग की कि वह लाल यानी उस झंडे का रंग होना चाहिए जो पेरिस में १८३२ के जून विद्रोह के दौरान मज़दूरों के उपनगरों में फहराया गया था। पूंजीवादी प्रतिनिधियों ने तिरंगे (नीले, सफ़ेद तथा लाल) पर ज़ोर दिया जो १८वीं शताब्दी के अन्त की पूंजीवादी क्रान्ति के दौरान तथा नेपोलियन के साम्राज्य के दौरान फ़्रांस का राष्ट्रध्वज था। १८४८ की क्रान्ति से पहले तिरंगा झंडा «*National*» समाचारपत्र के इर्दगिर्द एकजुट पूंजीवादी जनतंत्रवादियों का भी झंडा था। मज़दूरों के प्रतिनिधियों को तिरंगे झंडे को राष्ट्रध्वज के रूप में स्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ा। परन्तु उनके ज़ोर देने पर ध्वजदंड पर लाल गुलाब की आकृति अंकित कर दी गयी। – पृ० २६५

116 «*Le Moniteur universel*» ('सार्वत्रिक उद्घोषक') – फ़्रांसीसी दैनिक, सरकारी मुखपत्र जो पेरिस में १७८९ और १९०१ के बीच छपता रहा। वह अनिवार्यतः सरकारी आज्ञप्तियां, संसदीय रिपोर्टें तथा दूसरी सरकारी दस्तावेज़ें प्रकाशित करता था। १८४८ में इसने लुक्ज़म्बर्ग आयोग की कार्रवाइयों की रिपोर्टें भी छापीं। – पृ० २६५

117 फ़्रांस में प्रथम जनतंत्र १७९२ से १८०४ तक क़ायम रहा। – पृ० २६६

118 यहां इशारा उस राशि की ओर है जो १८वीं शताब्दी के अन्त में फ़्रांसीसी पूंजीवादी क्रान्ति के दौरान सम्पत्ति से वंचित किये गये अभिजातों को मुआवज़ा देने के लिए फ़्रांसीसी सम्राट द्वारा १८२५ में तय की गयी थी। – पृ० २७०

119 Lazzaroni (लाज़्ज़ारोनी) – इटली में वर्गहीन होनेवाले, लम्पट सर्वहारा तत्वों को दिया गया नाम; प्रतिक्रियावादी-राजतंत्रवादी क्षेत्रों ने उदारपंथी तथा जनवादी आन्दोलनों के विरुद्ध संघर्ष में लाज़्ज़ारोनियों को बार-बार इस्तेमाल किया। – पृ० २७२

[120] १८३४ में इंगलैंड में मंजूर किये गये 'दरिद्र क़ानून' में केवल एक प्रकार की राहत की व्यवस्था की गयी थी – यह थी ग़रीबों को वर्कहाउसों में रखा जाना जहां नियम-अनुशासन जेलों की तरह ही था। मजदूरों को अनुत्पादक, नीरस तथा कमर-तोड़ कामों पर लगा दिया जाता था। इन वर्कहाउसों का नाम लोगों ने "ग़रीबों के लिए बास्तील" रख दिया था। – पृ० २७२

[121] **१५ मई** १८४८ को एक जन-प्रदर्शन के दौरान पेरिस के मजदूर तथा दस्तकार संविधान सभा के सदन में उस समय घुस गये जब उसका अधिवेशन चल रहा था, उन्होंने संविधान सभा भंग करने की घोषणा और एक क्रान्तिकारी सरकार की स्थापना की। परन्तु प्रदर्शनकारियों को राष्ट्रीय गार्डों तथा सैनिकों ने शीघ्र तितर-बितर कर दिया। ब्लांकी, बार्बेस, अल्बेर, रास्पायल, सोब्रिए तथा मजदूरों के अन्य नेताओं को गिरफ़्तार कर लिया गया। – पृ० २७७

[122] **१६ अप्रैल** १८४८ को पेरिस में मजदूरों ने एक शान्तिपूर्ण जुलूस निकाला। वे अस्थायी सरकार के पास यह आवेदन करने जा रहे थे कि "श्रम का संगठन" किया जाये तथा "इन्सान के हाथों इन्सान के शोषण का ख़ात्मा किया जाये"। जुलूस को पूंजीवादी राष्ट्रीय गार्ड ने रास्ते में ही रोक दिया जिसे इसी विशेष उद्देश्य के लिए संगठित किया गया था। – पृ० २८२

[123] यहां इशारा २८ अगस्त १८४८ को *«Journal des Débats»* में प्रकाशित अग्रलेख की ओर है।

«Journal des Débats politiques et littéraires» ('राजनीतिक तथा साहित्यिक वाद-विवाद का पत्र') नामक फ़्रांसीसी दैनिक पत्र का प्रकाशन पेरिस में १७८९ में आरम्भ हुआ था। जुलाई राजतंत्र के दौरान वह सरकारी अख़बार, आर्लियांवादी पूंजीपति वर्ग का मुखपत्र था। १८४८ की क्रान्ति के दौरान अख़बार प्रतिक्रान्तिकारी पूंजीपति वर्ग के, तथाकथित अमन की पार्टी के विचार व्यक्त करता रहा। – पृ० २८४

[124] **जांनिसार** – तुर्क सुल्तान की नियमित पैदल सेना जिसे १४वीं शताब्दी में संगठित किया गया था। इसके सैनिक अपनी निर्ममता के लिए बदनाम थे। – पृ० २८८

[125] संविधान का पहला मसौदा १९ जून १८४८ को राष्ट्रीय सभा के समक्ष पेश किया गया था। – पृ० २९०

[126] बाइबिल की कथा के अनुसार इस्रायल के प्रथम राजा साउल ने फ़िलस्तीनियों के विरुद्ध युद्ध में अपने हज़ारों शत्रुओं को मार डाला था जबकि उसके शस्त्र-वाहक डेविड ने जो राजा का कृपापात्र था, दसियों हज़ार की हत्या की थी। साउल की मृत्यु के बाद डेविड इस्रायल का राजा बन गया।—पृ० २६३

[127] **लिली**—बूर्बो राजवंश का अपना चिह्न; **वायलेट**—बोनापार्त के अनुयायियों का चिह्न।—पृ० २६४

[128] मार्क्स यहां *«Neue Rheinische Zeitung»* में (अंक १७४, २१ दिसम्बर १८४८) प्रकाशित पेरिस की एक ख़बर की ओर इशारा कर रहे हैं। इस ख़बर पर १८ दिसम्बर को फ़र्डिनांड वोल्फ़ के उपनाम से हस्ताक्षर किये गये थे। ये शब्द स्वयं मार्क्स के हो सकते हैं। उन्होंने अख़बार को भेजी जानेवाली सामग्री का आद्योपान्त सम्पादन किया था।—पृ० २६४

[129] **सार्वजनिक सुरक्षा समिति**—फ़्रांसीसी जनतंत्र की क्रान्तिकारी सरकार का अप्रैल १७६३ में स्थापित केन्द्रीय निकाय। समिति ने आन्तरिक तथा बाह्य प्रति-क्रान्ति के विरुद्ध संघर्ष में असाधारण रूप से महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।—पृ० ३०६

[130] **अमन की पार्टी**—अनुदारपंथी बड़े पूंजीपतियों की इस पार्टी की १८४८ में स्थापना हुई थी। यह फ़्रांसीसी राजवंश के दो धड़ों की—लेजिटिमिस्टों तथा आर्लियानिस्टों की—मिली-जुली पार्टी थी (टिप्पणी ५६ तथा ६३ देखें)। १८४६ से लेकर २ दिसम्बर १८५१ तक, बलात् सत्ता-परिवर्तन तक द्वितीय जनतंत्र की विधान सभा में प्रमुख पद उसके पास रहे।—पृ० ३११

[131] देखें टिप्पणी ५८।—पृ० ३११

[132] ७ मार्च से ३ अप्रैल १८४६ तक बूर्ग में उन लोगों पर मुक़दमा चलता रहा जिन्होंने १५ मई १८४८ की घटनाओं में (देखें टिप्पणी १२१) भाग लिया था। बार्बेस को आजीवन कारावास मिला, ब्लांकी को दस वर्ष की क़ैद तथा अल्बेर, देफ़्लोत, सोब्रिए, रास्पायल को अलग-अलग मियाद की क़ैद तथा निर्वासन की सज़ा मिली।—पृ० ३१४

[133] जनरल ब्रेआ को, जिनके हाथों में पेरिस सर्वहारा के जून विद्रोह का दमन करनेवाले सैनिकों के एक भाग की कमान थी, विद्रोहियों ने २५ जून १८४८

को फ़ोंटेनब्लों के द्वार पर क़त्ल कर डाला था। इस सिलसिले में दो विद्रोहियों को मौत की सज़ा दी गयी।–पृ० ३१४

[134] *«La Démocratie pacifique»* ('शान्तिपूर्ण लोकतंत्र')–फ़ुरियेपंथियों का दैनिक समाचारपत्र जो पेरिस में १८४३ से लेकर १८५१ तक व० कंसिडेरां के सम्पादकत्व में प्रकाशित होता रहा।

१२ जून १८४६ की शाम को अख़बार के कार्यालय में पर्वत दल के संसत्सदस्यों की एक बैठक हुई। उन्होंने हथियारों के उपयोग का आश्रय लेने से इन्कार कर दिया तथा शान्तिपूर्ण प्रदर्शन करने तक अपने को सीमित रखा।–पृ० ३२१

[135] १३ जून १८४६ को *«Le Peuple»* ('जनता') के अंक २०६ में प्रकाशित घोषणापत्र में "संविधान के मित्रों के जनवादी संघ" ने पेरिस के नागरिकों का आह्वान किया कि वे कार्यकारी अधिकारियों के "दम्भपूर्ण दावों" के विरोध में शान्तिपूर्ण प्रदर्शन करें।–पृ० ३२२

[136] उद्घोषणा १३ जून १८४६ को *«Réforme»*, *«Démocratie pacifique»* तथा प्रूदों के पत्र *«Peuple»* में प्रकाशित हुई थी।–पृ० ३२२

[137] मार्क्स यहां पोप पियस नवें के आयोग की चर्चा कर रहे हैं, जिसमें तीन कार्डिनल थे। उसने रोम जनतंत्र के दमन के बाद फ़्रांसीसी सेना के समर्थन से रोम में प्रतिक्रियावादी हुकूमत को पुनःस्थापित किया। कार्डिनल लाल चोगा पहनते थे।–पृ० ३२७

[138] *«Le Siècle»* ('युग')–पेरिस में १८३६ से १६३६ तक प्रकाशित होनेवाला दैनिक समाचारपत्र; पिछली शताब्दी के पांचवें दशक में वह निम्नपूंजीपति वर्ग के उस भाग के विचारों का प्रवक्ता था जिसकी मांगें साधारण संवैधानिक सुधारों तक सीमित थीं; छठे दशक में वह नरम जनतंत्रवादियों का अख़बार था।–पृ० ३२८

[139] *«La Presse»* ('प्रेस')–यह पत्र पेरिस में १८३६ से निकलना शुरू हुआ; जुलाई राजतंत्र के दौरान उसका स्वरूप विपक्षी पत्र का था; १८४८-४६ में वह पूंजीवादी जनतंत्रवादियों का और आगे चलकर बोनापार्तपंथियों का पत्र बन गया।–पृ० ३२८

[140] यहां इशारा काउंट शाम्बोर की ओर है, जिसने अपने को आंरी पंचम का नाम दिया। वह बूर्बों राजवंशावली की सबसे पुरानी शाखा की ओर से फ़ांसीसी सिंहासन का दावेदार था। विस्बादेन के साथ-साथ पश्चिम जर्मनी में एम्स भी उसके निवास-स्थानों में से था।—पृ० ३२८

[141] लूई फ़िलिप १८४८ की फ़रवरी क्रान्ति के बाद फ़्रांस से भागकर क्लेरमोंट (लन्दन का उपनगर) चला गया और वहीं रहने लगा।—पृ० ३२६

[142] «*Motu proprio*» ("हमारी इजाज़त से")—पोप के विशेष प्रकार के परिपत्रों के आरम्भिक शब्द। ये परिपत्र कार्डिनलों से पूर्व अनुमति लिये बिना जारी किये जाते थे तथा आम तौर पर पोप के अधीन प्रदेश के राजनीतिक तथा आर्थिक मामलों से सम्बन्धित होते थे। यहां पोप पियस नवें के १२ सितम्बर १८४६ के सन्देश की चर्चा की गयी है। —पृ० ३३०

[143] मार्क्स द्वारा प्रस्तुत आंकड़े मेल नहीं खाते। यह शायद मुद्रण की अशुद्धि थी। मूलपाठ में ५७,८१,७८,००० के स्थान पर ५३,८०,००,००० की संख्या दी गयी है। फिर भी इस अशुद्धि का मार्क्स के आम निष्कर्ष पर असर नहीं पड़ता क्योंकि इनमें से किसी भी संख्या को लिया जाये, प्रति व्यक्ति आय २५ फ़्रांक से कम ही रहती है।—पृ० ३४३

[144] दे बोन नामक लेजिटिमिस्ट सदस्य की मृत्यु हो जाने के कारण गार प्रांत में अतिरिक्त निर्वाचन हुए जिसके फलस्वरूप पर्वत दल के समर्थकों का उम्मीदवार फ़ावोन ३६ हज़ार में से २० हज़ार का मत प्राप्त कर निर्वाचित हुआ।—पृ० ३४४

[145] १८५० में सरकार ने फ़ांसीसी क्षेत्र को पांच बड़े-बड़े फ़ौजी ज़िलों में बांट दिया। उसके फलस्वरूप पेरिस तथा समीपवर्ती प्रांत उन चार ज़िलों से घिर गये जो चार घोर प्रतिक्रियावादी जनरलों के मातहत थे। इन प्रतिक्रियावादी जनरलों के असीमित अधिकारों तथा तुर्की के पाशाओं के निरंकुश शासन की तुलना करते हुए जनतंत्रवादी अख़बारों ने इन ज़िलों का नाम पाशालिक (पाशाओं की अधिकार-सीमा के अन्तर्गत भूमि) रखा।—पृ० ३४४

[146] यहां इशारा लूई बोनापार्त द्वारा ३१ अक्तूबर १८४६ को विधान सभा के नाम भेजे गये सन्देश की ओर है। उसमें बोनापार्त ने बताया कि उसने बारो मंत्रिमण्डल बर्ख़ास्त कर एक नया मंत्रिमण्डल नियुक्त कर दिया है।—पृ० ३४५

[147] १० नवम्बर १८४६ को पेरिस पुलिस के नवनियुक्त प्रीफ़ेक्ट कार्लिये ने "धर्म, श्रम, परिवार, सम्पत्ति तथा वफ़ादारी" की रक्षा के लिए एक "सामाजिक समाजवाद-विरोधी लीग" की स्थापना करने का आग्रह किया। – पृ० ३४५

[148] «*Le Napoléon*» – पेरिस में ६ जनवरी से १६ मई १८५० तक प्रकाशित होनेवाला एक साप्ताहिक पत्र। – पृ० ३४६

[149] **मुक्ति-वृक्ष** पेरिस की सड़कों पर १८४८ की फ़रवरी क्रान्ति के बाद रोपे गये थे। १८ वीं शताब्दी के अन्त की फ़्रांसीसी पूंजीवादी क्रान्ति के बाद से मुक्ति-वृक्षों – आम तौर पर बलूत या पोप्लर के वृक्षों – को रोपने के कार्य ने परम्परा का रूप धारण कर लिया था। उस ज़माने में कन्वेंशन के एक निर्णयानुसार इस कार्य को मान्यता प्रदान की गयी थी। – पृ० ३५०

[150] **जुलाई स्मारक-स्तम्भ** १८४० में पेरिस के बास्तील चौक पर उन लोगों की स्मृति में स्थापित किया गया था जो १८३० की जुलाई क्रान्ति के दौरान मारे गये थे। १८४८ की फ़रवरी क्रान्ति के बाद से इस स्मारक पर हमेशा सदाबहार फूलों की मालाएं चढ़ायी जाती रहीं। – पृ० ३५०

[151] देफ़्लोत को, जो ब्लांकी का समर्थक तथा पेरिस के क्रान्तिकारी सर्वहारा का प्रतिनिधि था, १५ मार्च १८५० के चुनावों में १,२६,६४३ वोट मिले थे। – पृ० ३५३

[152] **कोब्लेंज़** – पश्चिम जर्मनी का एक नगर; १८ वीं शताब्दी के अन्त की फ़्रांसीसी पूंजीवादी क्रान्ति के दौरान यह प्रतिक्रान्तिकारी उत्प्रवासियों का अड्डा था। – पृ० ३५४

[153] १७६७ में आंग्ल सरकार ने बैंक आफ़ इंगलैंड को सीमित करने के लिए एक विशेष क़ानून पास किया; उसने बैंक नोटों को वैध मुद्रा बना दिया तथा उनके बदले सोने की अदायगी रोक दी। १८१६ में सोने में अदायगी फिर चालू हो गयी थी। – पृ० ३५८

[154] **बुर्गग्राफ़** नाम उन १७ प्रमुख आर्लियानिस्टों तथा लेजिटिमिस्टों को दिया गया था जो एक नये चुनाव क़ानून का मसविदा तैयार करने के लिए विधान सभा के आयोग के सदस्य थे। उन्हें यह नाम, जो विक्तोर ह्यूगो के एक ऐतिहासिक

नाटक के शीर्षक से लिया गया था, सत्ता पर उनके अनधिकारपूर्ण दावों तथा उनकी प्रतिक्रियावादी आकांक्षाओं के कारण दिया गया था। मध्ययुगीन जर्मनी में नगरों और ज़िलों के शासक जिन्हें सम्राट नियुक्त करता था, बुर्गग्राफ़ कहलाते थे। – पृ० ३६०

155 *«L'Assemblée nationale»* ('राष्ट्रीय सभा') – राजतंत्रवादी-लेजिटिमिस्ट रुझान वाला एक फ़्रांसीसी दैनिक पत्र; वह पेरिस में १८४८ से १८५७ तक छपता रहा। १८४८ तथा १८५१ के बीच वह दो राजवंशवादी पार्टियों – लेजिटिमिस्ट तथा आर्लियानिस्ट – के परस्पर विलय का समर्थन करता रहा। – पृ० ३६३

156 *«Le Constitutionnel»* ('संवैधानिक पत्र') – पेरिस में १८१५ से १८७० तक प्रकाशित होनेवाला एक फ़्रांसीसी पूंजीवादी दैनिक पत्र; पांचवें दशक में वह आर्लियानिस्टों के नरम पक्ष का मुखपत्र रहा; १८४८ की क्रान्ति के दौरान थियेर के झंडे के नीचे गोलबन्द होनेवाले प्रतिक्रान्तिकारी पूंजीपतियों के विचार प्रकट करता रहा; १८५१ के सत्ता-परिवर्तन के उपरान्त वह बोनापार्तवादियों का मुखपत्र बन गया। – पृ० ३६३

157 "Baiser Lamourette" ("लामुरेत का चुम्बन") – यहां इशारा १८वीं शताब्दी के अन्त की फ़्रांसीसी क्रान्ति के समय की एक प्रसिद्ध घटना की ओर है। ७ जुलाई १७९२ को विधान सभा के सदस्य लामुरेत ने प्रस्ताव किया कि बन्धुत्वपूर्ण चुम्बन के साथ सारे दलीय कलहों का अन्त कर दिया जाये। उसके प्रस्ताव के प्रभावस्वरूप परस्पर वैमनस्य रखनेवाली पार्टियों के प्रतिनिधियों ने एक दूसरे का हार्दिक आलिंगन किया। परन्तु जैसी कि अपेक्षा की जा सकती थी, यह पाखण्डपूर्ण "बन्धुत्वपूर्ण चुम्बन" अगले ही दिन भुला दिया गया। – पृ० ३६४

158 *«Le Pouvoir»* ('सत्ता') – पेरिस में १८४९ में स्थापित बोनापार्तपंथी अख़बार; वह जून १८५० से जनवरी १८५१ तक इसी नाम से छपता रहा। – पृ० ३६५

159 फ़्रांसीसी जनतंत्र के संविधान की ३२ वीं धारा में विधान सभा के सत्रावसानों के समय के लिए एक स्थायी आयोग के गठन की व्यवस्था की गयी थी। धारा में कहा गया कि आयोग २५ निर्वाचित सदस्यों तथा विधान सभा के ब्यूरो

को लेकर बनेगा। आयोग आवश्यकता पड़ने पर विधान सभा का अधिवेशन बुला सकता था। १८५० में आयोग में वस्तुतः ३९ सदस्य थे। ये थे ब्यूरो के ११ सदस्य, ३ कोषपाल तथा २५ निर्वाचित सदस्य।—पृ० ३६६

160 यहां इशारा काउंट शाम्बोर के सत्तारूढ़ होने की स्थिति में दे लेविस, सेन-प्रिस्त, बेरिये, पास्तोरे तथा द'एस्कार को लेकर लेजिटिमिस्टों द्वारा नियुक्त किये जानेवाले मंत्रिमण्डल की ओर है।—पृ० ३६७

161 यहां इशारा तथाकथित "विस्बादेन घोषणापत्र" की ओर है जो ३० अगस्त १८५० को काउंट शाम्बोर के निर्देश पर विधान सभा में लेजिटिमिस्ट धड़े के सचिव दे बार्तेलेमी द्वारा विस्बादेन में तैयार किया गया एक परिपत्र था। यह परिपत्र लेजिटिमिस्टों का—सत्तारूढ़ होने की स्थिति में—नीति सम्बन्धी परिपत्र था। काउंट शाम्बोर ने घोषणा की कि वह "जनता से किसी भी प्रकार की अपील की अधिकृत रूप में तथा साफ़-साफ़ निन्दा करते हैं क्योंकि इस तरह की अपील वंशानुगत राजतंत्र के महान राष्ट्रीय सिद्धान्त के अस्वीकार किये जाने का द्योतक है"। विधान सभा के सदस्य लारोशजाकलिन के नेतृत्व में कुछ राजवंशवादियों द्वारा किये गये विरोधों के सिलसिले में इस बयान पर अख़बारों में वाद-विवाद चला।—पृ० ३६७

नाम-निर्देशिका

ए

ग

ज

ड

त

थ

द

न

ब

ल

व

श

साहित्यिक और पौरानिक पात्रों की सूची

०

एंटेयस (यूनानी पुराण)—वह नायक जो तब तक अजेय रहा जब तक उसके पांव धरती पर रहते थे। उससे वह शक्ति प्राप्त करता था।—३२१

ओर्फ़ियस (यूनानी पुराण)— थ्रेशियन कवि तथा संगीतज्ञ जिसके गीत पशुओं तक को सम्मोहित कर सकते थे तथा उन्हें सुनकर चट्टानें तक झूमने लगती थीं।—३१६

गोर्डियस—फ़्रीगिया के राजा, किंवदन्ती यह है कि उसने एक रथ पर जूए को बहुत ही पेचीदी गांठ से जोड़ दिया (तभी से गोर्डियन गांठ शब्द प्रचलित हुआ है)। आलंकारिक भाषा में इसका अर्थ है पेचीदा, उलझा हुआ मामला। किंवदन्ती यह है कि देववाणी के अनुसार इस गांठ को खोलनेवाला एशिया का राजा बनेगा। सिकन्दर महान ने उसे खोलने के बजाय तलवार से काट दिया।—३६९

जानुस—रोमन देवता, उसके दो मुंह थे जो विपरीत दिशाओं में थे। आलंकारिक भाषा में दो चेहरों वाला, दुतरफ़ा काम करनेवाला व्यक्ति।—३१७

जोजेफ़ (बाइबल)—इबरानी धर्माध्यक्ष जैकोब का बेटा। उसके भाइयों ने उसे मिस्र भेज दिया जहां वह प्रसिद्ध हो गया।—३२९

पैंटेफ़्री (बाइबल)—मिस्र का वह अधिकारी जिसके हाथ जैकोब का बेटा जोज़ेफ़ गुलाम के रूप में बेचा गया था।—३२९

बार्थोलोम्यू (बाइबल)—बारह पैगम्बरों में से एक।—३५३

मिदास—फ़्रीगिया के राजा। किंवदन्ती के अनुसार अपोलो ने उसके कानों को गधे के कानों में बदल दिया।—२९७

मूसा (बाइबल)—यहूदियों को मिस्री फ़ारूनों के दमन से बचानेवाले पैगम्बर।—३३६

रोबेर माकेर—फ़ांसीसी नाटक का बटमारी करनेवाला एक पात्र, जिसका विख्यात फ़ांसीसी अभिनेता फ़्रेडरिक लेमेत्र ने मंच पर अभिनय किया तथा जिसे ओनोरे दोम्ये ने अपने व्यंग्य-चित्रों में प्रसिद्धि प्रदान की।—२५७

रोलां उद्धत—अरियोस्टो के महाकाव्य का नायक।—३०१

सैमसन (बाइबल)—अपनी असीम शक्ति के लिए प्रसिद्ध।—३२२